सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

प्रथम संस्करण १९४० ई०
द्वितीय संस्करण १९४३ ई०
तृतीय संस्करण १९४५ ई०
चतुर्थ संस्करण १९४७ ई०
पञ्चम संस्करण १९४८ ई०
षष्ठ संस्करण १९४९ ई०
सप्तम संस्करण १९४९ ई०
अष्टम संस्करण १९५१ ई०
नवम् संस्करण १९५२ ई०



मुद्रक—सदलराम जायसवाल, राम प्रिंटिंग प्रेस, प्रयाग ।
५ म. ८५२

# नवें संस्करण की भूमिका

पुस्तक के जितने ही संस्करण हों, उतनी ही भूमिकायें हों—यह सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है। भूमिका सम्पूर्ण पुस्तक का एक सूक्ष्म परिचय है, जिसमें लेखक विषय के तत्व को स्पष्टरूप से रखने का प्रयत्न करता है। साथ ही वह उन व्यक्तियों या ग्रन्थों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है, जिनकी सहायता से उसके कार्य की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त भूमिका का कोई विशेष उपयोग नहीं है। कुछ पुस्तकों की भूमिकायें इस मापदण्ड से परे होती हैं और उनका विस्तार मूल ग्रन्थ से भी बड़ा होता है। यदि लेखक को विषय की व्याख्या करनी थी तो वह मूल ग्रन्थ में न कर भूमिका में क्यों करता है? कुछ लेखक भूमिका लिखने में इतने सिद्धहस्त होते हैं कि उनके मूल ग्रन्थ की रोचकता उतनी नहीं होती जितनी उनकी भूमिका की। भूमिका से ही हम सम्पूर्ण ग्रन्थ के सार को ग्रहण कर सकते हैं। ऐसी दशा में भूमिका स्वयं एक कला है, जिसका लिखना ग्रंथ लिखने से कठिन है। यही कारण है कि एक विद्वान् भी अपनी पुस्तक की भूमिका लिखने के लिये अपने से बड़े विद्वान् की याचना करता है। यह प्रवृत्ति प्रत्येक लेखक में पाई जाती है।

पुस्तक की भूमिका एक ही होनी चाहिये, संस्करण चाहे जितने हों। 'नागरिक शास्त्र की विवेचना' अपने नवें संस्करण के रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। इस ग्रंथ के लिखने का क्या आशय था, भाषा सम्बन्धी कौन सी नीति थी और आठ संस्करणों द्वारा इसने अपने उद्देश्य की कहाँ तक पूर्ति की—इन तीनों बातों का उल्लेख करना आवश्यक है। साथ ही इस नवीन संस्करण की विशेषता और उपयोगिता पर भी प्रकाश डालना चाहिये। तात्पर्य यह है कि इस संस्करण की भूमिका में उन सभी बातों का उल्लेख किया गया है जिनकी जानकारी के पश्चात् पाठक मूल ग्रंथ में उसी प्रकार प्रवेश कर सकता है जैसे एक कौटुम्बिक प्राणी अपने घर में प्रवेश करता है। दोनों ही अन्त तक परिचय संबंधी कठिनाई के शिकार

नहीं होते। प्रत्येक उद्धरण, नवीन व्याख्या अथवा विषय क्रमशः उनके मस्तिष्क में घड़े में पानी की पतली धार की तरह प्रवेश करता है। यदि लेखक लेखनकला से परिचित है तो पाठक ग्रंथ को समाप्त करने के बाद उसकी किसी दूसरी कीर्ति का अवलोकन करते हैं।

इस पुस्तक का उद्देश्य, जैसा इसके शीर्षक से स्पष्ट है, नागरिक जीवन की व्याख्या एवं एक ऐसे समाज का वर्णन करना है, जिसमें सम्पूर्ण व्यक्ति नियमित और शान्तिमय जीवन व्यतीत करें। चूँकि ये दोनों विषय किसी सिद्धान्त के आधार पर निर्मित हैं, इसलिये पुस्तक में शास्त्रीय विवेचन का अंश अधिक है। नागरिक शास्त्र, और राजनीति का अटूट संबंध होने के कारण उन राजनीतिक सिद्धान्तों को भी चर्चा की गई है जिनके द्वारा राष्ट्रीयता और शांति की वृद्धि होती है। वर्तमान युग में सरकार की रूप-रेखा का प्रभाव जीवन के प्रत्येक अंग पर इतना अधिक पड़ता है कि कोई कुशल नागरिक राजनीतिक प्रगति से अपने को अनभिज्ञ नहीं रख सकता। व्यक्ति के लिये सुखमय जीवन की सामग्री तभी उपलब्ध होती है जब सम्पूर्ण समाज प्रगति के पथ पर चलायमान है। ऐसी दशा में जहाँ नागरिक को अपने सुख और वृद्धि के लिये प्रयत्न करना है उससे अधिक प्रयत्न राष्ट्रीय उन्नति और सामाजिक विकास के लिये आवश्यक है। इसलिये प्रस्तुत पुस्तक में नागरिक के साधारण अधिकार और कर्तव्य से लेकर स्वतन्त्रता, सरकारी विभाजन, राज्य की उत्पत्ति, राज्य के उद्देश्य, प्रभुता तथा राष्ट्रीयता आदि विषयों की चर्चा की गई है।

गम्भीर राजनीतिक सिद्धान्तों की चर्चा में कठिन विषयों को छिपाने का प्रयत्न किया गया है जिससे एफ़० ए० के विद्यार्थी विषय की उलझन में न पड़ें और राजनीति के उन सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर लें जिनके द्वारा गम्भीर विषयों में प्रविष्ट होने में सुगमता हो। विषय का ज्ञान मस्तिष्क की वृद्धि के साथ होता है। इसी माप-दण्ड से पाठ्य ग्रन्थों का निर्माण होना चाहिये। उनके विकास में एक ऐसी शृङ्खला होनी चाहिये, जिसका आश्रय लेकर विद्यार्थी सुगमता-पूर्वक अध्ययन करने में समर्थ हो। साथ ही विषय का विवेचन उस वैज्ञानिक रीति से होना चाहिये जिसमें विषय की उपयोगिता के साथ उसकी रोचकता भी बनी रहे। नीरस ज्ञान विद्यार्थियों को प्रिय नहीं होता। लेखक अपने विषय में सरलता का जितना ही अधिक ध्यान रक्खेंगे, वह विषय उतना ही लोकप्रिय होगा। राजनीति का विषय इतना दुरूह और जटिल है कि इसे रोचक बनाना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा विद्यार्थियों को वह विषय भार प्रतीत होगा। प्रस्तुत पुस्तक में इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि पाठक आदि से अंत तक नीरसता का अनुभव न करें। उनकी मनोवृत्ति इस दिशा में ढाल दी जाय जिससे वे अन्य ग्रंथों के अध्ययन की लालसा रक्खें।

संकुचित विचार-धारा का आश्रय लेकर शास्त्रीय ज्ञान वर्जित है। इसीलिये पुस्तक में नाना प्रकार के उद्धरण और विषयान्तर जान-बूझ कर रक्खे गये हैं।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, सरल हिन्दी का आश्रय लिया गया है। राष्ट्रीय सरकार ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया है। अब तक इस दिशा में जो विलम्ब हुआ है उसका कारण देश की परतन्त्रता है। इस पृथ्वी पर भारत ही एक ऐसा देश है जिसकी सरकार विदेशी भाषा—अँग्रेजी—द्वारा अपना कार्य करती है। यह हमारे लिये लज्जा और अपमान का विषय है। जितना ही शीघ्र हम इस कलंक को धोकर अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी के पथ पर अग्रसर होंगे उतना ही उत्तम है। जहाँ पुस्तक का उद्देश्य शास्त्रीय विवेचन है वहाँ यह भी उद्देश्य रहा है कि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा और अभिवृद्धि हो। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के प्रकाशित होने के पहले हिन्दी में राजनीति और नागरिक शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों का इतना अभाव था कि शिक्षा अधिकारी स्कूल और कालिजों में हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा देने में भय करते थे। जब मैंने पुस्तक की पहिली प्रति अपने प्रान्त के डाइरेक्टर महोदय को दी तो उनके मुँह से यही शब्द निकले थे 'क्या यह हिन्दी में है?' पुस्तक द्वारा हिन्दी और नागरिक शास्त्र की कितनी सेवा हुई है इसका निर्णय पाठक एवं अध्यापक ही कर सकते हैं।

अपने आठ संस्करण द्वारा इस पुस्तक ने भारतीय विद्यार्थियों की क्या सेवा की है—इसकी भी चर्चा आवश्यक है। आज नागरिक शास्त्र इतना लोकप्रिय विषय है कि प्रारम्भिक कक्षाओं में इसे अनिवार्य किया गया है। देश के विद्वान् इस बात का अनुभव करते हैं कि नागरिकता का ज्ञान विद्यार्थियों के लिये आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को एक कुशल नागरिक होना चाहिये। 'वरं बुद्धिर्न सा विद्या' के अनुसार व्यावहारिक ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान से बढ़कर है। नागरिक शास्त्र व्यावहारिक शास्त्र है। इसकी उपयोगिता प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से है। इस भावना को संचारित करने में प्रस्तुत पुस्तक ने विशेष योग दिया है। अधिकारी वर्ग ने आरम्भ से ही पुस्तक की मान्यता स्वीकार कर इसे यह अवसर दिया कि नागरिक शास्त्र का विषय पुष्पवेलि की भाँति फैले। आज शिक्षित समाज में इस विषय को जो स्थान प्राप्त है वह किसी अन्य विषय को नहीं है। इसका श्रेय सम्पूर्ण तो कदापि नहीं, परन्तु आंशिक रूप में इस पुस्तक को प्राप्त है। हमारे लिये इससे बढ़कर सन्तोष की बात दूसरी नहीं है, क्योंकि किसी पुस्तक की सार्थकता विषय को लोकप्रिय बनाने में ही है।

अन्तिम प्रश्न नवें संस्करण की विशेषता का है। वर्तमान संस्करण में अनेक स्थानों पर उन सामयिक बातों का उल्लेख किया गया है, जिनके बिना सामाजिक शास्त्र विषयक ग्रंथ अपूर्ण होते हैं। प्रत्येक दृष्टि से पुस्तक सामयिक और नवीन

उद्धरणों से युक्त है। आधुनिक घटनाओं का भी यथास्थान वर्णन किया गया है। पाठक यही अनुभव करेंगे कि पुस्तक में उन्हें उन सम्पूर्ण बातों की जानकारी कराई गई है जिनकी वर्तमान जीवन में नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत आवश्यकता है। नये संस्करण की एक और भी विशेषता है। विद्यार्थियों के हित का ध्यान रखते हुए इस संस्करण में कुछ नई बातें यथास्थान और जोड़ दी गई हैं। पुस्तक के अन्त में आवश्यक प्रश्नों की एक तालिका दी गई है जो विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है। इतनी विशेषता होने पर भी पुस्तक की उपयोगिता का अन्तिम निर्णय उन विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के ऊपर है जो इस विषय के पठन-पाठन में संलग्न हैं।

रामभवन
प्रयाग
अगस्त, १९५२ ई०

गोरखनाथ चौबे

# विषय-सूची



—:o:—

# नागरिक शास्त्र की विवेचना

## अध्याय १

### नागरिक शास्त्र, विस्तार और अन्य शास्त्रों से इसका सम्बन्ध

शास्त्र

किसी विषय का क्रमबद्ध ज्ञान शास्त्र कहलाता है। दवा के विषय में कुछ न कुछ सभी जानते हैं, परन्तु सबको हम डाक्टर नहीं कहते। सामाजिक व्यवस्था का ज्ञान थोड़ा बहुत सबको रहता है, परन्तु हर व्यक्ति समाजशास्त्र का पंडित नहीं कहलाता। आर्थिक प्रबन्ध सब को करना पड़ता है, परन्तु अर्थशास्त्र के ज्ञाता वे ही कहलाते हैं जिन्होंने क्रमबद्ध इसका अध्ययन किया है। किसी विषय का अधूरा ज्ञान शास्त्र नहीं कहलाता। शास्त्रों का उद्देश्य ज्ञान है। जितने शास्त्र हैं, सबका अध्ययन मनुष्य को ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। ज्ञान एक है, इसका विभाजन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार वृक्ष एक है, परन्तु इसकी शाखाएँ अनेक होती हैं, उसी तरह ज्ञान एक है, परन्तु इसकी प्राप्ति के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञान का भाण्डार इतना वृहत् है कि वह एक साथ मस्तिष्क में नहीं आ सकता। अतएव इसकी प्राप्ति के लिये विभिन्न शास्त्रों की रचना की गई है। अध्ययन को सुविधा के लिये, यह आवश्यक समझा गया है कि ज्ञान या शास्त्र को विभिन्न शाखाओं में बाँट दिया जाय। सभ्यता के विकास के साथ-साथ शास्त्रों की शाखाएँ उपशाखाएँ बढ़ती गईं। अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास, भूगोल, शरीर विज्ञान, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, गणित तथा विभिन्न रसायन और भौतिक शास्त्रों को रचनाएँ अध्ययन की सुविधा के लिये की गई हैं। अज्ञान से ज्ञान की ओर मनुष्य अग्रसर हो, यही इनके अध्ययन का उद्देश्य है। आधुनिक विकासवाद एवं वैज्ञानिक युग में शास्त्रों की मर्यादा बढ़ रही है। नवीन शिक्षा प्रणाली में विद्यार्थियों को अधिक से अधिक शास्त्र पढ़ाने का यत्न किया जाता है। इसीलिये छोटी कक्षाओं में कितने ही नये विषय पढ़ाये जाने लगे हैं। पाठ्य-ग्रन्थों की वृद्धि का भी यही कारण है।

शास्त्रों के विभाजन का कोई निश्चित माप नहीं है। वे एक दूसरे से इतने मिले जुले हैं कि एक का पूर्णज्ञान दूसरे के बिना सम्भव नहीं है। अतएव दो शास्त्रों के बीच कोई दीवाल नहीं खड़ी की जा सकती। फिर भी समस्त शास्त्रों को दो भागों में बाँटा गया है, प्रकृति शास्त्र और समाज शास्त्र। यहाँ पर प्रकृति शास्त्र के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। हमारे विषय का सम्बन्ध केवल समाज-शास्त्र से है। मनुष्य के सामाजिक जीवन स सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र समाज-शास्त्र कहलाते हैं। आरम्भ से मनुष्य समाज में रहा है और आज भी है। उसकी सम्पूर्ण उन्नति समाज में हुई है। संसार में जितने जीव हैं सभी सामाजिक हैं, सब में संगठन है, सब में सामाजिक व्यवस्था है और सब में कोई कला है। जिन्होंने जंगली जानवरों के झुंड देखे हैं उन्हें उनके संगठन का थोड़ा बहुत ज्ञान हो सकता है। पक्षियों में भी एक प्रकार का संगठन है। वे अपनी जाति की गिरोह में उड़तीं, बैठतीं तथा घोंसला बनाती हैं। क्या पक्षी के घोंसले को देख कर उसकी कला का अनुमान किया जा सकता है। मधुमक्खियों का संगठन इन सबमें सराहनीय है। उनमें कोई स्वामी, कोई सेवक और कोई रक्षक होता है। उनके छत्ते में जो कला है, वह हमारे साधारण घरों में नहीं हो सकती। यदि इन जीवों में अपनी उन्नति अवनति का ज्ञान दूसरों पर प्रकट करने की शक्ति होती तो इससे कितने ही शास्त्र बन जाते। वे भी समाज-शास्त्र के अन्तर्गत कहे जाते। परन्तु मनुष्य को छोड़ कर यह शक्ति किसी अन्य जीव में नहीं पाई जाती। इसलिए समाज शास्त्र से हमें मनुष्य के विचार, संगठन तथा कार्य आदि का ज्ञान होता है। वह शास्त्र समाज की उन्नति का वर्णन करता है।

**नागरिक शास्त्र की परिभाषा**

नागरिकता का अध्ययन नागरिक शास्त्र कहलाता है।* मनुष्य जिस समाज में रहता है उसके प्रति उसके अनेक कर्त्तव्य हैं। उनका ज्ञान मनुष्य के लिये आवश्यक है। कुटुम्ब के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं, धार्मिक संस्थाओं से उसका क्या सम्बन्ध है, तथा राजनैतिक संगठन में उसे कौन-कौन से अधिकार प्राप्त हैं—इन सब के ज्ञान को नागरिक शास्त्र कहते हैं। अर्थात् जिस शास्त्र के अन्दर नागरिक के अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्णन हो वह नागरिक शास्त्र कहलाता है। नागरिक शास्त्र और नगर शब्द में कोई सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी भाषा में हम नगर शब्द का अर्थ 'शहर' करते हैं, परन्तु नागरिक शास्त्र शहरों का शास्त्र नहीं है। भारत में लगभग ५ लाख गाँव हैं। इन ग्रामों के अध्ययन को ग्रामशास्त्र कहते हैं। नाग-

---

* Civics is a science of citizenship. It deals with rights and duties of a man in society.

रिक शास्त्र और ग्राम शास्त्र दोनों एक ही हैं। जिस शास्त्र से नगर अथवा ग्रा निवासियों की रहन-सहन का ज्ञान हो वह नागरिक शास्त्र अथवा ग्राम शास्त्र कहलाता है। अर्थात् जो व्यक्ति ग्राम या नगर में रहते हैं उनकी रहन-सहन कैसी है, उनके अन्दर किस प्रकार के कितने संगठन हैं, उनकी आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था कैसी है—इनकी जानकारी नागरिक शास्त्र के अन्दर होती है। साथ ही या शास्त्र आदर्श जीवन का मार्ग समाज के सामने रखता है।* नागरिक शास्त्र का नामकरण यूनानियों ने अपनी नगर-व्यवस्था के आधार पर किया था। परन्तु हमारा राष्ट्रीय संगठन गाँवों के आधार पर होगा। इसलिये हमारे लिये 'ग्राम शास्त्र' शब्द 'नागरिक शास्त्र' से अधिक उपयुक्त है, क्योंकि हमारा देश गाँवों का देश है। वास्तव में इस शास्त्र के अन्तर्गत हम मनुष्य का ही अध्ययन करते हैं। मनुष्य की बनाई हुई संस्थाओं का जब तक ज्ञान न होगा, तब तक हम मनुष्य को नहीं समझ सकते। अफलातून ऐसे यूनानी दार्शनिकों ने इसे स्वीकार किया है कि समाज मनुष्य का एक बृहत् रूप है। इसलिये नागरिक शास्त्र नागरिक के रूप में मनुष्य का ही विश्लेषण करता है।†

**नागरिक शास्त्र की उपयोगिता**

जिस समाज में हम रहते हैं उसकी जानकारी के बिना हमारा विकास सम्भव नहीं है। उपयुक्त नागरिक बनने के लिए इस शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है।‡ व्यक्ति का एक दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य है, जब तक मनुष्य इसकी जानकारी न करेगा, तब तक वह सामाजिक बुराइयों का दास रहेगा। मनुष्य की जानकारी अपने ही प्रति समाप्त नहीं हो जाती। कुटुम्ब, ग्राम, जिला, राज्य तथा राष्ट्रीय संगठन का ज्ञान उसके सामाजिक अध्ययन को पूर्ण करता है। वर्तमान युग में जब तक संसार की गतिविधि की जानकारी नहीं की जाती तब तक नागरिक का जीवन पूर्ण नहीं है। विज्ञान की उन्नति के कारण समय और दूरी का निकटतम संपर्क बढ़ रहा है। इसी के साथ नागरिक के कर्त्तव्य भी बढ़ रहे हैं। नागरिक शास्त्र के बिना सामाजिक शास्त्रों का अध्ययन नहीं हो सकता। यदि हम किसी संघ के सदस्य हों, परन्तु उसके नियमों से अनभिज्ञ हों, तो संघ में पूरा सहयोग नही दे सकते।

---

* Civics is the science that seeks to discover the conditions of the best possible social life.

† Civics is the study of institutions, habits, activities and spirit by means of which we live in society.

‡ Civics is the study man in relation to social organizations.

इसीलिये जब तक हम नगरों तथा ग्रामों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र का अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक इनकी उन्नति में हाथ बढ़ाना असम्भव है। ट्रेनिंग के बिना कोई व्यक्ति उपयुक्त सिपाही नहीं बनता। प्रत्येक कार्य के लिये किसी प्रकार की ट्रेनिंग की आवश्यकता है। नागरिक शास्त्र सुयोग्य नागरिक बनने की ट्रेनिंग देता है। वह नागरिक को उसके कर्त्तव्यों का ज्ञान कराता है तथा विभिन्न संस्थाओं के प्रति उसके सम्बन्ध को निर्धारित करता है। सामाजिक उन्नति के लिये छोटी-से-छोटी बातों की जानकारी आवश्यक है। सड़क पर कैसे चलना चाहिये, सफाई कैसे रखनी चाहिये, वोट कैसे देना चाहिये, शिक्षा-मंडली क्या है, जिला तथा नगरपालिकायें क्या करती हैं, ग्राम-पंचायतों के क्या क्या कर्त्तव्य हैं—आदि बातों की जानकारी के बिना नगर में रहते हुए भी हम कुशल नागरिक नहीं कहे जा सकते। नागरिक शास्त्र के अध्ययन से प्रत्येक नागरिक समाज के सुख और शांति में सहायक हो सकता है। अपने कार्यों से वह मनुष्य मात्र का कल्याण कर सकता है। व्यावहारिक जीवन में जितनी उपयोगिता नागरिक शास्त्र की है उतनी किसी और सामाजिक शास्त्र की नहीं है। आचार शास्त्र इसका एक प्रधान अंग है।

**नागरिक शास्त्र का विस्तार**

नागरिक शास्त्र समाज शास्त्र की एक शाखा है। प्रत्येक शास्त्र का क्षेत्र मनुष्य की बौद्धिक उन्नति से सीमित है। समाज शास्त्र सामाजिक उन्नति का प्रतीक है। जब तक मनुष्य जंगली अवस्था में था, उसका कोई विशेष संगठन नहीं था, और न उसकी कोई राजनैतिक व्यवस्था थी, तब तक उसे नागरिक शास्त्र का मूल्य मालूम न था। जंगली अथवा प्राकृतिक नियमों से उसका काम चल जाता था। जंगली अवस्था के पश्चात् मनुष्य का सामाजिक जीवन प्रारम्भ हुआ। उसे सामाजिक नियम तथा रीति-रिवाज बनाने पड़े। यहीं से नागरिक शास्त्र का बीजारोपण हुआ। आरम्भ में थोड़े से सामाजिक नियम बने। इनकी जानकारी सामाजिक विद्या के नाम से उद्धृत की गई। जब इस विद्या का भाण्डार कुछ वृहत् हुआ तो यही नागरिक शास्त्र कहलाने लगा। इस शास्त्र का विस्तार सामाजिक तथा नागरिक जीवन की उन्नति पर निर्भर है। हमारे नगर और ग्रामों का जितना विकास होगा, नागरिक का कर्त्तव्य और अधिकार उतना ही बढ़ेगा। इसी के साथ नागरिक शास्त्र का क्षेत्र भी विस्तृत होगा। प्रत्येक नागरिक का जीवन विभिन्न [illegible]ओं में व्यतीत होता है। नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत हमें इन सबका अध्ययन करना पड़ता है।

समाज की उन्नति का सम्पूर्ण ज्ञान वर्तमान काल के ही अध्ययन से नहीं होता। इसके लिये भूतकाल की भी जानकारी आवश्यक है। जहाँ से सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ था उसे भी जानना पड़ता है। यह अध्ययन तब तक पूरा नहीं

होता, जब तक हम समाज के भविष्य जीवन के लिये कोई आदर्श निश्चित न कर लें। इसे ध्यान में रखते हुये हम कह सकते हैं कि नागरिक शास्त्र का विस्तार भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों में फैला हुआ है। भूतकाल में नागरिक के क्या अधिकार थे, वर्तमान काल में उनमें क्या-क्या परिवर्तन हुए, भविष्य में उनके परिवर्तन की क्या आशा है—इन सब का ज्ञान नागरिक शास्त्र द्वारा होता है। आरम्भ से अब तक का सामाजिक इतिहास इस शास्त्र के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश समस्त भूमंडल पर पड़ता है, उसी प्रकार नागरिक शास्त्र का प्रभाव मनुष्य के सामाजिक जीवन पर है। प्रकाश के बिना मनुष्य अँधेरे में कुछ नहीं कर सकता। इसी प्रकार नागरिकता के ज्ञान के बिना वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर सकता। संसार आज जिस रूप में दिखलाई पड़ रहा है वह सामाजिक जीवन का फल है। इसमें नागरिक के कर्त्तव्य की गणना नहीं हो सकती। इसका क्षेत्र किसी राज्य अथवा देश की सीमा से घेरा नहीं जा सकता। नागरिक शास्त्र इन सबकी व्याख्या करता है।

यद्यपि हम नागरिक शास्त्र को विभिन्न सामाजिक शास्त्रों से पृथक् मानते हैं, फिर भी उन सबके साथ इसका एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक जीवन के नाते मनुष्य का समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है, अमुक समाज में उसकी क्या स्थिति है, इनका अध्ययन तथा ज्ञान नागरिक शास्त्र का ही एक विषय है। नागरिक के नाते हमें यह भी जानना पड़ता है कि हमारा शासन कैसे होता है। इसके लिये हमें अपनी शासन-व्यवस्था का अध्ययन करना पड़ता है। यहाँ पर नागरिक शास्त्र का सम्बन्ध राजनीति शास्त्र से होता है। समाज की आर्थिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है, तथा हमारी वर्तमान आर्थिक परिस्थित कैसी है इन्हें भी हमें ध्यान में रखना पड़ता है, क्योंकि हमारे दैनिक जीवन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिये नागरिक शास्त्र की पूरी जानकारी के लिये अर्थशास्त्र का भी अध्ययन करना पड़ता है। नागरिक के नाते प्रत्येक व्यक्ति को अपने पड़ोसी के सुख-दुख का ध्यान रखना पड़ता है। न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की उसे चिन्ता करनी पड़ती है। इन क्षेत्रों में नागरिक का कर्त्तव्य इतना विस्तृत हो जाता है कि नागरिक शास्त्र की सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। जब मनुष्य के कर्त्तव्य की कोई सीमा नहीं है, तो नागरिक शास्त्र का क्षेत्र भी अपार और अनन्त समझना चाहिये। यूनानी परम्परा के अनुसार नागरिक वही कहलाता था जो नगर में रहता था। वहीं की स्थानीय बातों का ज्ञान नागरिक शास्त्र कहलाता था। राजनैतिक उत्थान के साथ मनुष्य नगर से भी बड़े संगठन का आज सदस्य है। वह बिखरे हुए सामाजिक वृक्ष की शाखा मात्र नहीं है बल्कि राष्ट्रीय शिविर का एक दृढ़ स्तम्भ है। आधुनिक काल में नागरिकता एक राष्ट्रीय पद है। जो

राष्ट्र का सदस्य है वही नागरिक है। उसके अधिकार तथा कर्त्तव्य समस्त राष्ट्र में तारों की भाँति फैले हुये हैं। राष्ट्रीय नागरिकता अब भी बढ़ती जा रही है और नागरिक अन्तर्राष्ट्रीय संघ का सदस्य होने जा रहा है। इस विस्तार में नागरिक के कर्त्तव्य कितने बढ़ जायेंगे, भविष्यकाल का नागरिक शास्त्र इसकी विवेचना करेगा। नागरिक का कर्त्तव्य माता-पिता से बढ़ते-बढ़ते आज संसार में विस्तृत है। इसी से हम नागरिक शास्त्र का विस्तार समझ सकते हैं।

**अन्य शास्त्रों से सम्बंध**

नागरिक शास्त्र मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखता है। इसीलिये इसके अन्दर जीवन के हर पहलू पर विचार किया गया है। प्रत्येक शास्त्र का अध्ययन मनुष्य के जीवन पर एक विशेष प्रभाव डालता है। अतएव सामाजिक जीवन में एक दृढ़ एकता है। इस एकीकरण को समझने के लिये हम विभिन्न सामाजिक शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। वास्तव में ये शास्त्र एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, प्रत्युत एक ही वस्तु को समझने के लिये विभिन्न दृष्टिकोण के प्रतिनिधि हैं। इतिहास भूत काल की घटनाओं का वर्णन करते हुए भविष्य के लिये हमें मार्ग प्रदर्शित करता है। इसका प्रभाव सभी सामाजिक शास्त्रों पर बहुत ही गहरा पड़ता है। जब तक हमें अपने देश का सच्चा इतिहास मालूम न होगा तब तक हम अपने प्राचीन गौरव को न तो समझ सकते हैं और न अपना सकते हैं।* साहित्य मनुष्य के विचारों की ज्योति है। इसी के प्रकाश से हम विभिन्न शास्त्रों में प्रवेश करते हैं। भूगोल से मनुष्य के स्थानीय जीवन का ज्ञान होता है। विभिन्न प्राकृतिक जीवन में किस प्रकार मनुष्यों की रहन-सहन तथा रीति-रिवाज में परिवर्तन होते हैं इसका ज्ञान हमें भूगोल से ही होता है। अर्थशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग है। प्रत्येक मनुष्य को छोटे या बड़े पैमाने पर आर्थिक प्रबन्ध करना पड़ता है। अपनी साधारण शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना मनुष्य की उन्नति सम्भव नहीं है। कोई भी शास्त्र इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। इसीलिये सभी सामाजिक-शास्त्रों में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

**नागरिक शास्त्र और राजनीति शास्त्र**

नागरिक शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र में जितनी घनिष्ठता है उतनी अन्य दो शास्त्रों में नहीं है। एक प्रकार से राजनीति-शास्त्र नागरिक-शास्त्र का एक अंग है। जिस प्रकार पौधे और वृक्ष में कोई वस्तु विभेद नहीं है, एवं अवस्था का अंतर है, उसी प्रकार राजनीति-शास्त्र नागरिक शास्त्र का एक विकसित रूप है। दोनों शास्त्र सामाजिक व्यवस्था के साथ ही उत्पन्न होते हैं। दोनों के विकास

* History is to recapture and to relieve the past.

का क्रम भी एक है। नागरिक शास्त्र नागरिक को अपने कर्त्तव्य और अधिकार का ज्ञान कराता है। राजनीति-शास्त्र उन अधिकारों को पालन करने का अवसर देता है। यदि किसी देश में नागरिकता की वृद्धि हो, लोग अपनी सामाजिक व्यवस्था की उन्नति करें, तो यह स्वाभाविक है कि उस समाज का राजनैतिक वातावरण शान्तिमय रहेगा। दोनों ही शास्त्र यह बतलाते हैं कि मनुष्य का एक दूसरे के प्रति तथा समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है। सुख और शान्ति दोनों के अन्तिम उद्देश्य हैं। दोनों से विभिन्न सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति होती है। यदि किसी देश की सरकार रक्षा और शासन का उचित प्रबन्ध न करे तो नागरिक अपने कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन नहीं कर सकता। जब नागरिकता की वृद्धि होगी तभी कर्त्तव्य-परायण सामाजिक कार्यकर्ताओं का प्रादुर्भाव होगा। उन्हीं से सरकारी मशीन अच्छी तरह संचालित होगी।

इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुये भी दोनों का कार्यक्षेत्र भिन्न है। राजनीति शास्त्र का अस्तित्व राजनैतिक संगठन पर स्थिर है। सरकारी मशीन के बिगड़ते ही यह सम्बन्ध टूट जाता है। इसके विपरीत नागरिकता एक ठोस वस्तु है। यद्यपि मानव शक्ति के कारण इसका क्षेत्र सीमित है, फिर भी उसमें नागरिक के कर्त्तव्य का अन्त नहीं है। राजनीति शास्त्र राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से सम्बन्ध रखता है। नागरिक शास्त्र का सम्बन्ध जीवन की व्यावहारिक बातों से है। राजनीति-शास्त्र मनुष्य की राजनैतिक उन्नति का एक इतिहास है। नागरिक शास्त्र सामाजिक कर्त्तव्यों का एक कोष है। राजनीति शास्त्र नागरिक के अधिकारों के प्रयोग के लिये क्षेत्र तैयार करता है। नागरिक शास्त्र उन अधिकारों का ज्ञान प्राप्त कराता है। नागरिक शास्त्र व्यक्तित्व का विकास करता है। राजनीति शास्त्र उस व्यक्तित्व से समाज को लाभ पहुँचाता है।

**नागरिक शास्त्र और समाज-शास्त्र**

मनुष्य जिस समाज में रहता है उसमें विभिन्न संस्थाओं से उसका सम्बन्ध होता है। धर्म के नाते वह किसी मठ अथवा मन्दिर का सदस्य होता है। राजनैतिक लाभ के लिये उसे म्युनिसिपल बोर्ड और जिला बोर्ड का सदस्य बनना पड़ता है। अपनी जीविका के लिये वह तरह-तरह के कार्य करता है। आवश्यकतानुसार वह कई व्यापारिक संघों का सदस्य बन जाता है। उसे इन संस्थाओं की उत्पत्ति तथा विकास की थोड़ी-बहुत जानकारी रखनी पड़ती है। यद्यपि यह संभव नहीं है कि कोई नागरिक सभी सामाजिक शास्त्रों को भली भाँति जाने फिर भी उसे इनका साधारण ज्ञान रखना पड़ता है। नागरिक शास्त्र सामाजिक जीवन के केवल एक अंग का विस्तृत वर्णन करता है, शेष अंगों का हवाला मात्र देकर वह अपने अंग की पुष्टि करता है। प्रत्येक नागरिक को

इसका विस्तृत ज्ञान होना आवश्यक है। नागरिकता के पूर्णज्ञान के बिना मनुष्य की इतनी सांस्कृतिक उन्नति कदापि नहीं हो सकती कि वह विभिन्न सामाजिक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करे। समाज शास्त्र सामाजिक बुराई तथा भलाई दोनों अंगों का वर्णन करता है। नागरिक शास्त्र प्रत्येक नागरिक को इस बात के लिये तैयार करता है कि वह बुराइयों को निकाल कर गुणों का ही समाज में प्रतिपादन करे। समाज शास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण राष्ट्रीय व्यवहारों से है, परंतु नागरिक शास्त्र कुटुम्ब, ग्राम तथा पड़ोस से ही सम्बन्ध रखता है। इतना अवश्य है कि मनुष्य के नाते उसका कर्तव्य समूचे संसार के प्रति हो जाता है। कौटुम्बिक कर्तव्यों के अतिरिक्त उसे अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है।

**नागरिक शास्त्र और इतिहास**

इतिहास मनुष्य की सभ्यता का एक कोष है, जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा मानसिक उन्नति का विश्लेषण होता है। वास्तव में इतिहास मनुष्य के सांस्कृतिक विकास का एक युद्ध है। इस युद्ध में नागरिक की वीरता, उसकी विजय तथा पराजय आदि का वर्णन है। इतिहास नागरिक के कर्त्तव्यों की एक सूची है जिससे पता चलता है कि कैसे और क्यों हम अपनी वर्तमान अवस्था को प्राप्त हुए हैं। हमारी सामाजिक उन्नति में आरम्भ से अब तक कितनी बाधायें उपस्थित हुई हैं—इस प्रगति को समझने के लिये आधुनिक समस्याओं तथा संस्थाओं का ज्ञान आवश्यक है। आधुनिक काल से ही हम भूत तथा भविष्य का अध्ययन कर सकते हैं। हमारी वर्तमान स्थिति हमारे भूतकाल के कर्तव्यों का फल है, और इसी में भविष्य का बीज भी छिपा हुआ है। अपने पूर्वजों की कीर्ति को समझने के लिये इतिहास का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। उनके बतलाये हुए ऊँचे आदर्शों पर चलना चाहते हैं तो हमें सच्चा नागरिक बनने की आवश्यकता होगी। नागरिक शास्त्र हमारे जीवन की प्रगति को अवनति से उन्नति के मार्ग पर लाता है। इतिहास को हम एक दूसरी दृष्टि से भी देख सकते हैं। उस समय हमें यह लड़ाइयों का अजायबघर दिखलाई पड़ेगा। नागरिक शास्त्र इन घटनाओं का वर्णन नहीं करता। वह पिछली सामाजिक त्रुटियों का उल्लेख न कर हमारी सम्पूर्ण शक्ति को आनन्द और सुख की वृद्धि में लगाना चाहता है।

कृषि, व्यवसाय, सामाजिक शासन, राष्ट्रीय आय-व्यय तथा रक्षा आदि विषयों का प्रतिपादन इतिहास और नागरिक शास्त्र दोनों में पाया जाता है। व्यावसायिक उन्नति, शिक्षा की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध दोनों शास्त्रों के विषय हैं। कौटुम्बिक जीवन, ग्रामोन्नति, शहरों तथा विभिन्न राष्ट्रों का निर्माण आदि विषय दोनों शास्त्रों के अन्तर्गत आते हैं। यदि इतिहास मूल है तो नागरिक शास्त्र इसकी एक शाखा है। यदि हम भारत में प्रतिनिधित्व का इतिहास जानना

चाहें तो हमें १८६२ ई० से लेकर अब तक का इतिहास देखना होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक ऐतिहासिक घटना का प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन पर पड़ता है। इतिहास से ही हमारे नागरिक शास्त्र का निर्माण होता है।

**नागरिक शास्त्र तथा अर्थशास्त्र**

अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है। वह समाज के उस अंग का वर्णन करता है जिसका सम्बन्ध धन की उत्पत्ति तथा वितरण से है। धन की उत्पत्ति कैसे होती है, उसकी आवश्यकता समाज को क्यों है, और उसका वितरण किस ढंग पर होता है—इत्यादि बातों का समावेश अर्थशास्त्र में होता है। ऐसा कोई भी नागरिक न होगा जिसे धन की आवश्यकता न हो। मनुष्यों को एकत्र कर एक समाज में ढालने का बहुत बड़ा श्रेय धन को ही है। यदि मनुष्य को इसकी आवश्यकता न हो तो वह सामाजिक तथा राजनैतिक नियमों को पालन करने से इनकार कर देगा। नागरिक शास्त्र इस बात के लिये नियम बनाता है कि नागरिक पर कौन कौन से टैक्स लगाये जायँ, और उनके वसूल करने की क्या विधि हो। दोनों शास्त्र फूल और सुगन्ध की तरह एक दूसरे से मिले हुए हैं। यदि टैक्स न लगे तो समस्त सरकारी योजनायें बन्द हो जायें, फिर तो नागरिक का नाम भी शेष न रहेगा। धन की उत्पत्ति के साधन तथा इसके व्यय का उचित मार्ग अर्थशास्त्र के अन्दर पाया जाता है। परन्तु इन दोनों को कार्य रूप में परिणत करने का भार योग्य नागरिकों पर ही पड़ता है। जब तक देश में कुशल नागरिक न होंगे तब तक वहाँ धनधान्य की वृद्धि नहीं हो सकती।

नागरिक शास्त्र समाज को सभी प्रकार से उन्नत बनाने का प्रयत्न करता है। इसलिये वह आर्थिक प्रश्नों पर भी विचार करता है। यहाँ पर दोनों शास्त्रों की जानकारी की आवश्यकता पड़ती है। नागरिक को अपने कर्त्तव्य का पूरा ज्ञान तब तक न होगा जब तक उसे यह अवसर न मिले कि वह आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो। राज्य में उसे समान अधिकार और समान अवसर मिलना चाहिये। स्थायी सामाजिक शान्ति तब तक स्थापित नहीं हो सकती जब तक लोगों के पास भोजन का अभाव रहेगा। वह समाज प्रसन्न नहीं रह सकता जिसमें गरीब दुखियों की संख्या अधिक होगी। 'गरीबी धर्म का नाश है'। धर्म से यहाँ तात्पर्य नागरिक के कर्त्तव्य से है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'। धन से समाज को सुखी रखना शासक का पहिला कर्त्तव्य है। भारत किसानों का देश है। ग्राम शास्त्र के अन्तर्गत कृषि शास्त्र भी आता है। किसान अपनी सफाई कैसे रक्खे, खेती कैसे करे, सिंचाई की क्या व्यवस्था हो, उत्पन्न अनाज के बेचने का क्या प्रबन्ध हो, इत्यादि बातों का सम्बन्ध नागरिक शास्त्र तथा अर्थशास्त्र दोनों से

है। धन की वृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि नागरिकों का जीवन संगठित हो, उनके अन्दर सहयोग का भाव हो और उनकी व्यापार-शक्ति उन्नत हो। यदि म्युनिसिपल बोर्ड अच्छी सड़कों का प्रबन्ध न करे तो शहर का व्यापार उन्नति नहीं कर सकता। यही दशा ग्रामों की भी है। जिस समाज में धन की कमी रहती है वह दुर्बल और दयनीय समझा जाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र और नागरिक शास्त्र पग-पग पर मिले हुए हैं। एक को दूसरे से अलग करना अध्ययन की दृष्टि से कुछ सम्भव है, लेकिन ज्ञान की दृष्टि से वे अलग नहीं किये जा सकते। आर्थिक व्यवस्था तथा नागरिक कर्त्तव्य, इन दोनों का जन्म साथ ही हुआ है।

**नागरिक शास्त्र और भूगोल**

भूगोल से हमें संसार की प्राकृतिक दशा का ज्ञान होता है। प्रत्येक देश कहाँ स्थित है, उसकी जलवायु कैसी है, वहाँ लोगों की जीविका का क्या साधन है, वहाँ की भूमि कहाँ तक उपजाऊ है—इन बातों का ज्ञान हमें भूगोल से होता है। प्रश्न यह है कि इनका प्रभाव मानव-जीवन पर क्या पड़ता है। हमारे देश में एक आम कहावत है 'जैसा देश वैसा वेश'। जलवायु के अनुकूल ही मनुष्य की रहन-सहन बनती है। प्रत्येक देश की नागरिकता भिन्न-भिन्न है। जो अधिकार भारतीय नागरिक को प्राप्त हैं, वे ही अधिकार जर्मन तथा रूसी नागरिक को प्राप्त नहीं है। दोनों के अधिकारों में अन्तर है। दोनों के खान-पान, रहन सहन, बोल-चाल तथा सामाजिक विधान एक ही प्रकार के नहीं हैं। भौगोलिक परिस्थिति हमारे जीवन को एक विशेष ढाँचे में ढालती है। कुछ तो मनुष्य समाज में बनता है और कुछ प्रकृति बनाती है। यद्यपि नागरिक शास्त्र का निर्माण मनुष्य ने किया है, फिर भी वह प्रकृति के प्रभाव से वंचित नहीं है। यदि हमारी भूमि उपजाऊ है तो हमारी आर्थिक दशा अच्छी होगी। इससे समाज में हमारा जीवन सुखी रहेगा। परन्तु भूमि उपजाऊ होते हुए भी यदि सिंचाई की व्यवस्था न हो तो कोई सुखी नहीं रह सकता है। नागरिक शास्त्र इस बात का प्रतिपादन करता है कि सामाजिक नियम देश की जलवायु के अनुकूल होते हैं। नदी पहाड़ों तथा जंगलों से नागरिक को नाना प्रकार के लाभ होते हैं। परन्तु समाज को इसकी व्यवस्था बनानी पड़ती है। इस प्रकार दोनों शास्त्र एक दूसरे से बहुत कुछ मिले जुले हैं। भौगोलिक ज्ञान की जितनी ही वृद्धि होगी मनुष्य की सामाजिक दृष्टि उतनी ही विस्तृत होगी। भ्रमण से मनुष्य का ज्ञान क्यों बढ़ता है? इसलिये कि जब वह विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों से होकर गुजरता है तो उसे सोचने विचारने की अनेक सामग्रियाँ उपलब्ध होती हैं। यदि नवीन अनुसन्धानों के पीछे नये नये देशों की खोज न हुई होती तो विज्ञान का इतना अधिक प्रचार कदापि

न होता। सामाजिक समस्याओं की अनेक उलझनों के उत्तर भूगोल-शास्त्र के अन्दर पाये जाते हैं।

**नागरिक शास्त्र और धर्म शास्त्र**

धर्म एक व्यापक शास्त्र है। इसका क्षेत्र इसी संसार में समाप्त नहीं हो जाता। लोक-परलोक दोनों ही से इसका सम्बन्ध है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति और फिर दोनों का प्रकृति के साथ क्या सम्बन्ध है, इसकी विवेचना धर्मशास्त्र में की जाती है। यह शास्त्र मनुष्य के चरित्र बल पर सब से अधिक बल देता है। कोई शास्त्र चरित्र को गौण मान कर अपनी स्थिति कायम नहीं रख सकता। यदि मनुष्य भले बुरे का ज्ञान न रक्खे तो वह पशु से भिन्न नहीं है। धर्म ही एक ऐसा विषय है जो मनुष्य और पशु में अन्तर निहित करता है। नागरिक शास्त्र को धर्मशास्त्र का विशेष आश्रय लेना पड़ता है। नियम का पालन वही कर सकता है जिसे आत्म-उन्नति का ध्यान है। अपने पड़ोसी की भलाई वही चाहेगा जिसके अन्दर दया और सद्भाव है। अपने सामाजिक महापुरुषों के बतलाये हुए मार्ग पर वही चलेगा जिसके अन्दर सज्जनता का भाव है। मनुष्य के अन्दर शील, दया, आत्म सम्मान, महत्वाकांक्षा आदि गुण धर्मशास्त्र से ही प्राप्त होते हैं। प्रत्येक नागरिक को इनकी आवश्यकता है। उसे स्वार्थी बन कर समाज को कुत्सित नहीं बनाना है। जो अपने प्रति कर्त्तव्यों का ज्ञान रखता है वही अपने पड़ोसी का भी ध्यान रख सकता है और उसी से सम्पूर्ण राष्ट्र की उन्नति हो सकती है।

नागरिक शास्त्र को धर्मशास्त्र का एक अंग कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। जब तक हमें छोटी-छोटी बातों का ज्ञान न होगा तब तक हम धर्म के गूढ़ विषयों में प्रवेश नहीं कर सकते। यदि हमारी बाह्यशक्तियाँ नियमित रूप से काम न करें तो हमारी मानसिक उन्नति नहीं हो सकती। धर्म मनुष्य का अन्तिम ध्येय कहा गया है। इस प्रकार ये दोनों शास्त्र आरम्भ से अन्त तक मिले हुए हैं। एक का उद्देश्य दूसरे की प्राप्ति है। वास्तव में हमें अपने आपको जानने की आवश्यकता है। यह मनुष्य क्या है, इसके जीवन का क्या उद्देश्य है, तथा जन्म-मरण के बन्धन से उसे किस प्रकार मुक्ति मिल सकती है—आदि बातों के अतिरिक्त हमें कुछ और जानने की आवश्यकता नहीं है। यह महान् विश्व मनुष्य की ही अध्ययनशाला है। विभिन्न शास्त्र इसके समझने के साधन हैं। अपनी बुद्धि ही इसमें अध्यापक का काम कर रही है।

एक आदर्श नागरिक बनने के लिये पहले मनुष्य बनने की आवश्यकता है। यूनान में एक कहावत है "अपने आपको जानो, और कुछ नहीं।" हिन्दू-धर्मशास्त्रों में भी कहा गया है कि 'आत्मानं विद्धि" अपने आपको पहचानो।

हमारे भीतर के सभी भाव कार्यरूप में बाहर को प्रकट होते हैं। यदि हमारे अन्दर सफाई है और विचार उच्च हैं तो बाहरी संस्थाएँ चमकती और उन्नतिशील दिखलाई पड़ेंगी। हम हाथ से वही करते हैं जो हमारे मस्तिष्क में है। हमारी सामाजिक व्यवस्था तभी ठीक होगी जब हमारे भीतर के भाव सुलझ जायेंगे। नागरिक शास्त्र अपने क्रियात्मक रूप में छोटे-छोटे दायरों में बँटा हुआ है। विभिन्न संस्थाओं का प्रतिपादन विभिन्न दृष्टिकोण से किया गया है। परन्तु धर्मशास्त्र समस्त मानव-समाज को एक दृष्टि और एक उद्देश्य से देखता है। धर्मशास्त्र नागरिक शास्त्र का सर्वोन्नत रूप है। इसीलिये दोनों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि नागरिक शास्त्र में मनुष्यों का अध्ययन किया जाता है, तो धर्म-शास्त्र मनुष्य का अध्ययन है।

**नागरिक शास्त्र की अध्ययन-विधि**

किसी निश्चित स्थान पर हम तभी पहुँच सकते हैं जब वहाँ जाने का ठीक मार्ग ज्ञात हो। रास्ता भूल जाने पर हम कहीं और ही चले जायेंगे। एक आदर्श नागरिक बनने के लिये जैसे हमें अपने कर्त्तव्यों का ध्यान रखना पड़ता है, उसी प्रकार नागरिक शास्त्र के अध्ययन में भी हमें कुछ बातों का ध्यान रखना होगा। तभी हम इस शास्त्र का अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से कर सकेंगे। यह शास्त्र केवल विचार करने की वस्तु नहीं है। इससे मनुष्य अपने वास्तविक कर्त्तव्य की ओर झुकता है। अतएव हमारी बुद्धि रचनात्मक होनी चाहिये। कोरी कल्पना से हम इस शास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकते। जैसे हमारे विचारों में एक क्रम होता है उसी प्रकार हमारे रचनात्मक कार्यों में भी कोई-न कोई क्रम और कला दोनों ही होनी चाहिये। विचार के साथ साथ हमें अन्वेषण भी करते रहना होगा। जब हम अपने विचारों तथा अन्वेषण को वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट करेंगे तभी हम समाजोपयोगी कोई व्यवस्था निकाल सकेंगे। अपने कुटुम्ब से लेकर अपने पड़ोसी, ग्रामवासी तथा नगरवासियों को हमें क्रमपूर्वक अध्ययन करना होगा और फिर उसी क्रम से उनकी उन्नति पर विचार कर अपने को उसमें लगाना होगा। इसलिये नागरिक शास्त्र के प्रत्येक पाठक को वैज्ञानिक विचार और रचनात्मक बुद्धि का रखना अत्यंत आवश्यक है। इसी से उसके अन्दर लोकहित के भाव पैदा होंगे।

नागरिक शास्त्र का उद्देश्य मनुष्यों का अध्ययन करना है। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम स्वयं समाज में रह कर इसका अध्ययन करें। हम समाज में भली प्रकार तभी रह सकते हैं जब इसकी व्यवस्था ठीक हो। उन्नतिशील जीवन के लिये सामाजिक जीवन अनिवार्य है। परन्तु वह समाज सुसंगठित और सुव्यवस्थित होना चाहिये। उसके अन्दर शिक्षा, कला, व्यवस्था, शांति, कर्त्तव्य-परायणता आदि

गुणों की प्रचुरता होनी चाहिये। साथ ही हम स्वयं अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। प्रत्येक व्यक्ति के प्रति हमारी सहानुभूति हो। यदि नागरिक के प्रति हम उदासीन हैं, तो समाज में रहते हुये भी हमारा जीवन दुखी रहेगा। इस उदासीन वृत्ति से हम नागरिक शास्त्र का ठीक-ठीक अध्ययन नही कर सकते। पड़ोस, ग्राम तथा समस्त राष्ट्र के प्रति जब तक सहानुभूति न होगी तब तक हमारा ज्ञान अधूरा रहेगा। जातीयता अथवा साम्प्रदायिकता का भाव लेकर हमें नागरिक शास्त्र का अध्ययन नहीं करना चाहिये। इससे हमारी बुद्धि संकुचित होगी। ऊँच नीच का भाव हमारे अध्ययन में बाधक सिद्ध होगा। सहानुभूति के साथ-साथ हममें समभाव और सद्भाव की आवश्यकता है। इसका अध्ययन इस दृष्टि से लाभ-प्रद सिद्ध न होगा कि सामाजिक बुराइयों की सूची हमारे मस्तिष्क में आ जाय। अध्ययन के पीछे सुधार की भावना होनी चाहिये। हमारे अध्ययन का रचनात्मक उपयोग तभी होगा जब हमारे अन्दर सुधार की सच्ची लगन होगी। दूसरों के दुख में हमें भी दुख प्रकट करना होगा और सुख में खुशी दिखलानी होगी। हम समाज के जितने ही साथ रहेंगे उतनी ही वैज्ञानिकता से नागरिक शास्त्र का अध्ययन करेंगे।

नागरिक शास्त्र के अध्ययन मात्र से हमारा काम नहीं चल सकता, हमें इसका स्वाध्याय करना होगा। पुस्तकों के आधार पर ही हम अपना विचार निश्चित न करें। किसी विशेष व्यक्ति की राय को हम अपनी राय न मान लें। समाज हमें जिस रूप में दिखलाई देता है उसी को अनादि काल की रचना न मान बैठें। यदि औरों के ही विचारों में हम बह चलें, तो हमारा अध्ययन तोते का राम राम हो जायगा। समाज में प्रचलित कुरीतियों को यदि हम स्वाभाविक और अमर मान लें तो ऐसे अध्ययन से कोई लाभ न होगा। पाठकगण स्वतन्त्र विचार से घटनाओं पर विचार करें। उनका ध्यान प्रति क्षण यही होना चाहिये कि उन्हें अपनी बुद्धि की कसौटी पर सब की राय को कसना है। जब सभी बातों पर वे अपनी स्वतन्त्र और न्याययुक्त बुद्धि से विचार करेंगे तभी उन्हें नागरिकता का जीवित ज्ञान प्राप्त होगा। इसलिये सहानुभूति और रचनात्मक बुद्धि के साथ स्वतन्त्र विचार भी रखना चाहिये।

यदि हम इस शास्त्र के अध्ययन से कुछ लाभ उठाना चाहते हैं तो हमें समस्याओं की उलझनों में नहीं पड़ना चाहिये। सामाजिक समस्यायें इतनी अधिक और पेचीदी हैं कि एक साथ ही न तो हम उन्हें समझ सकते हैं और न सुलझा सकते हैं। स्कूलों, मिलों, कारखानों, गाँवों तथा किसानों की कठिनाइयों का रूप भिन्न-भिन्न है। एक योग्य व्यक्ति भी इन सब की जानकारी प्राप्त नहीं कर सकता। उसे इतना अवसर जीवन में नहीं मिल सकता कि वह प्रत्येक स्थान पर जाकर वहाँ की अवस्थाओं को खोज निकाले। इसके अतिरिक्त नशा,

चोरी, जुआ, व्यभिचार, अनाचार आदि सामाजिक कमजोरियों को भी उसे सामने रखना होगा। इतनी उलझनों को साथ लेकर कोई व्यक्ति अपने अध्ययन में सफल नहीं हो सकता। उन्हें दूर करना तो उसे और भी कठिन होगा। इसलिये किसी एक संस्था वा संगठन को चुन लेना चाहिये। उसकी तह में जाकर पाठकगण उसकी कमजोरियों को निकालें और सही तरीके से लोगों के सामने रक्खें। जहाँ तक वे उन्हें हल कर सकें करें, बाकी औरों पर छोड़ दें। इस प्रकार विभाजन प्रणाली द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होगा वह पक्का और स्पष्ट होगा। इससे एक एक करके हमारी सामाजिक कमजोरियाँ दूर होती जायँगी। नागरिक शास्त्र के विद्यार्थियों ने यदि इस नीति का आश्रय लिया तो उनसे समाजहित की अधिक सम्भावना है।

# अध्याय २

## नागरिकता

नागरिक शास्त्र की परिभाषा से स्पष्ट है कि हम इसमें नागरिक के अधिकारों और उसके कर्त्तव्यों का अध्ययन करते हैं।

नागरिक

नागरिकता के आधार पर ही इस शास्त्र की रचना हुई है। नागरिक का तात्पर्य है नगर अथवा ग्राम का निवासी, परन्तु यह अर्थ अपूर्ण है। शहर अथवा ग्राम में रहने वाला एक भिखारी नागरिक नहीं होता। विदेशी भी नागरिक नहीं कहलाते। राजनैतिक दृष्टि से प्रत्येक देश के निवासियों को दो भागों में बाँटा गया है। एक को नागरिक और दूसरे को अनागरिक कहते हैं। नागरिक का सम्बन्ध किसी स्थान विशेष से नहीं है। कोई व्यक्ति विदेश में रहते हुये भी अपने को नागरिक कह सकता है। प्राचीन काल में यूनान देश में बहुत से छोटे छोटे नगर न केवल राजनैतिक दृष्टि से, बल्कि आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी पूर्ण स्वतन्त्र और स्वावलम्बी थे। उनमें एकता और समानता का जो व्यवहार प्रचलित था उसे अब भी हम आदर्श रूप में मानते हैं। परन्तु वहाँ भी हमें स्पष्ट दो भेद दिखलाई पड़ते हैं। नगर के कुछ निवासियों को सभी राजनैतिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। ये व्यक्ति नागरिक कहलाते थे। इसके विपरीत कुछ ऐसे निवासी थे जिन्हें किसी भी प्रकार का अधिकार प्राप्त न था। इन्हें अनागरिक अथवा दास कहा जाता था। दोनों ही शहर में रहते थे, परन्तु उनके अधिकारों में महान् अन्तर था। विभिन्न नामों से इन्हें सूचित किया जाता था। एक को नागरिक तथा दूसरे को अनागरिक, एक को स्वामी और दूसरे को सेवक, एक को स्वतन्त्र और दूसरे को दास कहते थे।

सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति नागरिक कहलाता है, जो समाज में दुर्लभ है। * अरस्तु ने नागरिक की परिभाषा इस प्रकार की है, "नागरिक वह व्यक्ति है जिसे नगर की सम्पूर्ण राजनैतिक कार्रवाइयों में भाग लेने का अधिकार है।" इससे स्पष्ट है कि नागरिक को राजनैतिक अधिकारों से अलग नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति राजनैतिक अधिकार से वंचित हो तो उसे नागरिक कहना ठीक नहीं।

---

* अत्यन्त गुण मेधावी, चतुर्णामपि दुर्लभम्।
अनपत्यम् अल्पायुश्च निर्धनत्वमरुकृतया ॥

प्रत्येक नागरिक राजनैतिक संगठन का एक अंग है। संगठित समाज के प्रति, जिसमें वह निवास करता है, उसके बहुत से कर्त्तव्य हैं। साथ ही उसके बहुत से अधिकार भी हैं। जब दास प्रथा का संसार में रिवाज था उस समय नागरिक की यह परिभाषा ठीक हो सकती थी, परन्तु आधुनिक काल में इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। यूनान की तरह रोम भी एक छोटा सा नगर था। यहाँ के निवासियों ने जब बहुत से देशों को जीत लिया और रोमन साम्राज्य की स्थापना की तो नागरिक के अर्थ में एक महान् परिवर्तन हुआ। रोमन साम्राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को रोम का नागरिक करार दिया गया। कोई रोम नगर में भले ही न गया हो परन्तु वह रोम का नागरिक कहलाता था। २१२ ईस्वी में सम्राट् केराकेला ने यह घोषित किया कि रोमन साम्राज्य के सभी स्वतन्त्र व्यक्ति रोम के नागरिक कहलायेंगे। रोम में रहने वाले नागरिकों को जो अधिकार प्राप्त थे वे रोमन साम्राज्य में रहने वाले नागरिकों को भी मिल गये। नागरिक का क्षेत्र शहर से बढ़ा कर साम्राज्य तक कर दिया गया।

आधुनिक काल में नागरिक शब्द का प्रयोग और भी बड़े दायरे में किया जाता है। वह नगर का निवासी मात्र नहीं है बल्कि एक राष्ट्रीय सदस्य समझा जाता है। उसके अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की सीमा नगर से बढ़ा कर सम्पूर्ण राष्ट्र में फैला दी गई है। राजनैतिक सत्ता की वृद्धि के साथ नागरिक के अधिकारों का बढ़ना स्वाभाविक है। कर्त्तव्यों का क्षेत्र जितना ही बढ़ेगा, हमारे अधिकार भी उसी मात्रा में बढ़ते जायेंगे। वर्तमान राज्यों की सीमा इतनी बढ़ गई है कि उनमें नगरों तथा ग्रामों की गणना नहीं हो सकती। फिर भी उनके निवासियों के अधिकारों में समानता का भाव रखना पड़ता है। भविष्य में अंतर्राष्ट्रीय जीवन की वृद्धि के आभास अभी से मिल रहे हैं। यदि ऐतिहासिक प्रगति ऐसी ही रही तो स्वदेशी और विदेशी का अन्तर भी दूर हो जायगा।

**नागरिक और राज्य**

'नागरिक' शब्द के ठीक-ठीक अर्थ को समझने के लिये राज्य से उसके सभी सम्बन्धों को जानना होगा। यदि हमें राज्य के उद्देश्य मालूम हो जाँय तो नागरिक का भी ध्येय स्पष्ट हो जायगा। आरम्भ से अब तक दो विरोधी मत प्रचलित हैं। एक इस बात पर बल देता है कि नागरिक सब कुछ है और राज्य स्वयं कोई वस्तु नहीं है। दूसरा मत राज्य को ही सब कुछ मानता है और नागरिक को कोई अधिकार प्रदान नहीं करता। परन्तु ठीक रास्ता इन दोनों के बीच का है। नागरिक के बिना राज्य की और राज्य के बिना नागरिक की कोई स्थिति नहीं है। दोनों एक दूसरे से बीज और फल की तरह मिले हुये हैं। जिस राज्य में नागरिक सुखी प्रसन्न और चरित्रवान है, वह सभी दृष्टियों से

उन्नतिशील गिना जाता है। राष्ट्रीय उन्नति नागरिक के संगठन का परिणाम है। शासन की बागडोर नागरिक के हाथ में रहती है। राज्य नागरिक की उन्नति का साधन है। उसकी शारीरिक अथवा मानसिक उन्नति का उत्तरदायित्व राज्य पर ही निर्भर है। राज्य इस बात का अवसर तथा सुविधायें प्रदान करे कि नागरिक अपनी उन्नति कर सके।

**ग्राम और नगर**

भारत में ग्राम और नगर दोनों ही हैं। ग्राम के रहने वाले ग्रामीण और नगर के रहने वाले नागरिक कहलाते हैं। परंतु यह अर्थ केवल शाब्दिक है। शास्त्रीय विधि के अनुसार दोनों ही स्थानों में रहने वाले नागरिक कहलाते हैं। जो अधिकार किसी नागरिक को नगर में प्राप्त है वही एक गाँव में भी उसे है। इनमें जो थोड़ा अन्तर दिखलाई पड़ता है उसका कारण यह है कि दोनों जगहों की रहन-सहन में अन्तर है। राज्य में ग्राम अथवा नगर दोनों का नागरिक एक है। दोनों के अधिकार समान हैं। शासन-विधान में दोनों को समान अवसर दिये जाते हैं। शिक्षा आदि की सुविधायें दोनों के लिये एक सी दी जाती हैं। चूँकि ग्राम का जीवन संगठित नहीं है, आवागमन के साधन पर्याप्त नहीं हैं, शिक्षा की कमी है, इसीलिये ग्रामीण नागरिक अपने अधिकारों का उतना उपयोग नहीं कर पाता जितना शहर का नागरिक। ग्रामों का संगठन हो रहा है। ग्रामीण नागरिक का भविष्य उज्ज्वल दिखलाई पड़ रहा है। ९० प्रतिशत भारतीय जनता ग्रामों में रहती है। यदि ग्रामीण नागरिकों को राष्ट्रीता की पूरी शिक्षा दे दी गई तो हमारे देश की विशेष उन्नति होगी। हमारे ग्राम राष्ट्रीय जीवन की जड़ हैं। संसार में कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ नगर और ग्राम में राजनैतिक दृष्टि से कोई भेद दिखलाई पड़े। यह प्रगति हमारे देश में भी है, परन्तु सामाजिक रहन-सहन की कमी के कारण आज ग्रामीण नागरिक हमें भिन्न दिखलाई दे रहे हैं।

**अनागरिक**

जो नागरिक नहीं हैं वे अनागरिक कहलाते हैं। अनागरिक संख्या में नागरिकों से कम होते हैं। किसी जाति विशेष से नागरिकता निश्चित नहीं की जाती। किसी भी जाति का मनुष्य नागरिक हो सकता है। एक राज्य का निवासी दूसरे राज्य में अनागरिक कहलाता है। नागरिक को राजनैतिक और सामाजिक दोनों अधिकार प्राप्त होते हैं, परन्तु अनागरिक को राजनैतिक अधिकार नहीं दिये जाते। वह किसी राज्य में वोट नहीं दे सकता और न किसी ऊँचे सरकारी पद पर नियुक्त किया जा सकता है। सामाजिक अधिकारों में नागरिक और अनागरिक में कोई भेद नहीं है। दोनों किसी सभा-सम्मेलन में व्याख्यान दे सकते हैं। दोनों स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। दोनों की रक्षा का उत्तरदायित्व सरकार पर समान

है। सभी सामाजिक सुविधाएँ अनागरिक को भी प्राप्त रहती हैं। उसकी इच्छा पर है कि वह उनसे लाभ उठाये। आधुनिक अनागरिक और यूनान के प्राचीन अनागरिक में पृथ्वी आकाश का अन्तर है। वर्तमान समय में कोई भी अनागरिक किसी का दास नहीं है। यूनान में अनागरिक गुलाम समझे जाते थे। वे नागरिकों की एक प्रकार की सम्पत्ति थे। जिसके घर में जितने अधिक अनागरिक थे वह उतना ही धनी समझा जाता था। इसीलिये वहाँ अनागरिकों की संख्या नागरिकों से दूनी तथा चौगुनी तक हुआ करती थी। लेकिन अब ऐसी बात नहीं है। अनागरिक उसी प्रकार स्वतंत्र हैं जैसे नागरिक। अनागरिकों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—स्वदेशी और विदेशी। सभी विदेशी अनागरिक समझे जाते हैं। इसी प्रकार अपने ही देश में बहुत से स्वदेशी अनागरिक होते हैं। थोड़े दिन पहिले लगभग सभी देशों में स्त्रियाँ अनागरिक समझी जाती थीं। उन्हें राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। अब भी कुछ देश हैं जहाँ स्त्रियाँ अनागरिक हैं। लम्बी जेल की सजायें काटने वाले प्रायः अनागरिक घोषित कर दिये जाते हैं। शारीरिक त्रुटियों तथा पागलपन के कारण भी नागरिक अनागरिक बन जाते हैं। जिसने दिवाला कर दिया है वह अनागरिक समझा जाता है। कोई भी अनागरिक कुछ शर्तों को पूरा करने के बाद अपने आपको नागरिक बना सकता है।

**नागरिकता**

नागरिकता एक कानूनी पद ( Legal Status ) है जो केवल नागरिक को दिया जाता है। राज्य की ओर से यह पद उसे प्रदान किया जाता है। इसके अन्तर्गत कुछ राजनैतिक अधिकार उसे नागरिकता के प्रमाण-स्वरूप दे दिये जाते हैं। समय-समय पर सरकार इस बात की जाँच करती है कि वह इस अधिकार का दुरुपयोग तो नहीं करता। जो कोई इस अधिकार का अनुचित प्रयोग करता है उसे दंड दिया जाता है और कभी-कभी वह नागरिकता से वंचित भी कर दिया जाता है। इसी पद के अन्तर्गत नागरिक के सम्पूर्ण कर्त्तव्यों और अधिकारों का समावेश होता है। नागरिक का सम्बन्ध कुटुम्ब, ग्राम, जिला, राज्य तथा विभिन्न संस्थाओं से रहता है। प्रत्येक के प्रति उसका कुछ न कुछ कर्त्तव्य है, क्योंकि उन सबसे उसे लाभ पहुँचता है। नागरिकता इस सम्बन्ध को निश्चित करती है। यही सामाजिक जीवन में एकता प्रदान करती है। इसे प्राप्त करना राज्य में प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। नागरिकता से वंचित व्यक्ति अपना विकास नहीं कर सकता। व्यक्तिगत जीवन में इसकी उपयोगिता न हो, परन्तु आधुनिक युग सामाजिक एकता का युग है। जब तक मनुष्य किसी संगठन का सदस्य न होगा, तब तक उसका जीवन उपयोगी नहीं हो सकता। राज्य सबसे बड़ा संगठन है। इसलिये इसका सदस्य बनकर व्यक्ति अपना विकास कर सकता है। इसकी सदस्यता का

नियम ही नागरिकता का द्योतक है। जिसे यह प्राप्त नहीं है, वह राज्य का सदस्य नहीं है। जो जिस राज्य का नागरिक है, वह उसका सदस्य भी है। एक ही व्यक्ति दो राज्यों की नागरिकता प्राप्त नहीं कर सकता। वह एक राज्य की नागरिकता को छोड़ कर, कुछ शर्तों को पूरा करके दूसरे राज्य में इसे प्राप्त कर सकता है।

सच्ची नागरिकता के अन्दर अपने देश के प्रति सेवा और त्याग की प्रेरणा होती है। जो व्यक्ति अपने कुटुम्ब, समाज तथा राष्ट्र की सेवा को अपना कर्त्तव्य समझता है वही सच्चा नागरिक है। माता, पिता, पुत्र, भाई आदि अपने-अपने कर्त्तव्य का ध्यान रक्खें, तथा एक दूसरे के प्रति अपनी सहानुभूति का प्रदर्शन करते रहें, यही सच्ची नागरिकता का प्रमाण है। राष्ट्र का सदस्य होते हुए भी कोई व्यक्ति कुटुम्ब अथवा छोटे-छोटे अन्य समूहों के प्रति कर्त्तव्यहीन हो सकता है। वह सच्चा नागरिक नहीं कहा जा सकता। कर्त्तव्यशील वही है जो छोटे-बड़े सभी कामों का ध्यान रखता है। नागरिकता कोई दिखलावटी वस्तु नहीं है। इसका उपयोग और दुरुपयोग नागरिक की इच्छा पर निर्भर है। सच्ची नागरिकता अपने आप पैदा होती है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के आदर्श जीवन से है। आदर्शवादी प्रायः सच्चे नागरिक होते हैं। चरित्रवान व्यक्ति भी नागरिकता का सच्चा पुजारी होता है। अधिकार के साथ नागरिकता एक प्रकार की राष्ट्रीय भावना है जो मनुष्य को समाज-सेवा की ओर अग्रसर करती है।

**नागरिकता की कसौटी**

जब राज्य में सभी नागरिक नहीं हैं तो यह कैसे जाना जाय कि कौन नागरिक और कौन अनागरिक है। सरकार को अपने राज्य में इसके लिये कुछ नियम बनाना पड़ता है। लगभग सभी देशों में ये नियम पाये जाते हैं। इन्हीं से नागरिक और अनागरिक का भेद जाना जाता है। कुछ देशों में नागरिकता जन्म से मानी जाती है। प्रत्येक नागरिक माता-पिता की सन्तान को अपने राज्य में नागरिक कहलाने का पूर्ण अधिकार है। यूनान तथा रोम में प्राचीन काल में जन्म से ही नागरिकता का निर्णय किया जाता था। यदि किसी लड़के का जन्म रोमन माता पिता से रोम साम्राज्य के बाहर भी होता तो वह रोम का नागरिक समझा जाता था। आज भी इटली तथा फ्रांस में यही नियम प्रचलित है। यूरुप के बहुत से देश इसी नियम को मानते हैं। यदि इटैलियन स्त्री-पुरुष से भारत में कोई लड़का पैदा हो तो वह इटली का नागरिक समझा जायगा। परन्तु यदि स्त्री इटैलियन हो और पुरुष विदेशी तो उससे उत्पन्न बालक इटली का नागरिक नहीं माना जाता। किसी विदेशी स्त्री-पुरुष से इटली में कोई लड़का पैदा हो तो उसे इटली की नागरिकता प्राप्त नहीं होती। प्रत्येक देश में एक निश्चित आयु के नीचे

किसी को नागरिकता प्राप्त नहीं हो सकती। भारत में २१ वर्ष की आयु से कम व्यक्ति को नागरिकता नहीं दी जाती।

जन्म के अतिरिक्त नागरिकता की एक दूसरी भी कसौटी है। वह है राज्य में निवास-स्थान। यदि कोई व्यक्ति, चाहे वह स्वदेशी हो या विदेशी, एक निश्चित अवधि तक किसी राज्य में रहे तो वह वहाँ का नागरिक मान लिया जाता है। एक लड़का, चाहे वह विदेशी ही स्त्री-पुरुष से क्यों न हो, किसी राज्य में पैदा हो तो वह एक निश्चित आयु के बाद वहाँ का नागरिक हो जाता है। अर्जेन्टाइना में यही नियम प्रचलित है। यदि किसी भारतीय स्त्री-पुरुष से वहाँ लड़का उत्पन्न हो तो वह अर्जेन्टाइना का नागरिक समझा जायगा। अर्जेन्टाइना राज्य की सीमा के अन्दर जिसका भी जन्म होगा वह वहाँ का नागरिक समझा जायगा। परन्तु वहीं के माता-पिता से विदेशी भूमि में उत्पन्न सन्तान वहाँ का नागरिक नहीं कहला सकती। पहले में नागरिकता जन्म से मानी जाती है और दूसरे में स्थान से।

इन दोनों सिद्धान्तों के अतिरिक्त नागरिकता की एक तीसरी भी कसौटी है। अमेरिका में नागरिकता स्थान और जन्म दोनों से मानी जाती है। यह कसौटी कोई नई नहीं है, बल्कि उन्हीं दोनों के मेल से बनाई गई है। संसार में कहीं भी यदि अमेरिकन स्त्री-पुरुष से कोई सन्तान होगी तो वह अमेरिका का नागरिक कहलायेगी। इसके अतिरिक्त यदि विदेशी स्त्री-पुरुष से कोई सन्तान अमेरिका के अन्दर होगी तो वह भी अमेरिका की नागरिक कहलायेगी। नागरिकता का यह सिद्धान्त बहुत ही व्यापक है। इंगलैंड में नागरिकता इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रदान की जाती है। किसी-किसी राज्य में नागरिकता पुरुष से ही मानी जाती है। अर्थात् लड़का उस राज्य का नागरिक माना जाता है जहाँ का उसका पिता नागरिक हो। कुछ राज्यों में नागरिकता का विचार स्त्री के वंश से किया जाता है। अर्थात् लड़का उस राज्य का नागरिक समझा जाता है जहाँ की उसकी माता नागरिक होती है।

नागरिकता का ठीक-ठीक निर्णय करना एक जटिल विषय है। कभी-कभी तो एक ही व्यक्ति दो राज्यों की नागरिकता का अधिकारी हो जाता है। किसी अंगरेज स्त्री-पुरुष से फ्रांस में कोई सन्तान हो तो वह इंगलैण्ड तथा फ्रांस दोनों की नागरिक कहलायेगी। ऐसी दशा में उस व्यक्ति के लिये यह कठिनाई होती है कि वह किसकी नागरिकता को स्वीकार करे और किसका परित्याग। साधारणतया पाठकगण यह समझते होंगे कि उसे दोनों राज्यों का नागरिक रहकर दोनों से लाभ उठाना चाहिये। लेकिन यह बात नियम विरुद्ध है। एक ही व्यक्ति दो राज्यों का नागरिक नहीं रह सकता। ऐसा इसलिये किया गया है कि व्यक्ति का

उत्तरदायित्व एक ही राज्य पर पूर्णतया रह सके। मान लीजिये इंगलैंड और फ्रांस में लड़ाई छिड़ गई, या इनमें से किसी एक से एक तीसरे राज्य से लड़ाई आरम्भ हुई तो दोनों राज्य अपने अपने नागरिक को लड़ाई के लिए तैयार होने की आज्ञा देंगे। ऐसी दशा में एक ही नागरिक दोनों जगह काम नहीं कर सकता। या तो वह इंगलैंड का नागरिक बन कर लड़े या फ्रांस का। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये २० या २१ वर्ष की आयु तक सन्तान को यह निश्चित कर लेना पड़ता है कि वह इंगलैंड का नागरिक बनकर रहना चाहता है अथवा फ्रांस का। उसे एक राष्ट्र की नागरिकता का परित्याग करना पड़ता है। कभी-कभी इन्हीं उलझनों में पड़कर व्यक्ति को दोनों की नागरिकता से हाथ धोना पड़ता है।

नागरिकता की विभिन्न कसौटियों में कौन सबसे अच्छी है, यह कहना कठिन है। जन्म अथवा स्थान दोनों से नागरिकता का क्षेत्र सीमित और संकुचित हो जाता है। कठिनाई यह आती है कि किस व्यक्ति को हम किस राष्ट्र का नागरिक कहें। जन्म से नागरिकता मानने में यह कठिनाई दूर हो जाती है। जो व्यक्ति जिस राष्ट्र के माता-पिता से उत्पन्न हो वह उसी का नागरिक समझा जाय। या जिस भूमि में उत्पन्न हो उसका नागरिक माना जाय। कभी कभी विदेश यात्रा में यदि किसी स्त्री को सन्तान उत्पन्न हो जाती है, और उसकी नागरिकता स्थान पर निर्भर करती है, तो बच्चा सदैव के लिये विदेशी बन जाता है। माता की इच्छा रहते हुए भी वह अपने राष्ट्र का नागरिक नहीं कहलाता। मान लीजिये भारत में एक लड़का विदेशी माता-पिता से पैदा होता है। माता अमेरिकन है और पिता अफ्रीका का निवासी। अब हम बच्चे को किस राष्ट्र का नागरिक कहें। इस प्रकार की कठिनाई प्रत्येक राज्य में प्रतिवर्ष कुछ-न-कुछ उत्पन्न होती रहती है। अब भी नागरिकता का क्षेत्र बहुत ही संकुचित है। अच्छा हो कि जो जिस राज्य में रहना चाहे वह उसका नागरिक समझा जाय। स्त्री, पुरुष, जाति, रंग, नीच, ऊँच के आधार पर नागरिकता का निर्णय ठीक नहीं है।

**नागरिकता की प्राप्ति**

प्रत्येक राज्य में इस बात का विधान है कि किसी विदेशी को नागरिक बनाना हो तो क्या करना चाहिये। या किसी की नागरिकता विलुप्त हो चुकी हो तो वह पुनः कैसे प्राप्त हो। यदि ऐसा न हो तो राष्ट्र के राष्ट्र अनागरिकों से भर जायँ। विदेशियों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक तो वे जो सदैव के लिए अपनी मातृभूमि छोड़ कर विदेशों में जाकर बस जाते हैं। वहीं कृषि या व्यापार से अपना जीवन व्यतीत करते हैं। विदेश ही उनकी मातृ-भूमि हो जाती है। दूसरे प्रकार के विदेशी वे हैं जो थोड़े दिनों के लिये केवल यात्रा के उद्देश्य से या किसी आवश्यक कार्य से विदेशों में चले जाते हैं। चूँकि

वे अपने राज्य के नागरिक हैं इसलिये उन्हें किसी अन्य देश की नागरिकता से कोई प्रयोजन नहीं है। वे साल छः महीने में घूम कर अपने देश को वापिस आ जाते हैं। परन्तु पहले प्रकार के विदेशी, जो अपनी जन्मभूमि को सदैव के लिये छोड़ चुके हैं, अपनी नागरिकता को खो बैठते हैं। उनके लिये किसी और राज्य की नागरिकता प्राप्त होनी चाहिये। सभी राज्यों में यह नियम पाया जाता है कि विदेशी को सम्पूर्ण सामाजिक अधिकार प्राप्त हों। इसके लिये नागरिक और अनागरिक में कोई भेद नहीं किया जाता। राजनैतिक अधिकार विदेशी या अनागरिक को नहीं दिये जाते।

अनागरिक को नागरिक बनाने के कई विधान बनाये गये हैं। विदेशियों की सुविधा के लिये ऐसा किया गया है। ये विधान सभी राज्यों में विभिन्न प्रकार के हैं। एक नियम लगभग सब में पाया जाता है। वह है देशीयकरण (Naturalisation)। इसके लिये विदेशी को किसी सरकारी अफसर के पास दरखास्त देनी पड़ती है कि वह अमुक राज्य का नागरिक बनना चाहता है। कुछ शर्तों की पूर्ति भी उसे करनी पड़ती है। जब यह दरखास्त स्वीकार हो जाती है तो वह उसका नागरिक होता है। फिर उसे समस्त राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। राज्य की ओर से उसे एक प्रमाणपत्र दे दिया जाता है कि वह नागरिक बना लिया गया। देशीयकरण के लिए दो शर्तें आमतौर से पाई जाती हैं। एक है किसी निश्चित अवधि तक उस देश में निवास करना। इंगलैंड में देशीयकरण के लिये विदेशी को कम से कम ५ वर्ष रहना चाहिये। अमेरिका में भी यही अवधि निश्चित की गई है। विभिन्न राज्यों में यह अवधि विभिन्न प्रकार की है—कहीं ७ वर्ष की कहीं १० वर्ष की। देशीयकरण के लिये दूसरी प्रचलित शर्त है राज-भक्ति की शपथ लेना। जो जिस राज्य का नागरिक बनना चाहता है उसे राष्ट्र-भक्ति की शपथ लेनी पड़ती है। इन दोनों शर्तों के अतिरिक्त कुछ और भी शर्तें हैं जो सब राज्यों में समान नहीं हैं। जैसे राष्ट्र भाषा का ज्ञान, नैतिक चरित्र, प्रचलित शासन पद्धति में विश्वास, अथवा भरण-पोषण कर सकना, भूमि या अन्य सम्पत्ति खरीदना इत्यादि। अमेरिका में देशीयकरण के नियम बहुत ही कठोर हैं। काले रंग के मनुष्य वहाँ नागरिकता नहीं प्राप्त कर सकते। एशिया महाद्वीप के निवासियों को कम नागरिकता प्रदान की जाती है। प्रत्येक नागरिक को अमेरिका की शासन-पद्धति और वहाँ का इतिहास जानना पड़ता है।

देशीयकरण के अतिरिक्त विवाह से भी नागरिकता प्राप्त की जाती है। यदि कोई स्त्री किसी देश की नागरिकता प्राप्त करना चाहे तो वह वहाँ के किसी नागरिक से विवाह कर ले। इसके पश्चात् वह अपने पति की तरह वहाँ की नागरिक बन जाती है। परन्तु रूस में यह नियम मान्य नहीं है। यदि एक राज्य किसी दूसरे

राज्य पर अपना अधिकार कर ले तो हारे हुये राज्य के समस्त नागरिक विजयी राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेते हैं। कुछ देशों में यदि विदेशी कोई सरकारी पद प्राप्त कर ले तो वह वहाँ का नागरिक बन जाता है। जब एक राज्य किसी दूसरे राज्य का कुछ भाग मोल ले लेता है तो लिये हुये भाग के समस्त नागरिक नये राज्य की नागरिकता के अधिकारी हो सकते हैं। आलास्का को अमेरिका ने १८६७ ई० में रूस से खरीद लिया। परन्तु वहाँ के निवासी अमेरिका के नागरिक नहीं बन सके। इंगलैंड में यह नियम है कि अँग्रेजी जहाज पर जन्म लेने वाला, चाहे उसके माता-पिता अंगरेज़ न भी हो, बृटिश नागरिक माना जाता है।

बनावटी और स्वाभाविक नागरिकों में कोई भेद नहीं किया जाता। दोनों को वहाँ की सरकार एक दृष्टि से देखती है। राजनैतिक कार्रवाइयों में दोनों समान रूप से भाग ले सकते हैं। स्वाभाविक और देशीयकरण द्वारा बनाये गये नागरिकों में कोई लिखित भेद न होते हुये भी कुछ परिपाटियाँ भेद को नहीं मिटा सकतीं। इंगलैंड की नागरिकता प्राप्त करने पर भी कोई भारतीय हाउस आफ लार्ड्स् का सभापति नहीं बन सकता। बनावटी नागरिक अमेरिका का सभापति तथा उपसभापति नहीं हो सकता। १९२४ के पहले इंगलैंड में बहुत सी नौकरियाँ वहाँ के स्वाभाविक नागरिकों को ही दी जाती थीं। परन्तु १९२४ के एक नये कानून से सभी नागरिक समान समझे जाते हैं।

**नागरिकता का लोप**

जब नागरिकता प्राप्त की जा सकती है तो उसका लोप भी हो सकता है। स्वाभाविक नागरिक की भी नागरिकता छीन ली जाती है। जो बनावटी नागरिक हैं, उन्हें भी इस अधिकार से कभी-कभी वंचित होना पड़ता है। यदि कोई स्त्री किसी दूसरे देश के नागरिक से विवाह कर ले तो वह अपनी नागरिकता खो बैठती है। भारतीय स्त्री किसी विदेशी से विवाह करे तो वह भारतीय नागरिक नहीं रह सकती। नागरिकता इसलिये भी छीन ली जाती है कि नागरिक किसी विदेशी राज्य में सरकारी नौकरी कर लेता है। नागरिक जब चाहे नागरिकता से त्यागपत्र दे सकता है। अपने देश में अनागरिक बनकर उसे रहने का पूर्ण अधिकार है। परन्तु सरकारी कर देने अथवा आवश्यकता पड़ने पर सैनिक का कार्य करने से वह आनाकानी नहीं कर सकता। जब नागरिक बहुत दिनों तक अपनी मातृभूमि से अनुपस्थित रहता है तो अपनी नागरिकता का अधिकारी नहीं समझा जाता। एक जर्मन निवासी लगातार ४ वर्ष तक जर्मनी से बाहर रहे तो वह जर्मनी का नागरिक नहीं रह जाता। सेना से भागा हुआ सिपाही अनागरिक घोषित कर दिया जाता है। कुछ और भी अपराध हैं जिनमें पकड़ा गया नागरिक अपनी नागरिकता खो बैठता है। सरकारी नौकरी से बहिष्कृत अथवा विदेशी राज्य की आज्ञा को मानने

वाला अपनी नागरिकता का अधिकारी नहीं रह जाता। दुर्व्यवहार के कारण भी नागरिक अपने कतिपय अधिकारों से वंचित कर दिये जाते हैं। ऊपर के सभी नियम किसी एक ही राज्य में नहीं पाये जाते, बल्कि सभी राज्यों में नागरिकता के लोप होने का विधान अलग अलग है। कुछ राज्यों में यदि कोई नागरिक भिखारी का पेशा करने लगे तो वह अपनी नागरिकता से हाथ धो बैठता है। पागल होने पर कोई व्यक्ति नागरिक नहीं रह जाता। नागरिक अपने अधिकार किसी दूसरे नागरिक को नहीं दे सकता। नागरिकता बदली नहीं जा सकती। अपनी नागरिकता को कोई बेंच नहीं सकता। साधु, सन्यासी फकीर आदि व्यक्तियों को नागरिकता से कोई प्रयोजन नहीं है।

**भारतीय नागरिक**

भारत में रहने वाले १७ करोड़ व्यक्ति भारतीय नागरिक हैं। स्त्री-पुरुष दोनों को हमारे देश में समान नागरिकता प्राप्त है। ऊँच, नीच, जाति-पाँत का कोई भेद नहीं किया गया है। किसी पेशे के करने का निषेध भी नहीं है। कोई भी पेशा करे वह भारतीय नागरिक है। विदेशी हमारे देश में नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं। इतनी सुविधा होते हुए भी अब तक भारतीय नागरिकों को वह स्वतन्त्रता नहीं रही है जो स्वतन्त्र देश वाले नागरिकों को प्राप्त हैं। हमारे देश में सरकार किसी व्यक्ति को जब चाहे गिरफ़्तार कर वर्षों जेल में रख सकती थी। नागरिक को यह स्वतन्त्रता नहीं थी कि वह अपना मुकदमा कचहरी में पेश कर सके। नागरिकों की राय के विरुद्ध गवर्नर जनरल फ़रमान जारी कर सकते थे। यद्यपि भारत बृटिश साम्राज्य का एक प्रधान अंग था, परन्तु भारतीय-नागरिक को यह स्वतन्त्रता नहीं थी कि वह बृटिश साम्राज्य में जहाँ चाहे रहे और उसको नागरिकता प्राप्त कर ले। फौजी महकमें में बहुत-सी नौकरियाँ भारतीय नागरिक को नहीं मिल सकती थीं। भारतीय प्रेस भी स्वतन्त्र नहीं थे। किसी भी समय उसकी तलाशी ली जा सकती थी। भारतीय नागरिक अपने विचारों को प्रकट करने में स्वतन्त्र नहीं थे। इनका पत्र पढ़ा जा सकता था और सरकार उसे जब्त कर सकती थी। सभासोसाइटी पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये जाते थे। काँग्रेस की अनेक सभाओं पर रुकावटें लगाई जा चुकी हैं। और देशों में नागरिक को कुछ श्रेणी तक निःशुल्क और अनिवार्य रूप से शिक्षा दी जाती हैं परन्तु भारतीय नागरिक इन दोनों से वंचित रक्खे गये थे। सरकार की ओर से नागरिक के काम-काज की कोई व्यवस्था नहीं थी।

इन उद्धरणों से स्पष्ट हैं कि भारतीय नागरिकता पूर्ण नहीं थी। इसके विकास के लिये साधनों की कमी रही है। काँग्रेस गत ६० वर्षों से इस बात की माँग करती रही है कि राष्ट्र की सभी सुविधायें भारतीय नागरिकों को मिलनी चाहिए। विदेशों में इनका स्थान ऊँचा नहीं रहा है। जब स्वयं बृटिश साम्राज्य उन्हें

अछूत समझता रहा है तो और राज्यों की बात ही क्या है। १५ अगस्त १९४७ ई० से स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर ये समस्त असुविधायें दूर कर दी गई हैं।

**आदर्श नागरिक**

राज्य इस बात का प्रयत्न करता है कि अच्छे नागरिक पैदा हों। इसके लिये उसे तरह-तरह की सुविधायें देनी पड़ती हैं। शिक्षा का प्रचार तथा कला कौशल का प्रबन्ध करना पड़ता है। न्याय और एकता का ध्यान रखना पड़ता है। देश में शान्ति रखनी होती है। देश में तरह तरह के व्यवसाय को बढ़ाकर नागरिकों के भोजन आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है। यदि ये सुविधायें सरकार की ओर से प्राप्त न हों तो अच्छे नागरिक पैदा नहीं हो सकते। लार्डब्राइस का कहना है कि आदर्श नागरिक में तीन गुणों का होना आवश्यक है—चमत्कार, आत्मसंयम और सहानुभूति। नागरिक को राजनैतिक तथा सामाजिक प्रबन्ध में भाग लेना पड़ता है। उसमें इतनी बुद्धि अवश्य होनी चाहिए कि वह भले बुरों को पहचान सके। वह उन्हीं को वोट दे जिन्हें वह योग्य समझता है। विधान मंडलों में कभी-कभी अयोग्य व्यक्ति आ जाते हैं। यदि जनता अपनी नागरिकता का मूल्य समझती और बुद्धि से काम लेती तो अयोग्य व्यक्ति को कोई उत्तरदायी काम न देती।

आत्मसंयम के बिना नागरिक अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता। यह भाव मनुष्य में तभी आ सकता है जब उसमें आज्ञापालन की शक्ति हो। नागरिक को चाहिए कि वह अपने स्वार्थ के सामने समाज हित को बड़ा समझे। स्वार्थी मनुष्य आदर्श नागरिक नहीं होता। राष्ट्र की सच्ची सेवा वही कर सकता है जो अपने स्वार्थ के साथ अपने पड़ोसी की सुविधाओं का ध्यान रखता है। परन्तु इस आज्ञापालन के अन्दर भय तथा कमजोरी का भाव नहीं होना चाहिए।। इससे आत्मसंयम के बदले आत्मसंकोच का भाव पैदा होगा। आदर्श नागरिक में भय तथा कमजोरी नहीं होनी चाहिए। इंगलैंड का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लास्की लिखता है "सरकारी आज्ञा का वहीं तक पालन करना चाहिए जहाँ तक उसमें आत्म-उन्नति का समावेश है।" आदर्श नागरिक का तीसरा लक्षण सहानुभूति है। प्रेम के बिना आत्मसंयम और शान्ति असम्भव है। जब तक हमारा हृदय इतना उदार नहीं है कि हम औरों पर अपने गुणों का प्रभाव डाल सकें तब तक हमारे सभी प्रयत्न समाज हित के लिये निष्फल सिद्ध होंगे। सहानुभूति से नागरिक ईर्ष्या, क्रोध आदि बुराइयों का शिकार नहीं बनता।

ह्वाइट नामक एक राजनीतिज्ञ ने आदर्श नागरिक के तीन गुण बतलाये हैं। वे हैं बुद्धि, ज्ञान और लगन। बुद्धि का तात्पर्य है अपने सभी कामों को अच्छी तरह समझना। ज्ञान का अर्थ है सम्पूर्ण राष्ट्र की आवश्यकताओं को सोचकर मनुष्यमात्र की उन्नति की व्यवस्था करना। लगन का अर्थ है कार्य-कुशलता।

961

मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिये सदैव तत्पर रहे। नागरिक का कर्त्तव्य यही नहीं है कि वह सरकारी आज्ञा का पालन करता रहे। उसके कुछ और भी उत्तरदायित्व हैं। उसे राज्य की उन्नति करनी है और समाज को आगे बढ़ाना है। 'नागरिक कर्त्तव्य' एक व्यापक शब्द है जिसकी पूर्ति आदर्श नागरिक ही कर सकता है।

नागरिक के कर्त्तव्यों का कोई विभाजन नहीं है। उसके गुणों को भी हम टुकड़ों में नहीं बाँट सकते। आदर्श व्यक्ति ही आदर्श नागरिक है। जिसे मनुष्यत्व का ज्ञान है उसे नागरिकता का भी ध्यान होगा। आदर्श नागरिक में चरित्र, स्वावलम्बन, आत्मनिर्भरता, सहयोग, न्याय, स्फूर्ति, सेवाभाव आदि गुण होने चाहिए। इन्हीं गुणों से समाज की भलाई होती है। यदि नागरिक के अन्दर पक्षपात और साम्प्रदायिकता का भाव आया तो उसका और समाज दोनों का पतन होगा। हमारे देश में आदर्श नागरिकों का अभाव है। इसका मूल कारण बृटिश सरकार की उदासीनता रही है। देश में बेकारी और गरीबी इतनी अधिक रही है कि अधिकतर लोग अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही संलग्न रहते थे। यदि सरकार इसकी व्यवस्था करती तो लोगों का ध्यान कुछ ऊँची बातों की ओर लग सकता था। इन्हीं कारणों से अच्छी सरकार बीमा, बैंक, पेंशन, फंड आदि की व्यवस्था करती है। बीमारी के लिये दवाखानों का प्रबन्ध करती है। आदर्श नागरिक बनने के लिये नागरिक को सेवा कार्यों की ओर अधिक झुकना होगा। दीन-दुखियों का उसे ध्यान रखना होगा। सरकार भी इस बात का ध्यान रक्खे कि राज्य में गुंडे, निपढ़, चोर, डाकू पैदा न हों। शासन की व्यवस्था इतनी ठीक हो कि नागरिक की आत्म उन्नति में बाधा न पड़े।

भारतीय संस्कृति में आदर्श नागरिक के तीन लक्षण माने गये हैं—सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्। आदर्श नागरिक को देश और काल का विचार करके आगे चलना होगा। कानूनों का पालन नागरिक के लिये आवश्यक है। परन्तु आदर्श नागरिक सम्पूर्ण राष्ट्र को इसके पालन की ओर झुकाता है। सच्ची नागरिकता विश्व एकता का प्रधान लक्ष्य है और आदर्श नागरिक विश्व में आदर्श व्यक्ति माना जाता है। उसे अपने और विदेशी में कोई अन्तर नहीं रह जाता। उसकी दृष्टि मानव समाज को एक समान देखती है। ऊँच-नीच अथवा छोटे-बड़े का भेदभाव उसके मन से निकल जाता है। उसके जीवन से समाज में सहयोग का प्रचार होता है। कवियों ने उसका नाम 'संत' रक्खा है। तुलसीदास के निम्नलिखित पदों से उसके कुछ गुणों का आभास होता है।

पर उपकार वचन मन काया। संत सुभाउ सहज खगराया॥
संत उदय संतत सुखकारी। विश्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥

जब सच्ची नागरिकता इतनी ऊँची वस्तु है और सरकार को आदर्श नागरिकों से लाभ पहुँचाता है तो वे पैदा क्यों नहीं होते ? अच्छे कामों में बड़ी-बड़ी रुकावटें होती हैं। यहाँ भी हमें इन्हीं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

**आदर्श नागरिक बनने में कुछ बाधायें**

१—पहिली कठिनाई अज्ञानता की है। भारतीय जनता शिक्षित नहीं है। उसे इस बात का ज्ञान नहीं है कि सामाजिक जीवन का क्या महत्व है। सेवा को आम जनता बेकार समझती है। उसे अपने ही कामों से मतलब है। सभा सम्मेलन में भाग लेने से उसके काम में बाधा पड़ती है। उसे अपने ही कामों का महत्व दिखाई पड़ता है; औरों का नहीं। यदि उसकी अज्ञानता दूर हो जाय तो वह एक आदर्श नागरिक बन सकती है। जब तक राष्ट्रीय शिक्षा न मिलेगी तब तक आदर्श नागरिक पैदा नहीं हो सकते।

२—दूसरी कठिनाई स्वार्थ की है। मनुष्य स्वभाव से अपने स्वार्थ को पहिले देखता है। अपना बच्चा सब को प्रिय है। स्वार्थ का सर्वथा परित्याग बहुत थोड़े लोग करते हैं। यदि ऐसा कोई है तो वह महापुरुष है। स्वार्थ इतनी बड़ी रुकावट है कि बड़े से बड़े सामाजिक कार्य नष्ट हो जाते हैं और सहयोग का अभाव हो जाता है। स्वार्थ से वशीभूत मनुष्य कर्त्तव्य का ध्यान नहीं रखता। अकसर देखा जाता है कि स्वार्थ हित के लिये लोग वोट खरीदते हैं, जनता में झूठी बातों का प्रचार करते हैं, लोगों को धोखा देते हैं, और एक दूसरे का प्राण तक ले लेते हैं। अमानुषिक भावों का प्रादुर्भाव स्वार्थ से होता है। इसी के लिये जनता के धन का दुरुपयोग किया जाता है और उस पर तरह-तरह के टैक्स लगाये जाते हैं। जब तक स्वार्थ हमारे जीवन का प्रधान अंग है तब तक हमारे कामों में सच्चाई का अभाव रहेगा। इस भावना से प्रेरित व्यक्ति आदर्श नागरिक नहीं बन सकता।

३—आदर्श नागरिक बनने में तीसरी कठिनाई पार्टी बन्दी की है। प्रजातन्त्र राज्य में पार्टी बन्दी कोई बुरी चीज नहीं है लेकिन यह किसी सिद्धान्त पर होनी चाहिये। स्वार्थ साधन के लिये पार्टी बनाना प्रजातन्त्र की हँसी उड़ाना है। गिरोह-बन्दी में जब स्वार्थ साधन का भाव है तो तरह-तरह के गन्दे विचारों का प्रादुर्भाव होगा। एक गिरोह का नागरिक दूसरे गिरोह को अपना शत्रु समझता है। वह प्रति क्षण उसकी बुराई में ही तल्लीन रहता है। समाज हित एक गौण विषय रह जाता है। कभी-कभी पार्टियाँ आर्थिक लाभ की दृष्टि से बनती हैं। सदस्यों के अन्दर राजनैतिक अथवा सामाजिक सेवा का भाव कम होता है। इसका प्रभाव आम जनता पर बुरा पड़ता है। वह शासकों की कार्यवाही को देखकर समाजहित को

ओर से उदासीन हो जाती है। जिस समाज में इस प्रकार के गिरोह बनते रहेंगे उसमें आदर्श नागरिक पैदा नहीं हो सकते।

५—भारत में आदर्श नागरिकों के अभाव के कुछ और भी कारण हैं। वर्ण व्यवस्था के कारण हमारा समाज टुकड़े-टुकड़े में विभाजित है। कार्य की दृष्टि से यह विभाजन कोई बुरी चीज नहीं है, लेकिन इनमें आपस में सहानुभूति का अभाव है। छुआ-छूत तथा ऊँच-नीच के कारण लोगों में सहयोग नहीं हो सकता। जाति पाँति की बीमारी इतनी भयंकर है कि हमें आगे नहीं बढ़ने देती। इसके अतिरिक्त हमारे देश में सांप्रदायिकता का भी चलन है। हिंदू-मुसलमान का प्रश्न इतना जटिल है कि दोनों एक साथ मिल कर उन्नति करने में हिचक करते हैं। आदर्श नागरिक इनमें तब तक पैदा नहीं होंगे जब तक ये कमजोरियाँ दूर न हो जायँ। थोड़े से लोग इन्हें दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं, लेकिन उनकी संख्या बहुत ही कम है। हमारे देश में राजनैतिक गिरोह भी जातीयता के आधार पर बनते हैं। इससे राष्ट्रहित में बाधा पड़ती है। जब हम सभी मनुष्य हैं, सभी एक देश में रहते हैं तो नीच-ऊँच'का सवाल कहाँ पैदा होता है। जब तक हमें धोती और पाजामें में अन्तर दिखाई देगा तब तक हम सच्चे नागरिक नहीं बन सकते। हमारे विचार तभी ऊँचे होंगे जब हम मनुष्य को मनुष्य समझें, उसे हिन्दू, मुसलमान, अछूत, ईसाई आदि न समझें। ऊँची नागरिकता अन्तर को नहीं देखती वरन् उसकी दृष्टि सहयोग की ओर रहती है।

६—सबसे बड़ी कठिनाई उदासीनता की है। बहुत से लोग सार्वजनिक कामों से सदैव उदासीन रहते हैं। वे समझते हैं कि दूसरे जब इस कार्य को कर रहे हैं तो उनकी क्या आवश्यकता है। उनका विचार है कि सामाजिक कार्यों की जिन पर जिम्मेवारी है वे करें। उन्हें यह मालूम नहीं है कि यदि सब लोग इसी प्रकार सोचने लगें तो क्या यह समाज एक दिन भी चल सकता है! ये जितने स्कूल, कालेज, क्लब, लाइब्रेरी आदि दिखलाई पड़ते हैं ये सब किसी न किसी के बनवाये हुये हैं। जिन वृक्षों के नीचे हम धूप से बचने के लिये विश्राम करते हैं और जिन कुओं से पानी पीते हैं, वे किसी-न-किसी के परिश्रम के ही फल हैं। जब हम दूसरे के परिश्रम से लाभ उठाते हैं तो क्या हमारा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है? सार्वजनिक कार्यों के लिये कोई एक मनुष्य जिम्मेवार नहीं है। किसी को भी इससे उदासीनता होने की आवश्यकता नहीं है। इसी उदासीनता के कारण आदर्श नागरिक बनने का भाव लोगों के अन्दर पैदा नहीं होता। लोग सामाजिक बुराई को देखते हुये भी आँखें बन्द रखते हैं। परिणाम यह होता है कि समाज में तरह-तरह की गन्दगी पैदा होती है और सभी लोग उसके शिकार बनते हैं। उन्हें यह मालूम नहीं पड़ता कि उनकी उदासीनता ही इन बुराइयों की जड़ है।

पढ़े लिखे लोग भी जब यही विचार रखते हैं तो भविष्य और भी अन्धकारमय मालूम पड़ता है।

यदि सच्ची नागरिकता लानी है तो इन बुराइयों को निकालना होगा। इसके स्थान पर अच्छे-अच्छे गुणों को रखना होगा। यह तभी सम्भव है जब राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार किया जाय। सामाजिक विचार तभी बन सकते हैं जब सामाजिक शिक्षा दी जाय। नागरिक शिक्षा नागरिकता की जड़ है। प्रजातन्त्र की सफलता के लिये यह शिक्षा अनिवार्य है। शारीरिक उन्नति के साथ लोगों में चरित्र-बल की वृद्धि करना होगा। चरित्रहीन मनुष्य अपना अथवा पराये का कोई हित नहीं करता। जब लोगों का आचरण ठीक होगा तभी उनके अन्दर सेवा के भाव पैदा होंगे; तभी उन्हें आदर्श का महत्व जान पड़ेगा। जब तक बुद्धि संकुचित रहती है तब तक मनुष्य पग-पग पर भय करता है। उसे किसी काम में दिलचस्पी नहीं होती। नागरिकता में उत्साह की बहुत बड़ी आवश्यकता है। आदर्श नागरिक बनने के लिये विध्वंसात्मक और रचनात्मक दोनों प्रकार के कामों की आवश्यकता है।

—:o:—

# अध्याय ३

## अधिकार और कर्त्तव्य

अधिकार और कर्त्तव्य का सम्बन्ध

नागरिक शास्त्र के अन्दर नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य का वर्णन किया जाता है। अधिकार और कर्त्तव्य दोनों सम्मिलित शब्द हैं। नागरिक को राज्य की ओर से कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। इन्हीं के बदले में उसे राज्य के प्रति बहुत से कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। जिस प्रकार लेन-देन दोनों शब्द साथ-साथ चलते हैं, और यह सम्भव नहीं कि लेने वाला तो हो, पर देने वाला न हो, उसी प्रकार यह भी सम्भव नहीं है कि अधिकार रहे परन्तु कर्त्तव्य न हो। जिसे थोड़ा भी अधिकार प्राप्त है उसे कर्त्तव्य का पालन करना होगा। पिता का पुत्र तथा स्त्री पर कुछ अधिकार होता है। वह पुत्र का जहाँ चाहे भेजे और जैसी चाहे शिक्षा दे, परन्तु उसके प्रति पिता के कर्त्तव्य भी बहुत हैं। पिता का यह धर्म है कि वह बच्चे को शिक्षा तथा भोजन-वस्त्र दे और कुमार्ग पर जाने से बचावे। राज्य में सरकार का व्यक्ति पर पूर्ण अधिकार है। लेकिन सरकार का कर्त्तव्य भी उससे कम नहीं है। उसे प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा करनी है। नागरिक की शिक्षा आदि का प्रबन्ध करना है। समाज की नैतिक उन्नति का ध्यान रखना पड़ता है। जिस प्रकार नागरिक के अधिकारों और कर्त्तव्यों का कहीं अन्त नहीं है उसी प्रकार सरकार के भी अधिकार और कर्त्तव्य अनन्त हैं। जो अपने कर्त्तव्यों को पूरा नहीं करता उसके अधिकार छीन लिये जाते हैं। कर्त्तव्य-हीन नागरिक अधिकार से वंचित कर दिया जाता है। अधिकार और कर्त्तव्य के सम्यक् ज्ञान से सत्कर्म की प्रेरणा होती है।

अधिकार और कर्त्तव्य तभी तक नागरिक के साथी हैं जब तक वह समाज में रहता है। एकान्त में रहने वाले व्यक्ति को न किसी अधिकार की आवश्यकता है और न कर्त्तव्य की। जब तक मनुष्य सामाजिक जीव के नाते समाज का एक अंग नहीं बनता तब तक उसे कोई अधिकार नहीं मिलते। जब उसका सम्बन्ध विभिन्न व्यक्तियों, संस्थाओं तथा संगठनों से होता है तब उसे अपना कर्त्तव्य दिखाई पड़ता है। जब कर्त्तव्य के पालन का प्रश्न उठता है तो उसे अधिकार की आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार दिन और रात का सम्बन्ध है उसी तरह अधिकार और कर्त्तव्य का। केवल एक से मनुष्य का काम नहीं चल सकता। जिसके अधिकार छीन लिये जाते हैं वह कर्त्तव्य-हीन हो जाता है। कैदी की स्वतन्त्रता छीन ली जाती है।

उसे यह अधिकार नहीं रह जाता कि जेल की दीवारों के बाहर निकल सके। परिणाम यह होता है कि वह अपने कुटुम्ब आदि के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने में असमर्थ हो जाता है। एक का अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य है और अपना कर्त्तव्य ही दूसरों का अधिकार है। वस्तु एक है, दो दृष्टियों से हम उसे देखते हैं। दोनों ही एक साथ चलते हैं। केवल एक से मनुष्य अपने कामों को पूरा नहीं कर सकता। अधिकार और कर्त्तव्य दोनों के रहते हुए भी राज्य को कुछ सुविधायें देनी पड़ती हैं जिसे मनुष्य इनका उपयोग कर सके। यदि राज्य की ओर से शान्ति, एकता, समानता आदि की व्यवस्था न हो तो अधिकार रखते हुए भी लोग अपने कर्त्तव्यों को पूरा नहीं कर पायेंगे। इन्हें पूरा करने के लिये नागरिक को किसी अंश तक स्वतन्त्रता भी चाहिये।

**अधिकार**

नागरिक का सबसे बड़ा अधिकार यह है कि उसे इस बात का अवसर दिया जाय कि वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करे। यदि उसे यह अधिकार नहीं मिला तो अन्य अधिकारों से उसे कोई लाभ नहीं है। अधिकार एक प्रकार की शक्ति है जिससे मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। 'हमारा' और 'तुम्हारा' शब्द बहुत ही प्राचीन हैं। इनसे अधिकारों की सीमा का ज्ञान होता है। अधिकार इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य औरों से अपना सम्बन्ध रखता है।

**अधिकार और शक्ति**

ऊपर कहा गया है कि अधिकार एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु जब हम गहराई के साथ विचार करते हैं तो हमें अधिकार और शक्ति में भेद मालूम पड़ता है। अधिकार मनुष्य को बाहर से मिलता है, लेकिन शक्ति अपने आप पैदा होती है। अधिकार से किसी कर्त्तव्य का ज्ञान होता है परन्तु शक्ति का कर्त्तव्य से कोई विशेष संबन्ध नहीं है। अधिकार का अपहरण किया जा सकता है, लेकिन शक्ति को कोई नहीं छीन सकता। वोट देने का नागरिक को एक अधिकार दिया गया है, परन्तु उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वह अपना वोट जिसे चाहे दे। किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह विवश कर किसी से वोट दिलवाये। मनुष्य अपने प्रत्येक काम को अपनी शक्ति द्वारा करता है, परन्तु उसे थोड़े ही काम ऐसे करने पड़ते हैं जिनमें अधिकार का ध्यान रखना पड़े। शक्ति और अधिकार का सम्बन्ध इतना ही है कि राज्य अथवा समाज की ओर से जिन शक्तियों को स्वीकृति मिल जाती है वे अधिकार बन जाया करती हैं। एक मनुष्य दूसरे की सम्पत्ति को नहीं ले सकता। लेकिन पुत्र को यह अधिकार प्राप्त है कि वह पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो। 'शक्ति' शब्द व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है, परन्तु अधिकार का सम्बन्ध राज्य और व्यक्ति दोनों से है।

**अधिकार की आवश्यकता**

अधिकार के बिना कोई समाज जीवित नहीं रहता। जब नागरिक को यह ज्ञान नहीं है कि उसे क्या-क्या अधिकार प्राप्त हैं तो बहुतों को वह हानि पहुँचा सकता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी सीमा के अन्दर रहे और एक दूसरे की उन्नति में बाधा न डाले यह अधिकार का मूल सिद्धान्त है। व्यक्ति को उतने ही अधिकार दिये जाते हैं जहाँ तक उन्हें निबाहने की उसमें शक्ति है। राजनीतिज्ञों का मत है कि एक समय ऐसा था जब कोई सामाजिक व्यवस्था न थी। मनुष्य जंगली अवस्था में था। उस समय किसी का कोई अधिकार सीमित न था। प्रत्येक की जो शक्ति थी वही उसका अधिकार था। परिणाम यह होता था कि मारपीट, कलह, द्वेष आदि का प्रचार था। अधिकार की सीमा ने समाज की रचना की। अधिकार से ही समाज की जड़ रोपी गई है। जब तक मनुष्य को समाज में रह कर एक दूसरे के प्रति कुछ करना है तब तक अधिकारों की उसे आवश्यकता है। यदि लोग अपने-अपने अधिकारों को भली-भाँति समझ लें और उन पर आचरण करें तो सभी लड़ाई-झगड़े तथा वैर-विरोध अपने आप नष्ट हो जायँ। अधिकारों के उल्लंघन से ही सामाजिक बुराइयाँ पैदा होती हैं। कुत्ते को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वह चाहे जिसे काट सकता है। परन्तु मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। यदि वह किसी को दुख देता है तो अपने अधिकार की सीमा को तोड़ता है। इसलिए सरकार उसे उचित दंड देती है। सरकार का कर्त्तव्य है नागरिक के अधिकार की रक्षा करना। यदि हमें सरकार की आवश्यकता है तो अधिकार भी हमें चाहिये। मनुष्य बन्धन को तभी स्वीकार करता है जब उसे कुछ लाभ हो। अधिकारों की आवश्यकता हमें इसलिये है कि हम अपने कर्त्तव्यों को पहचानें।

**अधिकारों के भेद**

अधिकार एक प्रकार की शक्ति है जिसे समाज ने व्यक्ति के लिये बनाया है। इसका उद्देश्य है व्यक्तित्व का विकास करना। अधिकारों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। राजनैतिक और सामाजिक अधिकार। इन्हीं दोनों के अन्दर नागरिक के समस्त अधिकार आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी अधिकार हैं जिन्हें थोड़े से लोग मानते हैं। अधिकारों की गणना नहीं है। जीवन के विकास के साथ अधिकारों की वृद्धि होती है। इसलिये अधिकार घटते-बढ़ते रहते हैं। इनकी वृद्धि से मनुष्य के विकास का आभास होता है। राष्ट्र की उन्नति का लक्षण है कि नागरिक को अधिक-से-अधिक अधिकार प्राप्त हों।

राजनीतिक अधिकार वे हैं जो नागरिक को राज्य की ओर से दिये जाते हैं। जब तक किसी व्यक्ति को ये अधिकार नहीं दिये जाते तब तक वह नागरिक नहीं कहलाता। ये अधिकार नागरिक को अपनी उन्नति करने का अवसर

देते हैं। राजनैतिक अधिकारों में ऐसी विशेषतायें हैं जो सामाजिक अथवा अन्य अधिकारों में नहीं पाई जातीं। राजनैतिक अधिकार समानता पर निर्भर हैं। राज्य की दृष्टि में धनी-गरीब, छोटे-बड़े सभी बराबर हैं। नागरिकता के नियम के अन्दर सभी एक हैं। धनी, गरीब जो भी अपने अधिकारों का दुरुपयोग करेगा और समाज को हानि पहुँचायेगा वह उचित दंड का भागी होगा। यदि ऐसा न हो तो न्याय का पालन नहीं हो सकता। राजनीति का अर्थ है न्याययुक्त शासन। इसलिये अधिकार भी न्यायसंगत होने चाहिये। राजनैतिक अधिकारों की दूसरी विशेषता है स्पष्टता। समस्त राजनैतिक अधिकार लिखे हुए होते हैं। अन्य अधिकारों में यह विशेषता नहीं है। ये सभी राज्यों में समान नहीं होते। जो अधिकार नागरिक को इङ्गलैंड में प्राप्त हैं वे जर्मन नागरिक को जर्मनी में नहीं हैं। विभिन्न शासन-पद्धति में भी एक ही देश में नागरिक के अधिकार बदलते रहते हैं। किसी समय प्रत्येक नागरिक कोई हथियार रख सकता था, लेकिन आज ऐसा नहीं है। मुख्य राजनैतिक अधिकार तीन हैं :—

**राजनीतिक अधिकार**

१—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हर आदमी को सभी नौकरियाँ मिल सकती हैं। कोई पद नागरिक को तभी मिल सकता है जब उसकी सभी शर्तों को वह पूरा करे। प्रत्येक नौकरी के लिये किसी सीमा तक शिक्षा की आवश्यकता होती है। सब के लिये थोड़ा अनुभव और अभ्यास रखना पड़ता है। राज्य की ओर से प्रत्येक स्थान की शर्तें नागरिक को सूचित कर दी जाती हैं। जो उन्हें पूरा करें वे उसके अधिकारी होते हैं। एक निर्धन आदमी को भी इस बात की स्वतंत्रता रहती है कि वह बड़े-से-बड़े पद को प्राप्त कर सके। जाति, कुल, रूप, रंग अथवा धर्म के कारण कोई नागरिक किसी पद से वंचित नहीं रक्खा जाता। सभी प्रजातन्त्र राज्यों में यह नियम बर्ता जाता है। शिक्षा और चरित्र का ध्यान सब में दिया जाता है। किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाता। हर एक सरकारी विभाग सभी योग्य व्यक्तियों के लिये एक समान खुला हुआ है। नागरिक के अतिरिक्त और किसी को यह अधिकार प्राप्त नहीं है। इस नीति का फल यह होता है कि राज्य के अच्छे से अच्छे नागरिक, चाहे धनी हों अथवा गरीब, सरकारी नौकरियों में आते रहते हैं। नागरिक को सरकार की टीका-टिप्पणी करने का अवसर कम मिलता है।

**सरकारी नौकरी सम्बन्धी अधिकार**

२—दूसरा राजनैतिक अधिकार निर्वाचन है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपल बोर्ड तथा विधान मंडल के सदस्यों के चुनाव में नागरिक को अपनी अनुमति देनी पड़ती है। निर्वाचन दो प्रकार से किये जाते हैं। एक में सम्पूर्ण नागरिक प्रत्यक्ष अपनी अनुमति

**निर्वाचन का अधिकार**

देते हैं। दूसरे में अप्रत्यक्ष रूप से अनुमति प्राप्त की जाती है। इस मताधिकार के लिये कुछ ऐसे बंधन हैं जो सभी नागरिकों पर एक समान लागू होते हैं पहला प्रतिबंध आयु का है। भारत में २१ वर्ष से कम आयु वालों को किसी प्रकार का निर्वाचन अधिकार प्राप्त नहीं है। किसी किसी देश में स्त्री-पुरुष में भी भेद किया गया है। किसी हद तक साम्पत्तिक योग्यता की भी आवश्यकता पड़ती है। विशेष अपराधियों को भी अपनी अनुमति देने का अधिकार नहीं दिया जाता। कहा जाता है कि शिक्षा और मत दोनों अधिकार साथ साथ चलते हैं। इस अधिकार को प्रदान करने में सरकार की यह नीति रहती है कि नागरिक अपने हित और अहित दोनों का ध्यान रक्खें। शिक्षा का प्रतिबंध इस दृष्टि से न्याय संगत है, परन्तु शेष रुकावटें नागरिकता की निर्बलता प्रकट करती हैं। धनाभाव के कारण किसी को मताधिकार से वंचित करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। राजनैतिक अधिकारों में यह सब से आवश्यक अधिकार है और प्रजातन्त्र का स्रोत यहीं से आरम्भ होता है। पूर्ण प्रजातन्त्र उसी को कहना चाहिये जिसमें प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के अपना मत देने का अधिकार हो।

विदेशी, अल्पवयस्क, विशेष अपराधी तथा सर्वथा अयोग्य व्यक्तियों को छोड़कर सभी नागरिकों को यह अधिकार मिलना चाहिये। आधुनिक युग, जो प्रजातन्त्र का युग कहलाता है, मताधिकार पर विशेष बल देता है। सभी लोग इस बात पर विचार कर रहे हैं कि यह अधिकार धनी, गरीब, पढ़े तथा अनपढ़ सब को प्राप्त होना चाहिये। इसके प्रति-पक्षी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि जो किसी प्रकार का टैक्स दे उसी को मताधिकार मिलना चाहिये। जनता के राज्य का यही अर्थ है कि शासन में सभी समान रूप से भाग लें। कानूनों के निर्माण में सब को स्वतन्त्रता होनी चाहिए और बुरे कानून के बहिष्कार का भी उन्हें उतना ही अधिकार मिलना चाहिये। इस अधिकार को लेकर नागरिक एक बहुत बड़े कर्तव्य का भागी होता है। फिर उसे यह कहने का अवसर नहीं रह जाता कि अमुक नियम बुरा है। नागरिक के कर्त्तव्य की सबसे बड़ी कसौटी निर्वाचन क्षेत्र में होती है। वहीं उसके न्याय, दृढ़ता और उत्तरदायित्व इन तीनों की परीक्षा होती है। निर्वाचन में अल्प संख्यकों की रक्षा का भी ध्यान रक्खा जाता है। साम्प्रदायिक या पृथक् प्रतिनिधित्व सभी दृष्टियों से हानिकर है। किसी समाज को राजनैतिक दृष्टि से विभिन्न सम्प्रदायों में बाँटना राष्ट्रीयता का विनाश करना है। एक सम्प्रदाय विशेष की रक्षा कई प्रकार से की जा सकती है।

३—नागरिक को जब शासन में सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं तो उसे यह भी अधिकार मिलना चाहिये कि शासन की त्रुटियों को वह प्रगट कर सके।

सरकारी अफसरों के पास लिखित आवेदन पत्र देने का अधिकार उसे होना चाहिये। चाहे यह अधिकार व्यक्तिगत रूप में दिये जायँ अथवा सामूहिक रूप से। परन्तु शासन की शुद्धि के लिये यह अधिकार न्याय-संगत है। जब विचार ही चीजों को अच्छा और बुरा सिद्ध करते हैं तो नागरिक को अपनी बनाई हुई शासन-व्यवस्था में उलट-फेर करने का अधिकार अनुचित न होगा। आवेदन सम्बन्धी अधिकार विचारों की स्वतन्त्रता के अंग हैं। यदि नागरिक को अपने विचार प्रकट करने का अधिकार है तो वह शासन-व्यवस्था की त्रुटियों को जनता और सरकार दोनों के सामने रख सकता है। अनुचित टीका-टिप्पणी किसी भी क्षेत्र में व्यावहारिक नहीं हैं, किन्तु कार्य-कुशलता की कसौटी का ध्यान रखते हुये नागरिक अपने शासकों को इस बात की चेतावनी दे सकता है कि वह वैधानिक नीति से अपने को अलग न रक्खे। इससे भी बढ़कर नागरिक समूह को यह अधिकार मिलना चाहिये कि वह प्रचलित शासन-व्यवस्था को हटाकर उससे अच्छी कोई दूसरी शासन-पद्धति ला सके। यदि नागरिक को ऐसा अधिकार नहीं है तो शास्त्रीय दृष्टि से इसे राजनैतिक दासता कहना कोई अनुचित नहीं है।

**आवेदन का अधिकार**

राजनीतिक और सामाजिक दोनों अधिकार समाज में ही प्राप्त होते हैं। दोनों की स्वीकृति जनता को राज्य की ओर से मिलती है। अन्तर केवल इतना है कि राजनीतिक अधिकार शासन की मशीन से जुड़ा होता है, परन्तु सामाजिक अधिकार राज्य के किसी एक अंग से मिला नहीं रहता। इसके अतिरिक्त राजनैतिक अधिकार केवल नागरिक को दिये जाते हैं, परन्तु सामाजिक अधिकार राज्य में सब को प्राप्त रहते हैं। सामाजिक अधिकार स्त्री, पुरुष, विदेशी, नागरिक, बालक, वृद्ध सभी को एक समान दिये जाते हैं। राजनैतिक अधिकार का क्षेत्र संकुचित है। सामाजिक अधिकार बहुत ही विस्तृत है। इस अधिकार का कहीं अन्त नहीं है। मोटे तौर से कुछ सामाजिक अधिकारों पर हम विचार कर सकते हैं।

**सामाजिक अधिकार**

१—राज्य में प्रत्येक प्राणी की रक्षा करना राज्य का प्रथम कर्तव्य है। राज्य की ओर से यह आश्वासन सब को प्राप्त है कि शरीर सुरक्षित है। किसी भी प्रकार से कोई एक दूसरे को शारीरिक हानि पहुँचाने का अधिकारी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को राज्य में यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपनी रक्षा के लिये जो चाहे करे। आत्म-रक्षा का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य को इस बात का अधिकार है कि वह जैसे चाहे रहे, परन्तु औरों की रक्षा में बाधक न हो। यदि जीवन की ही रक्षा न हो तो अधिकारों का कोई अर्थ नहीं है। सती आदि प्रथायें इसी आधार पर बुरी और न्याय-विरुद्ध

**आत्म-रक्षा**

ठहराई गई है। प्राण की रक्षा का भार व्यक्ति और समाज दोनों पर है। सरकार भी इसके लिये बाध्य है। यदि कोई व्यक्ति किसी को शारीरिक हानि पहुँचाता है तो सरकार उसे उचित दंड देती है। यदि कोई गिरोह, चाहे वह बड़ा से बड़ा क्यों न हो, किसी व्यक्ति को शारीरिक दंड देता है तो सरकार समूचे गिरोह को अपराधी समझ कर दंड देती है। कोई किसी का प्राण नहीं ले सकता। इसका दंड, फाँसी अथवा आजन्म कारावास है। किसी की हत्या करना पाप ही नहीं बल्कि सबसे बड़ा अपराध है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य आत्म-हत्या कर सकता है? जब व्यक्ति स्वतन्त्र है तो क्या उसे अपना प्राण देने का अधिकार है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले एक बात पर और विचार करना होगा। संसार में जितने जीव हैं सब में कुछ ऐसे प्राकृतिक गुण हैं जिनसे वे अपनी रक्षा करते हैं। बन्दर को मारिये तो वह तुरन्त पेड़ पर चढ़ जायगा। चूहे को थोड़ी भी ध्वनि मिली कि वह बिल में घुस जायगा। यही दशा चिड़ियों की भी है। जंगली जानवर तो मनुष्य को देखते ही दूर भाग जाते हैं। जब सभी जीवों को आत्म रक्षा का अधिकार है तो मनुष्य भी इसका अधिकारी है। उसकी रक्षा के लिये राज्य की ओर से सेना और पुलिस रक्खी जाती है। परन्तु प्रत्येक अवसर पर यह सम्भव नहीं है कि उसे पुलिस आदि की सहायता प्राप्त हो सके। इसीलिये नागरिक को यह अधिकार दिया जाता है कि वह हथियार आदि रखे। यद्यपि बाहरी तथा भीतरी आक्रमणों से सरकार बचाने का प्रयत्न करती है, परन्तु व्यक्ति भी अपनी रक्षा का पूर्ण अधिकारी है। यदि कोई शत्रु उस पर आक्रमण करे तो वह चाहे जिस प्रकार हो अपनी रक्षा कर सकता है। इसमें शत्रु का प्राण भी चला जाय तब भी नागरिक अपराधी नहीं ठहराया जाता। इतना अधिकार प्राप्त करने पर भी नागरिक का जीवन सुरक्षित नहीं है। जब कोई लड़ाई छिड़ती है तो सरकार जिसे चाहे सेना में भरती कर सकती है। उस समय नागरिक की रक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। राष्ट्र-हित के निमित्त व्यक्ति के हित का त्याग करना पड़ता है।*

**क्या मनुष्य आत्महत्या कर सकता है?**

यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या मनुष्य को आत्महत्या करने का अधिकार है? व्यक्ति की रक्षा का प्रबन्ध समाजहित की दृष्टि से किया जाता है। आत्महत्या किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं है। व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में अपने आपको निरर्थक समझ बैठता है। क्रोध या अज्ञानता के कारण उसकी विचारशक्ति

---

* त्यजेदकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीन्त्यजेत्॥

स्थिर नहीं रहती। ऐसे ही अवसरों पर वह आत्महत्या करता है। यद्यपि उसकी समझ में उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं रह जाता, किन्तु राष्ट्र के लिये उसका जीवन निरर्थक नहीं है। अपने कुटुम्ब और सम्बन्धियों के हित में भी वह बाधक होता है। इसीलिये आत्महत्या एक बहुत बड़ा अपराध माना गया है। २० सितम्बर सन् १९३२ ई० को महात्मा गाँधी ने आमरण उपवास का जो व्रत लिया था वह किसी भी दृष्टि से न्यायसगत नहीं था। किसी विशेष परिस्थिति में आत्महत्या को अपराध नहीं कहा जा सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी असाध्य रोग से पीड़ित है, उसके ऊपर किसी का भार नहीं है, ऐसी दशा में वह आत्महत्या कर सकता है। ऐसा करने से वह समाज के भार को हलका करता है। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह पाप का भागी है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लाक, ग्रीन, रिची तथा लास्की ने भी एक स्वर से आत्महत्या को घृणित ठहराया है। भारतीय दार्शनिक भी इस मत से सहमत हैं।

**क्या मनुष्य दूसरे का प्राण ले सकता है?**

आत्मरक्षा का अधिकार सबको एक समान दिया गया है। वह एक स्वाभाविक अधिकार है। जिस प्रकार मनुष्य को आत्महत्या करने का अधिकार नहीं है उसी प्रकार दूसरे के जीवन पर वह आघात नहीं कर सकता। प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट लिखता है "मनुष्य का अन्त मनुष्य में ही है। वह किसी दूसरे का साधन नहीं बनाया जा सकता।" मनुष्य की कितनी भी आवश्यकता क्यों न पड़े वह किसी व्यक्ति का प्राण लेकर उसे पूरा नहीं कर सकता। प्राकृतिक नियम किसी भी प्रकार की हत्या को पाप ठहराता है, किन्तु एक विशेष परिस्थिति में कोई व्यक्ति एक दूसरे का प्राण ले सकता है। व्यक्ति को आत्मरक्षा में आक्रमणकारी का प्राण तक लेना पड़े तो वह अपराध का भागी नहीं होता। समाज उस व्यक्ति को दोषी नहीं मानता। समाज की भलाई के लिये भी कोई मनुष्य औरों का प्राण ले सकता है। मान लीजिए किसी देश पर बहुत से शत्रु चढ़ाई करते हैं। शासक का यह धर्म है कि सेना सहित उनका सामना करे। इस संग्राम में यदि सैकड़ों के प्राण चले जायँ तो वह किसी की हत्या का भागी नहीं होता।

**क्या समाज किसी व्यक्ति का प्राण ले सकता है?**

समाज व्यक्ति से बढ़ कर है। सामाजिक भलाई के सामने व्यक्तिगत स्वार्थ को प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। समाज समस्त प्राणियों की रक्षा करता है। समाजहित की दृष्टि से ही वह ऐसा करता है। यदि कोई व्यक्ति समाज को घोर हानि पहुँचाता है तो सामाजिक भलाई की दृष्टि से प्राणदंड का भागी है। समाजहित के लिये कितने हो सिपाही लड़ाइयों में अपना प्राण खो

बैठते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि व्यक्ति सिपाही के काम से मुँह मोड़ता है तो समाज उसे प्राणदंड दे सकता है। लड़ाई से तात्पर्य यह निकाला जाता है कि सत्य की रक्षा के लिए असत्य का बहिष्कार करना आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति लड़ाई को पाप समझता है और सिपाही बनने से इन्कार करता है तो क्या राज्य उसे प्राण दण्ड दे सकता है? आध्यात्मिक दृष्टि से वह प्राणदण्ड का भागी नहीं है परन्तु सरकार इस दृष्टिकोण को नहीं मानती।

**सम्पत्ति-अधिकार**

२—जिस प्रकार नागरिक को अपनी प्राण-रक्षा का अधिकार प्राप्त है उसी प्रकार उसे सम्पत्ति का भी पूर्ण अधिकार है। प्रत्येक प्राणी को अपनी जीवन-यात्रा के लिये किसी न किसी प्रकार की जीविका की आवश्यकता होती है। उसे इसका पूर्ण अधिकार है कि राज्य उसकी कोई व्यवस्था करे। नागरिक अपनी सम्पत्ति का पूर्ण अधिकारी है। राज्य प्रतिवर्ष टैक्स के रूप में उससे कुछ धन एकत्र करता है। इस टैक्स के दो उद्देश्य हैं:—

१—आर्थिक दृष्टि से समाज में विषमता न हो।

२—नागरिक की सम्पत्ति की राज्य की ओर से रक्षा हो।

नागरिक की इच्छा के विरुद्ध कोई उसकी सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। उसकी आर्थिक उन्नति में किसी को बाधा डालने का अधिकार नहीं है। अँगरेजी में एक कहावत है कि अँगरेज की टूटी-फूटी झोपड़ी उसका महल है।* प्रत्येक देश में कुटुम्ब अथवा व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का एकमात्र अधिकारी है। व्यक्ति अपनी आय का स्वामी है। वह अपने घर में जैसे चाहे रह सकता है और अपनी सम्पत्ति का किसी भी प्रकार से उपभोग कर सकता है। राज्य का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर दे। समाज के आर्थिक संगठन की व्यवस्था भी ठीक रक्खे। इसीलिये कहा गया है कि सम्पत्ति पर अन्तिम अधिकार राज्य का ही है।

सभी दार्शनिकों ने इसे स्वीकार किया है कि जिसने परिश्रम किया है वही इसका उपभोग करे। जिस प्रकार नागरिक का समस्त जीवन समाज से अलग नहीं है उसी प्रकार उसकी सम्पत्ति भी सामाजिक भलाई का एक साधन है। यदि कोई मनुष्य अपनी सम्पत्ति कुएँ वा तालाब में फेंकना चाहे तो वह नहीं फेंक सकता। राज्य की ओर से वह दण्ड का भागी ठहराया जायगा। यदि कोई अपनी सम्पत्ति किसी ऐसे उद्योग में लगाना चाहे जिससे समाज को हानि की सम्भावना हो तो सरकार इसे रोक सकती है। जब सम्पत्ति समाज की है तो समाज को उससे लाभ

*An Englishman's cottage is his own palace.

पहुँचाना चाहिये। व्यक्ति उसके उपभोग के लिये वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह समाज को हानि नहीं पहुँचाता। वह अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करने का अधिकारी नहीं है। लड़ाई के समय सरकार किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति छीन सकती है और उससे टैक्स वसूल कर सकती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति ऐतिहासिक दृष्टि से सभ्यता के एक विशेष युग का प्रवर्तक है। अपनी सम्पत्ति पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार हो, यही वर्तमान युग की मनोवृत्ति है।

**धार्मिक अधिकार**

३—राज्य की ओर से नागरिक को यह पूर्ण आश्वासन प्राप्त है कि वह जिस धर्म को चाहे माने। मध्यकालीन योरप में लोगों को धर्म की स्वतन्त्रता नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि बहुत-सी लड़ाइयाँ हुईं। आधुनिक काल के आरम्भ ने धर्म एक गौण विषय है। विज्ञान की उन्नति ने धर्म के महत्व को कम कर दिया। आज लगभग सभी देशों में नागरिक को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। जर्मनी में यहूदी धर्म वालों के प्रति राज्य की ओर से तरह-तरह के अत्याचार हुये हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि इस अत्याचार का कारण धार्मिक नहीं बल्कि राजनीतिक रहा है। प्रत्येक प्रजातन्त्र देश में नागरिक जिस रूप में चाहे धर्म को मान सकता है। एक ही देश में विभिन्न मत वाले अपनी इच्छानुसार विभिन्न धर्मों को मानते हैं।

**भाषण और लेखन का अधिकार**

४—विचार स्वतन्त्र है। मनुष्य की उन्नति तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसे विचारने का पूरा अवसर न दिया जाय। समाज की स्थापना विचारों के मेल से हुई है। प्रत्येक नागरिक को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वाणी तथा लेखन द्वारा वह अपने विचारों को स्पष्ट कर सके। लेख लिखने तथा पुस्तकें प्रकाशित करने का उसे पूर्ण अधिकार होना चाहिये। स्वतंत्र विचारों से सत्य की खोज होती है। सार्वजनिक जीवन तभी सुखी और शान्तमय रह सकता है जब सबको अपने सुख-दुख पर विचार करने का अवसर होगा। जब तक स्पष्टीकरण की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है तब तक उसकी उन्नति सम्भव नहीं है। वाणी की स्वतंत्रता मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ अधिकार है। इसका तात्पर्य यह है कि जनता निष्पक्ष और उचित रीति से सभा-सोसायटी तथा सरकार के कामों में टीका-टिप्पणी करने का अधिकार रखती है। प्रेस को भी पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। अखबारों पर किसी प्रकार का अनुचित प्रतिबन्ध नहीं लगना चाहिये। इससे समाज में एक प्रकार की जागृति होती है। किसी को यह कहने का अवसर नहीं मिलता कि अमुक विषय में उसकी कोई सुनाई नहीं है।

अधिकार को प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है जितना उसका उचित उपयोग

करना। अपने नित्य के व्यवहार में हम कितने ही व्यक्तियों के लिये अनुचित शब्दों का प्रयोग करते हैं। लेखन में हमारी कलम सत्य की सीमा को कभी-कभी पार कर जाती है। बहुत से लोग अनायास ही औरों की टीका-टिप्पणी करते हैं। इससे व्यक्तिगत वैमनस्य की वृद्धि होती है और तरह-तरह की पार्टियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमें आपस में संघर्ष होता है। परिणाम यह है कि राज्य की शान्ति में बाधा पड़ती है। साम्प्रदायिक झगड़ों को उत्तेजित करने के लिये कुछ अखबारों में झूठी-झूठी बातें निकाली जाती हैं। यदि ऐसे अवसरों पर राज्य की ओर से कोई प्रतिबन्ध न हो तो शान्ति भंग होने का भय है। व्यक्तिगत विरोध के कारण सभाओं में बहुत-सी अनुचित बातें कही जाती हैं। इन्हें भी सरकार को रोकना पड़ता है। इस प्रतिबन्ध का अर्थ यह नहीं है कि राज्य किसी को बोलने और लिखने से रोकता है। वह केवल इनके दुरुपयोग से बचाता है। इसलिये नागरिक बोलने और लिखने में वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह इनका दुरुपयोग नहीं करता। जब वह इन्हें लड़ाई और झगड़े का साधन बना लेता है और ये दोनों तलवार और बन्दूक की तरह काम करने लगते हैं तो सरकार इनमें हस्तक्षेप करती है। भाषण और लेखन में नागरिक को अपने कर्त्तव्य का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

**समानता का अधिकार**

५—जो सरकार सम्पूर्ण जनता को एक दृष्टि से नहीं देखती वह जनता का सहयोग प्राप्त नहीं कर सकती। समाज में छोटे-बड़े, दुर्बल बलवान, स्वस्थ, रोगी तथा धनी निर्धन सभी होते हैं। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह सबको एक समान समझे। कहा जाता है कि देश में कानून का राज्य होना चाहिये मनुष्यों का नहीं।* किसी भी राज्य में दो तरह के कानून नहीं बनाये जा सकते। सबको अपनी उन्नति के लिये पूरा अवसर मिलना चाहिये। एक दूसरे के साथ किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिये। परिवर्तन प्रकृति का नियम है, इससे विषमता के भाव तथा कारण पैदा होते हैं। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे नियम बनाये जिससे सामाजिक व्यवस्था अधिक से अधिक समानता के निकट हो। उसे चाहिये कि रूप रंग तथा जाति के कारण सरकारी नौकरियों या पदों में किसी प्रकार का भेद-भाव न करे। प्रत्येक नागरिक को, जिसमें कोई विशेष त्रुटि न हो वोट देने का समान अधिकार होना चाहिये। शासन प्रबन्ध में सभी नागरिकों को अपनी योग्यतानुसार समान अवसर मिलना चाहिये।

समानता के अधिकार के अन्तर्गत न्याय का प्रमुख स्थान है। जिस राज्य में उचित न्याय नहीं होता वहाँ समानता नहीं रहती। कचहरियों में धनी और

---

* There should be the rule of law, not the rule of men.

निर्धन में कोई अन्तर नहीं होना चाहिये। दोनों का मुकदमा एक ही कचहरी में जाना चाहिये, एक ही कानून से दोनों का निर्णय होना चाहिये, और दोनों को समान दण्ड मिलना चाहिये। कचहरियों में फीस आदि की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे धनी निर्धन दोनों ही न्याय से वंचित न रह सकें। राज्य की ओर से किसी प्रकार का अपने अफसरों के साथ पक्षपात नहीं होना चाहिये। कानून में इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह छोटे से चपरासी से लेकर बड़े से बड़े अफसर तक को एक समान अपराधी ठहरा कर उचित दंड दे। प्रोफेसर डायसी ने लिखा है—"इंगलैंड में प्रधान मन्त्री से लेकर साधारण नागरिक तक के लिये एक ही कानून है। सम्राट् को छोड़ कर कोई भी कानून से ऊपर नहीं है।" केवल सम्राट् कानून के आश्रित नहीं है। उसे कोई न्यायालय अपराधी नहीं ठहरा सकता। इसका कारण यह है कि प्रधान मन्त्री की अनुमति के बिना वह कुछ नहीं करता। डायसी के कथनानुसार कानून में तीन गुण होने चाहिये।

अ—कानून सर्व प्रधान होना चाहिये।

ब—कानून सब पर एक समान लागू होना चाहिये।

स—कानून के निर्माण में भेदभाव नहीं होना चाहिये।

**साधारण अधिकार**

६—नागरिक के दैनिक जीवन में कुछ ऐसी बातें आती हैं जिन्हें करने के लिये उसे स्वतन्त्रता की आवश्यकता पड़ती है। उसे यह अधिकार मिलना चाहिये कि वह जहाँ चाहे जाय। इंगलैंड में यह नियम है कि यदि सरकार किसी को कहीं जाने से रोकती है तो वह उसकी हानि का पूरा बदला चुकाती है। नागरिक को उचित कारण के बिना गिरफ्तार नहीं करना चाहिये। विदेश यात्रा की उसे स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। रोज के कारोबार में अनेक व्यक्तियों तथा पार्टियों से उसे इकरारनामें आदि करने पड़ते हैं। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह इन इकरारनामें को वैधानिक समझे और नागरिक को इसका पूरा अधिकार प्रदान करे। इसके अतिरिक्त खाने और पहिनने में भी नागरिक को पूरी स्वतन्त्रता रहनी चाहिये। किन्तु नागरिक को यह अधिकार नहीं होना चाहिये कि वह विदेशी वस्तुओं के खरीदने में अपना धन नष्ट करे। पोशाक से समाज को ठगने का अधिकार नागरिक को नहीं है। नशीली वस्तुओं का प्रयोग भी वह इच्छानुसार नहीं कर सकता। विवाह-शादी, रस्म-रिवाज तथा खेल-कूद में उसे पूरा अधिकार मिलना चाहिए। यदि उसे ये स्वतन्त्रतायें प्राप्त नहीं हैं तो वह अपने जीवन को सार्थक नहीं बना सकता।

७—इस अधिकार से यह तात्पर्य है कि कुटुम्ब में एक दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य है। जैसे पति का स्त्री के प्रति क्या कर्त्तव्य है। यदि स्त्री का यह

कर्त्तव्य है कि वह पुरुष के आज्ञानुसार चले तो उसे यह अधिकार भी दिया गया है कि वह अपने पति से जीविका ग्रहण करे। पुत्र का यह अधिकार है कि पिता उसकी शिक्षा तथा भरण-पोषण का प्रबन्ध करे। भारतीय कुटुम्ब में स्वामी को यह अधिकार है कि वह सबकी देख-भाल करे, जिसे चाहे उचित दंड दे तथा कुटुम्ब के आय-व्यय का हिसाब रक्खे। कौटुम्बिक जीवन में अधिकार से बढ़कर कर्त्तव्य पर बल दिया जाता है। कुटुम्ब में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का पूरा-पूरा पालन करना चाहिये। प्रत्येक को अपनी उन्नति तथा मनोरंजन का अवसर मिलना चाहिये। इसके बिना कौटुम्बिक जीवन में सरसता नहीं आ सकती। इस जीवन का यही तात्पर्य है कि कुटुम्ब का भार वहन करते हुए व्यक्ति स्वतन्त्र और प्रसन्न रहे। कुटुम्ब में किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह एक दूसरे को प्राणदंड दे। प्राचीन काल में कुटुम्ब के स्वामी को यह अधिकार प्राप्त था, किन्तु अब ऐसा नहीं है। कुटुम्ब में व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह एक दूसरे की सहायता करे। उसे यह अधिकार है कि वह जब चाहे कुटुम्ब से अलग हो जाय। कुटुम्ब में व्यक्तियों का वही स्थान है जो राष्ट्र में नागरिकों का। कौटुम्बिक अधिकारों का सिद्धान्त वही है जो राजकीय अधिकारों का है। दोनों का आधार न्याय और समानता है।

**कौटुम्बिक अधिकार**

८—प्राकृतिक अधिकार के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इसके अर्थ के विषय में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से प्राकृतिक अधिकार विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार से माना गया है। ये अधिकार समाज में उत्पन्न होते हैं और इनमें व्यक्तिगत अधिकारों का कोई सामञ्जस्य नहीं है। इस अधिकार को समझने से पहिले प्रकृति का अर्थ समझना चाहिये। एक जर्मन विद्वान् ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है। "प्रकृति सम्पूर्ण जगत का आधार है। वह पूर्ण स्वतन्त्र और मनुष्य से भिन्न है।" प्रकृति का अर्थ कहीं-कहीं नवीन भी किया गया है। एक तीसरा अर्थ यह लगाया जाता है कि प्रकृति वह आदर्श उपस्थित करती है जो मनुष्य को बरतना चाहिये। इन्हीं अर्थों में प्राकृतिक अधिकार प्रयुक्त होते हैं। इसके अन्तर्गत किसी विशेष अधिकार से तात्पर्य नहीं है। अपने समस्त अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को नागरिक उचित रीति से पालन करे यही उसका प्राकृतिक अधिकार है। समाज के अतिरिक्त उसे प्रकृति की ओर से कोई नवीन अधिकार प्राप्त नहीं होता। मनुष्य को जिन-जिन अधिकारों की आवश्यकता है उन सबको मिलाकर प्राकृतिक अधिकार कहते हैं। इकरार सिद्धान्त के प्रतिपादक समाज-शास्त्रवेत्ताओं ने प्राकृतिक अधिकार

**प्राकृतिक अधिकार (natural rights)**

का भिन्न-भिन्न अर्थ ठहराया है, जिनका वर्णन यहाँ उपयुक्त नहीं है। राज्य की उत्पत्ति के अवसर पर इसका विस्तृत वर्णन किया गया है।

**शिक्षा का अधिकार**

नागरिक को जितनी आवश्यकता भोजन और वस्त्र की है उतनी ही शिक्षा की है। सच्ची नागरिकता उचित शिक्षा पर ही निर्भर है। जब तक सम्पूर्ण समाज को किसी प्रकार की ट्रेनिंग न दी जावेगी तब तक सामाजिक व्यवस्था का पालन नहीं हो सकता। व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह सरकार से शिक्षा की माँग करे। अशिक्षित मनुष्य को अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान कम होता है। वह राजनैतिक तथा सामाजिक नियमों का तब तक उल्लंघन करता रहेगा जब तक उसे इनका महत्व मालूम नहीं है। शिक्षा के बिना यह संभव नहीं है। सरकार का कर्त्तव्य है कि प्रारम्भिक शिक्षा सब के लिये अनिवार्य करे। गरीब भी सामाजिक बंधनों के कारण शिक्षा से वंचित न रहे। इसीलिये प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिये। सामाजिक संगठन व्यक्ति की सुविधा का एक साधन है। अतएव सम्पूर्ण समाज शिक्षा का पूर्ण अधिकारी है। शिक्षा का तात्पर्य केवल मस्तिष्क की उन्नति से नहीं है। इसका रूप क्रियात्मक होना चाहिये। नागरिक को विभिन्न कलाओं की भी शिक्षा मिलनी चाहिये। शासन-पद्धति को समझने तथा कानूनों का उचित पालन करने के लिये नागरिक-शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। शिक्षा से मनुष्य को वर्तमान परिस्थिति का ज्ञान होता है। इसका माध्यम मातृ-भाषा होनी चाहिये। विदेशी भाषा का ज्ञान बुरा नहीं है; परन्तु राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा के लिये मातृ-भाषा का ज्ञान अनिवार्य है। प्रारम्भिक शिक्षा से ही पर्याप्त ज्ञान नहीं हो जाता। समाज में कला की वृद्धि तभी होगी जब बड़े-बड़े विद्वान् पैदा हों। इसलिये ऊँची शिक्षा का भी प्रबन्ध होना चाहिये। लम्बी फीस का प्रतिबन्ध लगाकर शिक्षा को रोकना समाज को ज्ञान से वंचित करना है। जब तक शिक्षा का रूप सार्वभौम न होगा तब तक कोई राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता।

**अधिकार और चरित्र**

व्यक्ति को समाज में जो अधिकार प्राप्त हैं वे उसकी उन्नति के साधन हैं। प्रश्न यह है कि उसके स्वभाव पर इन अधिकारों का क्या प्रभाव पड़ता है। सभी अधिकार समाज में प्राप्त होते हैं। चरित्र एक सामाजिक गुण है। कोई भी मनुष्य अपने आपको चरित्रवान और गुणी नहीं कहता। यदि कहे भी तो उसका कोई विशेष महत्व नहीं है। चरित्रवान और गुणी वही है जिसे समाज ऐसा मानता है। अधिकारों से मनुष्य कर्तव्य की ओर अग्रसर होता है। हम कोई काम इसी दृष्टि से करते हैं कि उससे हमारी आत्मोन्नति हो, और हम चरित्रवान बनें। इस प्रकार अधिकार और चरित्र में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अपने अधिकारों का प्रयोग जब हम समाज

में करते हैं तो उनमें हमारी दृढ़ता, कार्यकुशलता तथा उत्साह आदि गुणों की परीक्षा होती है। वहीं हमें अपनी बुद्धि के विकास करने का अवसर मिलता है। अधिकारों का दुरुपयोग होने पर हमारी आतमा अपने आपको कोसती है। आरम्भ में अनुचित कार्य के लिये हमारी आत्मा हमें गवाही नहीं देती। अधिकार का दुरुपयोग मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है। हमारे अच्छे विचार बुरे मार्ग पर जाने से हमें रोकते हैं; स्वयं एक प्रकार का संकोच मालूम पड़ता है। अधिकारों का उल्लंघन कर अपनी स्वतन्त्रता को हम खो बैठते हैं। हमारी स्वतंत्रता वहीं तक सुरक्षित है जहाँ तक हम अधिकारों के अनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। अधिकार के भीतर ही हमारी उन्नति और प्रसन्नता निहित है। यदि हमें अपने चरित्र की रक्षा करनी है तो अधिकारों का उल्लंघन किसी भी दृष्टि से हितकर न होगा। पूर्ण विकास नियम पालन से होता है। अनियमित और असीमित जीवन विकास में बाधक है। कर्त्तव्य पालन से चरित्र की वृद्धि होती है और चरित्रवान ही उसका पालन करता है।

**कर्त्तव्य**

अधिकार का अन्तिम उद्देश्य कर्त्तव्य की पूर्ति है। कोई अधिकार ऐसा नहीं है जिसको प्राप्त कर नागरिक उत्तरदायी न हो। अधिकार इसीलिये प्राप्त होते हैं कि कर्त्तव्य को पूरा करने का अवसर मिले। यदि स्वतन्त्रता हमारा अधिकार है तो इसे प्राप्त कर हमें बहुत से कर्त्तव्य करने होंगे। एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य है। नागरिक का यह अधिकार है कि वह राज्य से शिक्षा की माँग करे। इसका यह भी अर्थ है कि राज्य का कर्त्तव्य है कि वह नागरिग को शिक्षित बनाये। जिस प्रकार अधिकार समाज में ही प्राप्त होते हैं, उसी तरह कर्त्तव्य का पालन समाज में ही सम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति, जो समाज में रहता है, कर्त्तव्य की मूर्ति है। कर्त्तव्यहीन मनुष्य पशु तुल्य है, और संसार में निन्दा का पात्र समझा जाता है। पुरुष वही है जो कर्त्तव्य-परायण है। बिना कर्त्तव्य के लोक और परलोक दोनों में मनुष्य को सुख नहीं मिलता। प्रत्येक प्राणी सुख की आशा करता है। सुख की प्राप्ति के लिये उसे बुद्धि और शरीर दोनों से काम लेना पड़ता है। कर्त्तव्य को पूरा कर मनुष्य सुख का अधिकारी होता है। जीवन का श्रेय कर्त्तव्य से समझा जाता है। महापुरुषों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे कर्त्तव्यशील होते हैं। इतिहास कर्त्तव्य-परायण पुरुषों की कहानी है। यह सारा विश्व कर्त्तव्य के बल पर टिका हुआ है। सब लोग अपने-अपने काम बन्द कर दें तो समाज की रचना तितर-बितर हो जायगी। जिधर दृष्टि डालिये कर्त्तव्य का ही राज्य दिखलाई पड़ेगा। जो लोग कर्त्तव्य नहीं करते वे दूसरों के किये हुये कर्त्तव्यों का उपभोग करते हैं। ऐसे लोग समाज के शोषक कहलाते हैं।

**कर्त्तव्य और धर्म**

हमारे देश में 'धर्म' शब्द कर्त्तव्य का द्योतक है। धर्म का अर्थ केवल पूजा-पाठ नहीं है। जो इसका इतना संकुचित अर्थ लगाते हैं वे धर्म को नहीं समझते। धर्म मनुष्य के समस्त अधिकार और कर्त्तव्यों का मूल है। धर्म से हमारा तात्पर्य कर्त्तव्य से है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का यह धर्म नहीं है तो इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि उस व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिये। अथवा उसने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया। हमारा समस्त जीवन धर्म के साथ जोड़ दिया गया था। इसका कारण यह था कि पग-पग पर हमें अपने कर्त्तव्य पालन की चेतावनी दी गई थी। सभी देशों में धर्म कर्त्तव्य में सहायक होता है। भारत में कर्त्तव्य को ही धर्म ठहराया गया था। जो अपने कर्त्तव्य का पालन करे वही धर्मात्मा है और जो उसका उल्लंघन करे वह अधर्मी तथा पापी है।

भारत में कर्त्तव्य शास्त्र का गौरव अधिक समझा जाता था। वैदिक काल में इस शास्त्र की विशेष उन्नति हुई थी। अधिकार पर अधिक बल नहीं दिया जाता था। लोग इसकी प्राप्ति की चेष्टा कम करते थे। परन्तु कर्त्तव्य-पालन का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। इसीलिये जन्म से मृत्यु तक धर्म मनुष्य के साथ जोड़ दिया जाता था जिससे उसे कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का ज्ञान हो और वह अकर्मण्य या कर्त्तव्य-विमुख न हो। कर्त्तव्यहीन मनुष्य को समाज में उच्च स्थान नहीं दिया जाता था। वह सर्वथा अछूत समझा जाता था। हमारे धार्मिक ग्रन्थ कर्त्तव्य पालन पर विशेष बल देते हैं। कर्त्तव्य शब्द बहुत ही व्यापक है। शरीर से ही कर्त्तव्य का पालन नहीं होता, भीतरी शक्तियाँ भी इसमें विशेष सहायक होती हैं। जब तक मन शुद्ध न होगा तब तक कर्त्तव्य का पालन नहीं हो सकता। धर्म सिखलाता है कि मन, वचन और शरीर से शुद्ध रहो। इसी से कर्त्तव्य का पालन होगा। इस प्रकार धर्म और कर्त्तव्य में कोई विरोध नहीं है। दोनों का उद्देश्य मनुष्य को चरित्रवान तथा उन्नतिशील बनाना है।

**नागरिक के कर्त्तव्य**

जिस प्रकार अधिकार का वर्गीकरण नहीं किया जाता उसी प्रकार कर्त्तव्य का भी विभाजन नहीं होता। अध्ययन की सुविधा के लिये तथा कर्त्तव्य को ठीक ठीक समझने के लिये हम कुछ कर्त्तव्यों का विश्लेषण कर सकते हैं। राज्य में कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनके पालन किये बिना कोई व्यक्ति नागरिक नहीं कहलाता। या तो वह राज्य से बहिष्कृत कर दिया जाता है, अथवा उसे दंड दिया जाता है। इनके अतिरिक्त उसके और भी कर्त्तव्य हैं परन्तु उनका पालन उसकी इच्छा पर निर्भर है। यदि वह उनका पालन करता है तो उसकी उन्नति होगी, यदि नहीं तो उसके जीवन का विकास नहीं होगा। नागरिक के कर्त्तव्य कुछ तो उसके कुटुम्ब के

प्रति हैं, कुछ देश के प्रति और कुछ सम्पूर्ण मनुष्य जाति के प्रति। परिवार के प्रति उसका कर्त्तव्य है कि वह इसका पालन-पोषण करे; अपने बच्चों को शिक्षा दे, इन्हें बुराई से बचावे, कुटुम्ब में शान्ति रक्खे, सबकी उन्नति की व्यवस्था करे तथा सब को कर्त्तव्य-पालन की ओर अग्रसर करे। मनुष्य मात्र के प्रति भी उसके कुछ कर्त्तव्य हैं। मनुष्य प्राणीमात्र के कल्याण के लिये पैदा हुआ है। भारत में जन्म लेने वाला मनष्य वही है जो इंगलैंड और अमेरिका में पैदा हुआ है। रूप और रंग के कारण मनुष्य जाति में कोई भेद नहीं है। सबकी बनावट लगभग एक सी है। सबकी आवश्यकतायें समान हैं। सभी सुख और शांति चाहते हैं। महापुरुष वही हैं जो अपने कर्त्तव्य को एक देश में ही सीमित नहीं रखता। मसीह ने अपना उपदेश मनुष्य जाति के लिये दिया। उससे एक भारतवासी उतना ही लाभ उठा सकता है जितना एक अमेरिकन अथवा रूसी। बुद्ध और गाँधी का भी यही हाल है। उनके उपदेश संसार के लिये समान हैं। रूप, रंग, जाति के कारण उससे कोई वंचित नहीं है।

**देशभक्ति**

१—ऊपर कहा गया है कि राज्य में कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनका पालन करना नागरिक के लिये आवश्यक है। अनागरिक को भी उन्हें पालन करना पड़ता है, परन्तु कुछ अंश में वह इनसे वंचित किया जा सकता है। नागरिक के आवश्यक कर्त्तव्यों में सर्वप्रथम स्थान देशभक्ति का है। वह तभी तक स्वतन्त्र और सुरक्षित है जब तक देश में शान्ति है। शान्ति के समय में भी उसे देश सेवा आदि कार्यों में हाथ बँटाना पड़ता है और समय-समय पर सरकार की सहायता करनी पड़ती है। परन्तु जब कोई लड़ाई छिड़ती है या आक्रमण होता है तो राज्य की सहायता करना उसका पहला कर्त्तव्य है। वह इस कर्त्तव्य से वंचित नहीं किया जाता। नागरिक को तन और धन दोनों से सरकार की सहायता करनी पड़ती है। इसके लिये पहले से ही उसे सैनिक शिक्षा दी जाती है। ऐसे अवसर पर उसका कर्त्तव्य है कि देश-रक्षा के निमित्त वह अपने प्राणों तक की बाजी लगा दे। देश को सुरक्षित कर वह अपनी रक्षा कर सकता है। इस कर्त्तव्य पालन से नागरिक मुँह नहीं मोड़ सकता; यदि मोड़ता है तो देश-द्रोही है और दंड का भागी होता है।

**आज्ञा-पालन**

२—नागरिक सरकारी नियमों का पालन करने के लिये बाध्य है। उसका कर्त्तव्य है कि वह कानून को माने। कानून केवल राज्य की आज्ञा नहीं किन्तु नागरिक की आवश्यकता है। इसीसे उसकी रक्षा होती है और देश में शान्ति रहती है। जनता के प्रतिनिधि कानूनों का निर्माण करते हैं। वे देश की भलाई के लिये ऐसा करते हैं। सरकार इन कानूनों का पालन कराने के लिये उत्तरदायी है। नागरिक

का कर्त्तव्य है कि वह अपनी बनाई हुई चीजों की रक्षा करे। कानूनों का उल्लंघन कर वह अपनी आवश्यकता का बहिष्कार करता है तथा औरों के सामने अराजकता का उदाहरण रखता है। ऐसी दशा में वह राज्य की ओर से दंड का भागी है। कुछ ऐसे भी कानून बनाये जाते हैं जो जनता के हित में बाधक होते हैं। वह इनका बहिष्कार कर सकती है। यहाँ पर उनका बहिष्कार ही उसका कर्त्तव्य है।

**करों का चुकाना**

३—कर राज्य का प्राण है। जिस प्रकार प्राण के बिना शरीर निर्जीव है उसी प्रकार कर के बिना राज्य सम्भव नहीं है। सरकार को चलाने के लिये धन की आवश्यकता होती है। प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह करों के रूप में यह धन दे। यदि सरकार को आवश्यकता उसे है तो धन भी उसे देना होगा। नागरिक इसे इनकार नहीं कर सकता। कर लोगों की आर्थिक स्थिति के अनुसार लगाये जाते हैं। सरकार जनता से अनुचित धन नहीं ले सकती। यदि वह ऐसा करती है तो जनता उसका बहिष्कार करेगी। इसलिये उसे प्रसन्नता-पूर्वक इन करों को देना चाहिये। विशेष अवसरों पर ये कर बढ़ाये भी जाते हैं। यद्यपि प्रजा को इनसे कष्ट होता है परन्तु परिस्थित के कारण इनका लगाना आवश्यक होता है। नागरिक को इस कर्त्तव्य के बदले एक बहुत बड़ा अधिकार प्राप्त है। कर देकर वह शासन में भाग लेने का अधिकारी हो जाता है। जिस राज्य में प्रजा को शासन में कोई अधिकार प्राप्त नहीं है वह कर देने से इनकार कर सकती है। इंगलैंड के इतिहास में स्टुअर्ट राजाओं के समय में प्रजा ने धन देने से इनकार कर दिया था। उसका ऐसा करना सर्वथा उचित था, क्योंकि स्टुअर्ट राजा स्वेच्छचारी शासन करना चाहते थे। अमेरिका की स्वतन्त्रता की लड़ाई में जनता ने टैक्स देने से साफ इनकार कर दिया था।*

**नागरिकता का सदुपयोग**

४—अधिकार की आवश्यकता कर्त्तव्य-पालन के लिये है। नागरिक अपने अधिकारों से बहुतों को हानि पहुँचा सकता है। मान लीजिये किसी देश में हथियार रखने की स्वतन्त्रता है। ऐसा इसलिये किया गया है कि विपत्ति के समय नागरिक अपनी रक्षा कर सके। परन्तु वह इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग भी कर सकता है। वह अपने पड़ोसी अथवा किसी निर्दोष व्यक्ति पर हाथ साफ कर सकता है। ऐसी दशा में राज्य इस स्वतन्त्रता का अपहरण करेगा। सभी अधिकारों का दुरुपयोग किया जा सकता है। इसलिये नागरिक का सब से बड़ा कर्त्तव्य है अधिकारों का सदुपयोग। वह अपने अधिकारों को समझे और उनका उचित प्रयोग करे। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की तरह अधिकार का उल्लंघन हानिकर होता है। किसी

* No taxation without representation.

की स्वतन्त्रता में बाधा डालकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करना नितान्त अनुचित है। इससे मनुष्य का पतन होता है। इसी को रोकने के लिये दंड की व्यवस्था की गई है। शारीरिक दंड वहीं तक ठीक है जहाँ तक मनुष्य सुमार्ग पर आ जाय। जो नागरिक अपने कर्तव्य का ध्यान नहीं रखता और अधिकार का दुरुपयोग करता है उसकी भलाई के लिये राज्य उसे दंड देता है जिससे इस चेतावनी से उसका सुधार हो। साथ ही औरों को भी शिक्षा मिलती है।

केवल अधिकार प्राप्त करने से नागरिक की उन्नति नहीं होती। उन्नति तभी संभव है जब उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान हो। धन कमाना सरल है परन्तु उसका उचित उपयोग करना कठिन है। थोड़े ही धन से कुछ लोग आदर्शमय जीवन व्यतीत कर लेते हैं। इसके विपरीत लाखों की सम्पत्ति रखने वाला चिन्ता के जाल में फँसा रहता है और दूसरों को कष्ट देता है। केवल अधिकारों की वृद्धि की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता यह है कि थोड़े ही अधिकारों का उचित प्रयोग हो। इनसे मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति होनी चाहिये। किन्तु अनुचित ढंग से इसकी प्राप्ति ठीक नहीं है। आत्मविकास उसी का नाम है जो अहिंसा द्वारा हो। सदुपयोग में ही शान्ति और सुख है।

५—श्रम

श्रम से हमारा तात्पर्य शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के श्रम से है। एक से ही पूरी उन्नति सम्भव नहीं है। केवल व्यायाम करके शरीर को मोटा ताज़ा करना ठीक नहीं है। मनुष्य का जन्म न तो केवल खाने के लिये है और न केवल मस्तिष्क शक्ति को बढ़ाने के लिये। शरीर का ध्यान छोड़कर मस्तिष्क की उन्नति करना हानिकारक है। रोगी मनुष्य गुणी होते हुये भी क्या कर सकता है। मध्यम मार्ग सब से उत्तम है। शरीर का ध्यान रखते हुये मनुष्य अपनी मानसिक उन्नति करे। दोनों के मेल से उसकी वास्तविक उन्नति होगी। नागरिक का कर्तव्य है कि वह दोनों प्रकार का श्रम करे। इससे राज्य की शक्ति बढ़ेगी। इसीलिये भीख माँगना कई देशों में अपराध ठहराया गया है क्योंकि इससे आलसी लोगों की संख्या बढ़ती है और राज्य की आय कम होती है। यही नहीं, समाज को इससे आध्यात्मिक अवनति होती है।

किसी देश में काहिलों की संख्या बढ़ जाय तो इसका परिणाम भयंकर होगा। इसी भय से सरकार तरह तरह के उद्योग-धन्धों की सुविधायें लोगों को देती है। नैतिक दृष्टि से परिश्रम के बिना भोजन करना पाप है। जब हम परिश्रम नहीं करते तो हमें रोटी कहाँ से मिलती है। भोजन के बिना जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। परिश्रमहीन मनुष्य दूसरों की कमाई खाता है। हर मनुष्य को हाथ और बुद्धि है।

वह अपनी शक्ति के अनुसार उनसे पैदा करे, स्वयं खाये और दूसरों को भी दे। इसी से देश में शान्ति और सब की उन्नति होगी। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह सब को समान अवसर दे। एक दूसरे के परिश्रम का अनुचित लाभ उठाना घोर पाप है। इससे उसकी विवेक शक्ति नष्ट होती है और समाज में आर्थिक विषमता का रोग फैलता है। पुरुषार्थ से ही आम-सम्मान और आत्मगौरव प्राप्त होता है। इसी से भीतरी शक्तियों का विकास होता है। श्रम मनुष्य को बहुत सी बुराइयों से बचाता है। बेकार मस्तिष्क भूतों का घर है। कुछ न कुछ करते ही रहना चाहिये। संसार में कार्य की कमी नहीं है। कमी है करने वालों की। नागरिक अपने आप सोच कर कार्य निकाले और उन्हें करे। सरकार उसकी सहायता मात्र कर सकती है।

**नागरिक के अन्य कर्त्तव्य**

सभी देशों में हर समय कोई न कोई समस्या उपस्थित रहती है। जन-साधारण उसे सुलझाने में असमर्थ होते हैं। उच्च नागरिकों का कर्तव्य है कि उसे सुलझावें और जनता का उद्धार करें। सामाजिक सुधारों की आवश्यकता इसी लिये पड़ती है। दीन दुखियों की सहायता करना नागरिक का धर्म है। अपनी ही चिंता में व्यस्त रहना स्वार्थ का शिकार बनना है। समाज में कितने लँगड़े, लूले, अपाहिज अन्धे आदि रहते हैं। समाज का कर्तव्य है कि उनकी जीविका का प्रबन्ध करे, विधवाओं को शरण दे और तरह-तरह की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करे। अनाथालय, धर्मशाला, शिक्षा-गृह, व्यायामशाला आदि खोलने की व्यवस्था करना नागरिकों का कर्तव्य है। केवल सरकार पर सभी भार देना उचित नहीं है। सामाजिक सुधार उतने ही आवश्यक हैं जितने राजनैतिक प्रबन्ध। दोनों का उत्तरदायित्व नागरिकों पर ही है।

कर्तव्य पालन का आरम्भ उन छोटी-छोटी बातों से होता है जिनकी आवश्यकता हमें पग-पग पर पड़ती है। सभ्यता के साथ उठना, बैठना, चलना, बातें करना तथा आत्मीय जनों के साथ सुव्यवहार करना कम आवश्यक नहीं है। अपरिचित अथवा विदेशी लोगों के साथ सद्भाव रखना राष्ट्रीय गौरव को बढ़ाना है। दीन दुखियों की सेवा, दुर्बलों की सहायता तथा चिन्तित व्यक्तियों को सान्त्वना प्रदान करना हमारा आध्यात्मिक कर्त्तव्य है। हमें याद रखना चाहिये कि कर्त्तव्य को छोड़ कर लोक-परलोक दोनों जगह कोई दूसरा साथी नहीं होता। भगवान् बुद्ध कहते हैं, "जितनी भलाई माता-पिता अथवा दूसरे भाई-बन्धु कर सकते हैं, उससे अधिक भलाई ठीक मार्ग पर लगा चित्त करता है।"



# अध्याय ४

## स्वतंत्रता और समानता

राज की सम्पूर्ण व्यवस्था मनुष्य के विकास के लिये हैं—प्रजातंत्र इस विकास के लिये सबसे उपयुक्त माना गया है। समानता और स्वतंत्रता इसकी पहली आवश्यकतायें हैं। शुद्ध प्रजातंत्र वही है जिसमें व्यक्ति को अपनी उन्नति करने की पूरी स्वतंत्रता है और जिसका सिद्धान्त समानता पर निर्भर है। यदि विश्वबन्धुत्व की स्थापना करनी है तो संसार का राजनैतिक संगठन चार सिद्धान्तों पर बनना चाहिए—न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा बन्धुत्व। स्वतंत्रता और समानता के बिना मनुष्य की उन्नति सम्भव नहीं है। इन दोनों शब्दों के तात्पर्य और वर्तमान राजनैतिक संगठन में इनके पालन पर विचार करना चाहिये।

**स्वतन्त्रता**

स्वतंत्रता दासता का विपरीत शब्द है। जो दास नहीं है वह स्वतंत्र है। स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को इस बात का पूरा अवसर मिले कि वह आत्मोन्नति कर सके। जिस हद तक उसे इसकी स्वतन्त्रता दी गई है वहाँ तक वह स्वतन्त्र है। प्राचीन काल में स्वतन्त्रता से तात्पर्य यह था कि अत्याचारी राजाओं से रक्षा हो। राजा प्रजा पर जो अत्याचार करते थे उन्हें रोकने का अधिकार ही एक बहुत बड़ी स्वतन्त्रता समझी जाती थी, किन्तु आधुनिक युग में, जिसे प्रजातन्त्र का युग कहते हैं, इस प्रकार के अत्याचारी राजा नहीं रहे। आज स्वतन्त्रता का एक दूसरा अर्थ लगाया जाता है। प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता दोनों एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। नागरिकों को इस बात की स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वे भाषण दे सकें, सभायें कर सकें, सामाजिक संगठन बनावें, वादविवाद करें तथा शासन-प्रबन्ध में टीका टिप्पणी करें। प्रेस को भी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। व्यक्तित्व का विकास इन्हीं स्वतन्त्रताओं द्वारा होता है। टीका टिप्पणी सत्य की खोज का बहुत बड़ा साधन है। जब तक सत्य की खोज न होगी तब तक मनुष्य का उद्देश्य पूरा न होगा। उन्नति का तात्पर्य स्वतन्त्र विकास से है। स्वतन्त्र विकास स्वाभाविक विकास को कहते हैं। इसलिये स्वतन्त्रता एक स्वाभाविक अधिकार है। मनुष्य को इससे वंचित करना उसके स्वाभाविक विकास को रोकना है। स्वतन्त्रता के कई प्रकार हैं—स्वाभाविक स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता,

राजनैतिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय स्वतंत्रता। इन पर अलग-अलग विचार किया गया है।

**स्वाभाविक स्वतन्त्रता**

१—फ्रांस का प्रसिद्ध विद्वान् रूसो लिखता है "मनुष्य स्वतंत्र जन्म लेता है, और सब जगह परतंत्रता के जाल में जकड़ा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य अपने को एक दूसरे का स्वामी समझता है, परन्तु उसकी दासता उसके नौकरों से भी बढ़ कर है।"* जब मनुष्य का जन्म स्वतंत्र होता है तो वह स्वतंत्र रहने का अधिकारी है। यह मनुष्य की कमजोरी है जो सामाजिक बन्धनों में अपने आपको बुरी तरह बाँध देता है। शरीर और विचार दोनों ही स्वतंत्र हैं। शरीर को बाँधा जा सकता है, परन्तु विचारों की दासता सम्भव नहीं है। एक विद्वान् का कहना है "विचार पूर्ण स्वतन्त्र हैं"। राज्य में नागरिक अपनी उन्नति के लिये सब कुछ कर सकता है। विचारों को दबाने का जितना ही प्रयत्न किया जाता है, उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ती है। जिन जिन चीजों से नागरिक की उन्नति हो सकती है वे भी स्वाभाविक हैं और उन्हें प्राप्त करने का अधिकार स्वाभाविक कहलाता है। खाने, पीने, पहनने, बोलने, चलने-फिरने, सोचने आदि क्रियाओं के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। अतएव इनकी प्राप्ति में जिन-जिन अधिकारों की आवश्यकता है वे सब स्वाभाविक हैं।

**सामाजिक स्वतन्त्रता**

२—जब तक समाज की रचना नहीं हुई थी तब तक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार खाता, पीता, घूमता तथा विचरता था। उसके ऊपर किसी प्रकार के बन्धन नहीं थे। यदि कोई उसे कष्ट पहुँचाता तो अपनी शारीरिक शक्ति से वह उसका मुकाबिला करता था। ऐसी दशा में कमजोर व्यक्ति स्वतंत्र नहीं रह सकता था। इसीलिये समाज की रचना हुई कि प्रत्येक मनुष्य समान रूप से स्वतन्त्रता से लाभ उठावे। सामाजिक नियम बना कर मनुष्य को चेतावनी दी गई कि वह एक दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधा न डाले। यदि समाज में रहना है तो सब की भलाई का ध्यान रखना होगा। समाज में मनुष्य वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह औरों की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं पहुँचाता। उसे बहुत से सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ता है। सामाजिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य है कि मनुष्य को सच्ची स्वतन्त्रता समाज में मिलती है। सभ्यता और स्वतन्त्रता दोनों मिली हुई हैं। यदि मनुष्य सभ्य बनना चाहता है तो वह समाज में स्वतन्त्रता को स्थान दे। समाज से अलग कोई स्वतंत्रता है तो वह जंगली और असभ्य है। इसमें थोड़े गुण भी हों तब भी समाज को उससे कोई लाभ नहीं है।

W: 3 J2

---

* Man is born free and he is everywhere in chains...

961

**राजनैतिक स्वतंत्रता**

३—स्वतन्त्रता का तीसरा क्षेत्र राजनीति है। इसका तात्पर्य 'स्वतन्त्र देश' अथवा 'स्वतन्त्र सरकार' से है। जिस राज्य में प्रजा को यह अधिकार है कि वह शासन में हाथ बटावे वहाँ राजनैतिक स्वतन्त्रता है। जनता स्वयं यह निश्चय करती है कि उसका शासन-प्रबन्ध कैसे हो। साम्राज्यवाद राजनैतिक स्वतन्त्रता का शत्रु है। एक देश को कोई अधिकार नहीं है कि वह किसी दूसरे देश को दास बनाये। इसी तरह राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकता। शक्ति के आधार पर निर्माण किया हुआ राज्य चिरस्थायी नहीं होता। स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। अब्रहम लिंकन ने प्रजातन्त्र की जो परिभाषा की है कि "सरकार जनता की वस्तु है। वही उसे अपनी भलाई के लिये चलावे", सबको मान्य है। सरकार और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का युद्ध इतिहास का बहुत बड़ा अध्याय है। प्राचीन तथा मध्य काल तक यह युद्ध चलता रहा कि प्रभुत्व का क्या तात्पर्य है और राजा के क्या-क्या अधिकार हैं। आज भी जनता की सम्पूर्ण माँगें पूरी नहीं हो सकी हैं। अभी यह सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है कि प्रभुता जनता की शक्ति है और वह उसे घटाने-बढ़ाने में स्वतंत्र है।

**राष्ट्रीय स्वतन्त्रता**

४—जो देश स्वतन्त्र है वह राष्ट्र कहलाता है। भारत राष्ट्र है। साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता एक दूसरे के विरोधी सिद्धान्त हैं। जैसे व्यक्ति को राज्य में स्वतन्त्रता चाहिये उसी प्रकार देश को स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अधिक आवश्यक है। कोई देश दास रहकर अपनी उन्नति नहीं कर सकता। जो देश परतन्त्र हैं वे निर्धन और असन्तुष्ट रहते हैं। उनके अन्दर जीवन का अभाव होता है। इसीलिये राज्य के निवासियों का कर्त्तव्य है कि न वे किसी को दास बनावें और न स्वयं दास रहें। नैतिक दृष्टि से दोनों ही बुरे हैं। इतिहास में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की कहानियाँ भरी पड़ी हैं। इसके लिये देशवासियों ने अपना तन और धन दोनों अर्पण किया है। जिस राष्ट्र को स्वतन्त्रता का मूल्य मालूम है वह ऊँची-से-ऊँची जाति का शासन पसन्द नहीं कर सकता। स्वतन्त्र राष्ट्र में भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण किया जाता है। इसीलिये शासन-विधान बहुत ही सोच-विचार कर बनना चाहिये।

**स्वतन्त्रता की आवश्यकता**

स्वतन्त्रता मानव जीवन का तत्व है जिसे खोकर वह मनुष्य नहीं रह जाता। जिस समय मनुष्य जन्म लेता है उस समय उसकी जीभ में कोई कुंजी नहीं लगी रहती और न उसके हाथ-पैर बँधे होते हैं। यह बात मनुष्यत्व के विरुद्ध है कि उसकी जीभ में ताला लगा दिया जाय और उसकी गति रोक दी जाय। ऐसा करने

से मनुष्य पशु और पक्षियों से भी नीचे गिर जाता है। मछली पानी में अपनी इच्छानुसार घूमती है, पक्षी जहाँ चाहे उड़ सकता है, फिर मनुष्य को आने जाने में रुकावट क्यों हो? स्वतन्त्र मनुष्य अपने सम्मान की रक्षा करता है; वही सत्य बोलता है; और उसी को मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। पूर्ण स्वतन्त्र वह भूमि है जिसमें व्यक्तित्व का बीज अपने आप उगता है और बढ़कर ज्ञान, आनन्द, प्रेम और सच्चरित्रता आदि फल लाता है। उसी के मुख से यह शब्द निकल सकता है कि "मैं विचार करता हूँ; और मेरी यह इच्छा है"। स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य मशीन की तरह है जो दूसरों के हाथों की कठपुतली है। मनुष्य की आत्मा में यह ध्वनि है कि "स्वतन्त्रता मेरा अधिकार है। मैं कानून का वहीं तक आदर करता हूँ जहाँ तक वह मेरी उन्नति करता है।" स्वतन्त्रता का यह ऊँचा आदर्श समानता के बिना पूरा नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता उन्नति की जननी है। कूहस का निवासी निकोलस लिखता है, "मनुष्य स्वभाव से स्वतन्त्र और समान है। किसी सभा अथवा नियम का स्रोत जनता से आरम्भ होता है।"

जान स्टुअर्ट मिल अपनी "स्वतन्त्रता" नामक पुस्तक में लिखता है "मनुष्य अपनी राय कायम करने के लिये स्वतन्त्र है। उसे अपनी राय प्रगट करने का पूरा अधिकार है।" प्रश्न यह है कि क्या वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता है? यदि कार्य करने का अधिकार नहीं है तो केवल विचार से क्या लाभ! मिल का कहना है कि "कार्य करने में मनुष्य को वहीं रुकावट डाली जाती है जहाँ वह उससे दूसरों को हानि पहुँचाता है।" कोई अपने कामों से औरों को हानि न पहुँचाये तो वह कार्य करने के लिये स्वतन्त्र है। यह बात न्यायसंगत है कि दूसरों को हानि पहुँचाना पाप है। राज्य की ओर से मनुष्य के कामों पर प्रतिबंध इसीलिये है कि एक के काम से औरों को हानि न पहुँचे। मनुष्य वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं पहुँचाता। जो वृक्ष अपनी इच्छानुसार बढ़ता है उसका विस्तार अधिक होता है और उसकी नींव दृढ़ होती है। यही दशा मनुष्य की भी है। दूसरों की इच्छा पर चलने वाला अपने व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता। उसकी शक्तियाँ तभी विकसित होती हैं जब वह स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करता है और उसी के अनुसार चलता है। पग-पग पर रोकने से मनुष्य की तीव्र बुद्धि कुंठित हो जाती है। स्वतन्त्र विचारों से चरित्र-बल की नींव पड़ती है। पशु की तरह मनुष्य बाँधा नहीं जा सकता। उसका मूल्य तभी तक है जब तक वह स्वतन्त्र है।

आवश्यकता अनुसन्धान की जननी है। स्वतन्त्रता में अपनी आवश्यकताओं को हम समझ सकते हैं। हमारी आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न हैं। बाहरी नियम इसे निश्चित नहीं कर सकते। अपनी इच्छानुसार आवश्यकता की पूर्ति कर मनुष्य

सन्तोष का अधिक अनुभव करता है। जितने भी आविष्कार दिखलाई पड़ते हैं सभी स्वतन्त्र विचारों के फल हैं। संसार में जितनी नवीनता हमें दिखलाई पड़ती है वह सब स्वतन्त्र मस्तिष्क की उपज है। ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में जो नये-नये सिद्धान्त हमें मिलते हैं वे स्वतन्त्र बुद्धि के परिणाम हैं। यदि स्वतन्त्रता न हो तो नवीनता नहीं रह सकती। यदि राज्य की ओर से यह कानून बना दिया जाय कि सब लोग अपना घर एक प्रकार का बनावें तो इसका परिणाम क्या होगा? वास्तु-कला-विशारद नये-नये नकशे बनाना बन्द कर देंगे और कुछ दिनों में गृहनिर्माण कला का विनाश हो जायगा।

**राज्य और स्वतन्त्रता**

"राज्य नागरिक की स्वतन्त्रता में बाधक है," जो ऐसा कहते हैं वे न राज्य को समझते हैं और न स्वतन्त्रता को। उनकी समझ में स्वतन्त्रता का तात्पर्य जंगली स्वतंत्रता से है। परन्तु समाज में ऐसी स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। जो जिसे चाहे मार दे और जिसका धन चाहे छीन ले तो हम उसे स्वतन्त्र अवश्य कहेंगे, परन्तु उसकी स्वतन्त्रता की सराहना नहीं करेंगे। यदि ऐसी स्वतन्त्रता सब को दे दी जाय तो संसार में आततायियों का बोलबाला होगा और कार्य करना असम्भव हो जायगा। लूट-मार और अत्याचार होने लगेंगे। सभ्यता और नियम का चिह्न संसार से मिट जायगा। इसी को रोकने और शान्ति की स्थापना कर न्याय की रक्षा के लिये राज्य की उत्पति हुई है। राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं है। राजकीय नियम उसकी जंगली स्वतन्त्रता को बुरा ठहराते हैं। वे मनुष्य की शक्ति को संगठित कर अच्छे कामों की ओर अग्रसर करते हैं। कानून उसे बन्धन मालूम पड़ते हैं परन्तु वे उसकी रक्षा के लिये हैं और उसके विकास में सहायक होते हैं। कहा जाता है कि "कानूनों की इतनी अधिकता है कि व्यक्ति को वे मार मालूम पड़ते हैं। विभिन्न संगठनों का बल इतना बढ़ रहा है कि व्यक्ति की उसमें कोई हस्ती नहीं है। सामाजिक संगठन में वह मशीन बन गया है।" कानूनों की अधिकता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से कोई सम्बन्ध नहीं है। कानून हमारी कठिनाइयों को दूर करने के लिये बनाये जाते हैं। हमें उनकी आवश्यकता है। स्वार्थ की दृष्टि से वे भले ही बुरे लगें, लेकिन आवश्यकता पड़ने पर हम उनका उपयोग करते हैं।

सामाजिक संगठन हमारी विभिन्न माँगों की पूर्ति करते हैं। संस्थाओं का जो बिखरा हुआ जाल दिखलाई पड़ रहा है उसको हमी बुनते हैं। स्कूल में पढ़ने के लिये जब कोई बच्चा भेजा जाता है तो शिक्षा उसे भार मालूम पड़ती है। स्कूल को वह जेल समझता है। फिर भी शिक्षा को कोई बन्धन नहीं कह सकता। इसी प्रकार और भी संस्थायें बन्धन नहीं हैं। उनमें रह कर हम अपने व्यक्तित्व

का विकास कर सकते हैं। वे हमारी स्वतन्त्रता में बाधक नहीं हैं। राज्य और समाज हमारी उन्नति के साधक हैं बाधक नहीं। वे बाधक तभी सिद्ध होते हैं जब हम अपनी उन्नति का मार्ग छोड़ कर अवनति पथ पर चलने लगते हैं। राज्य में चोरी, व्यभिचार, अन्याय, अपहरण, प्रतिकार आदि की स्वतन्त्रता किसी को नहीं है; किन्तु इससे समाज को हानि नहीं है। यह सभी मानते हैं कि ऐसी स्वतन्त्रता की आवश्यकता नहीं है।

कभी-कभी राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक होता है। भय और स्वार्थवश उस समय कोई बुरा नहीं ठहराता, किन्तु न्याय की दृष्टि से हम उसे बुरा कह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस रुकावट के कारण राज्य बुरी चीज है। थोड़े से अवगुणों के कारण हम सैकड़ों गुणों का बहिष्कार नहीं कर सकते। राज्य जहाँ बाधक सिद्ध हुआ है वहाँ हमारे लिये आवश्यक भी है *। हमें देखना चाहिये कि किस प्रकार राज्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधक होता है और उससे क्या हानि है। यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण फाँसी पर चढ़ा दिया गया। बहुत सम्भव है कि आज उसके विचारों से दुनिया को लाभ पहुँचता। उसे मृत्यु दंड देकर सरकार ने बुरा किया। प्रत्येक युग में कितने ही मनुष्य अपने विचारों को स्पष्ट करने से वंचित कर दिये जाते हैं। उस समय उन से लाभ भले ही न हो परन्तु भविष्य के लोग उससे लाभ उठा सकते हैं।

इटली का महापुरुष गैलिलियो यही कहने पर कि 'पृथ्वी गोल है' अपने प्राण से हाथ धो बैठा। उस समय उसके कथन में सच्चाई भले ही न मालूम पड़ी हो, परन्तु बात बिल्कुल ठीक थी। सरकार कभी-कभी अखबारों पर प्रतिबन्ध लगाकर लेखन की स्वतंत्रता को छीन लेती है। इससे कितनी ही सच्ची बातें छिपी रह जाती हैं। बहुत-सी राय को सरकार गलत ठहरा देती है और उसे स्पष्ट करने से व्यक्ति को रोक देती है। यदि सब नहीं तो उसका कुछ अंश ठीक हो सकता है।

पैस्कल का कहना है "पूर्ण स्वतंत्रता मनुष्य के लिये घातक है।" इसीलिये कानून का प्रतिबन्ध लगा कर उसे रोका गया है। प्रश्न यह है कि स्वतंत्रता और रोक ये दोनों कैसे रह सकते हैं। या तो मनुष्य को रोका ही जाय या उसे स्वतन्त्र किया जाय। इसी प्रकार के विचारक कानून को एक बन्धन समझते हैं। उनका कहना है कि कानून का थोड़ा भी बन्धन स्वतन्त्रता का उसी प्रकार अपहरण करता है जिस प्रकार थोड़ा सा विष मनुष्य का प्राण ले लेता है। कानून और स्वतन्त्रता

**कानून और स्वतन्त्रता**

* State is a necessary evil.

दोनों साथ साथ नहीं चल सकते । कानून एक दबाव है और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध विनय और प्रार्थना से है । कानून कभी कोई महापुरुष पैदा नहीं किया, परन्तु स्वतन्त्रता ने अनेक महापुरुषों को उत्पन्न किया है । रोशनी और हवा की तरह स्वतन्त्रता पर रोक नहीं लगाई जा सकती।" व्यावहारिक दृष्टि से कोई भी इस विचार से सहमत नहीं हो सकता । हीगल का कहना है, "कानून के पालन में ही स्वतन्त्रता है।" रोम का विद्वान् सिसरो लिखता है "स्वतन्त्रता कार्य करने की वह शक्ति है जो कानून द्वारा प्राप्त होती है।" वास्तव में कानून की यह व्याख्या ठीक है और तभी हम उसमें स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकते हैं । उस स्वतन्त्रता से क्या लाभ जो सार्वभौम नहीं बनाई जा सकती । कानून हमारे विचारों के प्रतिबिम्ब हैं । वे हमारे गुणों का समर्थन और बुराइयों का विरोध करते हैं । रैम्जे म्योर ने लिखा है, "कानून और स्वतन्त्रता पाश्चात्य सभ्यता के आधार हैं।"* दोनों का सिद्धान्त मिला हुआ है । कानून से स्वतन्त्रता की रक्षा होती है और स्वतन्त्र मनुष्य कानून का पालन करता है ।

**क्या मनुष्य स्वतन्त्र है ?**

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि मनुष्य पूर्णस्वतन्त्र नहीं है । वह अपने कर्त्तव्यों से बँधा हुआ है । जहाँ अधिकार उसे स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं वहाँ कर्त्तव्य बन्धन में जकड़ देते हैं । अधिकार और कर्त्तव्य के चक्कर में मनुष्य पड़ा रहता है । पूर्ण स्वतन्त्रता, जो जंगली स्वतन्त्रता से भिन्न है, एक स्वप्न है जो इस संसार में पूरा नहीं हो सकता । राजनैतिक तथा सामाजिक बन्धन मनुष्य के मस्तिष्क को एक बिशेष मार्ग पर ले चलते हैं । सारा वायुमंडल ऐसा बना दिया जाता है कि एक विशेष दृष्टिकोण से मनुष्य चीजों को देखने लगता है । जो अपना दृष्टिकोण बदलकर कोई नई बात कहता है उसे सरकार और समाज रोकते हैं । वह अपराधी और पागल कहा जाता है । महात्मा गाँधी, जो संसार में सबसे बड़े महापुरुष रहे हैं, अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने में असमर्थ रहे ! इसके दो कारण हैं । सरकार उन्हें इसकी पूरी स्वतन्त्रता प्रदान न कर सकी और समाज भी उनके आदर्शों को नहीं समझ सका । फिर कैसे कहा जाय कि मनुष्य स्वतन्त्र है । सामाजिक परिपाटियाँ, राजनैतिक वातावरण और धार्मिक कठिनाइयाँ उसकी स्वतन्त्र विचार-धारा में चट्टान की तरह बाधक होते हैं । आज से दस बीस वर्ष पहले कोई ब्राह्मण यह नहीं कह सकता था कि हरिजनों का छुआ भोजन करना चाहिये । ब्राह्मण जाति इसको स्वतन्त्रता नहीं दे सकती थी ।

मनुष्य वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह परिपाटियों का दास नहीं है । सरकारी कानून उसकी स्वतन्त्रता में उतनी बाधा नहीं डालते जितने सामाजिक बन्धन ।

---

* Law and liberty are the basis of western civilization.

मनुष्य अपने आपको जितना इनसे ऊपर उठा पाता है वह उसी सीमा तक स्वतन्त्र है। रेल किसी को यात्रा करने से नहीं रोकती परन्तु आर्थिक कठिनाई और धार्मिक रूढ़ियाँ अनेक व्यक्तियों को इससे वंचित कर देती हैं। मनुष्य की परिस्थिति भी उसकी स्वतन्त्रता में बाधक होती है। रोटी की चिन्ता में पड़ा हुआ मनुष्य बड़ी-बड़ी बातों को नहीं सोच सकता। मानसिक कमजोरियाँ सबसे बड़ी बाधायें हैं। जो शराबी है वह शराब की बुराइयों को नहीं सुन सकता। उसकी कमजोरी इस बात की स्वतन्त्रता नहीं देती कि वह आत्मोन्नति करे। शारीरिक त्रुटियों के कारण मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छाओं से वंचित हो जाता है। जिसकी टाँग टूट गई है वह बद्रीनाथ की यात्रा नहीं कर सकता, चाहे उसकी इच्छा कितनी ही प्रबल क्यों न हो। अशिक्षित मनुष्य इच्छा रखते हुए भी कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ सकता। उसकी स्वतन्त्रता चारों ओर से घिरी हुई है। परन्तु उसकी शक्ति अनन्त है। अपनी परिस्थिति से ऊपर उठकर यदि वह अपने आपको पहचान ले तो पर्याप्त अंश तक वह स्वतन्त्र हो सकता है।

**समानता** — समानता के बिना स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है। स्वतन्त्रता पाकर यदि देश में थोड़े से लोग सुखपूर्वक रहने लगें और शेष निर्धनता से तड़पते रहें तो वह देश उन्नति नहीं कर सकता। उन्नति तब होगी जब कुछ वस्तुओं में पर्याप्त अंश तक समानता का राज्य होगा। अमेरिका के "स्वतन्त्रतापत्र" में दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया था। आदर्श नागरिकता के लिये समानता आवश्यक है। वर्तमान सरकारें अपने नागरिकों को एक दृष्टि से देखती हैं। यदि इस प्रकार की समानता न हो तो लोग स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं कर सकते। जो राज्य सबको समान अवसर नहीं देता और जिसका न्याय समानता पर निर्भर नहीं है वह स्थिर नहीं रह सकता। समानता का तात्पर्य यह नहीं है कि सबके पास बराबर सम्पत्ति हो और सभी समान शिक्षित हों। यह बात स्वभाव के विरुद्ध है कि सबके विचार समान हों। सभी लोग बुद्धिमान और पराक्रमी नहीं हो सकते। विषमता होते हुये भी प्रकृति में एक समानता है। प्राकृतिक वस्तुयें सुन्दर होती हैं, सबका उपयोग है, सबको समान रोशनी और हवा मिलती है। चन्द्रमा की शीतल चाँदनी सबके लिये सुलभ है। सूर्य की किरणें सबको गर्मी पहुँचाती हैं। अरस्तू के कथनानुसार "सच्ची स्वतन्त्रता मित्रता में निहित है।" समानता का तात्पर्य है कि राज्य सबको एक समान समझे। सबको अपनी उन्नति का समान अवसर दे। एक ही अपराध के लिये वह धनी और गरीब के लिये अलग दंड का विधान न बनाये। जाति-रूप-रंग के कारण किसी का पक्षपात न करे। सभी धर्मों को एक दृष्टि से देखे। व्यक्तित्व का समान आदर करे। किसी

वर्ग अथवा सम्प्रदाय को विशेष अधिकार न दे। शासन-विधान में यह बात स्पष्ट कर दी जाय कि कानून की दृष्टि में सभी लोग समान हैं।

**समानता संबंधी कुछ भ्रम**

जिस वस्तु का जितना मूल्य है वह उतने को बिकेगी। मिट्टी और सोना एक भाव नहीं बिक सकते। समाज में सभी मनुष्य बराबर उपार्जन नहीं कर सकते। जो मजदूरी एक घास काटने वाले को मिले वही प्रोफेसर को दी जाय—यह न्यायसंगत नहीं है। मनुष्य की योग्यता और उसकी उपयोगिता का ध्यान रखना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो कुछ लोग परिश्रम करके विद्याभ्यास क्यों करेंगे। यदि किसी राज्य में काने अधिक हों तो सबको समान करने के लिये सरकार सबकी एक आँख नहीं फोड़ सकती। राज्य अथवा समाज यह नियम नहीं बना सकते कि सब लोग बराबर भोजन करें और एक-सी पोशाक पहनें। शिक्षा में भी यह नहीं चल सकता कि सबको इन्ट्रेंस पास करना होगा। कोई बीस बार इंट्रेंस में फेल हो तो क्या सरकार उसे राज्य से बाहर निकाल देगी? इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि समानता का तात्पर्य समान अवसर को छोड़ कर दूसरा नहीं है।

समानता के मुख्य ६ भेद किये गये हैं :—

शारीरिक समानता, आर्थिक समानता, राजनैतिक समानता, सामाजिक समानता, सांस्कृतिक समानता और नैतिक समानता। इनका तात्पर्य क्या है और व्यक्ति अथवा राज्य की उन्नति पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर अलग-अलग विचार किया गया है।

**शारीरिक समानता**

१—राज्य जनता की शारीरिक उन्नति का इतना ध्यान रक्खे कि उनमें शक्ति, स्वास्थ्य और सौन्दर्य में अधिक से अधिक समानता हो। राज्य में रोगियों की संख्या अधिक है तो इससे स्पष्ट है कि प्रजा की शारीरिक उन्नति पर कम ध्यान दिया जाता है। अंधे, लूले, लंगड़े, बहरे—इनका समाज में तिरस्कार किया जाता है। राज्य इनकी उचित व्यवस्था करे। इनकी आवश्यकतानुसार व्यवसाय निकाल कर इन्हें उन्नति का अवसर दे। प्रजा के शारीरिक बल में अधिक विषमता होने से निर्जीव और निरुत्साही व्यक्तियों की संख्या बढ़ने लगती है। हमारे देश में स्वास्थ्य बनाने का अवसर सबको नहीं मिलता। आर्थिक विषमता के कारण बहुत से लोग भरपेट भोजन तक नहीं कर पाते। उनका शरीर दुबला पतला होता है और वे एक प्रकार का छोटापन अनुभव करते हैं। यदि समाज में थोड़े से लोग मोटे ताजे बने रहें तो उनके विलासी जीवन का प्रभाव समाज पर बुरा पड़ेगा। जिस प्रकार शासन व्यवस्था में प्रजातन्त्र सबसे उपयुक्त माना गया है उसी प्रकार शारीरिक उन्नति में प्रजातन्त्र होना चाहिये ताकि हम राज्य में किसी

को कुरूप और दुर्बल न देखें। यूनान के स्पार्टा नगर में स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिया जाता था। दुर्बल बच्चों को जीवित रखने की आज्ञा न थी।

**आर्थिक समानता**

२—आर्थिक समानता का तात्पर्य यह है कि लोगों की आमदनी और सम्पत्ति समान कर दी जाय। यह सिद्धान्त समाजवादियों का है। इंगलैंड के राजनीतिज्ञ लास्की का कहना है कि आर्थिक समानता का तात्पर्य राज्य में सबको समान सुविधायें और अवसर देना है। लार्ड ब्राइस, जो प्रजातन्त्र के पूरे पक्षपाती हैं, लिखते हैं "प्रजातन्त्र का आदर्श आर्थिक समानता नहीं है। वह एक प्रकार की शासन व्यवस्था है जिसका उद्देश्य यह नहीं है कि सम्पूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था को बदल दिया जाय।" * राज्य का कर्त्तव्य है कि वह सबकी जीविका की व्यवस्था करे, प्रत्येक को कम से कम इतनी मजदूरी दी जाय जिससे वह अच्छी तरह अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण कर सके। आधुनिक पूँजीवाद आर्थिक समानता में बाधक है। एक ओर तो लोग बड़े बड़े महलों में रह कर विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं और दूसरी ओर कुछ लोगों को परिश्रम करने पर भी भरपेट भोजन नहीं मिलता।

अत्यन्त गरीबी नैतिक पतन का कारण है। सरकार को चाहिये कि आर्थिक विषमता को अधिक से अधिक दूर करे। पूँजीवाद राज्य को धनी और गरीब दो वर्गों में विभाजित कर देता है। डिजरेली ने इन्हें दो राष्ट्र कहा है। धन एक शक्ति है। जिसके पास यह शक्ति है वह सम्पूर्ण शक्तियों को धीरे-धीरे प्राप्त कर लेता है। आधुनिक भौतिकवाद-युग में धन का स्थान और भी बढ़ गया है। जिसके पास धन है वह राजनीति और समाज दोनों पर अधिकार किये हुये है। बेकारी और गरीबी की भयंकरता पूँजीवाद को कलंकित कर रही है। इसे दूर करने का एक ही उपाय है कि धनिक वर्ग से अधिक से अधिक कर लेकर तरह तरह के कारोबार बढ़ाये जायँ जिससे बेकारी और गरीबी का प्रश्न दूर हो। इससे आर्थिक समानता के साथ राज्य की उत्पादन शक्ति भी बढ़ेगी। जिनकी रहन-सहन गिर गई है वे भी ऊपर को उठेंगे।

**सांस्कृतिक समानता**

३—प्रत्येक देश की अलग-अलग संस्कृति है। उसकी रक्षा के लिये शिक्षा आदि का प्रचार किया जाता है। शिक्षा से नागरिकता की उत्पत्ति होती है। नागरिक अपने अधिकार और कर्त्तव्य का ज्ञान शिक्षालयों में प्राप्त करता है। इसी से चरित्रबल बढ़ता है। शिक्षा प्राप्ति का अवसर सबको समान मिलना चाहिये।

---

* Modern Democracies—Bryce.

जिस प्रकार हवा और पानी सबको मिलते हैं और लोग अपनी इच्छानुसार अपना स्वास्थ्य ठीक कर सकते हैं उसी प्रकार शिक्षा सबको उपलब्ध होनी चाहिये। सभ्यता की सबको आवश्यकता है। जब तक कुछ लोगों को संस्थाओं से वंचित रक्खा जायगा तब तक वे अपनी संस्कृति के पुजारी नहीं बन सकते। कुछ लोग दूसरे धर्मों को इसीलिये ग्रहण कर लेते हैं कि उन्हें अपने धर्म का ज्ञान नहीं होता। यदि होता तो उन्हें धर्म बदलने की कोई आवश्यकता न होती, क्योंकि धर्म सभी अच्छे हैं। ऊँची शिक्षा सभी लोग नहीं प्राप्त कर सकते, परन्तु किसी श्रेणी तक सबको शिक्षित किया जा सकता है।

शिक्षा के अतिरिक्त नागरिकों को इस बात की ट्रेनिंग मिलनी चाहिये कि वे मस्तिष्क तथा हाथ दोनों से काम करें। शिक्षित वर्ग आज शारीरिक परिश्रम को पाप समझता है। सभी देशों में शिक्षित और अशिक्षित दो वर्ग दिखलाई पड़ते हैं। इससे उस देश की संस्कृति का ह्रास होता है। दिमाग से काम करने वाले मजदूरों के मूल्य को नहीं समझते। उनकी समझ में शारीरिक परिश्रम का कोई मूल्य नहीं है। इससे समाज में एक दूसरे के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। बड़े-बड़े दिमागियों को तो 'विद्या का मास्टर' और "विद्या का डाक्टर" आदि उपाधियाँ दी जाती हैं, परन्तु बिचारे मजदूरों के लिये, चाहे वे कितने भी परिश्रमी क्यों न हों, कोई उपाधि नहीं है। कुछ विद्वानों में दिमागी शक्ति और शारीरिक परिश्रम दोनों पाया जाता है। उनसे देश की सांस्कृतिक समानता में बड़ी सहायता मिलती है। थोरो एक बहुत बड़ा लेखक और आदर्शवादी था, परन्तु साथ ही वह माली का काम करता, पेंसिल बनाता और अपना कपड़ा अपने आप धोता था। महात्मा गाँधी शारीरिक परिश्रम को उतना ही महत्व देते रहे हैं जितना दिमागी उन्नति को। वे यहाँ तक कहते थे कि शिक्षा का आधार शारीरिक-श्रम होना चाहिये। इसी से लोगों में प्रेम और सच्ची सभ्यता की वृद्धि होगी और समानता का राज्य होगा।

**राजनैतिक समानता**

४—राजनैतिक अधिकारों के अन्तर्गत इसका वर्णन किया गया है। नागरिक को वोट देने का समान अवसर दिया जाय, सरकारी नौकरी प्राप्त करने में सबको बराबर अधिकार हों, अधिकार और कर्त्तव्य में राज्य की ओर से कोई भेद-भाव न किया जाय, किसी वर्ग अथवा जाति को विशेष सुविधा न दी जाय। राज्य सब की भलाई के लिये है। उसकी व्यवस्था में सब का हाथ होना चाहिये। शासन में भाग लेने से उन्हीं को वंचित किया जाय जो सर्वथा अयोग्य हों। राजनीति जब थोड़े से लोगों के हाथ की कठपुतली हो जाती है तो राज्य में असन्तोष बढ़ता है, बुराइयाँ फैलती हैं और प्रसन्नता का अभाव होता है। राजनैतिक संगठन सब से

श्रेष्ठ और दृढ़ माना गया है। यदि उसकी शक्ति समानता की स्थापना नहीं कर सकती तो और कौन कर सकता है।

**सामाजिक समानता**

५—समाज में जब तक नीच-ऊँच और धनी-गरीब का प्रश्न रहेगा तब तक अशान्ति और संघर्ष बने रहेंगे। किसी व्यक्ति अथवा वर्ग को विशेषाधिकार देना उचित नहीं है। भारतीय समाज में समानता की कमी है। जाति-पाँति के कारण लोग एक दूसरे का छुआ भोजन तक नहीं करते और कुओं से पानी तक नहीं निकालने देते। छोटी जाति के लोग बड़ी जाति के सामने चारपाई पर नहीं बैठ सकते। धार्मिक रस्म-रिवाजों को थोड़े से लोगों को करने की आज्ञा दी गई है। यह भेद-भाव तीव्र गति से दूर हो रहा है। सामाजिक समानता के अभाव का कारण बहुत कुछ आर्थिक विषमता है। धर्म का कट्टरपन समाज को विभाजित किये हुये है। कानून द्वारा यह समानता नहीं लाई जा सकती। इसकी दवा सामाजिक सुधार है। इसकी स्थापना तभी होगी जब हम एक दूसरे को अपना मित्र समझें, उसके साथ उठें बैठें और खान-पान में कोई भेद-भाव न रक्खें। वर्ण व्यवस्था सामाजिक समानता में बाधक है। जब लोगों के अन्दर यह भाव आयेगा कि सभी मनुष्य बराबर हैं और रूप-रंग अथवा धन के कारण उन्हें छोटा बड़ा समझना भूल है, तो समानता की मर्यादा बढ़ेगी। किसी उद्योग को छोटा समझना हमारी कमजोरी है। भंगी को हम नीच समझते हैं किन्तु उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। वह भी मनुष्य है और हमारे समाज का सबसे आवश्यक अंग है। फिर उसे हम छोटा क्यों समझते हैं। राष्ट्रीयता के विकास में सामाजिक समानता सहायक होती है। वैज्ञानिक उन्नति से इन दोनों को सहायता मिलती है।

**नैतिक समानता**

६—चरित्र की उन्नति के बिना मनुष्य का विकास अधूरा है। इसे प्राप्त करने का सबको समान अधिकार है। सभी गुणों का प्रचार नागरिकों में एक समान होना चाहिये। थोड़े से आदर्शवादी पुरुषों से पूरे समाज की उन्नति नहीं होती। यह आवश्यक है कि सभी निःस्वार्थी और उद्यमशील हों। सबके अन्दर बुराई-भलाई पहचानने की शक्ति हो। एक ओर साधु महात्मा और दूसरी ओर पापी और अत्याचारी हों—जिस समाज में इस प्रकार के लोग पाये जाते हैं वहाँ सामाजिक विकास की सम्भावना अधिक नहीं की जा सकती। आज कल के नागरिकों में इसी तरह का अन्तर दिखाई पड़ता है। कुछ तो सुशिक्षित और सभ्य हैं और कुछ मूर्ख और असभ्य। दोनों को राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। परन्तु उनके मेल की सम्भावना नहीं रहती। जब तक मनुष्य की भीतरी शक्तियाँ

एक न होंगे तब तक बाहरी समानता स्थापित नहीं हो सकती। मनुष्य की जैसी रहन-सहन होती है वैसे ही उसके विचार बनते हैं। जब विचार एक होंगे तो उनके ऊपरी आचारों में समानता आवेगी। इसलिये चारित्रिक शिक्षा आरम्भ से ही सब को समान रूप से दी जाय जिससे उनके विचार पवित्र मार्ग पर चलें। उत्तर प्रदेश के शिक्षा अधिकारी नैतिक शिक्षा को अनिवार्य विषय बना रहे हैं।

**समानता और समाजवाद**

समाजवाद की कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जो सर्वप्रिय और व्यापक हो। जितने समाजवादी हैं उतने ही प्रकार का समाजवाद है। एक बात जो सब में पाई जाती है वह है आर्थिक समानता। समाजवाद का उद्देश्य है कि उत्पादन शक्ति पर सरकार का और उत्पत्ति पर सम्पूर्ण जनता का समान अधिकार हो। व्यक्तिगत लाभ से पूँजीवाद की वृद्धि होती है इसलिये इसे दूर करना चाहिये। सबकी आमदनी बराबर हो और किसी पेशे को बड़ा मानकर उसी पर अधिक मजदूरी न दी जाय। चीजों के मूल्य में समानता हो। मनुष्य मात्र में किसी प्रकार का भेद-भाव न किया जाय। सभी मनुष्य बराबर हैं इसलिये धनी गरीब का अंतर ठीक नहीं। समाजवादियों का कहना है कि सम्पूर्ण सामाजिक बुराइयों की जड़ आर्थिक विषमता है। आर्थिक, आध्यात्मिक, दिमागी और शारीरिक सभी प्रकार की समानता की आवश्यकता है। कोई कारण नहीं कि शारीरिक परिश्रम करने वाले को उतनी मजदूरी न दी जाय जितनी एक दिमागी काम करने वाले को। समाज में थोड़े से लोगों का राज्य है। वे अपनी भलाई के लिये गरीबों की कमाई अपहरण करते हैं। न्याय और नीति की दृष्टि से यह अनुचित है कि कोई धनी हो और कोई गरीब। इसलिये समाजवाद आर्थिक समानता का प्रतिपादन करता है। इसे आर्थिक प्रजा-तन्त्रवाद कहा जाय तो कोई अनुचित न होगा।

समाजवाद के अन्दर पूर्ण समानता का अंश मौजूद है। वह सभी प्रकार की विषमताओं को दूर कर मनुष्य समाज में एक न्याय, एक धर्म, एक विचार तथा एक परिवार की भावना को जाग्रत करता है। कार्यरूप में इसका सेवन भले ही न हो, परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से समाजवाद कोई बुरी चीज नहीं है। जिसे मनुष्य-मात्र से प्रेम है और जिसके अन्दर सच्ची दया है उसके लिये विषमता काल रूप है। यह संसार किसी एक का नहीं है। यह सबका है और किसी का भी नहीं है। अमीरी-गरीबी, निचाई-ऊँचाई का भाव समाज की बनाई हुई चीजे है। कोई गरीब जन्म नहीं लेता और न कोई हीरे-जवाहर लेकर पैदा होता है। सभी खाली हाथ आते और खाली हाथ जाते हैं। तब फिर सामाजिक भेद-भाव से मनुष्य की उन्नति में बाधा क्यों डाली जाय?

समानता और अध्यात्मवाद

जितनी समानता अध्यात्मवाद के अन्दर पाई जाती है उतनी और कहीं नहीं मिलती। प्राणीमात्र एक ईश्वर की सन्तान है; सभी एक प्रकार की वायु सेवन करते हैं; एक ही चन्द्रमा और एक ही सूर्य सब को शीतल और उष्ण करते हैं। आत्मा एक है, वह अजर और अमर है। धनी-गरीब, बालक-वृद्ध, स्त्री पुरुष सब में एक ही ईश्वर का अंश है। सारा संसार एक ब्रह्म की रचना है, एक ही विष्णु भगवान् इसका भरण-पोषण करते हैं तथा एक ही शंकर इसका विनाश करते हैं। स्त्री-पुरुष में एक ही आत्मा है। सभी माया के दास हैं, और जीवन-मरण के बन्धन से बंधे हुये हैं। परमात्मा की दृष्टि में न कोई नीच है और न कोई ऊंच। उसकी दृष्टि में झोपड़ी और महल में कोई भेद नहीं है। समय के प्रवाह में दोनों का विनाश होता है। धन और बुद्धि के कारण छोटे-बड़े का भेद आध्यात्मिक दृष्टि से गलत है। आध्यात्मिक पुरुष सब को समान समझता है। उसे चींटी से लेकर हाथी तक सब जीव बराबर हैं।

— ——

# अध्याय ५

## सामाजिक जीवन

"मनुष्य को मनुष्य से बढ़कर कोई लाभदायक वस्तु नहीं है।"

मनुष्य का स्वभाव

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। किसी एकान्त वातावरण में थोड़े समय तक वह भले ही रह ले, परन्तु समस्त जीवन वहीं व्यतीत करे यह सर्वथा असम्भव है। अन्य जीवों में भी यह गुण पाया जाता है कि वे अपनी ही जाति की गिरोह में रहना चाहते हैं। एकान्त जीवन उन्हें भी प्रिय नहीं है। मनुष्य सभी जीवों में दुर्बल है। न तो उसके पास हाथी की तरह मोटे-मोटे वाल और चमड़े हैं जिससे वह अपनी रक्षा कर सके; और न उसके शरीर पर साही की तरह काँटों का जाल है। उसका शरीर दुर्बल और कोमल है। कोई भी जंगली जीव एक क्षण में उसका प्राण ले सकता है। इसी भय से उसका यह स्वभाव है कि वह अकेले जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। जिस समय मनुष्य जन्म लेता है उस समय उसकी माता उसका पालन-पोषण करती है। ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है त्यों-त्यों औरों की रहन-सहन की नकल करता है, उनकी बोली सीखता है और वस्तुओं के नाम से परिचित होता है। उसकी आवश्यकता की पूर्ति अन्य मनुष्यों द्वारा की जाती है। कुछ और बढ़ने पर वह स्कूल जाता है। वहाँ शिक्षा-ग्रहण कर अपनी बुद्धि का विकास करता है। शिक्षा समाप्त होने पर उसकी बुद्धि कार्य रूप में प्रकट होती है। उसके अन्दर यह अभिलाषा होती है कि वह समाज में कुछ करे। इस विचार से प्रेरित हो वह समाज का कीड़ा बन जाता है। अन्त में उसकी मृत्यु भी समाज में ही होती है और मरने के पश्चात् उसके कुटुम्बी उसके अन्तिम संस्कार के लिये बाध्य होते हैं।

सामाजिक होने के अतिरिक्त मनुष्य स्वभाव से कर्मशील है। कर्म के बिना एक क्षण भी वह जीवित नहीं रह सकता। उसकी इन्द्रियाँ प्रतिक्षण अपना काम करती रहती हैं। मस्तिष्क समस्त इन्द्रियों का स्वामी है। वह कार्य के बिना नहीं रह सकता। यही कार्य करने की शक्ति मनुष्य को बाध्य करती है कि वह अन्य मनुष्यों तथा समुदायों से अपना सहयोग प्राप्त करे। कर्त्तव्यहीन पुरुष को इस सहयोग की भले ही आवश्यकता न हो, परन्तु कार्यशील व्यक्ति अपने आपको इनसे अलग नहीं

कर सकता। कुटुम्ब, स्कूल, मन्दिर, जाति, सभा, बाजार आदि ऐसे समुदाय हैं जो मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। यदि वह इनसे सम्पर्क न रक्खे तो क्या करे? जब उसे भोजन करना है तो वह बाजार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कैसे कर सकता है! वह मूर्ख नहीं रह सकता, इसलिये स्कूल भी उसे जाना ही पड़ेगा। उसकी आवश्यकतायें समाज में ही पूरी होती हैं। इसलिये जन्म से मृत्यु तक उसे समाज में रहना पड़ता है। सामाजिक और व्यक्तिगत विकास का भेदभाव मिट जाता है। समाज में ही वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। जब समाज से उसे इतने लाभ हैं तो वह इसे क्यों छोड़े? यदि उसने अपने स्वभाव को सामाजिक बना रक्खा है तो उसकी कोई हानि नहीं है?

**समाज के विभिन्न अंग**

'समाज' शब्द को समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहले इसके अंगों का ज्ञान प्राप्त किया जाय। विभिन्न अंग हम तभी समझ सकते हैं जब व्यक्ति के सामाजिक जीवन का इतिहास जानें। मनुष्य अकेले जन्म लेता है। उसकी प्रगति कैसे आरम्भ होती है, और किस प्रकार उसकी आवश्यकतायें उसे तरह-तरह के संगठन की ओर ले जाती हैं—इसे समझने के लिये मनुष्य की आवश्यकताओं को जानना होगा। सामाजिक जीवन के पहले भी कोई जीवन रहा होगा। कुछ लोग इसे पूर्व-ऐतिहासिक काल कहते हैं और कुछ जंगली और असभ्य काल कह कर सूचित करते हैं। हमें यहाँ पर पूर्व-ऐतिहासिक काल का वर्णन नहीं करना है। इसका उचित स्थान राज्य की उत्पत्ति के वर्णन में आयेगा। मनुष्य की जितनी आवश्यकतायें हैं समाज के उतने ही अंग हैं। जन्म से मृत्यु तक उसकी आवश्यकताओं का कहीं अन्त नहीं है। इसलिये समाज के अंग भी अनन्त हैं। जन्म लेते ही इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि बच्चे का पालन-पोषण किया जाय, उसे उचित शिक्षा दी जाय, और सभी प्रकार से उसकी रक्षा का उपाय किया जाय। कुटुम्ब से बढ़कर कोई अन्य संगठन इस कार्य को नहीं कर सकता। इसलिये समाज का प्रथम और सबसे आवश्यक अंग कुटुम्ब है।

जीवन में उन्नति के सभी साधन कुटुम्ब में प्राप्त नहीं हो सकते। यह सम्भव नहीं है प्रत्येक कुटुम्ब में ऊँची से ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध हो, आवश्यकता की सभी चीजें बनती हों अथवा हर तरह के साधन मौजूद हों। व्यक्ति को इनके लिये स्कूल, बाजार, सिनेमा, तीर्थ स्थान आदि जगहों से संबन्ध रखना पड़ता है। केवल एक कुटुम्ब अपना घर बनाकर एकान्त में नहीं रह सकता। उसकी रक्षा तभी हो सकती है जब और भी कुटुम्ब आस-पास रहें। इसलिए गाँवों और शहरों की आवश्यकता है। गाँव और शहर तब तक सुरक्षित नहीं रह सकते जब तक इनमें जातीय तथा धार्मिक संगठन न हों। इसी कमी को पूरा करने के लिए पंचायतें और धार्मिक

संस्थायें बनाई जाती हैं। मनुष्य की जीविका का प्रश्न सबसे आवश्यक है। इसकी सुविधा के लिये आर्थिक उपाय ढूँढ़ने पड़ते हैं और बाजारों का निर्माण होता है। छोटे-छोटे क्षेत्रों में सब लोग मिलजुल कर रहें और एक दूसरे को अपना भाई समझें इसके लिये राष्ट्रीय भावना की जागृति की जाती है और राष्ट्र की उत्पत्ति होती है। सभी व्यक्ति और समुदाय अपनी सीमा के अन्दर अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करें और एक दूसरे की उन्नति में बाधक सिद्ध न हों, इसकी देखभाल के लिये राज्य की उत्पत्ति होती है। सरकार का संगठन होता है इसी प्रकार मनुष्य की आवश्यकतायें प्रतिक्षण नये-नये संगठन का निर्माण करती रहती हैं। अभी कुछ विद्यार्थियों को इस बात की आवश्यकता हो कि अमुक विषय पर विशेष चर्चा की जाय तो वे एक संगठन बना लेंगे। सभी संगठनों का वर्णन करने के लिये एक अलग पुस्तक की आवश्यकता होगी। इसलिये हम मुख्य-मुख्य समुदाय और व्यक्ति से उनका सम्बन्ध—इस पर विचार करेंगे। ये समुदाय समाज के विभिन्न अंग हैं। इन्हीं के मेल से राज्य अथवा राष्ट्रीय समाज की स्थापना होती है।

समाज के अंग दो प्रकार के हैं। एक वे जो मनुष्य को बने बनाये मिल जाते हैं। इन्हें स्वाभाविक अंग कहते हैं। व्यक्ति जन्म से इनका सदस्य बन जाता है। कभी न कभी इनका भी निर्माण किया गया होगा, किन्तु इसका ठीक पता नहीं चलता। दूसरे प्रकार के अंग वे हैं जो मनुष्य को अपने आप बनाना पड़ता है। सभी देशों में दोनों प्रकार के संगठन पाये जाते हैं। समय समय पर इनमें सुधार होते रहते हैं। स्वाभाविक संगठन भी बदलता रहता है। जब समाज ही स्थिर नहीं है तो उसके अंग स्थिर कैसे रह सकते हैं। स्वाभाविक समुदायों में कुटुम्ब, जाति, ग्राम तथा देश मुख्य हैं। मनुष्य के बनाये हुए समुदायों में आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक, सेवक मण्डल, मनोविनोद शाला, तथा राज्य मुख्य हैं। इनका अलग-अलग वर्णन किया गया है। दोनों प्रकार के समुदाय मनुष्य के लिये आवश्यक हैं। इनसे अलग रह कर वह कार्य-कुशल नहीं बन सकता।

**सामाजिक जीवन की आवश्यकता**

एकान्त जीवन निष्क्रिय जीवन है। योगी और संन्यासी एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं। वे भी समाज की कम सेवा नहीं करते। उनकी सरलता, निस्पृहता और त्याग से समाज को कम लाभ नहीं होता, परन्तु एकान्त जीवन इतना कठिन है कि सब लोग इसे व्यतीत नहीं कर सकते। साधारण मनुष्य एकान्त में भयभीत होता है और अपने आत्मबल को खो बैठता है, इसीलिये समाज की आवश्यकता पड़ी कि साधारण मनुष्य क्रमशः अपनी उन्नति करते करते बड़ा बन सके। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन सरस और स्वाभाविक है। मनुष्य सुखपूर्वक अपना जीवन समाज में ही व्यतीत कर सकता है। उसके अन्दर दया, दान, धर्म, शील, सरलता आदि

गुण हैं। किसी में इन गुणों की अधिकता और किसी में अभाव होता है। एक दूसरे के सम्पर्क से मनुष्य अपनी उन्नति करता है। सामाजिक टीका-टिप्पणी उसके चरित्र को बनाती है। गरीब दुखी तथा रोगियों की सेवा समाज में ही हो सकती है। मनुष्य पर अनेक दैवी आपत्तियाँ आती हैं। यदि इनके निवारण के लिये सेवा-मंडल आदि न बनाये जायँ तो उसकी दशा बड़ी ही शोचनीय होगी। आत्म-उन्नति मानव जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। सामाजिक जीवन में मनुष्य स्वार्थपरता का परित्याग कर अपने अन्दर समन्वय की भावना का सचार करता है। एक दूसरे के उदाहरण से अनेक सेवक और त्यागी पैदा होते हैं। 'सभ्यता' शब्द सामाजिक जीवन की देन है। हम मनुष्य को इसलिये सभ्य कहते हैं कि वह शान्तिपूर्वक मिलजुल कर अपनी तथा औरों की उन्नति करता है। बुराई को हटाकर भलाई का संगठन करना सामाजिक जीवन का उद्देश्य है। इसी से मनुष्य मनुष्य बन सकता है।

**कुटुम्ब**

सामाजिक जीवन का प्रधान अंग कुटुम्ब है। पृथ्वी पर कोई देश ऐसा नहीं जहाँ कुटुम्ब का संगठन न हो। जंगली जीवन में कुटुम्ब की रचना नहीं हुई थी। मनुष्य जंगलों में रहता, इधर-उधर घूमता और जंगली पशुओं को मार कर अपना पेट भरता था। झुंड के झुंड मनुष्य साथ साथ रहते थे। लोगों ने जंगलों को साफ किया और पशु-पालन आरम्भ किया तो उन्हें एक निश्चित स्थान पर रहने की आवश्यकता पड़ी। कृषि आरम्भ हुई और ग्रामों की स्थापना हुई। ग्रामों में विभिन्न कुटुम्ब बन गये। लोग अलग-अलग अपना घर बना कर रहने लगे। माता, पिता, स्त्री, बच्चे एक-एक कुटुम्बी हो गये। कुटुम्ब में जब मनुष्यों की संख्या बढ़ जाती तो उसी में से कई कुटुम्ब बन जाते। आज भी एक कुटुम्ब के लोग दो या अधिक कुटुम्बों में विभक्त हो जाते हैं। इसी तरह गाँवों की जन संख्या बढ़ती गई।

बच्चा किसी न किसी कुटुम्ब में जन्म लेता है। माता-पिता के संपर्क में आकर वह उनसे बहुत-सी बातें सीखता है। यहीं से उसका सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। जो बातें वह बाल्यावस्था में सीखता है उसका प्रभाव उसके मस्तिष्क पर गहरा पड़ता है। यदि माता-पिता योग्य हुये तो बच्चा भी चरित्रवान् होगा। कुटुम्ब बच्चे के लिये एक प्रकार का स्कूल है जहाँ वह सभी बातें सीख सकता है। माता-पिता से उसे जीवन में आज्ञा-पालन की शिक्षा मिलती है। जो लड़के अपने माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं वे आगे चलकर राजकीय नियमों की अवहेलना करते हैं। नियम पालन उन्हें भार मालूम पड़ता है। आज्ञा-पालन के अतिरिक्त संयम की शिक्षा कुटुम्ब से आरम्भ होती है। कोई व्यक्ति अपने लड़के को असंयमी नहीं बनाना चाहता। उन्नति करने का जितना अवसर बालक को अपने कुटुम्ब में प्राप्त है उतना किसी अन्य समुदाय में नहीं। स्वभाव से ही बच्चा अपने माता-पिता से

प्रेम करता है। माता-पिता भी बड़ी कड़ाई से अपने बच्चे की देखभाल करते हैं। इस कड़ाई के अन्दर प्रेम का बहुत बड़ा अंकुर छिपा रहता है। वही बच्चा जब सयाना होता है तो अपने कुटुम्ब का स्वामी बनता है। जो कुछ शिक्षा उसने अपने जीवन काल में प्राप्त की है उसका प्रयोग वह अपने बच्चों पर करता है। इस प्रकार कौटुम्बिक जीवन का चक्र चलता रहता है।

हमारे देश में कुटुम्ब का तात्पर्य केवल स्त्री और पुरुष से नहीं है। भारतीय कुटुम्ब में दो दो पीढ़ियां तक के लोग एक ही घर में रहते हैं। उनकी सम्मिलित सम्पत्ति होती है और उनका एक स्वामी होता है। यहाँ पर लड़के को अपने ही माता पिता की आज्ञा का पालन नहीं करना पड़ता किन्तु उन सब के सम्मान का ध्यान रखना पड़ता है जो उससे आयु में बड़े हैं। यदि कुटुम्ब ने बच्चे को इच्छानुसार चलने दिया तो आगे चलकर इसका प्रभाव कुटुम्ब तथा देश के लिये हानिकारक होता है। निःस्वार्थ सेवा की भावना कुटुम्ब से आरम्भ होती है। माता-पिता अपने सुख का उतना ध्यान नहीं रखते जितना अपने बच्चे का। प्रकृति ने स्वभाव से ही मनुष्य में इतनी सहन शक्ति दी है कि वह अपने बच्चे के लिये सभी प्रकार का कष्ट उठावे। एक निर्धन भी अपने बच्चे का उतना ही ध्यान रखता है जितना एक धनी व्यक्ति। दोनों की सहानुभूति एक सी होती है। छोटी-छोटी बातों की शिक्षा कुटुम्ब से आरम्भ होती है। खाना-पीना, उठना-बैठना, इनका भी एक ढंग है। कुटुम्ब को छोड़ कर किसी अन्य समुदाय में इनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं होता। इनका सीखना उतना ही आवश्यक है जितना बड़ी-बड़ी परीक्षाओं को पास करना। जीवन में जितनी आवश्यकता इन नियमों की पड़ती है उतनी बड़ी-बड़ी बातों की नहीं।

आर्थिक दृष्टि से कुटुम्ब का महत्व व्यक्ति के लिये सबसे बड़ा है। कुटुम्ब में सभी प्रकार के लोग होते हैं; कोई अपनी बुद्धि और बल से अधिक और कोई थोड़ा पैदा करता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो कुछ भी नहीं कमा सकते। शारीरिक तथा मानसिक कमजोरियों के कारण वे किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकते। इतना अन्तर होते हुये भी कुटुम्ब में सब का भोजन एक जगह और एक समान बनता है। कुटुम्ब का स्वामी इस बात का ध्यान रखता है कि आपस में किसी प्रकार का भेद-भाव न होने पाये। वह स्वयं कष्ट उठायेगा पर औरों का ध्यान रक्खेगा। कुटुम्ब में सब के अलग-अलग कार्य होते हैं। सबको पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। फिर भी एक दूसरे से लोग सहमत और हृदय से अपने कार्य में तत्पर रहते हैं। व्यक्ति चाहे कितना भी परिश्रमी क्यों न हो अपनी आय को कुटुम्ब से अलग नहीं समझता। यदि कोई मनुष्य कुटुम्ब में रहते हुये खान-पान में किसी तरह का भेद-भाव करता है तो सारा समाज उसे बुरा ठहराता है। इसी भय के कारण कौटुम्बिक जीवन में

सर्वत्र एकता और समता दिखलाई पड़ती है। एक दूसरे को कष्ट में सहायता देना, कठिन से कठिन अवसर पर अपने आपको आगे रखना तथा कुटुम्ब के अधिकार के लिये सदैव तत्पर रहना, इत्यादि बातों की परीक्षा पहले कुटुम्ब में होती है।

शासन की दृष्टि से कुटुम्ब एक प्रकार का राज्य है। जिस प्रकार राज्य में एक राजा होता है बहुत से नियम होते हैं और सम्पूर्ण प्रजा उनका पालन करती है, उसी तरह प्रत्येक कुटुम्ब का स्वामी होता है। कुटुम्ब के संचालन के लिये नियम होते हैं, जिनका उन्हें पालन करना पड़ता है। कौटुम्बिक जीवन में स्वामी और सेवक का भाव उत्पन्न होता है। यद्यपि ये नियम लिखित नहीं होते फिर भी सभी लोग इनका पालन करते हैं। राज्य की आज्ञा भंग हो सकती है, परन्तु कुटुम्ब के नियम को कोई नहीं तोड़ता। राजा और प्रजा में प्रायः भेद भाव उत्पन्न होते हैं, परन्तु कौटुम्बिक जीवन में ऐसे अवसर कम आते हैं। यदि किसी कारण वश कोई कुटुम्ब के नियम को भंग करता है तो बिना किसी दबाव के वह स्वामी के दंड को सहन करता है। इसीलिये कुटुम्ब को राज्य का एक छोटा रूप कहा गया है। जो जो गुण राज्य में दिखाई पड़ते हैं वे सब कुटुम्ब में भी पाये जाते हैं। कुटुम्ब राज्य से बढ़ कर है। यदि प्रत्येक कुटुम्ब अपने अधिकार और कर्त्तव्य का पालन करे तो सरकार की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। जिस राज्य में कौटुम्बिक जीवन सुसंगठित नहीं है वहाँ राजकीय नियमों की अवहेलना अधिक होती है। लोगों में प्रेम और सहानुभूति का अभाव होता है। कौटुम्बिक जीवन को नष्ट कर मनुष्य एक बहुत बड़े समुदाय से हाथ धो बैठेगा। जो स्वाभाविकता इस संगठन में है वह किसी और में नहीं दिखलाई पड़ती। किसी कुटुम्ब के लोग उसी समय अपना सम्बन्ध विच्छेद करते हैं जब उन्हें एकता का और कोई मार्ग दिखलाई नहीं पड़ता। समाज में उस कुटुम्ब की कड़ी आलोचना की जाती है जिसमें लोग मिल-जुल कर नहीं रहते।

जब कुटुम्ब का इतना अधिक महत्त्व है तो इसके संगठन के लिये सभी प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए। आज कल समाज में जो उथल-पुथल दिखलाई पड़ती है उसका बहुत कुछ कारण हमारे पारिवारिक जीवन का ह्रास है। पाश्चात्य सभ्यता हमारे देश में इतनी अधिक फैल गई है कि हमारे सभी संगठनों और समुदायों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। आज-कल स्त्री और पुरुष इन्हीं को लोग कुटुम्ब समझते हैं। कितने ही व्यक्ति विवाह के पश्चात् अपने माता-पिता को छोड़ कर अलग हो जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि अपने बड़ों के प्रति भी अपना कुछ कर्त्तव्य है। सांसारिक सुख के लोभ में वे स्त्री बच्चों को ही सब कुछ मान बैठते हैं। यदि विचार से देखा जाय तो इसका कारण हमारी शिक्षा की कमी है। यदि हम कुटुम्ब के महत्त्व को समझते तो उससे अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं करते।

भारतीय कुटुम्ब आज आदर्श नहीं है उसमें दो प्रकार के लोग पाये जाते हैं। एक तो वे जो सभी प्रकार से भारतीय हैं और पुराने विचारों के समर्थक हैं। दूसरे वे जो नवीन विचारों से सहमत हैं और नई रहन-सहन के अनुयायी हैं। इन दोनों में इतना अन्तर दिखाई पड़ता है कि बहुत थोड़े से कुटुम्ब सुखी हैं। इस कमी को दूर करने के लिये प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है निकट भविष्य में हमारा कौटुम्बिक जीवन हरा-भरा दिखाई पड़ेगा।

एक आदर्श कुटुम्ब के लिये बहुत-सी चीजों का होना आवश्यक है। शिक्षा इन सबमें प्रधान है। जो कुटुम्ब शिक्षित नहीं होगा, वह सुखी नहीं रह सकता। आधुनिक युग विज्ञान का युग है। इससे विपरीत जीवन व्यतीत कर व्यक्ति प्रसन्न नहीं रह सकता। स्वयं कोई वस्तु अच्छी या बुरी नहीं होती। प्रत्येक युग में मनुष्य का दृष्टिकोण बदलता रहता है। एक ही वस्तु जो किसी समय बुरी ठहराई गई थी, आज अच्छी मानी जाती है। मनुष्य को इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वह समय की प्रगति को पहचाने। तभी वह भले और बुरे को पहचान सकता है। जो बात व्यक्ति के लिये आवश्यक है वह कुटुम्ब के लिये भी है। जिस सहानुभूति और सहृदयता की आवश्यकता आज दिखाई पड़ती है उसकी प्राप्ति शिक्षा के बिना नहीं हो सकती। जब तक कुटुम्ब में शान्ति नहीं है तब तक सारे समाज में शान्ति नहीं होगी। कानून और नियम शरीर को दबा सकते हैं किन्तु हृदय पर उनका राज्य तब तक स्थापित न होगा जब तक उनके पीछे न्याय की भावना न होगी। शिक्षा से ही न्याय की आशा की जाती है। शिक्षित व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखता है। वह जिस कुटुम्ब में रहेगा नियम का पालन और दूसरों के अधिकार की रक्षा करेगा। कौटुम्बिक जीवन में सच्ची एकता तभी रह सकती है जब सभी व्यक्ति अपने-अपने कर्त्तव्य का ध्यान रक्खें। शिक्षा के बिना इस कर्त्तव्य का पालन नहीं हो सकता। शिक्षा के अतिरिक्त कुटुम्ब में परिश्रम की भावना होनी चाहिये। जिस कुटुम्ब में अधिक संख्या काहिलों की होगी वह दुखी और गरीब होगा। किसी बड़े कुटुम्ब में एक दो व्यक्ति बैठ कर भले ही जीवन व्यतीत कर लें, परन्तु आधे से अधिक व्यक्ति औरों की ही कमाई पर निर्भर रहें इसका परिणाम कुटुम्ब और समाज दोनों के लिये बुरा होगा। यद्यपि कुटुम्ब में कोई किसी को कार्य करने के लिये बाध्य नहीं करता फिर भी न्याय की दृष्टि से बैठ कर भोजन करना उचित नहीं है। जिस कुटुम्ब में इस नियम का पालन नहीं होता वह कलह का घर बन जाता है। लोगों में अपनापन का भाव आने लगता है। स्वार्थ और अपरिग्रह की बुराई पैदा हो जाती है। सारा कुटुम्ब दुखी रहता है।

शिक्षा और कार्य करने की शक्ति के अतिरिक्त एक तीसरी वस्तु भी कुटुम्ब के लिये अनिवार्य है। बड़ा से बड़ा कुटुम्ब धन के बिना कुछ नहीं कर सकता।

सम्पत्ति पारिवारिक जीवन का आधार है। कुटुम्ब के पास कम से कम इतनी सम्पत्ति अवश्य होनी चाहिये जिससे सभी व्यक्तियों का अच्छी तरह भरण-पोषण हो। उसे एक सुन्दर और सुडौल घर की आवश्यकता होती है। भोजन वस्त्र के अतिरिक्त बच्चों की शिक्षा के लिये कुछ धन की आवश्यकता पड़ती है। विशेष परिस्थितियों के लिये कुछ संग्रह भी करना पड़ता है। जिस कुटुम्ब के लोग केवल खाने-पीने में लगे रहते हैं वे प्रायः संकट में पड़ जाया करते हैं। कुटुम्ब में संयम से जीवन व्यतीत करना चाहिये। उसमें रहनेवालों का धर्म है कि वे सम्मिलित सम्पत्ति इतनी मात्रा में अवश्य कमायें जिससे वे भोजन, वस्त्र तथा शिक्षा के अतिरिक्त कुछ बचा भी सकें। नित्य के जीवन में सेवा और त्याग की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को पड़ती है। जो व्यक्ति कुटुम्ब में इन गुणों को नहीं सीखता वह फिर इन्हें नहीं सीख सकता। व्यक्ति की दुर्बलता को छिपाने का जितना अवसर अपने कुटुम्ब में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। हर आदमी अपने कुटुम्बी जनों की छोटी से छोटी दुर्बलता को पहचानता है और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। जो संस्कार कुटुम्ब में एक बार पड़ जाता है वह जीवन भर नहीं मिटता। अच्छा या बुरा जो भी स्वभाव बाल्यावस्था में बन जाता है वह फिर मुड़ नहीं सकता।

कुटुम्ब सभी समुदायों में श्रेष्ठ है। जो शिक्षा मनुष्य को कुटुम्ब में मिलती है वह बाहर सम्भव नहीं है। बच्चे की जितनी सेवा-सुश्रूषा उसके कुटुम्ब में हो सकती है उतनी अन्यत्र नहीं। मनुष्य के अन्दर जो बड़े बड़े विचार उत्पन्न होते हैं उनका बीजारोपण कुटुम्ब में होता है। कुटुम्ब से अलग मनुष्य का जीवन सराय में ठहरे हुये यात्रियों की तरह है। कठिन से कठिन परिस्थिति में कुटुम्ब उसका सहायक होता है। जिस प्रकार बालक की असहाय अवस्था में उसके माता-पिता उसका पालन-पोषण करते हैं उसी प्रकार वृद्धावस्था में बड़े बच्चे उनकी देख-भाल करते हैं। कुटुम्ब का जैसा सच्चा चित्र भारतीय ग्रामों में दिखाई पड़ता है वैसा संसार के किसी कोने में उपलब्ध नहीं है। आर्थिक कठिनाई के कारण उनकी दशा आज शोचनीय है फिर भी उनके अन्दर एक सच्चा प्रेम, संगठन और सच्ची सहानुभूति है। एकता और समता से उनका जीवन ओत-प्रोत है। यद्यपि हमारा शहरी जीवन विदेशी जीवन से काफी प्रभावित है फिर भी ग्रामीण कुटुम्ब अभी तक सच्चे भारतीय हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति ग्रामों में देखने को भी न मिलेगी। जितना ध्यान एक ग्रामीण को अपने कुटुम्ब का होता है उतना अपने निजी सुख का नहीं। उसे यह पूरा विश्वास है कि कुटुम्ब को छोड़ कर कोई दूसरा उसका सहायक नहीं हो सकता। लोग अपने कुटुम्ब में एक दूसरे के लिये जेल यातनायें तक भोगने के लिये तैयार रहते हैं।

**जाति**

जिस प्रकार सामूहिक जीवन में कुटुम्ब का प्रमुख स्थान है उसी प्रकार जाति भी एक बहुत बड़े संगठन को प्रदर्शित करती है। जातियाँ कब बनीं और किस प्रकार इनका विकास हुआ यह एक दूसरा विषय है। सामाजिक इतिहास के अन्तर्गत इस विषय पर प्रकाश डाला जा सकता है। यहाँ पर हमारा तात्पर्य जातीय संगठन के थोड़े से गुण और दोष प्रकट करना है। प्रत्येक जाति अपना अलग अलग चिह्न रखती है। जो मनुष्य जिस जाति का रहता है वह अपने चिह्नों का आदर करता है। जैसे प्रत्येक हिन्दू सिर पर चोटी रखता है और एक खास तरह की पोशाक पहनता है। विभिन्न प्रान्तों में खान-पान तथा वेश-भूषा में थोड़ा अन्तर होते हुये भी सब मे कोई न कोई समता है; सब पर हिन्दू संस्कृति की एक छाप है; सब के जीवन क एक ही इतिहास है। रसम रवाज भी लगभग एक से हैं। मुसलमानों में भी य एकता दिखाई पड़ती है। प्रत्येक मुसलमान एक दूसरे का अपना भाई समझत है। सभी एक समय नमाज पढ़ते हैं और एक ही तिथि पर अपने त्योहार मनाते हैं। इसी प्रकार और भी जातियों में घनिष्ठ एकता के भाव पाये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति पर गर्व करता है। उसे इस बात का भरोसा रहता है कि अवसर पड़ने पर जाति उसकी रक्षा करेगी। यदि एक जाति का मनुष्य किसी दूसरे जाति द्वारा अपमानित किया जाता है तो सम्पूर्ण जाति उसकी रक्षा करती है प्रत्येक जाति का एक प्रमुख नेता होता है। सभी लोग उसका सम्मान करते हैं और उसकी आज्ञा मानते हैं।

जाति बहुत से परिवारों का एक संगठन है। जिस प्रकार व्यक्ति की रक्षा कुटुम्ब में होती है उसी प्रकार कुटुम्ब की रक्षा अपनी जाति में होती है। आज-कल हर जाति के अन्तर्गत बहुत सी उपजातियाँ उत्पन्न हो गई हैं। उपजातियों के अन्दर भी छोटे छोटे टुकड़े दिखाई पड़ते हैं। इन विभिन्न जातियों से अलग-अलग संस्कृति की रक्षा होती है। एक छोटे से क्षेत्र में व्यक्ति अपने आपको सुसंगठित समझता है। अपनी जाति के अन्दर वह तरह तरह के संगठन बनाता है और उनके द्वारा अपनी उन्नति करता है। अपना सम्पर्क वह अपनी ही जाति में अधिक रखता है। विवाह शादी, रोटी-बेटी लोग अपनी ही जाति में करते हैं। अपने जातीय नियम को तोड़ने में लोग हिचक करते हैं। यदि कोई इन्हें तोड़ता है तो उसकी जाति उसे दण्ड देती है। जहाँ जातीय संगठन से इतने लाभ हैं वहाँ कुछ हानियाँ भी हैं। एक जाति का मनुष्य दूसरी जाति वाले को छोटा समझता है। लोगों के अन्दर साम्प्रदायिकता का भाव बढ़ता है। उनका सम्बन्ध व्यापक न होकर एक छोटे से दायरे में घिरा रहता है। जो कुछ भी हो जाति एक स्वाभाविक संगठन है। जैसे कोई व्यक्ति कुटुम्ब से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता उसी

प्रकार उसे किसी न किसी जाति का सदस्य रहना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति जाति पाँति का बन्धन तोड़कर उन्नति कर जाता है तब भी उसको जाति वाले उसे अपना समझते हैं। उसे सदैव आदर की दृष्टि से देखते हैं। आजकल जाति-पाँति का भेद-भाव मिट रहा है, फिर भी इस बात की सम्भावना नहीं पाई जाती कि जातीय संगठन एक दम छिन्न-भिन्न हो जायगा। जिस प्रकार विभिन्न समुदाय हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं उसी तरह जाति भी करती है। बहुत से व्यक्ति अपनी जाति के लिये तरह-तरह सुविधायें देते हैं। विश्व-सेवा के भाव से शायद वे इसे न करते परन्तु जाति के नाम पर सब कुछ करने को तैयार रहते हैं। यदि प्रत्येक जाति अपनी-अपनी उन्नति करे और एक जाति दूसरी को छोटा न समझे तो इसका संगठन कुटुम्ब से कम आवश्यक नहीं है।

ऊपर कहा गया है कि कोई कुटुम्ब किसी एकान्त स्थान में नहीं रह सकता।

**ग्राम**

रक्षा की दृष्टि से यह आवश्यक है कि बहुत से कुटुम्ब एक स्थान पर रहें। कुटुम्बों के साथ रहने से ग्रामों की उत्पत्ति हुई है। ग्राम पहले थोड़े से कुटुम्बों का एक समूह था। ज्यों-ज्यों जन संख्या बढ़ी त्यों-त्यों कुटुम्बों की जन संख्या बढ़ती गई। ग्रामों की आवश्यकता अन्य दृष्टियों से भी पड़ी। मनुष्य की सारी आवश्यकतायें कुटुम्ब में पूरी नहीं हो सकती। इसलिये आवश्यकता हुई कि विभिन्न पेशे वाले कुटुम्ब एक साथ मिल कर रहें। गाँवों में कोई खेती करता है, कोई गौ पालता है, कोई कपड़े धोता है, कोई बाल बनाता है और कोई लोहार और बढ़ई का काम करता है। यदि ये विभिन्न पेशे वाले न हों तो किसी का काम नहीं चल सकता। ग्राम एक ऐसा संगठन है जो स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बन सकता है। यहाँ हर तरह की शिक्षा का प्रबन्ध हो सकता है। उन्हें तरह तरह के व्यवसाय सिखाये जा सकते हैं।

आरम्भ में गाँव स्वावलम्बी और स्वतन्त्र थे। प्रत्येक ग्राम का एक मुखिया होता था। सब लोग उसकी आज्ञा मानते थे। ग्राम के सारे झगड़े को वही निपटाया करता था। उसे प्राण दण्ड देने तक का अधिकार था। प्रत्येक ग्राम की आवश्यकतायें अपने ही अन्दर पूरी हो जाती थीं। सबको अपने परिश्रम के अनुसार उचित मजदूरी मिलती थी। ग्राम की आय का कुछ हिस्सा सरकार को दिया जाता था। ग्राम पंचायतें वहाँ का शासन करती थीं। प्रत्येक ग्राम में एक पंचायत होती थी। कई ग्रामों को मिलाकर एक अलग पंचायत थी। इसका नाम 'मण्डल सभा' था। आजकल के गाँव न तो स्वावलम्बी हैं और न स्वतंत्र। वहाँ की पंचायत नष्ट हो गई। वहाँ शिक्षा का अभाव है। गरीबी के कारण ग्रामीण जीवन दुखमय हो रहा है। न तो वहाँ किसी प्रकार का रोजगार है और न कृषि के लिये उचित साधन। ग्राम कुटुम्ब का एक बृहत् आकार है। जो शिक्षा मनुष्य को अपने

कुटुम्ब में मिलती है, वही बड़े पैमाने पर ग्राम में मिलती है। एक पड़ोसी अपने दूसरे पड़ोसी का सभी प्रकार से ध्यान रखता है। यदि किसी के घर में आग लगती है तो ग्राम के सभी लोग बुझाते हैं और उसके साथ दुख प्रकट करते हैं। जिस दिन ग्राम में कोई व्यक्ति मर जाता है उस दिन समस्त ग्राम शोक मनाता है। यदि किसी के घर कोई उत्सव होता है तो सारा गाँव अपनी खुशी प्रकट करता है। यदि कोई दूसरा ग्रामवासी अपने पड़ोस के ग्राम निवासी को दबाता है तो गाँव उसकी सहायता करता है। ग्राम में रहने वाले कुटुम्ब अपने आपको सुरक्षित समझते हैं। वहाँ की सम्पत्ति सम्मिलित न होने पर भी लोग उसकी देख-माल रखते हैं। वहाँ की बहुत सी चीजें सम्मिलित होती हैं। कुओं से सब लोग सिंचाई करते हैं। जंगलों से सभी लकड़ी काटते हैं। तालावों से पानी सभी ले सकते हैं। गाँवों में पंचायत घर बने रहते हैं, जहाँ अतिथि और शहरी यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध रहता है। इन्हें 'चौपाल' कहते हैं। और भी आवश्यक वस्तुयें गाँव के लोग सम्मिलित रूप से रखते हैं।

सामाजिक संगठन में ग्राम आवश्यक है। भारत में इन ग्रामों की आवश्यकता शहरों से कहीं अधिक है। यह देश कृषि प्रधान है। ग्राम के चारों ओर खेती के लिये जमीन होती है। सम्पूर्ण देश ग्रामों के जाल से भरा हुआ है। लगभग सात लाख गाँव भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बसे हुये हैं। इन्हीं की पैदावार से आज न केवल गाँवों का बल्कि शहरों तथा कुछ विदेशियों का पालन-पोषण हो रहा है। जैसे कोई व्यक्ति कुटुम्ब से अलग होकर अपनी उन्नति नहीं कर सकता और उनका संबन्ध स्वाभाविक है उसी प्रकार गाँव भी एक स्वाभाविक समुदाय है। इससे अलग होकर वह किसी पेशे की शिक्षा नहीं ले सकता। पाठक-गण ऐसा न समझें कि ग्राम और शहर में कोई बहुत बड़ा भेद है। इन दोनों में कोई जाति भेद नहीं है। शहर ग्राम के उन्नत रूप हैं। जिन ग्रामों में व्यापार की वृद्धि हुई और जो किसी नदी के किनारे थे उनकी आबादी बढ़ती गई वे ही शहर हो गये। वर्तमान जीवन में शहर और ग्राम में बहुत बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है। परन्तु नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत जब हम ग्रामों पर विचार करते हैं तो शहर और गाँव में कोई भेद नहीं कर सकते।

नागरिक अपने देश का सदस्य होता है। कुटुम्ब और ग्राम में उसकी पूरी उन्नति नहीं हो सकती इसीलिये नागरिकता की आवश्यकता पड़ती है। संपूर्ण देश से कोई अनागरिक लाभ नहीं उठा सकता। उसका देश एक वृहत् परिवार है। नागरिक का व्यक्तित्व कुटुम्ब और ग्राम में उतना विकसित नहीं हो सकता जितना सम्पूर्ण देश में। देश से उसे बहुत से लाभ होते हैं। वह स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने देश का भ्रमण कर

**देश**

सकता है। उसके व्यापार के लिये सारे देश के बाजार खुले होते हैं। अपने देश में वह किसी भी जगह जाकर रह सकता है और अपनी जीविका कमा सकता है। कोई व्यक्ति उसके राजनैतिक तथा समाजिक अधिकारों में बाधा नहीं डाल सकता। जब कोई विदेशी सरकार किसी देश पर चढ़ाई करती है तो वहाँ की सरकार उसकी रक्षा करती है। रक्षा के अतिरिक्त राष्ट्र राज्य की सीमा को निश्चित करता है और बड़े पैमाने पर व्यक्ति के लिये उन्नति का साधन उपस्थित करता है। हर देश अपना एक इतिहास और संस्कृति रखता है। राष्ट्रीय भावना की जागृति देश में ही हो सकती है। राजनैतिक संगठन देश में ही किया जा सकता है। व्यक्ति कुटुम्ब, जाति और ग्राम के अतिरिक्त अपने देश का नागरिक होता है। देश का विस्तृत वर्णन राजनैतिक समुदाय के अन्तर्गत किया गया है।

**आर्थिक समुदाय**

समाज में धन की आवश्यकता सबको है। विशेष कर इस युग में, जब कि पैसे के बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता, धन की महत्ता और भी बढ़ गई है। सारा समाज दो वर्गों में बँटा हुआ है। एक धनी और दूसरा गरीब। आर्थिक उन्नति और कारोबार की सुविधा की दृष्टि से हर देश में अनेक आर्थिक समुदाय होते हैं। समय समय पर इनका संगठन बदलता रहता है। जैसी आर्थिक दशा होती है, जिस प्रकार के आवागमन के साधन उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार के आर्थिक संगठन बनाये जाते हैं। आजकल मिलों और फैक्ट्रियों का युग है। इसलिये पूँजीपतियों का एक अलग संगठन है। इसका उद्देश्य है बाजार में चीजों का भाव ठीक रखना। कोई मिल मालिक अपनी चीज को एक निश्चित दर से कम पर नहीं बेच सकता। ऐसा न करने में और पूंजीपतियों को घाटा होगा। मजदूरों का एक अलग संगठन है। इसका उद्देश्य है कि उनकी मजदूरी एक नियत दर से कम न की जाय, काम के घंटे न बढ़ाये जायँ और उनके साथ किसी प्रकार की ज्यादती न की जाय। इस संगठन को "मजदूर संघ" ( Labour Union ) कहते हैं। आर्थिक संगठनों का उद्देश्य समाज में धन की वृद्धि और उसका उचित उपयोग करना है। विदेशों से जो लोग व्यापार करते हैं उनका भी एक संगठन है। अपने देश में किसी वस्तु-विशेष का प्रचार करने के लिये भी संगठन बना लिये जाते हैं। कुछ लोग उनके सदस्य बन जाते हैं और उससे लाभ उठाते हैं। बंगाल में जूट से चीजें बनाने वालों का एक संगठन है। शहरों में बैंक और ग्रामों में जो "ग्राम सहयोगी सभायें" ( Village Co-operative Societies ) स्थापित की गई हैं वे भी एक तरह के आर्थिक संगठन हैं। बाजार और मंडी में इस प्रकार का कोई न कोई संगठन अवश्य पाया जाता है। संयुक्त राष्ट्र-संघ ( United Nations ) के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन ( International Labour Union ) एक

आर्थिक समुदाय है। इसका उद्देश्य मजदूरों और पूँजीपतियों में मेल उत्पन्न करना और मजदूरों की भलाई का ध्यान रखना है। इसकी एक शाखा हमारे देश में भी है जिसका कार्यालय दिल्ली में है।

**धार्मिक समुदाय**

प्राचीन काल में धर्म जीवन का एक आवश्यक अंग समझा जाता था। सभी व्यक्ति धार्मिक होते थे। धर्म के पुजारियों का समाज में बोल बाला था। उनकी आज्ञा राजा तक को माननी पड़ती थी। राजा धार्मिक होते थे। अशोक ने, राजा होते हुए भी, धर्म का इतना प्रचार किया जितना बौद्ध भिक्षु भी न कर सके। यूरोप में मध्यकाल के अन्त तक पोप का समाज पर पूरा अधिकार था। प्रत्येक काल में धर्म का संगठन दृढ़ रहा है। आज भी, जब कि विज्ञान की उन्नति के कारण तर्क-वितर्क का भाव लोगों के अन्दर काफी बढ़ रहा है, धर्म की महिमा कम नहीं है। बड़े-बड़े मन्दिरों में अब भी लाखों रुपये की पूजा चढ़ती है। मठों के पास गाँव के गाँव मौजूद हैं। तीर्थ स्थानों में धर्म के नाम पर पंडों की तिजारत चल रही है। धर्म के नाम पर जितना दान हमारे देश में होता है उतना शायद ही किसी देश में होता हो। यदि दान संगठित कर दिया जाय तो अच्छे से अच्छे सार्वजनिक कार्य किये जा सकते हैं।

धर्म एक ऊँची वस्तु है। मनुष्य के अन्दर ईश्वर के प्रति एक सच्ची लगन है। उसी लगन से प्रेरित होकर वह धार्मिक क्रियाओं की ओर झुकता है। कोई सन्ध्या करता है, कोई माला जपता और कोई गंगा स्नान करता है। इसी से उसे सन्तोष नहीं होता। वह कुछ धार्मिक चर्चा भी सुनना चाहता है। वह किसी साधु-संत के पास जाता है। जब बहुत से लोग किसी साधु के पास जाने लगते हैं तो वहाँ एक धार्मिक संघ बन जाता है। भजन-कीर्तन आदि का प्रबन्ध होता है और लोग ज्ञान चर्चा करते हैं। इससे उन्हें शांति मिलती है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि जब तक धर्म का संगठन न होगा तब तक सच्ची शांति स्थापित नहीं हो सकती। इसी की पूर्ति के लिये आज कल 'धर्म-संघ' की स्थापना की गई है। कुछ साधु-संन्यासी घूम-घूम कर लोगों को यह उपदेश देने लगे हैं कि "धर्म में श्रद्धा रक्खो। इसी से तुम्हारा और विश्व का कल्याण होगा।" धार्मिक व्यक्ति प्रायः सदाचारी होते हैं। उनके अन्दर लोभ, क्रोध, मोह आदि विकार कम होते हैं। आज कल सच्चे धार्मिक संगठनों का अभाव है। भौतिकवाद के युग में त्याग की ओर बहुत थोड़े लोग जाते हैं। यही कारण है कि धर्म का ह्रास हो रहा है। तब भी कोई न कोई धार्मिक संगठन व्यक्तियों को बाँधे हुये है। कोई वैष्णव है, कोई शैव है, कोई राधा स्वामी सतसंगी है तो कोई बौद्ध अथवा जैनी है। यूरोप में अधिकतर लोग ईसाई धर्म के अनुयायी हैं। धर्म का ह्रास कुछ दिनों के लिये भले ही हो जाय किन्तु इसका लोप नहीं हो सकता।

**सांस्कृतिक समुदाय**

केवल भोजन और वस्त्र से मनुष्य सन्तुष्ट नहीं रह सकता। उसे जितनी आवश्यकता शरीर के लिये भोजन की है उससे अधिक मस्तिष्क के लिये ज्ञान की है। ज्ञान मस्तिष्क का भोजन है। इसी के लिये मनुष्य व्याकुल है। अज्ञान हमारे दुखों का मूल है। यदि मनुष्य को सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जाय तो उसके सारे दुख दूर हो जायँ। मनुष्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है कि वह अपने आप को पहचाने। हमारे वेद और शास्त्रों ने यह कहा है कि "आत्मा को पहचानो" (आत्मानं विद्धि)। सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य ज्ञान की चिन्ता में निमग्न है। इसी की प्राप्ति के लिये उसने स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, गुरुकुल आदि खोल रक्खा है। इनका उद्देश्य यही है कि मनुष्य अज्ञान का निवारण कर ज्ञान की प्राप्ति करे। इनके अतिरिक्त लाइब्रेरी तथा वादविवाद समुदाय बनाये जाते हैं। सरकार इनकी सहायता करती है। इनमें प्रवेश करने की सबको पूरी स्वतन्त्रता है। रूप, रंग, जाति अथवा धर्म के कारण कोई इनसे वंचित नहीं किया जाता। किस-किसी राज्य में शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य है।

संस्कृति शब्द का अर्थ है 'सभ्यता'। जब देशवासियों के विचार समान होते हैं, उनकी रहन-सहन में समता आती है, तो उस देश की एक विशेष संस्कृति बन जाती है। प्रत्येक जाति तथा देश की अपनी संस्कृति होती है। किन्तु ऊपरी एकता से संस्कृति नहीं बन सकती। विचारों में भी एकता होनी चाहिये। यदि किसी देश को अपनी संस्कृति बनानी है तो उसे विशेष ढंग की शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा। प्राचीन काल में यूनान देश में एथेंस और स्पार्टा नाम के दो शहर थे। दोनों स्वतन्त्र थे और अपनी अलग-अलग संस्कृति रखते थे। एथेंस शान्ति-प्रिय शहर था। उसकी शिक्षा का उद्देश्य शान्ति की स्थापना करना था। इसके विपरीत स्पार्टा की शिक्षा फौजी थी। सबको फौजी शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। परिणाम यह था कि वहाँ की संस्कृति फौजी थी। लोग शारीरिक बल को अधिक महत्व देते थे। साहित्यिक उन्नति उनके लिये बेकार थी। संस्कृति समय-समय पर बदलती रहती है। एक ही देश विभिन्न काल में अपनी अलग-अलग संस्कृति रखता है। भारत को ही ले लीजिये। जो संस्कृति इस देश की गुप्त काल में थी वही मौर्य काल में नहीं। मुसलमान काल की संस्कृति कुछ और थी। बृटिशकाल में हमारी संस्कृति बिलकुल भिन्न रही है। उसी के फल स्वरूप आजकल हमारे ऊपर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव है। कोई व्यक्ति किसी न किसी संस्कृति से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता। जो जिस देश में रहेगा वह उसकी संस्कृति को अवश्य अपनायेगा। जब कोई विदेश में जाकर बस जाता है तो वह अपनी संस्कृति को छोड़ कर उसी देश की संस्कृति का पुजारी बन जाता है।

संस्कृति केवल ऊपरी रहन-सहन तथा शिक्षा से नहीं बना करती। देश की जलवायु तथा प्राकृतिक बनावट के कारण एक संस्कृति दूसरे से भिन्न होती है, उस देश के धर्म रसम-रिवाज, शिक्षा तथा रहन-सहन खास तरीके के होते हैं। सारे संसार की संस्कृति एक नहीं हो सकती। यह प्रकृति के विरुद्ध है। जैसे और क्षेत्रों में मनुष्य उन्नति-अवनति करता है उसी तरह संस्कृति भी नीची और ऊँची हुआ करती है। जिस देश की सामाजिक दशा उन्नति पर होगी, लोगों में चरित्र बल की वृद्धि होगी, और शिक्षा का पूरा प्रचार होगा, उस देश के लोगों की संस्कृति ऊँचे दर्जे की होगी। उनके विचार ऊँचे होंगे। आर्थिक और राजनैतिक गुलामी किसी देश की सांस्कृतिक अवनति का कारण होती है।

**व्यावसायिक समुदाय**

व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। प्राचीन काल में लोगों की आवश्यकतायें थोड़ी थी। अपनी अपनी जरूरतें लोग पूरी कर लिया करते थे। अठारहवीं शताब्दी में व्यावसायिक क्रान्ति ने मनुष्य के जीवन में महान् परिवर्तन किया। संसार का आर्थिक अधार बदल दिया गया। लोगों की आवश्यकतायें प्रतिदिन बढ़ने लगीं। व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता था। लोगों के दृष्टिकोण में नवीनता आई। इसलिये कार्य विभाजन ( Division of labour ) का प्रचार हुआ। एक ही काम को पूरा करने के लिये कई हाथों की आवश्यकता पड़ी। कोई कपास बोता, कोई उसके बेचने का प्रबन्ध करता, कोई सूत कातता, कोई कपड़ा बुनता और कोई उसे धोकर साफ करता, तब वह कपड़ा बन कर बाजार में आता था। इन विभिन्न पेशे वालों के अलग-अलग समुदाय हुये। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में ये समुदाय और भी दृढ़ होते जा रहे हैं। इन समुदायों में किसी जाति, अथवा धर्म का भेद-भाव नहीं होता। जो जिस पेशे को करता है, वह उसका एक सदस्य समझा जाता है। एक पेशेवाले आपस में भाई-भाई का व्यवहार रखते हैं। यदि किसी पेशे में एक हिन्दू, एक मुसलमान और एक ईसाई है तब भी वे आपस में मिलजुल कर रहते हैं और एक दूसरे को सहायता पहुँचाते हैं। अलग-अलग पेशे की अलग-अलग जातियाँ बन गई हैं। जो धोबी का काम करने लगे उनका एक अलग पेशा और संगठन है। इसी प्रकार, नाई, लुहार, कुम्हार, कोरी आदि भिन्न-भिन्न व्यावसायिक समुदाय हैं। आज कल इन्हें हम अलग-अलग जाति समझते हैं लेकिन यह हमारी भूल है। आरम्भ में इनमें ऊँच-नीच का भाव न था। कोई पेशा छोटा और बड़ा नहीं माना जाता था। लेकिन समय के प्रवाह में पेशे को लोग ऊँच-नीच समझने लगे। विद्यार्थी, अध्यापक, वकील, वैद्य डाक्टर, महाजन, मजदूर इत्यादि अपना संगठन बनाये हुये हैं। प्रत्येक पेशे वाला अपनी गिरोह का सदस्य होता है। इससे उसे लाभ पहुँचता है। समुदाय में उसे

बहुत सी नई बातें मिलती हैं जिनसे उसकी शक्ति बढ़ती है। संगठन से उसके पेशे का महत्व बढ़ता है। और लोगों में उसका प्रचार होता है। लोग अपने समुदाय के पेशे को अपनाने में अपना गौरव समझते हैं।

**व्यावसायिक समुदाय का सिद्धान्त**

संगठन किसी सिद्धान्त पर बनता है। धर्म का सिद्धान्त है कि लोग सदाचारी बने। राजनैतिक संगठन का सिद्धान्त देश की रक्षा और प्रजा की उन्नति करना है। प्रश्न यह है कि व्यावसायिक संगठन किस सिद्धान्त पर बनने चाहिये। प्रत्येक व्यवसाय एक आर्थिक संगठन है। लोग अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये उसके सदस्य बनते हैं। परन्तु केवल आर्थिक लाभ की दृष्टि से समुदाय की रचना करना ठीक नहीं है। यदि अध्यापक वर्ग अपना संगठन इसलिये बनावें कि उनकी तनख्वाह में वृद्धि हो और उन्हें कम से कम काम करना पड़े तो यह उचित नहीं है। स्वार्थ कोई बुरी चीज नहीं है, परन्तु एकमात्र स्वार्थ बुरा है। जहाँ अध्यापक वर्ग अपनी भलाई और सुविधा का ध्यान रक्खे वहाँ विद्यार्थियों की उन्नति पर भी विचार करे। वकीलों का भी एक संगठन है जिसे वकील समुदाय (Bar Association) कहते हैं। लगभग सभी वकील इसके सदस्य होते हैं। यदि इसका उद्देश्य यह हो कि वे अधिक से अधिक फीस कैसे लें तो यह सिद्धान्त गलत है। उसका ध्यान यह होना चाहिये कि कचहरियों में न्याय कैसे हो और मुकदमों की संख्या कम करके वे देश का कल्याण कैसे करें। यही हालत मजदूरों के संगठन की है। यदि मजदूर वर्ग केवल मजदूरी की चिन्ता करता है और कार्य का ध्यान नहीं रखता तो उसका संगठन नहीं चल सकता। व्यावसायिक समुदायों का सिद्धान्त स्वार्थ पूर्ति के साथ समाजोन्नति तथा व्यावसायिक शुद्धि होना चाहिये। प्रत्येक समुदाय इस बात पर विचार करे कि किस प्रकार वह अधिक से अधिक अपने देश की सेवा कर सकता है। वह अपना सिद्धान्त सेवा बनावे, न कि स्वार्थ-पूर्ति और लड़ाई। आपस में एक दूसरे पेशे वाले नीच ऊँच का भेद-भाव छोड़ें और प्रेमपूर्वक मिलकर अपने देश की उन्नति करें।

**सेवक मंडल**

सेवा का क्षेत्र अनन्त है। रास्ते में यात्रियों को पानी पिलाने वाला अथवा बड़ी बड़ी धर्मशालायें और क्षेत्र खोलनेवाला, दोनों समाज के सेवक हैं। कोई धन से, कोई शरीर से और कोई बुद्धि से सेवा करता है। कुछ लोग सेवा को एक संस्था का रूप देते हैं जिसके द्वारा समाज की सेवा होती है। बहुत से दानी पुरुष अपनी सम्पत्ति का ट्रस्ट आदि बना देते हैं जिससे समाज में तरह तरह के भलाई के काम होते हैं। लोक-सेवक मंडल, भारत-सेवक मंडल, स्काउट संघ, महानन्द मिशन आदि समाज की भलाई के लिये बनाये गये हैं। इनका जन्म-दाता कोई महापुरुष होता

है। लोक सेवक मंडल की स्थापना पंजाब केसरी लाला लाजपत राय ने की थी। भारत-सेवक मंडल की स्थापना गोखले ने की थी। ये मंडल आज भी देश की भलाई में लगे हुये हैं और जब तक भारतीय समाज जीवित रहेगा तब तक ये उसकी सेवा करते रहेंगे। आज कल सेवा का भाव लोगों के अन्दर काफी बढ़ रहा है। यही कारण है कि अनेक प्रकार के नये नये सगठत बन रहे हैं। सबका उद्देश्य किसी न किसी प्रकार की सेवा करना है। प्रत्येक मनुष्य को इनमें हाथ बटाना चाहिये। सेवा की भावना में जब स्वार्थ और लोभ का अंश आ जाता है तो इसका परिणाम बुरा होता है। यह प्रायः देखा जाता है कि वर्तमान सेवकों में सच्ची सेवा का अभाव है। पद प्राप्ति अथवा अधिकार के लिये वे सार्वजनिक संस्थाओं में प्रवेश करते हैं। इसीलिये देश में रचनात्मक कार्य करने वालों का अभाव है और राजनीतिक कटुता बढ़ती जाती है। जिस समाज में हम रहते हैं उसके प्रति हमारे बहुत से कर्त्तव्य हैं। उन्हें हम तभी पूरा कर सकते हैं जब समाज की भलाई करें। अपनी रक्षा और स्वार्थ की देख-रेख तो पशु भी करता है। मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ कहा गया है। उससे यह आशा की जाती है कि वह अपनी चिन्ता के अतिरिक्त औरों की भलाई का भी ध्यान रक्खे। सेवा के बिना मनुष्य समाज के ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। सेवा की पहिली सीढ़ी सहानुभूति है। जिसके अन्दर एक दूसरे के प्रति सहानुभूति नहीं है वह सेवा नहीं कर सकता। इन सेवक मंडलों में आकर लोगों के अन्दर और भी सेवा के भाव उत्पन्न होते हैं।

**मनोविनोद शालायें**

सामाजिक जीवन सुखमय तभी रह सकता है जब लोगों के अन्दर जीवन हो, उनके चेहरे पर हँसी हो और उनका शरीर स्वस्थ हो। यदि समाज में सब लोग उदासीन रहें और बीमारी के जाल से जकड़े हों तो सभी सेवायें व्यर्थ हैं। जीवन का उद्देश्य है 'आत्मानन्द'। इसकी पूर्ति के लिये तरह-तरह के साधन की आवश्कता है। कार्य से छुट्टी पाकर लोग कुछ मन बहलाव चाहते हैं। चुपचाप बैठ जाने से मन प्रसन्न नहीं रह सकता। इसलिये तरह तरह के क्रीड़ा-गृह, व्यायाम-शालायें, थियेटर, सिनेमा आदि बनाये जाते हैं। लोग आपस में कभी-कभी दावतें करते हैं, इनसे चित्त का बहलाव और एक दूसरे से परिचय प्राप्त होता है। परिचय से सामाजिक जीवन की उन्नति होती है। सभी पदों के लोग इन मनोविनोद शालाओं में बराबरी के साथ एक दूसरे से मिलते और खुशी मनाते हैं। इनकी उन्नति को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि देश की दशा हरी-भरी है। जिस देश के लोग खाने-पीने की ही चिन्ता में पड़े रहते हैं, वहाँ मनोविनोद की इच्छा कम होती है। यद्यपि खुशी और आनन्द मनाना समाज की उन्नति का चिह्न है, फिर भी इसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। दावतों में

अधिक धन्य-व्यय करना ठीक नहीं है। इसी प्रकार अपने समय का बहुत बड़ा भाग नाटक और सिनेमा में खर्च करना जीवन के मूल्य को कम करना है। हम मनोविनोद को उतना ही स्थान दें जहाँ तक उसकी आवश्यकता है। साथ ही हमें औरों का भी ध्यान रखना चाहिये। यह ठीक नहीं है कि देश में एक ओर तो भयंकर गरीबी है और दूसरी ओर थोड़े से लोग दावतों में दूध-दही की नदी बहायें। इससे समाज की कमजोरी और सहानुभूति का अभाव प्रगट होता है। सच्चा मनोविनोद समाज को साथ साथ ले चलने में है। सम्पूर्ण समाज प्रसन्न और हरा भरा दिखाई पड़े यह हमारी मनोविनोद-शालाओं का उद्देश्य होना चाहिये।

**राज्य**

अब तक जितने भी समुदाय बने हैं, राज्य उन सब में बड़ा है। यह समुदाय कब और कैसे बना इसका विस्तृत वर्णन राज्य की उत्पत्ति वाले अध्याय में किया जायगा। राज्य की उत्पत्ति कर मनुष्य ने अपने-आपको राजनैतिक बन्धन में बाँध दिया। परन्तु यह हानिकर नहीं है। राज्य का उद्देश्य है कि वह मनुष्य को कुमार्ग पर जाने से बचावे और सुमार्ग पर ले चले। व्यक्ति राज्य का एक सदस्य होता है। उसे नागरिक कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति नागरिक नहीं है तो वह राज्य का सदस्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसे भी राज्य बहुत-सी सुविधायें देता है। केवल राजनैतिक अधिकार उसे नहीं दिये जाते। वह भी किसी राज्य का नागरिक बन सकता है। अन्य समुदायों और राज्य में यह भेद है कि राज्य का सदस्य बनना सबके लिये अनिवार्य है। मनोविनोद शाला का सदस्य कोई भले ही न हो, व्यावसायिक समुदाय से कोई अपना सम्बन्ध न रक्खे परन्तु राज्य से उसे सम्बन्ध रखना होगा। राजनीति एक ऐसा विषय है जिसकी आवश्यकता सबको है।* राजनैतिक संगठन से कोई अपने आपको अलग नहीं रख सकता। राजनीति में नागरिक अपने अधिकारों का प्रयोग भले ही न करे, परन्तु कर्त्तव्यों का उसे ध्यान रखना पड़ता है।

राज्य सबसे बड़ा राजनैतिक संगठन है। इसके अतिरिक्त और भी छोटे-छोटे राजनैतिक सगठन हैं। राजनैतिक दल उनमें से एक है। इसका सदस्य होना किसी के लिये अनिवार्य नहीं है। ये दल कई कारणों से बनते हैं। कभी तो विचारों के मत-भेद के कारण और कभी स्वार्थ की पूर्ति के लिये। राज्य सभी समुदायों से ऊपर रहता है। वह उनकी देख-रेख रखता है और आपस में मिलकर काम करने का अवसर देता है। यह एक ऐसा संगठन है जो सभी देशों में पाया जाता है। उनके संगठन मे अन्तर भले ही हो परन्तु उद्देश्य सबके एक है। कुछ देशों में लोग राज्य को सर्वशक्तिमान और कुछ में उसे शक्तिहीन बनाना चाहते हैं। परन्तु उत्तम मार्ग

* Politics is every body's business.

इन दोनों के बीच में है। सामाजिक जीवन की रक्षा का भार राज्य पर होता है। भीतरी लड़ाइयों तथा बाहरी हमले से वह देश की रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त सभी समुदायों और संगठनों को अपने-अपने कर्त्तव्य और अधिकार का बोध कराता है।

**समुदायों का मनुष्य के जीवन पर प्रभाव**

प्रत्येक समुदाय मनुष्य की किसी-न-किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। आर्थिक समुदाय से व्यक्ति अपना भरण-पोषण करता है, धार्मिक समुदाय में शान्ति ग्रहण करता है, सेवक मंडल द्वारा समाज की सेवा करता है, और इसी प्रकार सभी समुदायों से अपनी उन्नति करता है। समाज को रचना इसीलिये हुई है कि व्यक्ति अपना विकास करे। परन्तु समाज कोई ऐसी चीज नहीं है जहाँ मनुष्य की सारी शक्तियाँ एक दिन में विकसित हो जाँय। समुदायों की उत्पत्ति इसीलिये हुई है कि इनके द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करे। इन्हीं के मेल को समाज कहते हैं। जो व्यक्ति इन समुदायों से लाभ नहीं उठाता वह अर्द्ध-सामाजिक है। उसकी उन्नति नहीं हो सकती। मनुष्य के अन्दर जितने विचार हैं उनकी पूर्ति के लिये उतने ही प्रकार के समुदाय बन सकते हैं। यह उसकी इच्छा पर है कि वह इनका निर्माण करे। संगठित जीवन का तात्पर्य है कि मनुष्य की विभिन्न शक्तियाँ अलग-अलग संगठित हों और फिर किसी जगह उन सबका एकी-करण हो। किसी समुदाय का सदस्य बनकर वह एक शक्ति प्राप्त करता है। औरों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का जितना अवसर इन समुदायों द्वारा मिलता है उतना और कहीं नहीं। जो जितने ही समुदाय का सदस्य है वह उतना ही सामाजिक गिना जाता है और उसकी बुद्धि उसी मात्रा में सार्वजनिक होती है। सार्वजनिक भावनायें कुटुम्ब से आरम्भ होती हैं और बढ़ते-बढ़ते अनेक समुदायों में प्रवेश कराती हैं। फिर देश-हित का ध्यान होता है। जब मनुष्य इससे भी आगे बढ़ता है तो अन्त-र्राष्ट्रीय सेवा की पिपासा उसे महसूस होती है। वह मनुष्यमात्र का सेवक बन जाता है। हमारे जीवन की उन्नति इन्हीं समुदायों के सहारे होती है।

**समुदायों की सफलता**

समुदाय तभी बन सकता है जब कुछ लोग आपस में मिलें। यदि सहवास और सहयोग की इच्छा नहीं है तो संगठन नहीं बन सकता। इस-लिये सहयोग इसकी पहली आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त सच्ची सहानुभूति भी आवश्यक है। स्वार्थ-भाव से प्रेरित होकर हम कोई संगठन नहीं बना सकते। यदि बनाने का प्रयत्न भी करें तो उसमें बहुमत नहीं प्राप्त कर सकते। अच्छी नियत से ही हम कोई स्थायी संगठन बना सकते हैं। किसी संगठन की सफलता और असफलता उसमें सम्मिलित व्यक्तियों की नेकनीयती पर निर्भर है। सभी व्यक्ति उसके उद्देश्य का ध्यान रक्खें

और उसी ओर अपने आपको ले चलें तो सफलता अवश्य मिलेगी। संगठन की सफलता सदस्यों की संख्या पर निर्भर नहीं है। थोड़े से लोग एक बहुत बड़े संगठन को तोड़ सकते हैं। व्यक्ति में जितनी कार्य करने की शक्ति है उसी हद तक वह किसी समुदाय को आगे बढ़ाता है। जब तक समुदाय सफल न होंगे तब तक सामाजिक जीवन पूरा नहीं समझा जा सकता। बिखरे हुये समाज की यही पहचान है कि उसमें किसी प्रकार के संगठन न हों। जो जाति संगठित नहीं है वह उन्नति नहीं कर सकती। ईर्ष्या और द्वेष के कारण अथवा एक दूसरे के संगठन को धक्का देने की नीयत से जो संगठन बनाया जाता है, उसमें उन्नति के विपरीत व्यक्ति की अवनति होती है।

**समाज और समुदाय**

समुदाय समाज का अंग है। बहुत से समुदायों से समाज का निर्माण होता है, किन्तु समाज की रचना पहले होती है और समुदाय बाद में बनते हैं। जो व्यक्ति समुदाय का सदस्य है वह समाज का सदस्य अवश्य होता है। समाज से अलग उसका जीवन सम्भव नहीं है, परन्तु समुदाय से कितने ही व्यक्ति सदैव अलग रहते हैं। समाज एक है परन्तु समुदाय अनन्त हैं। समाज की शक्ति इन्हीं समुदायों में बँटी रहती है। यह कहना कठिन है कि सारे समाज का स्वामी कौन है। प्रत्येक समुदाय का स्वामी अपनी शक्ति रखता है। वह शक्ति उसे समाज से प्राप्त है। समुदायों की वृद्धि सामाजिक विकास का लक्षण है। समुदाय में व्यक्तित्व के किसी एक अंग का विकास होता है परन्तु समाज में उसकी पूर्ण उन्नति होती है। समुदायों के परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। यदि कौटुम्बिक जीवन आज बदल जाय तो हमारा सामाजिक जीवन कुछ और हो जायगा। दोनों सहयोग और नेकनीयती (Co-operation and good will) से स्थायी बनाये जाते हैं।

—:o—

# अध्याय ६

## व्यक्ति और समाज

नागरिक शास्त्र के अन्दर हम व्यक्ति का अध्ययन करते हैं। परन्तु उसका अध्ययन तभी सम्भव है जब वह समाज में रहे। स्वभाव से मनुष्य समाज में रहता है। एकान्त जीवन उसके स्वभाव के विरुद्ध है। इसीलिये व्यक्ति और समाज का अध्ययन नागरिक शास्त्र का विषय है। एक दूसरे के सम्पर्क से विचारों का आदान-प्रदान होता है। सामाजिक नियम व्यक्ति को सदैव सुधारते रहते हैं। समाज से नित्य वह कुछ-न-कुछ सीखता है। उसकी उन्नति से सभ्यता की नींव पड़ती है। जब समाज में सभी व्यक्ति उन्नति कर किसी खास दर्जे तक पहुँच जाते हैं तो उस समाज की एक सभ्यता बन जाती है। नागरिक और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध न हो तो कोई सभ्यता उत्पन्न नहीं हो सकती। किसी सभ्यता का अन्त तभी होता है जब व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध बदल जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको अधिक-से-अधिक सभ्य बनाना चाहता है। इसीलिये शिक्षा तथा विभिन्न समुदायों की वह व्यवस्था करता है। नागरिक शास्त्र नागरिक और उसकी सभ्यता दोनों का प्रतिपादन करता है। सबसे ऊँची सभ्यता वह है जिसके अन्दर व्यक्ति को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता और शान्ति हो। सभ्यता का इतिहास व्यक्ति और समाज का इतिहास है। बिना व्यक्ति के न तो कोई समाज बन सकता है और न समाज के बिना व्यक्तित्व का विकास ही सम्भव है। जहाँ कहीं समाज होगा उसकी कोई न कोई सभ्यता होगी। यदि संसार की सभ्यता का इतिहास देखा जाय तो मनुष्य प्रतिदिन उन्नति करता जा रहा है। एक आदर्श नागरिक से यह आशा की जाती है कि वह सभ्यता को बढ़ावे। यह तभी हो सकता है जब वह अपनी और सामाजिक उन्नति को एक समझे।

सभ्यता

पूर्व ऐतिहासिक काल को हम असभ्य और जंगली कहते हैं। यह निष्कर्ष इसी से निकाला गया है कि व्यक्ति और समाज में कोई घनिष्ठ सम्बन्ध न था। उनके सम्बन्ध की कोई सीमा निश्चित नहीं थी। व्यक्ति तब भी समाज में था और आज भी है। अन्तर इतना ही है कि उस समय इन दोनों का सम्बन्ध किसी सिद्धान्त पर निर्भर नहीं था। व्यक्ति के विकास के लिये कोई सामाजिक व्यवस्था न थी। परन्तु उस समय भी कोई सभ्यता थी। उसे हम जंगली सभ्यता कहते हैं। यह कैसे सम्भव

है कि समाज रहे, परन्तु सभ्यता न हो। समाज का सबसे बड़ा महत्व व्यक्ति का विकास है। यदि सामाजिक व्यवस्थायें न हुई होतीं, नये-नये आविष्कार अनुसन्धान न किये गये होते, तो आज भी व्यक्ति जंगली अवस्था में पड़ा रहता।

**व्यक्ति और समाज का सामंजस्य**

व्यक्ति और समाज दोनों एक हैं। व्यक्ति समाज में घूमता और जीवन-निर्वाह करता है। उसके भीतर भी एक समाज है। इसलिये इन दोनों समाजों में कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य के अन्दर अनेक विचार होते हैं। अवसर पाकर वह अपने विचारों के अनुसार बाह्य-जगत में संस्थाओं और समुदायों की स्थापना करता है। शिक्षा की आवश्यकता महसूस होती है तो स्कूल और पाठशालायें खोलता है। जब स्वास्थ्य का ध्यान होता है तो व्यायाम-शालायें स्थापित करता है। जब उसे एक दूसरे के कारण काम करने में बाधा पड़ती है तो वह सामाजिक नियम बनाता है। इसी तरह मनुष्य की सारी क्रियायें उसके विचारों के फल हैं। पहले विचार उत्पन्न होते हैं तब उसे कार्य रूप में परिणत किया जाता है। कहा जाता है कि मनुष्य के अन्दर विचारों का एक समाज है और बाहरी समाज उसी का क्रियात्मक रूप है। अतएव व्यक्ति और समाज में कोई भेद नहीं है। जिस दिन मनुष्य अपनी उन्नति का ध्यान छोड़ देगा उसी दिन से समाज की उन्नति रुक जायगी। समाज व्यक्तियों की बुद्धि का चमत्कार कहलाता है। वह स्वयं कार्य नहीं करता। विभिन्न व्यक्ति ही कार्य करते हैं। उनके कार्य चूँकि समाज में होते हैं इसलिये सामाजिक कहलाते हैं। उनसे सम्पूर्ण समाज को लाभ पहुँचता है। जिस समय में बड़े-बड़े वीर और विद्वान पैदा होते हैं उसकी प्रतिष्ठा होती है। शिवाजी और राणा प्रताप के पराक्रम से भारतीय समाज का गौरव कम ऊँचा नहीं है। बुद्ध के व्यक्तित्व का ऋणी न केवल भारतीय समाज बल्कि सारा संसार है। जितने महापुरुष किसी देश में पैदा होते हैं वे उस समाज को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। फिर व्यक्ति और समाज दो चीजें कैसे अलग की जा सकती हैं।

व्यक्ति की ही उन्नति समाज की उन्नति समझी जाती है। जिस देश में सदाचारी व्यक्तियों की अधिकता होगी वह देश और समाज सभ्य माना जायगा। इसके विपरीत जिस देश के निवासी लुटेरे होंगे और आपस में लड़ते झगड़ते रहेंगे वह असभ्य और अत्याचारी समझा जायगा। इंगलैंड को आज हम शक्तिशाली समझते हैं। इसकी वजह यह है कि अंगरेजी समाज में कुछ ऐसे महापुरुष हुये जिन्होंने अपने देश को आगे बढ़ाया। विदेशों में जाकर अपने देश के लिये उन्होंने हर प्रकार के कष्ट उठाये। जो देश उन्नति करता है वह व्यक्तियों के ही बल पर कुछ कर सकता है। व्यक्तियों की एकता सामाजिक एकता और उनकी कमजोरी सामाजिक कमजोरी कहलाती है। भारतीय समाज आज बिखरा हुआ है, इसके अन्दर राष्ट्रीय

भावना और साम्प्रदायिक सहानुभूति का अभाव है। भारत का प्रत्येक व्यक्ति इस कमी का भागी है। जब तक मनुष्य अपने अन्दर सम्पूर्ण समाज को नहीं समझेगा तब तक न वह अपनी उन्नति करेगा और न समाज की। समाज में रहते हुए वह जो कुछ करता और सोचता है उसका असर पड़ोसियों पर भी पड़ता है। जिस प्रकार शब्द अमर है और उसका नाश कभी नहीं होता उसी प्रकार व्यक्ति का उपचार सामाजिक इतिहास में अमर होता है। कोई समाज कितना ही छिन्न-भिन्न हो जाय, परन्तु व्यक्तियों की अमर कीर्ति तारे की तरह चमकती रहेगी। भारत का नाम मिट जाय, परन्तु भगवान् बुद्ध और महात्मा गाँधी संसार में अमर रहेंगे। हिन्दू समाज अवनति के गड्ढे में भले ही चला जाय लेकिन शंकराचार्य और दयानन्द को कोई नहीं भूल सकता। समाज से व्यक्ति की और व्यक्ति से समाज की शोभा होती है।

**समाज और देश**

समाज और देश में क्या सम्बन्ध है इस प्रश्न को सुलझाना कठिन है। एक ही समाज के लोग कई देशों में फैले रह सकते हैं। यहूदी समाज आज यूरप के देशों में बिखरा हुआ है। फिर भी उसके अन्दर एक सामाजिक संगठन है। यदि यह संगठन न होता तो यहूदियों का नाम आज मिट गया होता। एक ही देश में कई समाज के लोग रह सकते हैं। अपने देश को ले लीजिये। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा कितने ही विदेशी यहाँ रहते हैं। इनकी अलग-अलग-जातीयता है और वे अपने समाज द्वारा शासित होते हैं। इसलिये यह कहना कठिन है कि अमुक समाज का विस्तार कितना है अथवा अमुक देश में कितने समाज के लोग रहते हैं। साधारण लोग समझते हैं कि एक देश के लोग एक ही समाज के होते हैं। यदि एक अमेरिकन भारत में कोई नई ईजाद करे तो उसका श्रेय अमेरिकन समाज को मिलेगा। इसी तरह यदि एक भारतीय जर्मनी में कोई नई खोज करे तो वह भारतीय समाज की चीज समझी जायगी। राजनैतिक संगठन और सामाजिक एकता से कोई खास सम्बन्ध नहीं होता। भारतीय शासन के अन्दर लगभग सभी देशों के लोग रहते हैं। और भी देशों में विदेशियों की संख्या कम नहीं होती। उन्हें उस राज्य के नियम मानने पड़ते हैं। परन्तु उनका समाज अलग होता है और उनके रसम रिवाज भिन्न होते हैं। समाज का सम्बन्ध मनुष्य की रहन सहन, खान-पान तथा आचार-विचार से है। देश शब्द से एक शासन-व्यवस्था का आभास होता है। जब हम जर्मनी कहते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि जर्मनी की एक सरकार है। परन्तु जर्मन समाज और जर्मन-सरकार से एक ही तात्पर्य नहीं है। एक बन्धन कानूनी है और दूसरा स्वाभाविक। हम दोनों को एक में नहीं जोड़ सकते। देश में जो सबसे बड़ा समाज होता है वही उस देश को अपना समझता है। उसी की संस्कृति उस देश की

संस्कृति कही जाती है। उसी समाज की कीर्ति उस देश की कीर्ति कहलाती है। देश की राजनैतिक व्यवस्था नष्ट भ्रष्ट की जा सकती है, परन्तु सामाजिक एकता का सर्वनाश नहीं हो सकता।

**क्या समाज एक बन्धन है?**

जब व्यक्ति समाज में ही रह सकता है तो उसके लिये यह आवश्यक है कि वह सामाजिक नियमों का पालन करे। नियमों की अवहेलना करके वह नहीं रह सकता। ऐसी दशा में यही जान पड़ता है कि समाज व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता में बाधक है। वह इस बन्धन को विवश होकर निबाहता है क्योंकि समाज को छोड़ने में असमर्थ है। यदि कोई भारतवासी अपने देश को छोड़ कर अमेरिका में रहना चाहे तो उसे बहुत सी कठिनाइयाँ होंगी। सम्भव है अमेरिका उसे बिलकुल ही अच्छा न लगे। वहाँ का खाना-पीना और रहन-सहन उसके स्वभाव के अनुकूल न हो। फिर वह क्या करेगा? वह लौट कर फिर भारत में आयेगा। यही हालत प्रत्येक समाज की है। समाज अपने अन्दर रहने वाले व्यक्तियों को एक खास ढंग में ढाल दिया करता है। उससे निकलने में मनुष्य को कठिनाइयाँ होती हैं। लोहे की बेड़ी कुछ दिनों तक कैदी को भार मालूम पड़ती है, परन्तु जब वह इसका आदी हो जाता है तो उसे इसका पता नहीं चलता। इसी प्रकार सामाजिक बन्धनों का मनुष्यों को अभ्यास हो गया है। जो शाकाहारी है उसे मांसाहारी बनने से घृणा है। जो मांसाहारी है वह शाकाहारी नहीं बन सकता। पूजा-पाठ की भी यही बात है। हिंदू नमाज नहीं पढ़ सकता और मुसलमान सन्ध्या नहीं कर सकता। कठिनाई और सरलता का प्रश्न नहीं है, बल्कि सामाजिक संस्कृति की बात है। एक विदेशी दूसरे देश में अनेक कठिनाइयों का सामना करता है।

सामाजिक बन्धन के अन्तर्गत आर्थिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक सभी प्रकार के बन्धन शामिल हैं। व्यक्ति अपने समाज में तभी तक प्रतिष्ठा का पात्र समझा जाता है जब तक वह अपने को सामाजिक बन्धनों से जकड़े रहता है। बन्धन को तोड़ कर वह समाज से अछूत बन जाता है। ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य यह दलील पेश करते हैं कि शूद्रों को समाज में बराबरी का दर्जा नहीं मिलना चाहिये। इन्होंने कभी-न-कभी हिन्दू-समाज के नियमों को भंग किया था इसीलिये इन्हें ग्रामों से निकाल कर बाहर रहने की आज्ञा दी गई और इन्हें घृणित ठहराया गया। इसी से हम अनुमान कर सकते हैं कि सामाजिक बन्धन कितना कठोर होता है। चिड़ियों और बन्दरों में भी सामाजिक दंड का विधान पाया जाता है। बहुत से कौये अपने झुंड से निकाल दिये जाते हैं और कौवे उनकी पाँखें तक नोच डालते हैं। बन्दरों में सामाजिक नियम बड़ी सख्ती के साथ बरते जाते हैं। यदि कोई बन्दर पेड़ से गिर जाता है तो वह अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। यहाँ उसे अकेले

जीवन बिताना पड़ता है। सभी जीवों में सामाजिक व्यवस्था पाई जाती है। फिर मनुष्य इससे क्यों कर वंचित रह सकता है। उसे तो पग-पग पर अपने सामाजिक नियम को बरतना पड़ता है। जब व्यक्ति इस कदर समाज का कीड़ा है तो समाज उसके लिये बन्धन नहीं तो और क्या है?

वास्तव में समाज बन्धन नहीं है। सामाजिक नियम व्यक्ति को बाँधने के लिये नहीं बल्कि उसकी रक्षा के लिये है। जिस समाज की जैसी परिस्थिति है उसके वैसे ही नियम हैं और उसी के अनुसार उसकी संस्कृति है। मनुष्य जन्म से ही विद्वान् और चतुर नहीं होता। कुछ दिन तक उसे औरों से कुछ सीखना पड़ता है। समाज उसे इसका मौका देता है। शिक्षा की व्यवस्था न हो तो कोई विद्वान् नहीं बन सकता। बाद में वह सामाजिक बुराइयों का सुधार भले ही करे, परन्तु आरम्भ में तो उसे समाज की सभी बातों से लाभ उठाना पड़ता है। शहरों में तरह-तरह के संगठन होते हैं। मनुष्य उनसे लाभ उठाता है। जन्म से बालक सारी बातें समाज में सीखता है, सामाजिक संस्थायें उसके व्यक्तित्व का विकास करती हैं। समाज सबको अपनी उन्नति का पूरा-पूरा अवसर देता है। जो समाज ऐसा नहीं करता वह निकृष्ट है। हम जिन घरों में रहते हैं, जिस कुयें से पानी पीते हैं और जिन वृक्षों की छाया का आनन्द लेते हैं वे हमारे ही बनवाये नहीं हैं। यह समाज की देन है। आज हम जितनी चीजों का प्रयोग करते हैं वे मालूम नहीं कितने व्यक्तियों के सहयोग से बनाई गई हैं। जिन विचारों को लेकर हम विद्वान् कहलाते हैं, वे सैकड़ों मस्तिष्क से होकर हमारे पास पहुँचते हैं। क्या इनके लिये व्यक्ति समाज का ऋणी नहीं है। जिन शब्दों का प्रयोग हम अपने दैनिक जीवन में करते हैं क्या वे हमारे हैं? आवागमन की जितनी सुविधायें आज हमें प्राप्त हैं उनके लिये क्या हम समाज के ऋणी नहीं हैं? यदि हम विचार से देखें तो हमें समाज से जितना लाभ पहुँचता है और जिस मात्रा में हमारी उन्नति होती है उसका हजारवाँ हिस्सा भी हम समाज के लिये नहीं करते। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा समाज का ऋणी है। कदाचित् दो एक व्यक्ति कभी-कभी ऐसे उत्पन्न हो जाया करते हैं जिनका समाज ऋणी हुआ करता है। उन्हें हम अवतार कहते हैं या महापुरुष।

समाज के बन्धन को तोड़ कर हम अपनी उन्नति को रोक देंगे। कुछ ऐसे भी सामाजिक बन्धन होते हैं जिन्हें तोड़ कर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। सामाजिक संगठन अनादि काल से चला आता है। इसीलिये यह स्वाभाविक है कि उसके बहुत से नियम समय के प्रवाह में निरर्थक प्रतीत हों। जिस समय वे नियम बनते हैं उस समय उनकी आवश्यकता कम नहीं होती। वर्षों तक लोग प्रसन्नता-पूर्वक उनका पालन करते हैं। जब लोगों के विचारों में परिवर्तन हो जाता है तो दूसरे

नियमों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये विचारवान् मनुष्य पुराने नियमों की अवहेलना करते हैं। साधारण लोग उसे बुरा समझते हैं। पुराने नियमों का खण्डन करने वाला समाज हित की दृष्टि से अच्छा करता है। यदि ऐसा न हो तो पुराने नियम समाज की उन्नति को रोक दें। प्रत्येक युग में समाज की ऐसी दशा हो जाती है जब लोगों के विचार शिथिल पड़ जाते हैं, पुराने नियम समय के अनुकूल नहीं रह जाते, तब भी लोग उनसे चिपटे रहते हैं। समाज में अशान्ति बढ़ जाती है और चारों ओर ढोंग का राज्य हो जाता है। किसी को कोई ऐसा रास्ता नहीं दिखाई पड़ता जिससे होकर वह अपनी उन्नति करे। इसी संकट को दूर करने के लिये संसार में महापुरुषों का जन्म होता है। वे समाज के सड़े हुये नियमों को उठाकर फेंक देते हैं और नई बातों का संचार करते हैं। आरम्भ में लोग उसे शंका की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु कुछ दिनों बाद उन्हीं नियमों पर चलने के लिये वे स्वयं तत्पर हो जाते हैं। उनका हित उनके पालन में ही दिखाई पड़ता है।

**व्यक्ति और सामाजिक सुधार**

धन्य है वह समाज जो किसी ऐसे व्यक्ति को जन्म देता है जिससे उसकी उन्नति होती है; और धन्य है वह व्यक्ति जो समाज को आगे बढ़ाता है। समाज का सुधारक कोई व्यक्ति ही होता है। कोई गिरोह समाज सुधार का कार्य आरम्भ नहीं करता। जब एक व्यक्ति सुधार आरम्भ करता है तो उसके कुछ अनुयायी होते हैं। वे सारे समाज को अपना अनुयायी बना लेते हैं। हर समाज को कभी न-कभी सुधार की आवश्यकता पड़ती है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नवीन वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार समाज के पुराने नियमों को बदल कर नये नियम अपनाने पड़ते हैं। यह कार्य आसानी से नहीं हुआ करता। समाज के प्रवाह को बदलना कोई खेल नहीं है। स्वभाव से ही मनुष्य हठी है। जिस वातावरण में वह एक बार रह जाता है फिर उसे बदलने में तरह तरह की कठिनाइयाँ मालूम पड़ती हैं। यदि कोई व्यक्ति इनके लिये उसे बाध्य करता है तो वह शत्रु समझा जाता है। इसी प्रकार के शत्रु, जिन्हें आगे चल कर लोग मित्र समझते हैं, समाज सुधारक होते हैं। यह श्रेय किसी विशेष व्यक्ति को प्राप्त होता है कि वह जनता के अन्ध-विश्वास को दूर करे। इतिहास में इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि समाज सुधारकों को तरह-तरह की यातनायें भोगनी पड़ती हैं; प्राणों तक से हाथ धोना पड़ता है। नई-नई चीजों के आविष्कार करने वाले समाज के कम सेवक नहीं कहे जा सकते परन्तु उन्हें भी लोग सम्मान का पात्र नहीं समझते। कुछ व्यक्ति विचारों में सदियों पहले जन्म लिया करते हैं। समाज उनके विचारों से सहमत नहीं होता। लोग उनकी हँसी उड़ाते हैं। उनका सारा सिद्धान्त उलटा मालूम पड़ता है। ऐसे ही व्यक्तियों का हाथ जमाने को पलटने में सफल हुआ करता है। समाज ऐसे

व्यक्तियों का मूल्य भले ही न समझे, परन्तु इन्हीं के प्रयत्न से उसकी उन्नति होती है। अपने साहस और बल से अन्ध-विश्वासी जनता का विरोध कर वे समाजोन्नति की ओर अग्रसर होते हैं। अपने विचारों का ऋण जो वे समाज पर छोड़ जाते हैं, उसकी पूर्ति कई शताब्दियों तक नहीं होती। महापुरुषों के स्थान सदैव खाली रहते हैं। यह समझना भूल है कि एक महापुरुष दूसरे का स्थान ग्रहण कर सकता है। गोखले, तिलक, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लाला लाजपत राय। महात्मा गाँधी आदि महापुरुषों का स्थान भरने के लिए न कोई पैदा हुआ और न होने की सम्भावना है। जब एक शकल के दो मनुष्य नहीं हो सकते तो विचारों में समता की सम्भावना कैसे की जाय? प्रत्येक समाज-सुधारक अपना विचार और अपना ढंग लेकर संसार में आता है।

**व्यक्तित्व और समाज**

समाज एक शक्ति है। उसके सामने व्यक्ति की शक्ति बहुत छोटी है। विशालकाय समाज के सामने वह अपने आपको को छोटा समझता है। उसे अपने विचारों को दबा कर समाजिक विचारों को कार्य रूप में परिणत करना पड़ता है। आज भी जब कि विचारों की पूरी स्वतन्त्रता है और वैज्ञानिक उन्नति ने अन्ध-विश्वास को चकनाचूर कर दिया है, दक्षिण भारत में, विशेष कर मद्रास राज्य में छुआछूत का रोग कम नहीं है। यदि कोई ब्राह्मण किसी अछूत का छुआ हुआ भोजन कर लेता है तो वह फिर ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी नहीं रह जाता। उसे मन्दिर में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं मिलती। उसके मुँह से निकले हुए वेद-वाक्य अपवित्र समझे जाते हैं। छुआछूत में उसका विश्वास न हो, परन्तु समाज के भय से वह इसमें विश्वास करता है। अनेक अवसरों पर व्यक्ति को अपने विचार दबाने पड़ते हैं। क्या इससे उसकी आत्मा को धक्का नहीं पहुँचता? यदि पहुँचता है तो हम यही कहेंगे कि उसके व्यक्तित्व का पूरा विकास नहीं होता। सामाजिक नियम कभी कभी व्यक्तित्व के विकास में बाधक होते हैं। जब समाज में कोई वर्ग-विशेष अपनी उन्नति सम्पूर्ण समाज से अधिक कर जाता है तो उसका व्यक्तित्व समाज द्वारा दबाया जाता है। अज्ञानवश समाज उनके विचारों से सहमत नहीं होता। इसका बहुत कुछ दोष उन स्वार्थी व्यक्तियों पर है जिन्होंने स्वार्थ-हित के लिये सम्पूर्ण समाज की अवहेलना की है। यदि आरम्भ से वे इसका ध्यान रखते तो समाज उनके साथ चलता और उनके व्यक्तित्व का विकास होता। समाज सबको अपनी उन्नति का उतना ही अवसर देता है जहाँ तक वह व्यक्तियों को समझने में समर्थ होता है। व्यक्ति से अलग समाज की कोई बुद्धि नहीं है। विचारों की जिस सतह पर बहुत से व्यक्ति होते हैं उसी सतह पर सारा समाज खड़ा रहता है। जिसे अपने व्यक्तित्व को बढ़ाने की अधिक चिन्ता है वह सामाजिक उन्नति करके उसे बढ़ा सकता है। यह सम्भव नहीं है कि समाज

पिछड़ा हुआ हो और कुछ व्यक्ति उसमें अपने व्यक्तित्व का पूरा विकास सकें। इस स्वार्थपरता को समाज सहन नहीं कर सकता। समाज की आँखें व्यक्ति की आँखों से कहीं तेज होती हैं। व्यक्ति अपनी बुराइयां को भले ही न समझे, परन्तु समाज व्यक्ति की कमजोरी को भली भाँति समझता है।

व्यक्तित्व का विकास करना समाज का उद्देश्य है। सामाजिक व्यवस्था इसीलिये बनाई गई है कि मनुष्य जहाँ तक चाहे उन्नति करे। यदि उसके मार्ग में कोई बाधा पड़ती है तो समाज उसे दूर करता है। किसी भी दृष्टि से समाज व्यक्ति का विरोधी नहीं ठहराया जा सकता। यदि वह उसकी उन्नति में बाधक होता है तो वह समाज की कमजोरी का चिह्न है। वह अपनी अवनति को समझने में असमर्थ है। कुछ व्यक्ति, जिन्हें इन कमजोरियों का ज्ञान है, अपने विचारों द्वारा उसे आगे बढ़ा सकते हैं।

**सामाजिक विचार**

जब मनुष्य का शरीर एक है तो उसका विचार भी एक होना चाहिये। विचार करने की मशीन, जिसे मस्तिष्क कहते हैं, एक ही है। लेकिन एक ही मनुष्य के भिन्न-भिन्न विचार होते हैं। इतना अवश्य है कि एक समय एक ही विचार मन में आ सकता है। जब हम किसी वस्तु को बुरा कहते हैं तो उतनी देर तक उसकी अच्छाइयों पर विचार नहीं कर सकते। विचार उसी तरह है जैसे कोई चौड़ा तख्ता। हम एक बार उस तख्ते की एक बगल को ही देख सकते हैं। यह सम्भव नहीं है कि तख्ते का आगा-पीछा दोनों एक साथ हमारी दृष्टि के सामने आ जाय। इसी तरह दो विचार एक साथ हमारे मस्तिष्क में नहीं आ सकते। प्रकृति ने मन को इतना चंचल बनाया है कि हमारे मस्तिष्क में विचारों का ताँता सा लगा रहता है। एक विचार के जाते ही दूसरे विचार आने लगते हैं। यहाँ तक कि दिमाग कभी खाली नहीं रहता। जब हम सोते हैं तब भी हमें स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं। आँखें बन्द रहती हैं, लेकिन मस्तिष्क अपना काम करता है। विचारों की गणना की जाय तो सैकड़ों विचार नित्य हमारे मन में आते हैं और चले जाते हैं।

इन विचारों को बाँटा जाय तो इनके दो प्रकार हो सकते हैं :—

व्यक्तिगत विचार ( Self-regarding thoughts )

सामाजिक विचार ( other-regarding thoughts )

व्यक्तिगत विचार वे हैं जिनसे मनुष्य अपने स्वार्थ सम्बन्धी बातों को सोचता है। प्रत्येक मनुष्य के अन्दर यह विचार आता है कि उसका अमुक काम कैसे हो, उसकी जीविका कैसे चले, इत्यादि-इत्यादि। परन्तु हर समय वह अपनी ही चिन्ता में पड़ा रहे यह सम्भव नहीं है। गरीब-से गरीब व्यक्ति दान, धर्म, दया, आदि की ओर झुकता है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह औरों के विषय में भी सोचे। पहले वह अपने

पड़ोसी से सम्पर्क बढ़ाता है। उसके सुख-दुख में साथ देता है। फिर उसका क्षेत्र बढ़ता जाता है। ग्राम, जिला, राज्य और देश तक की उसे चिन्ता होने लगती है। इसी को सामाजिक विचार कहते हैं, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सामाजिक विचारों के आते ही व्यक्तिगत विचारों का लोप हो जाय। दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक ही मस्तिष्क बारी-बारी से उन पर विचार करता है। प्रश्न यह है कि क्या कोई व्यक्ति सामाजिक विचारों में ही लीन रह सकता है? यह असंभव बात नहीं है। लेकिन ऐसा व्यक्ति करोड़ों में एक होता है। उसके सम्पूर्ण व्यक्तिगत विचार सामाजिक हो जाते हैं। वह अपने आपको समाज का एक घनिष्ठ अंग मान लेता है। जो कुछ करता और विचारता है सब समाज के लिये। उसका यह विश्वास हो जाता है कि यदि वह समाज की भलाई में लगा हुआ है तो उसी में उसकी भी भलाई शामिल है, क्योंकि समाज से वह अलग नहीं है। जिस प्रकार सारा भोजन और पानी पेट में जाता है और वहाँ से रक्त बन कर प्रत्येक अंग में आवश्यकतानुसार बँट जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपना सब कुछ समाज के लिये अर्पण कर देता है वह अपने हिस्से का अधिकारी हो जाता है।

व्यक्ति का विकास सामाजिक विचार के अतिरिक्त कहीं और सम्भव नहीं है। व्यक्तिगत विचार और व्यक्तित्व दोनों में विरोध है। जो व्यक्ति प्रतिक्षण अपनी ही चिन्ता में निमग्न है, जिसे स्वार्थपूर्ति में ही आनन्द आता है, वह अपने व्यक्तित्व को ऊँचा नहीं कर सकता। उसके विचार संकुचित होते हैं और कुछ दिनों में वह अपने व्यक्तित्व को खो बैठता है। इसके विपरीत सामाजिक विचार व्यक्तित्व का विकास करता है। मनुष्य के अन्दर ऐसी शक्ति है जो बिजली की तरह औरों को अपनी ओर खींचती है। ऐसी शक्ति सामाजिक विचारों के साथ उत्पन्न होती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य इस ओर बढ़ता है त्यों-त्यों वह शक्ति भी बढ़ती जाती है। अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को वह अपनी ओर आकर्षित करने लगता है। ऐसा इसलिये होता है कि उस व्यक्ति से औरों को लाभ पहुँचता है; उसके विचार औरों के लिये लाभदायक होते हैं। इसी शक्ति को व्यक्तित्व कहते हैं। जिसमें यह शक्ति नहीं है वह सामाजिक सेवा नहीं कर सकता। इसीलिये कहा गया है कि व्यक्तित्व कार्य करने की सबसे बड़ी शक्ति है। जिसका व्यक्तित्व जितना ही ऊँचा होगा वह उतना ही बड़ा कार्य कर सकेगा। सामाजिक विचार व्यक्तित्व के सबसे बड़े साथी हैं। जो लोग समाज को बन्धन समझते हैं वे मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध सोचते हैं। यदि यह बन्धन न हो तो सामाजिक विचार जीवित नहीं रह सकते और व्यक्तित्व का विकास ही नहीं हो सकता।

जब हम 'समाज' शब्द का प्रयोग करते हैं तो एक बहुत बड़ी चीज हमारे दिमाग में आ खड़ी होती है। समाज कोई छोटी सी चीज नहीं है। एक दो दिन के

परिश्रम से वह नहीं बना है बल्कि उसका विकास शताब्दियों में हुआ है। हमें आश्चर्य मालूम पड़ता है कि मनुष्य भी अकेले रहता था। लेकिन इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये। एक समय ऐसा था जब मनुष्य जंगली अवस्था में इधर-उधर घूमा करता था। न उसका कोई घर था और न कार्यक्रम। उद्योग-धन्धों का वह नाम भी नहीं जानता था। सदियों तक इसी प्रकार का जीवन वह व्यतीत करता रहा। पृथ्वी पर जनसंख्या की वृद्धि स्वाभाविक है। जब आबादी बढ़ी और जंगलों में मनुष्य अधिक दृष्टिगोचर होने लगे तो झुंड-का-झुंड एक साथ रहने लगा। इसे हम अव्यवस्थित समाज कह सकते हैं। एक साथ रहते-रहते उनके अन्दर एक प्रकार की इच्छा उत्पन्न हुई कि एक दूसरे से लाभ उठावें। इसी स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर आपस में सहयोग की वृद्धि हुई। आरम्भ में गाँवों की रचना हुई। लोगों ने जंगलों को साफ किया और खेती आरम्भ की। अनेक गाँव बस गये। ये गाँव पहले स्वतन्त्र थे और मनुष्य की सारी आवश्यकतायें वहीं पूरी हो जाती थीं। एक गाँव का निवासी दूसरे गाँव से अपना सम्बन्ध कम रखता था।

**सामाजिक विकास और व्यक्ति**

जब मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ने लगीं तो गाँवों का स्वावलम्बी जीवन जाता रहा। एक गाँव को दूसरे गाँवों से सम्बन्ध जोड़ना पड़ा। इस प्रकार जिला, राज्य और देश का विकास हुआ। इनका विस्तृत वर्णन राज्य की उत्पत्ति नामक अध्याय में किया गया है। यहाँ पर हमें इतना ही जानना है कि हमारा समाज कैसे संगठित हुआ। मनुष्य को अकेले तरह-तरह की असुविधायें होती थीं। न वह किसी से बोल सकता था और न अपने दुख में किसी से सहायता ले सकता था। इन्हीं को दूर करने के लिये उसने समाज की रचना की। बाद में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वह समाज का क्षेत्र बढ़ाता गया। ग्राम से शहर बनने लगे। आधुनिक युग में ये आवश्यकतायें इतनी बढ़ रही हैं कि संसार का एक कोना भी अपने आपको अलग नहीं रख सकता। यदि कोई देश अपनी पैदावार और देशों में न भेजे तो दुनियाँ को बहुत बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। कोई भी देश आज स्वावलम्बी नहीं है। किसी को भोजन की आवश्यकता है, किसी को बाजारों की जरूरत है और किसी को आबादी को खपाने के लिये भूमि की चिन्ता है। इसी तरह मनुष्य ने पहले छोटे से गिरोह को अपना समाज बनाया, लेकिन धीरे-धीरे इसने समाज बढ़कर देश का रूप धारण कर लिया। भविष्य में यह स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बढ़ता जायगा और सम्भव है कभी बड़े समाज की स्थापना हो।

इस सामाजिक विकास से व्यक्ति को हानि हुई या लाभ, इस प्रश्न को उठाकर हम एक दूसरे ही विषय पर चले जायेंगे, क्योंकि यह स्पष्ट है कि आवश्यकताओं ने

ही समाज के दायरे को बढ़ाया है। यदि मनुष्य को किसी वस्तु की आवश्यकता न होती तो समाज का विकास नहीं होता। सामाजिक विकास से व्यक्ति की आवश्यकतायें इस कदर बढ़ती गई हैं कि वर्तमान भौतिक युग इसी का परिणाम है। इन आवश्यकताओं के वशीभूत होकर मनुष्य अपनी ऊपरी चमक-दमक में इतना व्यस्त है कि उसे ऊँची बातों की ओर झुकने का अवसर नहीं मिलता। इसीलिये हमारा उपर्युक्त प्रश्न यह हो जाता है कि नवीन सभ्यता मनुष्य के लिये लाभदायक है अथवा हानिकर। यह सभी स्वीकार करेंगे कि आवश्यकतायें जितनी ही कम हों उतना ही अच्छा है। सरल जीवन में शुद्धता अधिक रहती है और मनुष्य को कोई चिन्ता नहीं रहती है। सामाजिक विकास के साथ-साथ जो मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ी हैं वे उसके लिये घातक सिद्ध हुई हैं। समाज में विषमता इसी का परिणाम है। कुछ सामाजिक नियम तथा उपनियम ऐसे हैं जो आज व्यर्थ हो गये हैं, फिर भी हम उनके ऐसे आदी हो गये हैं कि उन्हें छोड़ नहीं सकते। मनुष्य को यह आशा थी कि जब उसका समाज बढ़ रहा है तो उसकी चिन्ता कम होती जायगी और किसी न किसी दिन वह शान्तिमय जीवन व्यतीत करेगा। लेकिन बात इसके बिलकुल उल्टी हुई। अशान्ति और चिन्ता का रोग इतना बढ़ रहा है कि समाज का एक वर्ग पीछे को लौटना चाहता है। उसे नई सभ्यता भयंकर मालूम पड़ती है।* यदि बहुत बड़ी संख्या में लोग पीछे को लौटे तो हमारा सामाजिक संगठन एक दूसरा ही रूप धारण करेगा। समाज के विकास के साथ व्यक्ति की आध्यात्मिक बुद्धि का विकास हुआ होता, उसके अन्दर की दैवी शक्तियाँ जागृत हुई होतीं, उसकी शान्ति बढ़ती गई होती तो हम इसे मनुष्य का बहुत बड़ा प्रयत्न समझते। परन्तु जब हम उसे चारों ओर व्याकुल देख रहे हैं और असन्तुष्ट पाते हैं तो इसे उन्नति कैसे मान बैठें।

समाज ने ही राजनैतिक संगठन का निर्माण किया है। कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ सभी लोग अपनी राजनैतिक व्यवस्था से सहमत हों। यदि थोड़े से लोग असन्तुष्ट होते तो हम इसे बुरा नहीं ठहराते, परन्तु यहाँ तो तीन चौथाई जनता उससे घृणा करती है। फिर हम उसे अच्छा क्यों कर मानें? इसलिये राजनैतिक विकास भी सन्तोषजनक न हो सका। समाज की जो आवश्यकता थी वह पूरी न हुई। राजनैतिक बन्धन हानिकर नहीं है लेकिन उसका स्वरूप जनता की इच्छा पर होना चाहिये। जिस देश के निवासी प्रजातन्त्रवादी हों वहाँ एक सत्तात्मक राज्य कैसे चलेगा। यदि चला भी तो सबकी इच्छा के विरुद्ध। सामाजिक विकास का यह भी अंग इतनी सहायता न कर सका जितनी उसे आरम्भ में आशा थी। इसका अर्थ

---

* modern civilization is like a monster threatening to devour the moral life of man.

यह नहीं है कि सरकार से कोई लाभ नहीं है। लाभ बहुत हैं, लेकिन शान्ति नहीं है। तलवार के बल से शान्ति रही तो उससे क्या लाभ ? होना तो यह चाहिये कि मनुष्य हृदय से कानून का पालन करे और अपने आपको सन्तुष्ट समझे।

जिस क्षेत्र में देखें मनुष्य अपने विकास से सन्तुष्ट नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह कभी सन्तुष्ट नहीं रहता। पूर्ण सन्तोष उन्नति के लिये घातक है। एक कहावत है कि "असन्तोष ही जीवन है और सन्तोष मृत्यु है।"* यदि यह बात ठीक है तो पूर्ण शान्ति की आशा करना व्यर्थ है। अफलातून ने स्पष्ट कहा है कि शान्ति और सुख इस संसार में नहीं मिल सकते। इसके लिये स्वर्ग की दुनियाँ है। हमारे धर्म ग्रन्थ भी यही कहते हैं। लेकिन इससे हम यह अर्थ न समझ लें कि यह संसार व्यर्थ है और मनुष्य का सारा परिश्रम बेकार है। गीता में इसे कर्म-भूमि कहा गया है। इसी कर्म से मनुष्य का उद्धार होगा। हमारा सामाजिक संगठन ऐसा बन सकता है कि हम अधिक-से अधिक उन्नति कर सकें। किसी संगठन में ऊपरी बन्धन का उतना महत्व नहीं होता जितना व्यक्तियों की भावना का। भावना सर्वत्र प्रधान होती है। हमारा संगठन चाहे जैसा हो लेकिन सबके अन्दर सच्ची सहानुभूति है तो ढाँचे से हमारी कोई हानि नहीं है। सामाजिक विकास में भावना की उन्नति होनी चाहिये, न कि नियमों और उपनियमों की। स्वर्ग एक कल्पना है। यदि हम इस कल्पना को यहीं प्रयोग में लावें तो बहुत कुछ हमारा कल्याण हो सकता है। उदासीन रहने से काम नहीं चल सकता। उदासीनता सामाजिक जीवन के लिये घातक है। यदि हम अपने विकास से सन्तुष्ट नहीं हैं तो इसकी गति को किसी दूसरी ओर मोड़ सकते हैं। महात्मा गाँधी का सारा परिश्रम इसी लिये सराहनीय रहा है कि वे मनुष्य की उन्नति का मार्ग बदलना चाहते थे।

**गाँधीवाद और समाज**

हम जिसे उन्नति समझते हैं उसे गाँधी जी अवनति कहते थे। वे वैज्ञानिक उन्नति के विरोधी नहीं थे। उन्हें मनुष्य का शोषण सबसे अधिक खटकता था। एक मनुष्य दूसरे की कमाई का उपयोग करता है यही हमारे वर्तमान समाज की विशेषता है। गाँधी जी का कहना है कि इस गन्दी आदत को हम निकाल दें, बाकी सब ठीक है। हमारी सारी उन्नति सराहनीय है। हमारा सदियों का विकास व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। कमी इतनी ही है कि इसमें सच्ची सहानुभूति नहीं है। हम अपने परिश्रम का उपयोग करें। जब हर एक व्यक्ति इस मन्त्र को समझ लेगा तो समाज की सारी अशान्ति दूर हो जायगी। मनुष्य के अन्दर की अच्छी प्रवृत्तियाँ दबी हुई हैं। जब तक वह अपने परिश्रम से अपनी रोटी नहीं कमायेगा

* Discontent is life; contentment is death.

तब तक उसकी वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। समाज की सच्ची उन्नति जिसे करनी है वह शरीर और मस्तिष्क दोनों प्रकार का परिश्रम करे। जब तक एक का महत्व दूसरे से कम है तब तक शोषण जारी रहेगा और समाज में अशान्ति रहेगी।

**समाजवाद और समाज**

समाजवादियों का कहना है कि समाज का बटवारा गलत है। यह बात न्याय के विरुद्ध है कि एक के पास अधिक धन हो और दूसरे के पास कम। इससे व्यक्ति को समान अवसर नहीं प्राप्त होता। प्रजातन्त्रवादियों का कहना गलत है कि आर्थिक विषमता रहते हुये भी समान अवसर दिया जा सकता है। प्रकृति ने मनुष्य को समान बनाया है, इसलिये समाज को अपनी व्यवस्था में कोई भेद-भाव नहीं करना चाहिये। यह भेद कब उत्पन्न हुआ इसका ठीक-ठीक पता नहीं है, लेकिन इसकी वृद्धि मशीन के युग में हुई है। ज्यों-ज्यों मशीनें बढ़ती जा रही हैं त्यों-त्यों यह विषमता भी बढ़ रही है और इसी से अशान्ति फैलती है। यदि व्यक्ति को शान्त करना है और उसके प्रति न्याय की थोड़ी भी भावना है, तो वर्तमान समाज को बदलना होगा। हमारे सामाजिक नियम पुराने हो गये हैं। हमारी धन सम्बन्धी व्यवस्था तो इतनी गन्दी हो गई है कि इसे हमें जड़ से बदलना होगा। समाजवाद के अनुसार धन का सब में समान बटवारा कर दिया जाय। सब को उसकी आवश्यकतानुसार जमीन और सम्पत्ति दी जाय। जो नियम पुराने हो गये हैं उन्हें हटाकर नये नियम बनाये जायँ। किसी को यह कहने का अवसर न रहे कि उसकी उन्नति में समाज बाधक है। आज बहुत से लोग यह कहने को तैयार हैं कि समाज उन्हें ऊँचा उठने से रोकता है। एक गरीब आदमी, जिसके पास सम्पत्ति नहीं है, शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। क्या समाज इस अन्याय के लिये दोषी नहीं है ? वह एक गरीब बच्चे को कहाँ अवसर देता है कि वह अपनी शिक्षा को बढ़ावे और तरह-तरह के उद्योग धन्धे करे ? रेल, तार, डाक उसके किस काम के हैं जब कि उसके घर में खाने तक को नहीं है ?

**समाज के उद्देश्य**

समाज का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की उन्नति करना है। सामाजिक संगठन ऐसा होना चाहिये जिसमें व्यक्ति को अपनी उन्नति करने का पूरा अवसर मिले। व्यक्तित्व का विकास और व्यक्तिगत उन्नति दोनों एक ही चीज नहीं हैं। सामाजिक विकास में व्यक्तित्व की उन्नति होती है परन्तु स्वार्थपरता नष्ट होती जाती है। समाज का यह भी उद्देश्य है कि वह व्यक्तियों में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पड़ोसी अथवा मनुष्य-मात्र को अपना भाई नहीं समझेगा तब तक उसकी स्वार्थपरता दूर नहीं हो सकती। इस भावना की जागृति समाज ही कर सकता है। स्वार्थ परित्याग पूर्ण विकास का द्योतक है। जिसने अपने आपको भूला दिया

और मानव जाति की उन्नति को अपनी उन्नति समझता है वही समाज के द्देश्य को समझ सकता है। समाज की भलाई का जिसे अधिक ध्यान है वही पनी उन्नति कर सकता है।

समाज का तीसरा उद्देश्य सेवा है। सेवा से तात्पर्य यह है कि मनुष्य औरों की लाई करे। सेवा आत्म-सन्तोष और आत्म उन्नति के लिये की जाती है। इससे नुष्य अपने अन्दर एक प्रकार की उन्नति का अनुभव करता है। एक भूखे को र पेट भोजन दे देने से भूखे की तृप्ति होती है, साथ ही भोजन देने वाले को न्तोष होता है। उसके अन्दर एक तरह की प्रसन्नता होती है। क्रमशः उसकी न्नति होने लगती है। सेवा के लिये क्षेत्र तैयार करना समाज का कर्त्तव्य है और न क्षेत्रों में जाकर अपना विकास करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। जो समाज जितने अधिक सेवक पैदा करता है वह उतना ही बड़ा समझा जाता है। संसार में उसकी तनी ही मर्यादा होती है। स्वार्थ-परित्याग से आत्म-उन्नति होती है और यही माज का उद्देश्य है। इसी को सामाजिक आदर्श कहते हैं। जिस प्रकार हम व्यक्ति र समाज के सम्बन्ध पर विचार करते हैं उसी तरह संसार के विभिन्न समाज ल-जुल कर रह सकते हैं। एक समाज दूसरे समाज की सेवा करके अपनी उन्नति र सकता है। कोई समाज पूर्ण नहीं है। जब बहुत से समाज एक दूसरे से अपना ता जोड़ते हैं तब उनमें नई-नई बातें उत्पन्न होती हैं। एक की कितनी ही बातें रे समाज में प्रवेश करती हैं। जैसे एक व्यक्ति स्वार्थ को छोड़ कर सामाजिक ा द्वारा अपना विकास करता है, उसी प्रकार समाज भी अपनी स्वार्थपरता और द को छोड़ कर अन्य समाजों की सहानुभूति और सेवा द्वारा अपनी उन्नति कर ता है। सच्ची राष्ट्रीयता वही है जो अन्य समाजों को साथ-साथ ले चले। ल एक देश की उन्नति से संसार की उन्नति सम्भव नहीं है।

अरस्तू ने सामाजिक संगठन को आवश्यक ठहराया है। वह यहाँ तक कहता है , "सामाजिक नियम और सामाजिक न्याय के बिना मनुष्य सभी जीवों से भयानक । उसकी पूर्ण उन्नति समाज में ही हो सकती है।" यदि सामाजिक व्यवस्था न हो मनुष्य जंगली जीवों से भी भयंकर सिद्ध होगा। शेर और चीते उतने भयानक न ा जितने मनुष्य। इस जंगलीपन को हटा कर शान्ति की ओर अग्रसर करना ाज का उद्देश्य है। यदि सभी व्यक्ति सेवा, त्याग और अपरिग्रह को अपना धर्म झ लें तो समाज का उद्देश्य पूरा हो जाय। इस अवस्था को लाने में अभी सदियों देर है। वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति इसके अनुकूल नहीं है। सारी उन्नति, जो आज, लाई पड़ रही है, मनुष्य को समान लाभ नहीं पहुँचा रही है। इसलिये सम्पूर्ण ान इससे सन्तुष्ट नहीं है। बड़ी-बड़ी मिलों तथा फैक्ट्रियों में मजदूरों का जीवन ी नहीं है। उनके जीवन में न तो स्वाभाविकता है और न प्रसन्नता। समाज

की उन्नति तभी हो सकती है जब कोई वर्ग दबा न रहे। जब तक छोटे-बड़े क विचार रहेगा और मनुष्य-मनुष्य से घृणा करेगा तब तक न व्यक्ति की उन्नति होगी और न समाज की। समाज में कुछ व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति में लगे रह हैं। यद्यपि उनके ऊपरी कामों से समाज को कोई लाभ नहीं दिखलाई पड़त परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो उनके आन्तरिक विचारों से समाज का गौर बढ़ता है। उनके सहवास से लोगों में शुद्धता और आचार का भाव पैदा हो है। उनका निस्पृह जीवन समाज में एक ऐसा आदर्श है जो कितनों को त्या और सेवक बनाता है। जो समाज ऐसे व्यक्तियों को पैदा करता है वह सचमु ऊँचा है।

## अध्याय ७

# राज्य के आवश्यक अंग और इसकी उत्पत्ति

## ( The essentials and origin of State )

राज्य एक परिवर्तनशील संगठन है। इसकी परिभाषा भिन्न-भिन्न की गई है।

**राज्य की परिभाषा**

साधारण तौर से किसी भी देश को, जिसमें एक राजनैतिक संगठन है राज्य कह सकते हैं। कोई देश कितना ही विस्तृत हो और उसमें अनेक सामाजिक संस्थायें भी हों, परन्तु राजनैतिक एकता नहीं है तो उसे राज्य नहीं कह सकते। राज्य के लिये चार वस्तुओं का होना आवश्यक है :—

१—जनसंख्या

२—एक निश्चित स्थान

३—सरकार या राजनैतिक संगठन

४—प्रभुता

प्रोफेसर विलोवी ने एक पाँचवीं वस्तु का होना भी आवश्यक ठहराया है। वे कहते हैं कि इन चारों के अतिरिक्त जनता के हृदय में राज्य के प्रति आज्ञापालन का भाव भी होना चाहिये। राज्य की आवश्यकता मनुष्य के स्वभाव की माँग है। मनुष्य स्वभाव से ही दूसरों को हुक्म देता है और स्वयं अपने बड़ों की आज्ञा का पालन करता है। राज्य इन दोनों की पूर्ति करता है। राज्य में बहुत से छोटे-छोटे संगठन होते हैं परन्तु वह इन सब से कई बातों में भिन्न है। इसका सदस्य होना देशवासियों के लिये अनिवार्य है। अन्य संगठनों के लिये यह आवश्यक नहीं है। किसी देश में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं रह सकता जो राज्य के नियमों की अवहेलना करने का अधिकारी हो। ऐसा करने पर वह उचित दण्ड का भागी होगा। जन्म से मनुष्य किसी-न-किसी राज्य का सदस्य होता है और मृत्यु तक उसे राजनैतिक बन्धन को निभाना पड़ता है।

गार्नर ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है:—"राज्य मनुष्यों का एक संगठन है। वे मनुष्य एक निश्चित भू-भाग पर अधिकार रखते हैं। समस्त बाह्य अधिकारों से स्वतन्त्र होते हैं। उनकी एक संगठित सरकार होती है। वे स्वाभाविक रूप से राज्य की आज्ञाओं का पालन करते हैं।" उडरो विलसन लिखता है, "राज्य एक संगठित समाज है जिसकी स्थापना एक निश्चित भू-भाग में नियम पालन के लिये की गई

है।" प्लेटो का कहना है, "राज्य व्यक्ति के मस्तिष्क का विकसित रूप है।" एक राजनीतिज्ञ ने लिखा है, "राज्य एक शक्ति है, जिससे अन्य शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं।" आदर्शवादियों के अनुसार "राज्य एक आध्यात्मिक विचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" यह एक ऐसा संगठन है जिसके द्वारा व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य निश्चित किये जाते हैं। राजकीय शक्ति नियम के अनुकूल होती है। मनुष्य राज्य के नियमों का इसलिये पालन करता है कि वह अपने वास्तविक रूप को पहचाने। ऊपर कहा गया है कि राज्य के चार आवश्यक अंग होते हैं। प्रत्येक पर थोड़ा बहुत विचार करना चाहिये।

**जनसंख्या**

१—राज्य का प्रथम आवश्यक अंग जनता है। बहुत से जंगली पशु या पक्षियाँ राज्य की स्थापना नहीं कर सकते। मनुष्यों के संगठन को ही राज्य करते हैं। यह संख्या कितनी होनी चाहिये इसका कोई परिमाण नहीं है। इतना अवश्य है कि दो चार कुटुम्ब किसी राज्य की स्थापना नहीं कर सकते। जनता का तात्पर्य एक बड़े जनसमूह से है। प्राचीन काल में यूनान देश में बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे। प्रत्येक की जनसंख्या कुछ हजारों में हुआ करती थी। उन्हीं को सामने रख कर अफलातून ने लिखा है कि एक आदर्श राज्य की जनसंख्या ५०४० होनी चाहिये। किन्तु इस निश्चित संख्या को राज्य के लिये आवश्यक मान लेना सम्भव नहीं है। वर्तमान राज्य की जनसंख्या करोड़ों की तादाद में है। इसका परिमाण राज्य की सीमा पर निर्भर है। जितना छोटा-बड़ा राज्य होगा उतना ही कम और अधिक जनसंख्या होगी। आधुनिक काल में एकीकरण की भावना बढ़ रही है। आवागमन के साधन सरलतापूर्वक उपलब्ध हैं। प्रत्येक राज्य की जनसंख्या अधिक-से-अधिक बढ़ती जा रही है। दक्षिणी आयरलैंड को छोड़कर संसार में प्रत्येक राज्य की जनसंख्या इतनी बढ़ रही है कि कितने ही देशों के सामने यह समस्या उपस्थित है कि उनके भरण-पोषण के लिये कैसे प्रयत्न किया जाँय।* भारत की जनसंख्या इस समय ३६ करोड़ से अधिक है। संसार की आबादी का पाँचवा हिस्सा इस देश में निवास करता है। १८११ ई० में इंगलैंड की जनसंख्या केवल १ करोड़ थी लेकिन बढ़ते-बढ़ते आज ५ करोड़ से भी अधिक है। इटली और जर्मनी की सरकार अपने देश की आबादी बढ़ाने के लिये प्रयत्न कर रही

* विश्व स्वास्थ्य संगठन ने हाल में ही घोषित किया है कि विगत ५० वर्षों के बीच मानव जाति में ८२ करोड़ ५७ लाख प्राणियों की वृद्धि हुई है। सन् १९०० ई० में संसार की जन संख्या १ अरब ५५ करोड़ १७ लाख थी, परन्तु १९४९ में वह बढ़ कर २ अरब ३७ करोड़ ७४ लाख हो गई है। ५२ राज्यों में केवल दक्षिण आयरलैंड की जनसंख्या घटी है।

हैं। जिसके पास अधिक सन्तान होती है राज्य में उसका सम्मान किया जाता है। आधुनिक समस्याओं का बहुत कुछ कारण यह बढ़ती हुई जनसंख्या है। इन्हीं के जीवन-निर्वाह के लिये राज्य की आवश्यकता पड़ती है। इंगलैंड, जो एक बहुत बड़ा व्यावसायिक देश गिना जाता है, अपने भरण-पोषण के लिये तीन चौथाई भोजन बाहर से मँगाता है। भारत को भी आज बाहर से भोजन सामग्री मँगानी पड़ती है।

स्थान

२—बड़ी-से-बड़ी जनसंख्या विभिन्न देशों में बिखरी हुई किसी राज्य की स्थापना नहीं कर सकती। यहूदी योरप के सारे देशों में फैले हुये हैं। चूँकि दुनियाँ के किसी भाग पर उनका अधिकार नहीं है अतः उनका कोई राज्य नहीं है। जिस प्रकार जनसंख्या के बिना एक रेगिस्तान राज्य नहीं कहला सकता उसी प्रकार किसी स्थान के बिना एक बिखरी हुई जनसंख्या राज्य नहीं स्थापित कर सकती। राबिन्सन क्रूसो की कहानी से सभी लोग परिचित हैं। यद्यपि वह एक बहुत बड़े भू-भाग का अधिकारी था फिर भी वह राज्य के अन्तर्गत नहीं आता। यदि करोड़ों व्यक्ति किसी एक बड़े जहाज पर समुद्र में निवास करने लगें तो उसे राज्य नहीं कहेंगे। १६२० ई० में 'मे फ्लावर' नामक जहाज द्वारा १०० अँग्रेजों ने इंगलैंड का परित्याग कर दिया, लेकिन हम उस जहाज को राज्य नहीं कहते। पृथ्वी के नीचे भी किसी राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। आकाश में न किसी राज्य की स्थापना हुई है और न हो सकती है। कोल और भील बड़ी संख्या में जंगलों में निवास करते हैं; फिर भी जंगल उनका राज्य नहीं माना जाता। राज्य की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि एक निश्चित भू-भाग पर वहाँ के निवासियों का अधिकार हो। इसी नियम के अनुसार १५ अगस्त १९४७ ई० तक भारत राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं समझा जाता था। स्वतन्त्रता के पश्चात् उसे यह अधिकार प्राप्त हो गया है। जब तक हिन्दू और मुसलमान एक ही राज्य के अन्तर्गत रहते थे तब तक हिन्दुस्तान नामक एक ही राज्य था। परन्तु जब से मुसलमानों के लिये पृथक स्थान की व्यवस्था की गई है तब से एक नये राज्य पाकिस्तान की स्थापना हुई है।

सरकार

३—केवल जनसंख्या और निश्चित भू-भाग से राज्य की स्थापना नहीं होती। जब तक कोई राजनैतिक संगठन नहीं है तब तक उसे राज्य नहीं कहा जा सकता है। राज्य और राजनैतिक संगठन दोनों का अटूट सम्बन्ध है। राजनैतिक संगठन के साथ राज्य की स्थापना होती है और जब यह संगठन टूट जाता है तो राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। देश में अराजकता फैल जाती है। सरकार राज्य की मशीन है। जिस प्रकार मशीन के बिना मिल का संचालन नहीं हो सकता उसी

761

तरह सरकार के बिना राज्य की व्यवस्था नहीं चल सकती। सरकार ही राज्य में कानून बनाती है, उसका पालन कराती है तथा देश में शान्ति की व्यवस्था करती है। इसी के द्वारा एक राज्य दूसरे से भिन्न समझा जाता है। यदि दो राज्यों की सरकार एक हो जाय तो वे दोनों एक ही राज्य कहलायेंगे। एक ही देश में अलग-अलग दो सरकारों की स्थापना हो जाय तो उन्हें दो राज्य कहा जायगा। भारत और पाकिस्तान इसके उदाहरण हैं।

राजनैतिक संगठन के बिना राज्य में शान्ति नहीं रह सकती। जिन लोगों ने हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े देखे हैं उन्हें सरकार की आवश्यकता भली-भाँति मालूम पड़ेगी। पुलिस और फौज का प्रबन्ध न हो तो दिन दहाड़े लूट-मार होने लगे। जिस देश की सरकार कमजोर पड़ जाती है वहाँ के निवासियों का जीवन अनिश्चित हो जाता है। देश में अशान्ति के अतिरिक्त बाह्य आक्रमणों का भय रहता है। यदि भारत में हिन्दू राज्यों की सरकार दुर्बल न हुई होती तो मुसलमानी राज्य कायम न होता, और यदि मुसलमानी राज्य में राजनैतिक संगठन कमजोर न हुआ होता तो अँग्रेजी राज्य की नींव कदापि न पड़ती। राज्य रूपी शरीर में सरकार आत्मा की तरह है। जिस प्रकार जीव के बिना शरीर एक मिट्टी का पुतला है वैसे ही सरकार के बिना राज्य मनुष्य का झुंड है। सरकार-रहित राज्य को राज्य कहना उचित नहीं है। अन्य बातों के बिना राज्य कुछ समय तक जीवित रह सकता है, परन्तु सरकार के बिना उसकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। सरकार का रूप समय-समय पर बदलता है। इसका परिवर्तन बहुत कुछ जनता की इच्छानुसार होता है।

४—सरकार के अतिरिक्त राज्य में एकता का होना आवश्यक है। इस एकता से तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जनता, जो किसी निश्चित भू-भाग में रहती है, एक ही राजनैतिक शक्ति में विश्वास करे। यदि कोई देश किसी विदेशी सरकार के अन्तर्गत है तो वह राज्य नहीं कहला सकता। जिस देश की सरकार पूर्ण स्वतन्त्र है और उसमें निवास करने वाली जनता कानूनों का पूरी तरह पालन करती है वही देश राज्य कहलाने का अधिकारी है। प्रभुता के कई चिह्न और अनेक गुण हैं। प्रभुता राज्य की सर्वप्रधान राजनैतिक शक्ति है। यह शक्ति अनन्त और अविच्छिन्न है। इसकी आज्ञा देशवासियों के लिये अनिवार्य है। राज्य के अन्तर्गत जितनी भी संस्थायें हैं उन सब को प्रभुता का अनुशासन मानना पड़ता है। फ्रांस का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बोदाँ लिखता है—"प्रभुता की आज्ञा सब के लिये अनिवार्य है परन्तु वह किसी की आज्ञापालन के लिये बाध्य नहीं है।" प्रभुता के टुकड़े नहीं किये जा सकते और न यह दो व्यक्तियों में बाँटी जा सकती है। ब्रिटिश साम्राज्य की प्रभुता पार्लिया-

**प्रभुता**

मेंट के हाथ में थी। अतएव ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत कोई देश स्वतन्त्र राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं था। कुछ राजनीतिज्ञ प्रभुता को जनता की वस्तु ठहराते हैं। परन्तु जिन देशों में शासन की बागडोर थोड़े से लोगों के हाथ में है वहाँ की प्रभुता प्रजा के हाथ से बाहर है। अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रजा को उनके हुक्म का पालन करना पड़ता है। बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार से प्रभुता को स्वतन्त्र होना चाहिये।

**आज्ञा पालन का भाव**

५—सब कुछ होते हुए यदि किसी राज्य की जनता सरकार के विरुद्ध है तो वह स्थायी नहीं रह सकता। यह सम्भव हो सकता है कि वहाँ के सभी निवासी किसी दूसरे राज्य में चले जायँ। इससे राज्य का चिह्न भी नहीं रह जायगा। १८३६ ई० में बेल्जियम और हालैंड दोनों अलग-अलग हो गये। दोनों की भाषा, संस्कृति और धर्म एक दूसरे से भिन्न थे। प्रजा की इच्छा के अनुसार एक ही राज्य दो राज्यों में विभक्त कर दिया गया। प्रजा एक प्रभुता की आज्ञाओं का पालन नहीं करना चाहती थी। स्पेन और पुर्तगाल भी इसी सिद्धान्त के अनुसार अलग किये गये हैं। १९०५ ई० में नार्वे और स्वीडेन दोनों देशों की जनसंख्या ने अलग-अलग प्रभुता स्थापित कर ली। १९१९ ई० में योरप के मध्यभाग में बहुत से नये राज्यों की स्थापना हुई। १९१४ की लड़ाई के बाद वहाँ की जनता अलग-अलग अपना राज्य स्थापित करना चाहती थी। पोलैंड, आस्ट्रिया, हँगरी, रोमानिया, बल्गारिया, जेकोस्लोवेकिया, जूगोस्लाविया आदि नये नये राज्य उनमें रहने वाले निवासियों की इच्छा के परिणाम हैं। राज्य की स्थापना के लिये और उसे स्थायी रखने के लिये प्रजा में आज्ञापालन का भाव आवश्यक है। देश की प्रजा संगठित होकर राज्य की सम्पूर्ण योजना को बदल सकती है। इसी आज्ञापालन को कायम रखने के लिये सरकार प्रजा से अधिक से अधिक सहयोग रखती है। प्रजातन्त्र की स्थापना इसी इच्छा का परिणाम है। प्रजा की यह इच्छा रहती है कि शासन में अधिक से अधिक उसका हाथ हो, तभी वह राजाज्ञाओं का पालन कर सकती है। जिस देश में प्रजा का राज्य है वहाँ की जनता प्रसन्नतापूर्वक नियमों का पालन करती है। जर्मनी में, जहाँ नाजीवाद की स्थापना हुई थी, शासन प्रबन्ध में प्रजा का विशेष हाथ नहीं था। इस प्रकार की तानाशाही सरकार को आधुनिक युग मान्यता नहीं देता। इसमें जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है।

**क्या भारत एक राज्य है?**

राज्य के सम्पूर्ण अंगों का विवेचन ऊपर किया गया है। इन्हें ध्यान में रखते हुए क्या भारत को एक राज्य कह सकते हैं? यहाँ की जनसंख्या ३६ करोड़ के लगभग है। काश्मीर से कुमारी तक और आसाम से गुजरात तक एक बहुत बड़े भूभाग में यह

फैला हुआ है। यहाँ एक सरकार भी रही है। इतना होते हुए भी दो कारणों भारत को अब तक राज्य नहीं कह सकते थे:—

१—इस देश में स्वतंत्र प्रभुता का अभाव रहा है। भारत-सरकार ब्रिटि पार्लियामेन्ट की आज्ञाओं का पालन करने के लिये बाध्य रही है। जनता अनुमति के विरुद्ध पार्लियामेन्ट किसी भी नियम को लागू कर सकती थी। कांग्रे के असहयोग आन्दोलन के समय बड़े लार्ड के जो फरमान निकलते रहे हैं वे प्र की इच्छा के प्रतिकूल होते थे। यदि यहाँ की सरकार स्वतन्त्र होती तो प्रजा अनुमति का उल्लंघन न करती। भारतीय कानून पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत वि जाते थे। इसलिये यह देश गुलाम कहा जाता था और कोई गुलाम देश स्वत राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। १५ अगस्त ११४७ ई० से भारत अप स्वतन्त्र प्रभुता रखता है और राज्य कहलाने का पूर्ण अधिकारी है।

२—राज्य की स्थापना और इसे स्थायी बनाने के लिये यह आवश्यक है प्रजा सहर्ष प्रभुता को स्वीकार करे। यदि उसकी इच्छा उस राज्य के विरुद्ध है उसे क्षणभंगुर राज्य कहते हैं। भारत की जनता विदेशी राज्य के विरुद्ध रही है उसकी इच्छा अपने देश को स्वतन्त्र कर स्वयं राज्य करने की थी। कांग्रेस इस दे की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था है। वह अँग्रेजी सरकार का सभी प्रकार से अप देश में विरोध करती रही है। ब्रिटिश उपनिवेश स्वतन्त्र राज्य नहीं हैं। कना आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैंड तथा आयरलैंड स्वतन्त्र राज्य नहीं गि जा सकते। यद्यपि इस विषय में राजनीतिज्ञों में बड़ा मतभेद है फिर भी अधि संख्या इन्हें स्वतन्त्र राज्य कहने के विपक्ष में है। इस विषय के अधिकारी कहला वाले ( authority ) ए० बी० कीथ इन्हें स्वतन्त्र राज्य मानते हैं।

**राज्य की उत्पत्ति**

मनुष्य के सामाजिक जीवन के साथ राज्य की उत्पत्ति हुई। राज्य उतना पुराना है जितना समाज। इसकी उत्पत्ति के बहुत से सिद्धा प्रतिपादित किये गये हैं। सब में सच्चाई का थोड़ा-बहु अंश अवश्य है, किन्तु कोई सिद्धान्त ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ण तया सत्य नहीं माना जाता। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :-

( १ ) दैवी सिद्धान्त
( २ ) आर्थिक सिद्धान्त
( ३ ) शक्ति सिद्धान्त
( ४ ) इकरार सिद्धान्त
( ५ ) ऐतिहासिक या विकास सिद्धान्त

ये सिद्धान्त बिल्कुल झूठे नहीं हैं। इन सब से राज्य की उत्पत्ति पर थोड़ प्रकाश पड़ता है। प्रत्येक सिद्धान्तवादी ने अपने ही सिद्धान्त को ठीक मान क

औरों को झूठा बतलाया है। इन पर अलग अलग विचार किया गया है और पाठकगण स्वयं विचार करें कि किस सिद्धान्त में कितनी सच्चाई है।

**दैवी सिद्धान्त**

१—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की स्थापना ईश्वर ने की है। कुछ तो यह कहते हैं कि स्वयं अवतार लेकर भगवान् ने इसकी रचना की है। दूसरे लोग जो इसी सिद्धान्त के मानने वाले हैं यह कहते हैं कि ईश्वर ने किसी पुरुष और स्त्री को इस संसार में भेजकर राज्य की स्थापना कराई। यहूदियों के अनुसार ईश्वर ने स्वयं आकर राज्य की स्थापना की और कई वर्ष तक यहूदी प्रजा पर राज्य किया। उसी की इच्छानुसार कोई राजा बनाया गया और राज्य का संचालन होता रहा। मिस्र तथा चीन में राज्य की उत्पत्ति के विषय में यही सिद्धान्त सच ठहराया गया है। आज भी जापानी अपने सम्राट् को किसी देवता से कम नहीं समझते। भारत में अधिकतर हिन्दू रामचन्द्र को केवल अयोध्या का राजा नहीं बल्कि उन्हें ईश्वर का अवतार समझते हैं। हिन्दू धर्मशास्त्रों में ब्रह्मा को इस सृष्टि का कर्ता माना गया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि ठहराया गया है।

बालोपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवताह्येषा नर रूपेण तिष्ठति॥

अर्थात् यदि राजा बालक भी है तब भी प्रजा को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये क्योंकि वह मनुष्य के रूप में देवता है। यूनान तथा रोम में भी राज्य की उत्पत्ति देवता से मानी गई है। यूनानियों का यह विश्वास था कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के स्वभाव से हुई है। यह स्वभाव ईश्वर प्रदत्त है। इसीलिये यूनानी देवताओं में अधिक विश्वास करते थे। रोम निवासी इसी सिद्धान्त में विश्वास करते थे। ईसाई धर्म के अनुसार राज्य की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है। मध्य युग के लगभग सभी राजनीतिज्ञ दार्शनिकों ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि स्वीकार किया है। इसीलिये पोप को राजा ठहराया गया था। आगस्टाइन और ग्रेगरी इस सिद्धान्त के लिये प्रसिद्ध हैं। उनका कहना था कि प्रभुता, कानून तथा शान्ति सभी ईश्वर प्रदत्त हैं। ईसाई धर्म के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के पतन के कारण मानी गई है। "एक समय मनुष्य स्वर्ग में निवास करता था। उसकी आत्मा पवित्र थी। ईश्वर उसकी देख-भाल करता था। किसी कारणवश उसकी आत्मा दूषित हो गई। इसलिये ईश्वर ने संसार में उसके लिये राज्य की उत्पत्ति की और अपना एक प्रतिनिधि उनकी देख रेख के लिये भेज दिया।"

मुसलमान धर्म भी राज्य के संगठनों में ईश्वर के हाथ को मानता है। हर वस्तु प्रकृति ने पैदा की है और ईश्वर उसकी देख-रेख करता है। प्राचीन काल में जब कि धर्म के प्रति लोगों की प्रगाढ़ श्रद्धा थी यह सिद्धान्त

ठीक माना जाता था। ऐतिहासिक उन्नति के साथ नये-नये सिद्धान्तों की खोज हुई। दैवी सिद्धान्त एक कहानी मात्र रह गया। वैज्ञानिक युग के आरम्भ होते ही धर्म की ओर से लोग उदासीन होने लगे। विश्वास का स्थान तर्क ने ले लिया। अन्ध विश्वास ढोंग ठहराया गया। ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति हो रही है धर्म की प्रभुता का ह्रास होता जा रहा है। रूस में धर्म को अफीम माना गया है। यह बात असत्य ठहराई जा रही है कि राज्य की उत्पत्ति किसी देवता या ईश्वर ने की है। इस सिद्धान्त को लगभग सभी देशों ने अस्वीकार किया है।

**आर्थिक सिद्धान्त**

२—राज्य की उत्पत्ति का दूसरा सिद्धान्त आर्थिक है। अफलातून ने धन को राज्य की उत्पत्ति का कारण ठहराया है। यह यूनान देश का बहुत बड़ा दार्शनिक था। इसका दर्शन शास्त्र भारतीय दर्शन शास्त्रों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। दार्शनिक के अतिरिक्त यह एक बहुत बड़ा आदर्शवादी था। अपनी 'रिपब्लिक' ( Republic ) नामक पुस्तक में एक आदर्श-राज्य की उसने कल्पना की है। राज्य की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए वह लिखता है "मेरा अनुमान है कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर हुई है। मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त हैं। उनकी पूर्ति वह अकेले नहीं कर सकता। इसी से विवश होकर उसे समाज की शरण लेनी पड़ी। यही समाज बढ़ते-बढ़ते राज्य के रूप में परिणत हुआ।" अफलातून का विश्वास था कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण समाज की उत्पत्ति हुई है। समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए नियम की आवश्यकता पड़ी। नियम की देख-रेख के लिये सरकार की उत्पत्ति हुई है। कार्य की सुविधा की दृष्टि से काम का विभाजन किया गया। उसके इस सिद्धान्त से अन्य राजनीतिज्ञों ने भी सहायता ली है। स्वयं अरस्तू ने अपनी राजनीति* नामक पुस्तक में गरीबी, क्रान्ति, तथा अपराध का साथ-साथ वर्णन किया है। इटली का प्रसिद्ध दार्शनिक मेक्यावली ( Machiavelli ) धन को मनुष्य की सबसे प्यारी वस्तु समझता है। अपनी 'बादशाह' ( Prince ) नामक पुस्तक में राजा को उपदेश करते समय उसने बार-बार चेतावनी दी है कि राजा किसी व्यक्ति की संपत्ति न छीने, क्योंकि प्रजा को माता-पिता की मृत्यु भूल सकती है, परन्तु अपनी सम्पत्ति का अपहरण उसके हृदय से नहीं निकलता। फ्रेन्च दार्शनिक बोदाँ ( Bodin ) ने इसी प्रकार की चेतावनी दी है। वह लिखता है—"राजा को प्रजा का धन अपहरण करने का कोई अधिकार नहीं है।"† इंगलैंड का दार्शनिक, 'लाक' ( Locke ) कहता है कि राज्य की उत्पत्ति

---

* Politics of Aristotle.

† The sovereign should not forcibly seize away the property f his subjects.

धन की रक्षा के लिये हुई है।* समाजवाद का जन्मदाता कार्लमार्क्स (Karl Marx) धन को राज्य का प्राण समझता है।

**शक्ति-सिद्धान्त**

३—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, शक्ति सिद्धान्त का तात्पर्य शारीरिक शक्ति से है। युद्ध मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। टाल्सटाय ने अपनी "युद्ध और शान्ति" (War and Peace) नामक ग्रन्थ में यह भली-भाँति दिखलाया है कि युद्ध से मनुष्य उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। यह युद्ध दो प्रकार का है। एक तो मनुष्य के मस्तिष्क में होता है और दूसरा बाह्य जगत में। युद्ध हमारी गुलामी और आजादी को निश्चित करता है। शक्ति-सिद्धान्त का आशय इसी बाह्य युद्ध से है। इसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति शारीरिक शक्ति द्वारा हुई है। अर्थात् किसी बलवान पुरुष ने बहुत से दुर्बल व्यक्तियों पर अपना अधिकार जमा कर राज्य की स्थापना की। गम्पलोविज (Gumplowicz) पहला राजनीतिज्ञ है जिसने "जाति-युद्ध"† नामक पुस्तक में पहले-पहल इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके पश्चात् आस्ट्रिया, इंगलैंड और जर्मनी में जिङ्गस तथा वार्ड ने इस पर और भी प्रकाश डाला। इन सबने यह सिद्ध किया है कि आरम्भ से ही छोटे-छोटे गिरोहों में सम्पत्ति के लिये युद्ध होता रहा है। जो सबसे शक्तिशाली होता वही गिरोह सब पर शासन करता था। बली गिरोह शासक हुआ, दुर्बल उसकी प्रजा हुई और यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई। जर्मन दार्शनिक ओपेनहेम (Oppenheimer) का विचार है कि प्राचीन काल में राज्य की उत्पत्ति शेर और भेड़िये के युद्ध की भाँति हुई थी। फेरो नामक राज-नीतिज्ञ लिखता है, "जिस प्रकार लुटेरों के झुंड किसी की सम्पत्ति को लूट लिया करते हैं उसी तरह थोड़े से बलवान व्यक्ति अपनी शक्ति द्वारा बहुत से मनुष्यों पर राज्य करने लगे। उन्हीं के हुक्म कानून कहलाये।"

आरम्भ में पृथ्वी जंगल से ढकी हुई थी। झुंड-के-झुंड मनुष्य इनमें घूम-घूम कर जंगली जानवरों का शिकार करते और इसी से अपना पेट भरते थे। जब जंगली जानवरों की संख्या कम होने लगी और जनसंख्या बढ़ने लगी तो उनके लिये यह आवश्यक था कि वे जानवरों को पालें तथा जंगलों को साफ कर खेती करें। जिस गिरोह में अधिक व्यक्ति थे उसने जंगल के बहुत बड़े हिस्से पर अपना अधिकार जमा लिया और शेष गिरोहों को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई। इससे यह तात्पर्य नहीं है कि यह कार्य कुछ ही वर्षों में समाप्त हो गया। सदियों तक यह युद्ध चलता रहा। कभी एक गिरोह की विजय होती तो कभी किसी और की। दो गिरोहों में सीमा के लिये भी संघर्ष होता था। गिरोह में पद के लिये

---

* Civil society was meant for the preservation of property.

† Race-Struggle.

लड़ाइयाँ होती थीं। अन्त में जो सब से बली था वह राजा बना और उसके सहायक राज्य के कर्मचारी बने। विरोधी दल को विवश होकर प्रजा बनना पड़ा। प्रजा को राजा की आज्ञा पर चलना पड़ता था। आरम्भ में इस आज्ञा पालन के लिये कड़ी यातनायें दी जाती थीं। समय के प्रवाह में मनुष्य आज्ञा-पालन का आदी हो गया और प्रभुता को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

आज भी शक्ति का महत्व कम नहीं है। एक राज्य दूसरे के ऊपर तलवार और बन्दूक की सहायता से अपना अधिकार जमाता है। १९३५ में इटली ने अबीसीनिया पर अपना अधिकार जमा लिया। यदि इटली के पास अबीसीनिया से अधिक शक्ति न होती तो वह उस पर अपना अधिकार कैसे जमाता? जापान वर्षों से चीन को हड़पना चाहता था। यदि चीन के पास काफी शक्ति होती तो वह जापान को अपनी भूमि पर लड़ाई न लड़ने देता। संसार में एक विश्वव्यापी युद्ध हुआ। प्रत्येक दल अपनी विजय का प्रयत्न करता रहा। जिसकी शक्ति अधिक रही वह अन्त में सफल हुआ। कितने ही कमजोर राष्ट्रों का अस्तित्व इस लड़ाई में जाता रहा।

शक्ति के ह्रास के कारण देश अपनी प्रभुता को खो बैठता है। जिसकी शक्ति अधिक है वह दूसरे राज्यों पर अपना अधिकार जमा लेता है। जर्मनी की लड़ाई के पहले जो संसार के पाँच बड़े साम्राज्य थे वे इसी शक्ति के फल-स्वरूप स्थापित किये गये थे। बड़ी लड़ाई ने चार साम्राज्यों को चकनाचूर कर दिया। केवल बृटिश साम्राज्य बच गया। यदि बृटिश साम्राज्य के पास जीवित रहने की शक्ति न होती तो वह भी अन्य साम्राज्यों की भाँति छिन्न-भिन्न हो गया होता। रोम साम्राज्य, जो पृथ्वी पर सबसे बड़ा साम्राज्य माना जाता है, शक्ति द्वारा जीवित था। यदि नेपोलियन बोनापार्ट की तरह वीर उत्पन्न न होता तो रोम साम्राज्य का अन्त न हुआ होता। इन उदाहरणों से तात्पर्य यह है कि राज्य की स्थापना में शक्ति एक बहुत बड़ी चीज है। इसीलिये शक्ति सिद्धान्त एक झूठी कल्पना नहीं है। आज भी यदि कोई शक्तिशाली व्यक्ति जन्म ले ले तो वह संसार में एकतन्त्र राज्य स्थापित कर सकता है। सिकन्दर महान् ने जो साम्राज्य स्थापित किया वह उसकी निजी शक्ति का परिणाम था।

**इकरार सिद्धान्त**
**Social Contract Theory**

४—उपर्युक्त सिद्धान्तों में सत्य का थोड़ा अंश मौजूद है। इतिहास में इनका वर्णन प्रायः आता है। तर्क की दृष्टि से भी उनमें वास्तविकता का अंश कम नहीं है। आज भी एक बहुत बड़ा वर्ग धर्म का पक्षपाती है। शक्ति की मर्यादा अब भी दृढ़ है। आर्थिक युद्ध किसी-न-किसी रूप में आज भी चल रहा है। परन्तु इकरार सिद्धान्त एक काल्पनिक चीज है। इतिहास इसका समर्थन नहीं करता। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्राचीन इतिहास को

अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखते हैं। इसीलिये इसमें सत्य का अंश कम है। इसके मानने वाले मुख्य तीन दार्शनिक हैं :—हाब्स, लाक, तथा रूसो।* इनके सिद्धान्तों पर अलग-अलग विचार किया गया है।

इकरार सिद्धान्त के तीन अंग हैं।

( १ ) स्वाभाविक युग ( २ ) इकरार ( ३ ) सामाजिक संगठन

**इकरार सिद्धान्त के अंग**

इन्हीं तीन अंगों पर इस सिद्धान्त का आधार है। ये तीनों अंग राज्य की उत्पत्ति के तीन युग माने गये हैं। स्वाभाविक युग इनमें सर्व प्रथम आता है। इसे पूर्व ऐतिहासिक काल कहा गया है। इसमें मनुष्य पूर्णतया प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। प्राकृतिक नियम ही कानून समझे जाते थे। इसके बाद दूसरा युग इकरार का आरम्भ होता है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को कुछ कठिनाइयाँ थीं। इन्हीं को दूर करने के लिये सर्व सम्मति से इकरार किया गया कि कोई सामाजिक व्यवस्था बनाई जाय। इसके पश्चात् मनुष्य एक तीसरे युग में प्रवेश करता है। उसे सामाजिक संगठन का युग कहते हैं। प्राकृतिक जीवन के पश्चात् संगठित सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ। इसी युग में राजनैतिक व्यवस्था का निर्माण और व्यक्ति को अपने अधिकार और कर्त्तव्य का ज्ञान हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से इकरार सिद्धान्त कोई नई चीज नहीं है। अफलातून के पहले सूफी लोग इस सिद्धान्त में विश्वास करते थे। सुकरात का कहना था कि कानून तोड़ने का अधिकार किसी को इसलिये नहीं है कि उसने उनके पालन करने का इकरार किया है। यूनान तथा रोम के अन्य दार्शनिक इकरार सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते। अरस्तू इसका कट्टर विरोधी था। रोम के नीतिज्ञ किसी-न-किसी रूप में स्वाभाविक नियम ( Natural Law ) में विश्वास करते थे। मध्यकाल में इकरार की भावना काफी अंश में पाई जाती है। फ्यूडल प्रथा से यह बात स्पष्ट है कि इकरार से समाज का संगठन हो सकता है। इसके पश्चात् हाब्स, लाक और रूसो ने १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी में वैज्ञानिक ढंग से इकरार सिद्धान्त का समर्थन किया।

**हाब्स का इकरार सिद्धान्त**

१—१७ वीं शताब्दी के मध्यकाल में अपनी 'लेवियाथन' ( Leviathan ) नामक पुस्तक में 'हाब्स' ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वह चार्ल्स प्रथम का सामयिक था। उसके सामने ही पार्लियामेन्ट तथा चार्ल्स प्रथम का युद्ध हुआ था। युद्ध की भीषणता का भयानक चित्र उसके दिमाग में भली-

* Hobbes, Locke and Rousseau.

भाँति चिन्तित था। हाब्स स्वभाव से कायर और लड़ाई-झगड़े से घृणा करता था। वह शान्ति का पुजारी था। मिल्टन की तरह उसे अपने प्राण का बड़ा लोभ था। चार्ल्स प्रथम का समर्थक होने के नाते उसका यह विश्वास था कि जब राजा सर्वशक्तिमान होगा तो लड़ाई-झगड़े अपने आप समाप्त हो जायँगे। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुये उसके हृदय में इकरार सिद्धान्त की भावना जागृत हुई। जब हाब्स ने देखा कि उसके राजतन्त्र का कोई समर्थन नहीं कर सकता तो उसने इतिहास के एक युग की कल्पना की और इसका नाम प्राकृतिक युग रक्खा।

हाब्स का कहना है कि मनुष्य की उत्पत्ति प्राकृतिक युग में हुई। मनुष्य स्वभाव से समान है। यदि एक में शारीरिक शक्ति है तो दूसरे में बुद्धि अधिक है। समानता की यह भावना मनुष्य को युद्ध की ओर अग्रसर करती है। वह एक दूसरे की वृद्धि से ईर्ष्या करता है। यही कारण है कि प्राकृतिक युग में वह आपस में लड़ता रहा। युद्ध का एक कारण और भी है। हाब्स मनुष्य के मस्तिष्क को बुराइयों का घर बतलाता है। इनसे प्रेरित होकर वह कभी शान्त नहीं रह सकता। स्वाभाविक युग लड़ाइयों का एक युग था। मनुष्यों में कोई संगठन न था। वह एक दूसरे को अपना शत्रु समझता था। उसका जीवन जंगली था। उसके पास न कोई घर था, न व्यवसाय, न हथियार, न बुद्धि और न उसे समय बिताने का ढंग मालूम था। उसे किसी कला का भी ज्ञान न था। वह एक मात्र जंगली और मूर्ख था। प्रतिक्षण उसे भय और मृत्यु के बन्धन में रहना पड़ता था। उसका जीवन सभी प्रकार से दुखी और घृणित था।* जिसकी लाठी उसकी भैंस का जमाना था। प्राकृतिक नियम ही कानून थे। उसे यह ज्ञान नहीं था कि बुरे और भले में क्या भेद है या किसे न्याय और अन्याय कहते हैं।

हाब्स लिखता है कि उन्नीस प्राकृतिक नियमों का मनुष्य पालन करता था। प्रश्न यह है कि मनुष्य के विचार में कौन सी बात आई जिसने उसे समाज संगठन की ओर आकर्षित किया। उसका कहना है कि चार कारणों से वह सामाजिक संगठन की ओर झुका :—

( १ ) स्वाभाविक जीवन में उसे प्रतिक्षण मृत्यु का भय रहता था। सामाजिक जीवन में उसे यह भय नहीं था।

( २ ) स्वाभाविक जीवन में मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती थी। यद्यपि उसकी आवश्यकतायें थोड़ी थीं फिर भी उनकी पूर्ति नहीं होती थी। इन्हीं की पूर्ति के लिये वह सामाजिक संगठन का इच्छुक हुआ।

( ३ ) स्वाभाविक जीवन में मनुष्य को अपने परिश्रम का उचित फल

---

*The life of man was solitary, poor, nasty, brutish and short.

नहीं मिलता था। उसकी शक्ति के प्रयोग के लिये कोई स्वतंत्र और सुरक्षित क्षेत्र नहीं था। अपने परिश्रम से पूरा लाभ उठाने की आशा से उसे एक समाज बनाने की इच्छा हुई।

(४) स्वाभाविक जीवन में मनुष्य अशान्तिमय जीवन व्यतीत करता था। मनुष्यों के अतिरिक्त जंगली जानवरों का उसे भय रहता था। ऐसे नियम न थे जिनसे वह एक दूसरे की स्वतंत्रता का ध्यान रखता। अशान्ति को दूर कर शान्ति की स्थापना के विचार से उसे नियम बनाने की आवश्यकता पड़ी। बिना सामाजिक संगठन के ये नियम लागू नहीं हो सकते थे। इसीलिये उसे एक समाज-रचना की आवश्यकता पड़ी।

सारांश यह है कि अपने जीवन की रक्षा तथा शान्ति के निमित्त मनुष्य को समाज-संगठन की आवश्यकता हुई। परन्तु यह संगठन तब तक सम्भव नहीं था जब तक प्राकृतिक नियमों के स्थान पर लोग सामाजिक नियमों का पालन न करते। एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता थी जो सभी व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँधे। इस शक्ति को लाने के लिये सबने आपस में इकरार किया। प्रत्येक मनुष्य ने एक व्यक्ति अथवा एक समूह को अपना सारा अधिकार समर्पित कर दिया। इकरार के वाक्य हाब्स के शब्दों में इस प्रकार हैं।* इस इकरार से एक सामाजिक संगठन का निर्माण हुआ। इसी से एक राजनैतिक संगठन बना। यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई। एक व्यक्ति अथवा कोई व्यक्ति समूह राजा हुआ। सारी राजनैतिक शक्ति उसके हाथ में दे दी गई। सब लोगों ने प्रसन्नता-पूर्वक उसकी आज्ञाओं का पालन करना आरम्भ किया।

**लाक का इकरार सिद्धान्त**

२—इकरार सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने अपने काल का इतिहास वर्णन किया है। उनके कथन में राजनैतिक आभास कम है। लाक का जन्म उस समय हुआ जब इंगलैंड में एक महान क्रान्ति हो चुकी थी। वहाँ का शासन स्टुअर्ट वंश से निकल कर विलियम और मेरी के हाथ में चला गया था। राज के अत्याचार से लोग घबड़ा गये थे। प्रजातन्त्र राज्य की स्थापना के लिये वे उत्सुक थे। वे राजा की शक्ति को कम कर पार्लियामेंट का शासन चाहते थे। इसीलिये जेम्स द्वितीय को निकाल कर हालैंड से विलियम और मेरी को बुलाया गया था। लाक का इकरार सिद्धान्त इसी परिस्थिति का समर्थन करता है। इस ऐतिहासिक घटना को छोड़ कर

---

* I Authorise and give up my right of governing myself to this man or assembly of men on this condition that thou give up thy right to him or to this assembly of men and authorise his or its actions in like manner.

उसके सिद्धान्त में कोई और तथ्य नहीं है। हाब्स के सिद्धान्त से वह सहमत नहीं है।

लाक ने अपना सिद्धान्त 'शासन की विवेचना' * नामक पुस्तक में वर्णन किया है। वह लिखता है कि आरम्भ में मनुष्य जंगलों में रहता था। उसका न कोई संगठन था और न समाज। जानवरों की तरह वह इधर उधर घूमता और जंगली जीवों को मार कर अपना पेट भरता था। परन्तु लाक इस जंगली जीवन की बड़ी सराहना करता है। वह लिखता है कि प्राकृतिक जीवन में व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र था। उसके कार्य में किसी तरह की रुकावट नहीं थी। वह अपनी सम्पत्ति का जैसे चाहे भोग कर सकता था। वह किसी प्रकार से औरों का दास नहीं था। थोड़े से स्वाभाविक नियमों को उसे मानना पड़ता था। स्वाभाविक जीवन की दूसरी विशेषता समानता थी। प्राणीमात्र में किसी प्रकार की विषमता न थी। सभी मनुष्य बराबर थे। धनी, गरीब, विद्वान्, मूर्ख इस प्रकार के भेद-भाव न थे। तात्पर्य यह है कि लाक के कथनानुसार प्राकृतिक जीवन में पूर्ण शान्ति थी और लोग एक दूसरे के सहायक थे। साथ ही उनके अन्दर औरों के प्रति सद्भाव था। इस प्रकार 'लाक' का सिद्धान्त 'हाब्स' से सर्वथा विरुद्ध है। 'हाब्स' का प्राकृतिक जीवन घृणित और लड़ाइयों से परिपूर्ण है। इसके विपरीत 'लाक' का प्राकृतिक जीवन स्वर्ग की बराबरी करता है।

जब प्राकृतिक जीवन में इतनी सुविधायें थीं तो सामाजिक जीवन की क्या आवश्यकता पड़ी। 'लाक' लिखता है कि मनुष्य को कुछ असुविधायें थीं। यदि किसी प्रकार की आपस में शत्रुता हो जाती तो उसका फैसला करने वाला कोई न था। उन्हें एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता थी जो व्यक्ति को अपने अधिकार और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराती। यदि कोई इनका उल्लंघन करता तो वह शक्ति उसे उचित दण्ड देती। प्राकृतिक जीवन में एक और असुविधा थी। लोगों का जीवन स्थायी नहीं था। किसी की सम्पत्ति सुरक्षित न थी। जब कोई अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करता तो उसे ठीक मार्ग पर लाने का कोई रास्ता न था। इसलिये दो प्रकार के इकरार किये गये। पहले इकरार से एक सामाजिक संगठन† की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् सबने मिल कर एक दूसरा संगठन और बनाया जिसे राजनैतिक संगठन‡ कहते हैं। पहले इकरार से समाज की रचना हुई और दूसरे से सरकार की।

---

*Treatises on Civil Government.

† Communal contract.

‡ Governmental contract.

३—१७६२ ई० में 'रूसो' ने सामाजिक इकरार* नामक पुस्तक की रचना की। यह फ्रांस का रहने वाला था। उसके सामने फ्रांस की दशा बड़ी ही शोचनीय थी। वहाँ के राजा का जीवन घृणित था। थोड़े से अमीर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे, परन्तु साधारण जनता गरीबी से व्याकुल थी। उसके ऊपर इतने टैक्स लगाये गये थे कि उनके बोझ से वह दबी हुई थी। बड़ी निर्दयता के साथ उनसे बेगार ली जाती थी। राजनैतिक और सामाजिक दोनों बन्धनों में जनता इतनी बँधी हुई थी कि वह रात-दिन अपने उद्धार की चिन्ता कर रही थी। इसी समय रूसो ने अपना विचार प्रकट किया। उसके सामने यही प्रश्न न था कि प्रजा को स्वतन्त्रता कैसे मिले, तथा शासक की निरंकुशता से उसे किस प्रकार बचाया जाय, बल्कि उसे यह भी चिन्ता थी कि किस प्रकार की प्रभुता से प्रजा का शासन होना चाहिये। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसने अपना इकरार सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जो 'हाब्स' और 'लाक' दोनों से भिन्न है। आरम्भ में ही वह लिखता है 'मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है, परन्तु चारों ओर बन्धनों ने जकड़ा हुआ है।'† उस समय यूरोपीय समाज में धार्मिक बन्धन इतना अधिक था, और विचार इतने सङ्कीर्ण थे कि इसी के लिखने पर रूसो को देश से बाहर निकाल दिया गया और जनेवा तथा पेरिस शहर में उसकी पुस्तकें खोज-खोज कर जलाई गईं।

रूसो का इकरार सिद्धान्त

'रूसो' ने भी एक प्राकृतिक जीवन की कल्पना की है। वह लिखता है कि प्राकृतिक जीवन में मनुष्य पूर्ण रूप से स्वस्थ और प्रसन्न था। वह भली-भाँति सन्तुष्ट था और जंगलों में घूम कर अपना जीवन व्यतीत करता था। पेड़ के नीचे वह शयन करता था। उसका शरीर मजबूत, सुन्दर और सुडौल था। उसे कभी किसी उपचार की आवश्यकता नहीं थी। जब से उसने समाज में प्रवेश किया तब से उसकी कमजोरियाँ बढ़ती गईं। स्वास्थ्य में वह अवनति करने लगा। स्वाभाविक जीवन में उसकी आवश्यकतायें बहुत थोड़ी थीं। ज्ञान के अभाव के कारण उसके अन्दर किसी प्रकार की परेशानी न थी। न तो उसके पास घर था, न झोंपड़ी और न सम्पत्ति। स्त्री-पुरुष में आजकल की तरह विवाह आदि की प्रथा न थी। लोग एक दूसरे की बोली भी नहीं समझते थे। एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध न था। किसी को भलाई-बुराई, नेकी-बदी आदि का कुछ भी ज्ञान न था। हर एक अपने को स्वतन्त्र समझता था। शरीर तथा मन दोनों से स्वस्थ रहते हुए वह सभी बुराइयों से सर्वथा रहित था। हम और तुम का भाव उसके अन्दर बिलकुल न था। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का जीवन अत्यन्त सरल और सुखमय था।

* Social Contract.

† Man is born free, and he is everywhere in chains.

इसी प्राकृतिक जीवन में मनुष्य को सम्पत्ति की लालसा हुई। आपस के सहयोग से उसके अन्दर ज्ञान की वृद्धि हुई। ज्ञान के कारण उसकी आवश्यकतायें बढ़ीं। यहीं से व्यक्तिगत सम्पत्ति का श्रीगणेश हुआ और समाज में विषमता की नीव पड़ी। आरम्भ में किसी ने थोड़ी सी भूमि अपने अधिकार में कर ली और वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति कहलाई।*

रूसो लिखता है कि प्राकृतिक जीवन की यह अन्तिम अवस्था थी। अपना तथा पराये का प्रश्न उठते ही स्वर्गीय जीवन का अन्त हो गया। तरह-तरह की कठिनाइयाँ आने लगीं। जङ्गल के टुकड़े-टुकड़े आपस में बाँटे जाने लगे। एक दूसरे में छीना-झपटी आरम्भ हुई। पत्थर तथा लकड़ी के तरह तरह के हथियार प्रयोग में लाये जाने लगे। छोटे-छोटे घर भी बनने लगे। जन-संख्या की वृद्धि हुई। विलासी जीवन की नींव पड़ी। लोगों को अपने सुख का ध्यान हुआ। वे एक दूसरे के सम्पर्क में आने लगे। एक प्रकार का सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ। प्रेम के साथ घृणा की उत्पत्ति हुई। सहनशीलता के साथ क्रोध का प्रादुर्भाव हुआ।

रूसो ने प्राकृतिक जीवन को स्वर्ग ठहराया है। वह लिखता है कि जब तक मनुष्य उस जीवन में निवास करता था तब तक उसकी आवश्यकताएँ कम थीं, उसे किसी प्रकार की चिन्ता न थी। उसका जीवन सरल और शुद्ध था। उसे हम और तुम का ज्ञान नहीं था। प्राकृतिक जीवन को सुखों का घर माना है। इसके विपरीत सामाजिक जीवन सभी बुराइयों से परिपूर्ण है। कोई भी यह कह सकता है कि जब प्राकृतिक जीवन इतना सुखमय था तो सामाजिक जीवन में आने की क्या आवश्यकता थी। मनुष्य ने क्यों स्वर्गीय जीवन को छोड़ कर नरक की ओर प्रस्थान किया।†

---

* The first man, who having enclosed a piece of ground bethought himself of saying: This is mine: and found people simple enough to belive him, was the real founder of the Civil Society. Rousseau.

† "So long as men remained content with their rustic huts, so long as they were satisfied with clothes made of animals and sewn tegether with thorns and fish-bones, adorned themselves only with feathers and shells, and continued to paint their bodies with different colours. to improve and beautify their bows and arrows and make with sharp edged stones fishing boats or clumsy musical instruments, in a word, so long as they undertook only what a single person could accomplish, and confined

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह स्वभाव से नेक, न्याय-प्रिय तथा शान्ति का पुजारी है।* दूसरों की सहायता के बिना वह जीवित नहीं रह सकता। जब से मनुष्य एक दूसरे के सम्पर्क में आया तब से समता का अभाव दिखाई पड़ने लगा। लोगों को सम्पत्ति की आवश्यकता पड़ी। उसकी रक्षा के लिये घर भी बनवाने पड़े। कार्य करने के लिये स्वामी और दास की उत्पत्ति हुई। रूसो का कहना है कि प्राकृतिक जीवन को छोड़कर मनुष्य ने बड़ी भूल की। इसी का फल है जो आज वह तरह-तरह की मुसीबतों में पड़ा हुआ है। अपनी 'सामाजिक इकरार' नामक पुस्तक में उसने सामाजिक जीवन के उन सिद्धान्तों का वर्णन किया है जिनसे मनुष्य समाज में होते हुये सुखपूर्वक रह सकता है। यहाँ पर रूसो और फ्रांस की राज्यक्रान्ति ( French Revolution ) दोनों के उद्देश्य एक हो जाते हैं। दोनों ही विषमता को हटा कर समता, स्वतंत्रता और सद्भाव की स्थापना करना चाहते हैं। धातु की उत्पत्ति और कृषि इन दोनों ने सामाजिक जीवन की वृद्धि की। सोना, चाँदी, लोहा और अन्न से मनुष्य की बाह्य सभ्यता तो बढ़ी; किन्तु उसके भीतर के भाव बिगड़ते गये। सुविधाओं की वृद्धि के साथ मनुष्य अपनी आवश्यकताओं का दास बनता गया। उसकी आरम्भिक स्वतन्त्रता जाती रही और सामाजिक नियमों के जाल में वह जकड़ दिया गया। धनी-गरीब सभी एक दूसरे पर निर्भर रहने लगे। सबके अन्दर लोभ, ईर्ष्या और डाह आदि विचार पैदा हुये। लड़ाई-झगड़े की इतनी वृद्धि हुई कि लोगों का जीवन अत्यन्त दुखी हो गया। सब लोग एक नये जीवन की आशा करने लगे। इसी की पूर्ति के लिये सब ने मिलकर एक इकरार किया।

रूसो का इकरार एक राजनैतिक जीवन की कल्पना करता है। व्यक्ति ने अपना सम्पूर्ण अधिकार समाज को अर्पित कर दिया। अपने पास उसने कोई अधिकार न रक्खा। † इस प्रकार जिस समूह को सम्पूर्ण व्यक्तियों की शक्ति प्राप्त हुई वही शासक हुआ। उस शक्ति को रूसो ने ( General Will ) "सामूहिक विचार" कहा है। यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई।

---

themselves to such arts as did not require the joint labour of several hands, they lived free, healthy, honest and happy lives. Rousseau.

* Man is a being who is naturally good and loves justice and order.

† Each of us puts his own person and all his power in common under the supreme direction of the General Will and in our corporate capacity we receive each member as an indivisible part of the whole. Rousseau.

**उपरोक्त सिद्धान्तों की आलोचना**

दैवी सिद्धान्त धर्म के आधार पर राज्य की कल्पना करता है। इस बीसवीं सदी में समाज को कोई ईश्वर की रचना नहीं मान सकता। भौतिक जगत मनुष्य की रचना है। जो वस्तुएँ हमें दिखाई पड़ती हैं, वे सब उसी की करामात हैं। ईश्वर को उनका कारण मानना अन्ध-विश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शक्ति सिद्धान्त एक क्षणिक विचार है। शक्ति के सहारे कोई चीज थोड़े दिनों तक ठहर सकती है, परन्तु उसके घटते ही वह अपने आप बिगड़ जायगी। राजनैतिक संगठन एक स्थाई कीर्ति है। केवल शक्ति द्वारा इसकी उत्पत्ति हुई होती तो अब तक इसका नाश हुये बिना न रहता। शक्ति और सद्भाव इन दोनों में हमें चारों ओर सहयोग दिखाई पड़ता है। कोई व्यक्ति दबाव के कारण सहयोग प्राप्त नहीं कर सकता। आर्थिक सिद्धान्त एकांगी है। मनुष्य की आवश्यकतायें केवल धन से पूरी नहीं हो सकतीं। समाज की आवश्यकताओं में धन से केवल एक अंग की पूर्ति होती है। मनुष्य को एक सूत्र में बाँधने का श्रेय केवल धन को नहीं है। सरकार की उत्पत्ति केवल धन की व्यवस्था के लिये नहीं हुई है। राज्य में मनुष्य की उन्नति के लिये जो जो काम होते हैं, वे सब धन से ही सम्बन्ध नहीं रखते। इकरार सिद्धान्त एक ऐतिहासिक कल्पना है। इसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इतिहास यह वर्णन नहीं करता कि प्राकृतिक जीवन कब और कैसा था। स्वयं इस सिद्धान्त के मानने वाले एक ही प्राकृतिक काल का कई प्रकार से वर्णन करते हैं। इनके कथानक में कोई समता नहीं है। तर्क की दृष्टि से इनके क्रम भी ठीक नहीं हैं। बिना किसी समाज के अधिकार की उत्पत्ति असम्भव है। प्राकृतिक अधिकार की परिभाषा किसी ने भी नहीं की है।

इकरार सिद्धन्त को मानने में एक बहुत बड़ा भय है। इसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति एक क्षणिक क्रिया है। किसी भी समय नये राज्य की स्थापना की जा सकती है। यही कारण है कि रूसो के सिद्धान्त से फ्रांस की राज्यक्रान्ति में सहायता मिली। अमेरिका की स्वतन्त्रता पर इन सिद्धान्त-वादियों का काफी प्रभाव पड़ा। राज्य एक या दो दिन की वस्तु नहीं है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के स्वभाव और रहन-सहन से है। इसका विकास कई शताब्दियों में क्रमशः हुआ होगा। वैज्ञानिक दृष्टि से इकरार सिद्धान्त अधूरा है। इतिहास यह वर्णन करता है कि मनुष्य का आरम्भिक जीवन व्यक्तिगत नहीं एवं सामूहिक गिरोह का जीवन था। परन्तु कोई इकरारवादी इसे मानने को तैयार नहीं है। राज्य की उत्पत्ति के ये सभी सिद्धान्त गलत हैं। ज्ञान की दृष्टि से इनकी थोड़ी बहुत उपयोगिता हो सकती है, लेकिन राज्य की उत्पति में इनसे कोई सहायता नहीं मिलती। जिन विद्वानों ने

इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उन्होंने किसी-न-किसी व्यक्तिगत दृष्टिकोण को सामने रखा है। प्रत्येक सिद्धान्त अपने काल की ऐतिहासिक घटना पर पूरा प्रकाश डालता है। राज्य की उत्पत्ति का वैज्ञानिक सिद्धान्त दूसरा है। इसे 'ऐतिहासिक' या 'विकास' सिद्धान्त कहते हैं। सभी दृष्टियों से यह पूर्ण और सर्वमान्य है।

**ऐतिहासिक या विकास सिद्धान्त**

जब हम किसी वृक्ष की ओर दृष्टिपात करते हैं तो यह विचार होता है कि इसे बढ़ने में कई वर्ष लगे होंगे। जो वृक्ष जितना ही स्थायी होता है उसे बढ़ने में उतना ही अधिक समय लगता है। रेंड़ का पेड़ जल्दी तैयार होता है, लेकिन उसकी आयु अधिक से अधिक एक दो वर्ष होती है। ताड़ वर्षों तक एक समान पड़ा रहता है। परन्तु उसे बढ़ने में बीसों वर्ष लगते हैं। मानव समाज एक वृक्ष की तरह है। इसकी सूरत चाहे जैसी हो जाय लेकिन संगठन छिन्न-भिन्न नहीं हो सकता। जैसे कोई वृक्ष एक दिन में तैयार नहीं होता उसी तरह राज्य की उत्पत्ति एक दिन की चीज नहीं है। सदियों में इसका विकास हुआ है। इतिहास बतलाता है कि मनुष्य एक विकसित प्राणी है। डारविन का कहना है कि आरम्भ में मनुष्य बन्दर था। वह पेड़ों पर रहता और कूद-कूद कर चलता था। अफ्रीका के जंगलों में अब भी वनमानुष पाये जाते हैं। वे आधे मनुष्य और आधे बन्दर होते हैं। विकास होते-होते बन्दर ही मनुष्य बन गया। प्राकृतिक एवं मनुष्य-रचित जितनी भी वस्तुयें हैं वे सब विकास सिद्धान्त पर निर्भर हैं। मानव समाज एक विकसित वस्तु है। राज्य की उत्पत्ति विकास सिद्धान्त पर निर्भर है। इसकी उत्पत्ति मनुष्य की उन्नति की एक विशेष अवस्था से सम्बन्ध रखती है। जब तक मनुष्य का क्रमशः विकास अध्ययन न करेंगे तब तक हमारा ज्ञान सामाजिक विषयों में अधूरा रहेगा। इस विकास सिद्धान्त को हम कई अवस्थाओं में बाँट सकते हैं।

**प्रारम्भिक अवस्था**

आरम्भ में मनुष्य झुंड अथवा गिरोह में रहता था। उसका न कोई घर था और न कुटुम्ब। उसे यह भी ज्ञान न था कि कौन उसकी माता है और कौन पिता। उसके पास किसी प्रकार की सम्पत्ति न थी। वह बिल्कुल असभ्य था और जंगली जीवों को मार कर अपना पेट पालता था। जिस प्रकार जंगली जीवों के झुंड के झुंड घूमते रहते हैं उसी तरह मनुष्य भी झुंड का झुंड घूमता था। उसे किसी कला का ज्ञान न था। वह नंगे बदन रहता और हाथ ही उसका हथियार था। पेड़ों के नीचे वह शयन करता और नदी अथवा नालों से पानी पीता था। जानवर और उसके जीवन में कोई भेद न था। जैसे जानवरों में थोड़ा संगठन है, कोई

स्वामी, कोई रक्षक और कोई नौकर होता है उसी प्रकार मनुष्यों के झुंड में भी इसी तरह की व्यवस्था थी। सम्पूर्ण पृथ्वी जंगलों से ढँकी थी। न कोई गाँव था और घर। पृथ्वी पर या तो जंगल थे या नदी अथवा पहाड़। जैसे हर जाति के जानवर झुंड के झुंड अलग-अलग रहते हैं, और दूसरे प्रकार के जानवरों से अपने को अलग रखते हैं, उसी तरह मनुष्य भी अपने झुंड को और जानवरों से अलग रखता था। इसका अर्थ यह नहीं है कि और जानवरों से वह डरता था। भय उसे छू कर भी नहीं था। वह उसी तरह भयंकर था जैसे शेर और चीते। आज भी जंगली मनुष्यों में भय नहीं पाया जाता। उनके बच्चे साँप और बिच्छू तक से नहीं डरते।

इसी दशा में मनुष्य सदियों तक पड़ा रहा। इसके पश्चात् उसकी रहन-सहन में परिवर्तन हुये। इसके कई कारण हैं। जंगल में दावाग्नि का लगना एक स्वाभाविक बात है। दो पेड़ आपस में टकरा कर अग्नि पैदा कर देते हैं। आज भी जब जंगलों में आग लगती है, तो वह अग्नि वहीं पैदा होती है। मनुष्य ने जब देखा कि दावाग्नि लगने से जंगल का बहुत सा हिस्सा साफ हो गया तो उसकी इच्छा हुई कि क्यों न जंगलों को साफ करके जानवरों को पाला जाय। झुंड के झुंड मनुष्य जंगलों को साफ करने और जानवरों को पालने लगे। लेकिन अभी उनके पास न कोई घर था और न संगठन। जब जंगली जानवरों का ढेर उनके पास इकट्ठा हो गया तो उनके देख-भाल की आवश्यकता पड़ी। कहा जाता है कि पालतू जानवरों में सबसे पहिले बिल्ली और कुत्ते थे। इसके बाद चूहे पाले गये। फिर भेड़, बकरी, गाय आदि धीरे-धीरे पाले जाने लगे। कुछ लोग उनकी देख भाल के लिये रक्खे गये। मनुष्य का जीवन बदलने लगा। उसकी हिंसक प्रवृत्तियाँ घटने लगीं। उसके अन्दर दया और सहयोग की भावना उत्पन्न हुई। अब तक उसे एक स्थान पर रहने की कोई आवश्यकता नहीं थी, लेकिन जब उसके पास जंगली जानवरों का ढेर हो गया तो उसे विवश होकर एक स्थान पर रहना पड़ा। जब सैकड़ों मनुष्यों का झुंड एक जगह रहने लगा तो आपस में विवाह की प्रथा चली। रसम-रिवाज भी बनाये गये। देवी-देवताओं की पूजा आरम्भ हुई। प्राकृतिक वस्तुओं को लोग देवता समझ कर पूजने लगे। जिन जिन वस्तुओं से लाभ पहुँचता था उन्हें वे देवता मानने लगे। अग्नि, वायु, जल, सूर्य, चन्द्रमा, इन सबको देवता मानते थे। स्त्रियों को पशुओं की रक्षा का भार सौंपा गया। जब पुरुष शिकार करने के लिये बाहर चले जाते तो स्त्रियाँ जानवरों की रखवाली और घरों की देख-भाल करती थीं। लेकिन लोग अभी तक पेड़ों के नीचे ही रहा करते थे। उनके पास झोपड़ियाँ तक न थीं।

जब मनुष्यों की संख्या बढ़ने लगी और जंगली जीवों का अभाव होने लगा

**कृषि और गृह-निर्माण काल**

तो विवश होकर उन्हें खेती करने की बात सोचनी पड़ी। शेष जंगलों को साफ किया गया और खेती आरम्भ हुई। यह खेती व्यक्तिगत ढंग पर नहीं होती थी। प्रत्येक झुंड सम्मिलित रूप से खेती करता था और झुंड की सारी चीजें सम्मिलित समझी जाती थीं। स्त्रियाँ तक सम्मिलित होती थीं। अमुक स्त्री का अमुक पति है यह भाव उस समय न था। कृषि की उन्नति होने लगी और पालतू जानवर बढ़ने लगे। प्रत्येक झुंड के पास कुछ न कुछ सम्पत्ति हो गई। सम्पत्ति के लिये विभिन्न झुंडों में लड़ाइयाँ हुईं। अब तक लड़ाइयों में जो झुंड विजयी होता वह हारे हुए झुंड वालों को जान से मार डालता था, लेकिन कृषि आरम्भ होने पर प्रत्येक झुंड को मजदूरों की आवश्यकता थी। इसी लिये जो झुंड लड़ाई में हार जाता उसे मजदूर बना कर रख लिया जाता था। इसी से स्वामी और सेवक की उत्पत्ति हुई। दासता या गुलामी की प्रथा चली। अनादि काल से चलती हुई दासता का अन्त अठारहवीं सदी में जाकर हुआ। परन्तु देखा जाय तो गुलामी किसी न किसी रूप में आज भी मौजूद है। यह सम्मिलित जीवन शताब्दियों तक चलता रहा और प्रत्येक झुंड में अनेक रसम-रिवाज उत्पन्न हुये। उनमें एक तरह का संगठन भी बढ़ने लगा जिस पर आगे विचार किया गया है।

के लिये तैयार की जाने लगी। कुछ भूमि को केवल चराई के लिये छोड़ दिया जाता। प्रत्येक झुंड एक गाँव सा बन गया। यद्यपि खेती-बारी सम्मिलित थी परन्तु रहन-सहन की सुविधा के लिये अलग-अलग घर बनाये गये। स्थायी सम्बन्ध आरम्भ हुआ। जो जिससे विवाह करता या किसी तरह का घनिष्ठ नाता रखता वह उसी के साथ एक घर में रहने का अधिकारी होता था। इस प्रकार अलग-अलग कुटुम्ब स्थापित हुये। कुछ दिन तक कुटुम्बों की सम्पत्ति मिल-जुली थी, लेकिन उनकी सुविधा के लिये अलग-अलग बाँट दी गई। बाँट में सैकड़ों घर हुये, सबकी अलग-अलग सम्पत्ति हुई, और हर गाँव का एक प्रधान नियुक्त किया गया। यही प्रधान मुखिया कहलाता था। आज भी गाँवों में मुखिया होता है, लेकिन उसे कोई विशेष अधिकार नहीं है। आरम्भ में यही गाँव का मालिक होता था। इसकी सम्पत्ति औरों से अधिक होती थी। सब लोग इसे आदर की दृष्टि से देखते थे। गाँव के झगड़े का यही फैसला करता था। इसे सभी प्रकार की शक्ति दी गई थी।

**ग्राम की उत्पत्ति**

खेती सभी व्यवसायों की जड़ है। इसकी उन्नति के साथ तरह-तरह के उद्योग अपने आप बढ़ते गये। गाँवों को स्वावलम्बी बनाने के लिये लोग सभी तरह के पेशों को अपनाने लगे। नाई, धोबी, दर्जी, तेली, अहीर, काछी इत्यादि वर्ग इसी के परिणाम हैं। आरम्भ में इनमें ऊँच-नीच का कोई प्रश्न न था। पेशे के कारण कोई छोटा अथवा बड़ा नहीं समझा जाता था। इन्हें मजदूरी के रूप में प्रतिवर्ष कुछ अन्न दे दिया जाता था। आज भी गाँवों में यह प्रथा किसी-न-किसी रूप में मौजूद है। प्रत्येक गाँव की एक निश्चित सीमा होती थी। इसके प्रबन्ध के लिए हर तरह का इन्तजाम था। गाँवों को स्वावलम्बी बनाने की भावना जितनी ही बढ़ती गई उसी मात्रा में नाना प्रकार के व्यवसाय बढ़ते गये। यद्यपि कोई भी गाँव अथवा देश स्वावलम्बी नहीं है, फिर भी गाँवों के सरल जीवन के अनुकूल सभी सामग्रियाँ वहाँ मौजूद हैं। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में जब वैज्ञानिक युग का आरम्भ हुआ तो लोगों की रहन-सहन में महान् परिवर्तन हुए। हाथ की बनी हुई चीजें उन्हें भद्दी मालूम पड़ने लगीं। मशीनों द्वारा तरह-तरह की चीजें बनने लगीं। इससे नये-नये व्यवसायों की उन्नति हुई।

**व्यवसायों की उन्नति**

मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ने लगीं। ग्राम संगठन उसे छोटा पड़ने लगा। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरे गाँवों से सम्बन्ध जोड़ना पड़ा। प्रत्येक गाँव में कुछ ऐसे उत्साही व्यक्ति हुये जिन्हें यह इच्छा हुई कि दूसरे गाँवों को जीत कर उन पर अधिकार स्थापित करें। इन्हीं दो कारणों से प्रेरित होकर

**युद्ध और राज्य की उत्पत्ति**

आपस में संघर्ष उत्पन्न हुआ। एक गाँव दूसरे गाँव को जीत कर अपनी हद बढ़ाना चाहता था। यह युद्ध बहुत दिनों तक चलता रहा। बहुत से गाँवों का एक स्वामी हुआ। अन्य गाँवों को विवश होकर उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी पर छोटे-छोटे राज्य बनते गये। प्रत्येक राज्य में एक राजा होता था। उसकी आज्ञा ही कानून थी। इसलिये आरम्भ में एकतन्त्र राज्यों का वर्णन अधिक आता है। ये राज्य दो प्रकार के होते थे। यदि राजा न्यायी हुआ तब तो उसकी आज्ञा सर्वमान्य होती और राज्य में शान्ति रहती थी। गाँवों पर वह अनुचित दबाव नहीं डालता था। सबसे उचित टैक्स लिया जाता और उसके बदले में प्रजा की भली-भाँति रक्षा की जाती थी। प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया जाता था। ऐसे राज्य स्थायी होते थे। राजा की मृत्यु के बाद उसका बड़ा लड़का गद्दी पर बैठता था। यदि वह योग्य नहीं होता तो राजा अपने जीवन काल में ही किसी और को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर देता। दूसरे प्रकार के राज्य वे थे जो क्षण-भंगुर होते थे। राजा अत्याचारी होता था और उसकी आज्ञा तभी तक मानी जाती थी जब तक उसमें शारीरिक बल होता था। ज्योंही उसकी शक्ति कमजोर हो जाती उसका राज्य नष्ट हो जाता था और कोई दूसरा राजा उस पर अपना अधिकार जमा लेता था।

राज्य की स्थापना एक दिन की वस्तु नहीं है। सदियों के युद्ध के बाद छोटे-छोटे राज्यों की उत्पत्ति हुई। ये राज्य आपस में लड़ते रहते थे। जिसकी शक्ति अधिक होती वह दूसरे राज्य पर अपना अधिकार कर लेता था। इसी तरह राज्य की सीमा बढ़ने लगी। छोटे-छोटे राज्य नष्ट होते गये और प्रत्येक देश में एक राज्य की स्थापना हुई। देश से हमारा तात्पर्य एक प्राकृतिक सीमा से है। देश की हद किसी प्राकृतिक चीज से मान लिया गया। या तो इसके चारों ओर कोई पहाड़ हो अथवा नदी या समुद्र। इसके पार जाना कठिन था इसलिये इसी हद को देश मान लिया गया। प्रत्येक देश की एक संस्कृति बन गई। यद्यपि इसके अन्दर बहुत-से छोटे-छोटे राज्य रहते थे परन्तु वे सब किसी बड़े राज्य के आधीन होते थे। प्रत्येक देश की एक सरकार, एक भाषा, एक नियम और एक रहन-सहन होती गई।

सोलहवीं सदी के बाद नये नये यन्त्रों का आविष्कार हुआ और नई कलायें संसार में फैलने लगीं। १४५३ ई० में जब यूनान पर तुर्कों का हमला हुआ तो यूनान के विद्वान् सम्पूर्ण यूरोप और एशिया में फैल गये। इसके कुछ दिन बाद अठारहवीं सदी में मशीनों का आविष्कार हुआ। एक देश का सम्बन्ध दूसरे देशों से होने लगा। आवागमन की सुविधा हुई। राज्य के स्थान पर साम्राज्य की स्थापना की गई। आरम्भ में प्रत्येक राज्य को एक दृढ़ राष्ट्र बनने की धुन आरम्भ हुई।

परन्तु वह राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद के रूप में परिणत हो गई। एक देश दूसरे देश पर अपना अधिकार जमाने लगा। संसार में कितने ही साम्राज्य स्थापित हो गये। चूँकि नये आविष्कारों का जन्म यूरोप में हुआ इसलिये साम्राज्य-वादी यूरोप में ही उत्पन्न हुये। बीसवीं सदी में साम्राज्यवादियों में युद्ध आरम्भ हुआ। जब दुनियाँ का कोना-कोना जीत लिया गया तो साम्राज्यवादियों को आपस में लड़ना पड़ा। जर्मनी की बड़ी लड़ाई साम्राज्य की लड़ाई थी। संयोगवश चार बड़े-बड़े साम्राज्य नष्ट हो गये केवल अँग्रेजी साम्राज्य जीवित रहा। गत महायुद्ध में उसकी भी रूप-रेखा वह नहीं है जो आरम्भ में थी। यही क्रमशः विकास राज्य की उत्पत्ति का सच्चा सिद्धान्त है। आज किसी न किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति राज्य से अपना सम्बन्ध रखता है। वह इससे अपने को अलग नहीं कर सकता। राज्य से अलग उसके व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है। राज्य की सदस्यता नागरिक के लिये अनिवार्य है।

—:o:—

# अध्याय ८

## राज्य के कर्त्तव्य

## ( Functions of Government )

राज्य के कर्त्तव्य क्या हैं और क्या होने चाहिये, यह प्रश्न विवादग्रस्त है।

**प्रश्न का स्पष्टीकरण**

जिस प्रकार एक डाक्टर हृदय की गति को बतला सकता है और एक गणितज्ञ किसी हिसाब का ठीक-ठीक उत्तर दे सकता है उस प्रकार का उत्तर राज्य के कर्त्तव्य के विषय में नहीं दिया जा सकता। यद्यपि राज्य एक है, परन्तु इसके अन्दर अनेक प्राणी निवास करते हैं। इसकी व्यवस्था उन्हीं के स्वभाव के अनुसार की जाती है। इसलिये इसकी विभिन्न किस्में होती हैं। राज्य का एक रूप कभी नहीं रहता। उसके कर्त्तव्य प्रत्येक युग में बदलते रहते हैं। आरम्भ में जब मनुष्य के विचार क्षेत्र इतने विस्तृत न थे, राज्य के कर्त्तव्य बहुत थोड़े थे। उस समय इस प्रश्न का उत्तर बहुत साधारण ढंग से दिया जा सकता था। परन्तु आजकल कर्त्तव्य-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। जब यह प्रश्न उठता है कि राज्य के क्या-क्या कर्त्तव्य होने चाहिये, उस समय यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। आदर्श का कहीं अन्त नहीं है। 'चाहिये' शब्द आदर्श से सम्बन्ध रखता है। आदर्श-वादियों ने ही यह प्रश्न उठाया है। इसलिये राज्य के कर्त्तव्य को समझने के लिये हमें इन दोनों प्रश्नों को अलग-अलग रखना चाहिये। राज्य के कौन-कौन से कर्त्तव्य हैं यह एक प्रश्न है; और क्या क्या कर्त्तव्य होने चाहिये यह दूसरा प्रश्न है। दोनों को एक साथ हमें नहीं मिलाना चाहिये। पाठक यह ध्यान रक्खें कि राज्य और सरकार के कर्त्तव्य एक ही हैं।

साधारण तौर से राज्य के कर्त्तव्यों को दो भागों में बाँट सकते हैं :—

**व्यावधानिक कर्त्तव्य ( Constituent functions )**

१—इसके अन्तर्गत मुख्य आठ बातें हैं, जिन्हें राज्य को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। यदि वह इन्हें पूरा न करे तो शासन का अन्त हो जाय।

अ—बाह्य आक्रमणों से देश तथा धन-जन की रक्षा का प्रबन्ध करना।

ब—स्त्री-पुरुष तथा पिता-पुत्र में कानूनी सम्बन्ध निश्चित करना।

स—अपराधों का स्पष्टीकरण और उनके [illegible] निश्चित करना।

द—सम्पत्ति सम्बन्धी नियम बनाना और उ[illegible] की व्यवस्था करना।

य—व्यक्तियों में इकरार सम्बन्धी कार्रवाइयों के लिये कानून बनाना।

र—न्याय का प्रबन्ध करना। साथ ही अन्यायी को उचित दंड देने का विधान बनाना।

ल—नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य की सीमा निश्चित करना तथा उन्हें राजनैतिक सुविधायें प्रदान करना।

व—एक राज्य का सम्बन्ध दूसरे राज्य से स्थापित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सुविधाओं की व्यवस्था करना।

२—ये कर्त्तव्य इतने अधिक हैं कि इनकी सूची तैयार करना असम्भव है।

**सामाजिक कर्त्तव्य (Ministrant functions)**

राज्य की शक्ति जितनी ही बढ़ती है उतने ही ये अधिक होते हैं। इनसे राज्य को व्यावधानिक कर्त्तव्य के पालन में सहायता मिलती है, शान्ति और सुख की वृद्धि होती है; प्रजा में धन-धान्य का आवाहन होता है और राज्य की आयु बढ़ती है। व्यावधानिक कर्त्तव्य राज्य को जीवित रखते हैं, लेकिन उसे वैभवशाली तथा आदर्शमय नहीं बना सकते। इसीलिये उसे विवश होकर प्रजा के हित के लिये दूसरे प्रकार के कर्त्तव्यों को भी करना पड़ता है। इनमें १० आवश्यक हैं:—

अ—व्यापार की वृद्धि करना और इसकी रक्षा के नियम बनाना। इसी के अन्तर्गत रुपये तथा नोट आदि बनाना भी है। नाप-तौल की दर निश्चित करना, चुंगी का प्रबन्ध करना, बाजारों में बेचने की सुविधा देना इत्यादि कार्य इसी के अन्तर्गत आते हैं।

ब—आवागमन के साधन की वृद्धि करना। जैसे रेल, तार, डाक, सड़क टेलीफोन, ट्रेमगाड़ी आदि का प्रबन्ध करना। यात्रियों को अधिक सुविधायें प्रदान करना।

स—स्वास्थ्य, सफाई तथा रोगों के इलाज का प्रबन्ध करना।

द—मजदूरों की रक्षा का नियम बनाना। आधुनिक युग में, जब कि मिलों और कारखानों की वृद्धि हो रही है, मजदूरों का प्रश्न जटिल है। यदि राज्य की ओर से उनकी रक्षा का प्रबन्ध न हो तो उनका जीवन पशुओं से भी बदतर हो जाय।

य—शहरों में हवा, रोशनी और पानी का प्रबन्ध करना। गाँवों में सिंचाई की व्यवस्था करना, ट्यूब वेल बनवाना तथा नहरें निकालना।

र—शिक्षा का प्रचार करना।

ल—अन्धे, लूले, गूँगे, बहरे तथा गरीब-दुखियों का प्रबन्ध करना। उनके रहने तथा भोजन आदि की व्यवस्था करना।

ब—जंगलों तथा नदियों की देख-रेख करना।

क—नशीली चीजों का बहिष्कार करना।

ख—सामाजिक नियमों का आदर करना तथा सभी धर्मों और सम्प्रदायों को समान दृष्टि से देखना।

राज्य अपनी प्रजा की उन्नति के लिये बहुत से कार्य कर सकता है। जनता में सहयोग की भावना जितनी अधिक होगी, राज्य को इन कार्यों में उतनी ही सफलता मिलेगी। संगठन और सद्भाव की जागृति इन कार्यों को प्रतिदिन बढ़ाती रहेगी। राज्य की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है तो इन कार्यों में कम-से कम सफलता होगी। इसलिये इनकी वृद्धि के लिये आर्थिक दशा की उन्नति करना आवश्यक है। जब प्रजा पेट की ही धुन में व्यस्त है, तो वह शिक्षा और कला की ओर ध्यान नहीं दे सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे देश में आज मौजूद है। ग्रामों की दशा आर्थिक दृष्टि से इतनी शोचनीय है कि उनके बीच में कला तथा शिक्षा का प्रचार करना तब तक कठिन है जब तक उनकी रोटी का प्रबन्ध नहीं हो जाता। भोजन और वस्त्र के पश्चात् मनुष्य की अन्य आवश्यकतायें बढ़ती हैं। सरकार पहले प्रजा की रोटी का प्रबन्ध करे, ताकि राज्य में कोई भूखा और नंगा न रहे। राज्य की ओर से कम-से-कम इतना प्रबन्ध आवश्यक है कि जो परिश्रम करना चाहें उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये औरों पर निर्भर न रहना पड़े। इसलिये रोजगार की व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य है। बेकारी के रहते हुए राज्य में न धन की वृद्धि होगी और न व्यवसाय की। तुलसीदास ने राजा का कर्त्तव्य ठहराया है कि एक भी मनुष्य राज्य में भूखा न रहे। वे लिखते हैं :—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज काहुहिं नहिं व्यापा॥

**राज्य के कर्त्तव्य सम्बन्धी ३ सिद्धान्त**

राज्य की स्थापना किसी सिद्धान्त पर हुई है। इसलिये इसके कर्त्तव्य भी सिद्धान्त पर ही निर्भर हैं। प्रत्येक सिद्धान्त राज्य के कर्त्तव्यों का विवेचन करता है। अन्तर इतना ही है कि कोई इसका क्षेत्र बड़ा मानता है और कोई छोटा। वैज्ञानिक दृष्टि से ये सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी हैं। एक तो राज्य का अस्तित्व ही नहीं मानता। उसके अनुसार न कोई राज्य का कर्त्तव्य है और न उसकी आवश्यकता। शेष सिद्धान्त राज्य के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, परन्तु आपस में एक दूसरे के विरोधी हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

१—अराजकतावाद

२—व्यक्तिवाद

३—समाजवाद

हमारा तात्पर्य इन वादों का वर्णन करना नहीं है। इसके लिये दूसरी जगह स्थान दिया जायगा। यहाँ पर इतना ही कहना है कि ये सिद्धान्त किन-किन दृष्टिकोणों से राज्य के कर्त्तव्य को निश्चित करते हैं। प्रत्येक सिद्धान्त के अनुसार राज्य के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं, यही इस अध्याय में वर्णन किया गया है।

**अराजकतावाद**

१—इस सिद्धान्त के मानने वाले राज्य को एक व्यर्थ की योजना मानते हैं। यदि विचार किया जाय तो राज्य के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत इस सिद्धान्त का विवेचन नहीं होना चाहिये। जो सिद्धान्त राज्य के अस्तित्व को नहीं मानता वह उसके कर्त्तव्यों को कैसे निश्चित कर सकता है। परन्तु इसके अनुसार व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। वह व्यक्ति राज्य से ही सम्बन्ध रखता है, इसलिये अराजकतावाद का वर्णन राज्य के कर्त्तव्यों के साथ करना कोई अनुचित नहीं है। जैसा कि शब्द से ही सूचित है, यह वाद किसी राजनैतिक संगठन को नहीं मानता। इसका उद्देश्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमें व्यक्ति स्वयं अपना शासन करे। उस समाज में जितने संगठन हों उनका सदस्य बनना और न बनना व्यक्ति की इच्छा पर छोड़ दिया जाय। किसी को इस बात के लिये बाध्य न किया जाय कि वह अमुक संगठन का सदस्य अवश्य बने। अराजकतावादी कहते हैं कि जैसे किसी टोकरी में बहुत से कंकड़ स्वयं अपना-अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं उसी प्रकार समाज में व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता पाने पर अपने सुख और शान्ति की व्यवस्था स्वयं कर लेगा। राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है।

राज्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु है। राजनैतिक बन्धन व्यक्ति के विकास में व्यर्थ का बाधक है। सरकार एक प्रकार की शक्ति है जो व्यक्ति को पग-पग पर दबाती है। जब कभी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार मार्ग ग्रहण करना चाहता है तो राज्य उसकी स्वतन्त्रता में रोड़े अटकाता है। व्यक्ति स्वयं चतुर है। वह अपना हित और अहित भलीभाँति पहचानता है। सरकार उसके हितों की पूर्ति में कोई विशेष सहायता नहीं करती। अधिकार और कर्त्तव्य का विवेचन व्यक्ति के लिये किया जाता है। राज्य का न कोई अधिकार है और न कर्त्तव्य। जैसे गाड़ी में पाँचवाँ पहिया व्यर्थ है उसी प्रकार व्यक्ति के विकास में राजनैतिक संगठन अनावश्यक है। जब तक मनुष्य अपने सभी बन्धनों को तोड़ कर फेंक नहीं देगा तब तक वह स्वतन्त्रता के स्वप्न का अनुभव नहीं कर सकता। सरकार सबसे बड़ा बन्धन है। थोड़े से स्वार्थी लोग अपने सुख के लिये अधिकांश जनता को जकड़े

हुये हैं। यदि स्वतन्त्रता पूर्वक सब की राय ली जाय तो अधिकांश व्यक्ति राजकीय बन्धन का समर्थन नहीं करेंगे। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वामी है। अपने कर्त्तव्यों के लिये वह स्वयं उत्तरदायी है। जन्म से मृत्यु तक अपने किये हुये कर्मों का फल वह स्वयं भोगता है। सभी धर्म एक स्वर से इस बात का समर्थन करते हैं कि व्यक्ति के निजी आचार-विचार को छोड़ कर उसका कोई दूसरा* सहायक नहीं है। स्वर्ग में भी उसी के कर्त्तव्यों की परीक्षा होती है। बाह्य रूप से जितनी सहायता व्यक्ति को प्राप्त होती है वह दिखावटी तथा अनावश्यक है। इसीलिये अराजकता-वादी व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता पर अधिक बल देते हैं। टालस्टाय लिखता है, "गुलामी की जड़ कानूनों को बनाने वाली सरकारें हैं। अतः केवल सरकारों को नष्ट करने ही से लोग इस गुलामी से मुक्त किये जा सकते हैं।"

**व्यक्तिवाद**

२—व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति ही सब कुछ है। राज्य इसी की उन्नति के लिये बनाया गया है। समाज व्यक्ति को दबाकर अपनी सत्ता कायम नहीं रख सकता। इस वाद का आरम्भ इकरार सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने किया था। तब से यह वाद उन्नति करता गया। उन्नीसवीं सदी में जब मशीनों का युग आरम्भ हुआ तो विभिन्न संगठन स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने लगे। व्यक्ति को विवश होकर किसी संगठन का सदस्य बनना पड़ा। इन संगठनों की शक्ति बढ़ती गई। व्यक्ति अपने आपको कमजोर पाता गया। आजकल प्रत्येक संगठन अपना एक व्यक्तित्व बनाये हुये है, जिसके अन्दर व्यक्ति एक अंग मात्र है। राज्य के अधिकारों की इसीलिये वृद्धि हुई, कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करे। इस सिद्धान्त का वर्णन समाजवाद के अन्दर किया गया है। प्रश्न यह है कि व्यक्तिवाद कहाँ तक राज्य का अधिकार मानता है और किस हद तक व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य एक अनिवार्य दोष है।† यह एक ऐसी बुराई है, जिसे विवश होकर व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ता है। इसलिये राज्य को कोई ऐसा अधिकार नहीं मिलना चाहिये जिससे वह व्यक्तियों को दबा सके। यह इतना कर सकता है कि जिन कार्यों को व्यक्ति न कर सके उसमें यह सहायता दे। व्यक्ति की उन्नति में जितनी बाधाएँ पड़ें उनका यह निवारण करे। एक राजनीतिज्ञ का कहना है "सभ्यता अपनी अन्तिम चोटी पर व्यक्ति की ही रक्षा

---

* जितनी भलाई माता-पिता अथवा दूसरे भाई-बन्धु कर सकते हैं उससे अधिक भलाई ठीक मार्ग पर लगा चित्त करता है। (भगवान बुद्ध)

† State is a necessary evil.

को स्वीकार करेगी।" व्यक्ति समाज का स्तम्भ है। राज्य उसका सबसे बड़ा सहायक है। जो सरकार व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध नियम बनाती है वह अन्यायी और अत्याचारी है। उसका कर्त्तव्य इतना ही है कि वह व्यक्तियों के सम्बन्ध की व्यवस्था करे। यदि उनमें किसी बात पर मतभेद है अथवा कलह उत्पन्न होता है तो राज्य उसे दूर करे। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य व्यक्ति का सेवक है। सरकारी अफसर अथवा नौकर प्रजा के सेवक हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनसे सेवा कराने का समान अधिकारी है। सरकार का कर्त्तव्य देश में शान्ति रखना और व्यक्ति की आवश्यकतानुसार कानून बनाना है।

व्यक्तिवाद क्या चीज है, किसने इसका आरम्भ किया, इसके क्या-क्या उद्देश्य हैं, इन बातों का वर्णन एक दूसरे अध्याय में किया गया है। यहाँ पर यही विचार करना है कि व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज व्यक्ति के लिये है, व्यक्ति समाज के लिये नहीं। व्यक्ति समाज-सेवा के लिये बाध्य नहीं है किन्तु समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति की हर प्रकार से सेवा करे। राज्य समाज का एक उन्नत रूप है। जिन कर्त्तव्यों को समाज का कोई संगठन नहीं कर सकता, राज्य उन्हें करने का अधिकारी है। यदि कोई व्यवस्था व्यक्ति को राज्य का दास बनाती है तो वह ठीक नहीं कही जा सकती। राज्य केवल देखभाल कर सकता है। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य के कर्त्तव्यों की सूची बनाई जाय तो वह बहुत ही छोटी होगी। उन्हें हम उँगलियों पर गिन सकते हैं। इसके अनुसार राज्य के तीन कर्त्तव्य हैं:—

१—बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना।

२—राज्य में शान्ति स्थापित करना।

३—राज्य में विभिन्न संस्थाओं की देखरेख करना।

इसके अतिरिक्त व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र है। राज्य को कोई अधिकार नहीं है कि उसके कार्यों में हस्तक्षेप करे। व्यक्ति विचार करने के लिए स्वतन्त्र है। उसे अधिकार है कि अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत कर सके। परन्तु इतना ध्यान रखना होगा कि वह औरों की स्वतन्त्रता में बाधक न हो। स्पेन्सर के कथनानुसार राज्य के मुख्य तीन कर्त्तव्य हैं:—

१—पुलीस रखना।

२—सेना रखना।

३—न्याय की रक्षा करना।

व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य एक कम्पनी है, और व्यक्ति उसमें हिस्सेदार है। उसे यह अधिकार है कि वह जैसे चाहे अपने लाभ-हानि का प्रबन्ध करे। राज्य का यह कर्त्तव्य कदापि नहीं है कि वह उपरोक्त तीन बातों के अतिरिक्त

शिक्षा, गरीबों की सेवा तथा रोगियों का प्रबन्ध करे। इन कार्यों को व्यक्ति अच्छी तरह कर सकता है। यदि राज्य सभी कामों को करता है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह व्यक्ति को अपाहिज बनाता है। राज्य से थोड़ी-बहुत सहायता लेकर व्यक्ति को स्वयं अपना कार्य करना चाहिये। व्यक्ति की रुचि भिन्न-भिन्न होती है। औरों को उसकी रुचि का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मिल का कहना है कि राज्य के कर्त्तव्य जितने ही अधिक होंगे उसी मात्रा में व्यक्ति के कर्त्तव्य कम होते जायँगे। सारांश यह है कि व्यक्तिवाद राज्य को कम-से-कम अधिकार देना चाहता है। दूसरे शब्दों में वह कह सकते हैं कि राज्य के कर्त्तव्य व्यक्तिवाद के अनुसार कम-से-कम ठहराये गये हैं। ऐसा इसलिये किया गया है कि व्यक्ति का कर्त्तव्य क्षेत्र व्यापक हो।

**समाजवाद**

३—समाजवाद एक स्वतन्त्र विषय है। इस पर अलग एक अध्याय में विचार किया गया है। यहाँ हमें यही देखना है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं। समाजवाद कोई नया सिद्धान्त नहीं है। अफलातून ने अपनी पुस्तक रिपब्लिक (Republic) में इसका वर्णन किया है। एक प्रकार से हम उसे कट्टर समाजवादी कह सकते हैं। परन्तु समाजवादी आन्दोलन एक नई चीज है। उन्नीसवीं सदी में मशीनों के साथ इसका जन्म हुआ है। शायद ही कोई स्कूल या कालेज का विद्यार्थी होगा जिसने समाजवाद का नाम न सुना हो। यह वाद इतना प्रसिद्ध है जितना चाय और तम्बाकू। इस सिद्धान्त का मूल तत्व यह है कि सम्पत्ति का वितरण समान रूप से होना चाहिये। जब सभी मनुष्य शारीरिक बनावट में एक प्रकार के हैं तो कुछ विषयों में उनकी आवश्यकतायें भी एक तरह की होंगी। भूख सबको लगती है, कपड़े की आवश्यकता सभी को पड़ती है, मनोरञ्जन के साधन सबको चाहिये। इसलिये समाज में जो विषमता दिखलाई पड़ती है वह पाप का घर है। थोड़े से स्वार्थी व्यक्तियों ने अपने लाभ के लिये तरह-तरह के नियम बना कर अपने सुख का सामान इकट्ठा कर लिया है। अधिकतर लोगों को भर पेट भोजन भी मिलना कठिन है। आर्थिक विषमता सभी बुराइयों की जड़ है। धनी गरीब का अन्तर समाज में इतनी बुराइयाँ फैलाता है कि सामाजिक जीवन शुद्ध नहीं रह सकता। हितोपदेश में तो यहाँ तक कहा गया है कि घर को छोड़ कर जंगलों और पर्वतों की गुफाओं में निवास करना अच्छा है, किन्तु धनहीन रहकर समाज में जीवित रहना निन्दनीय है।*

समाजवाद आर्थिक योजना का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसका जन्मदाता

---

* वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं, जलेन हीनं बहुकण्टकावृतम्
तृणानि शय्या परिधान वल्कलं न बन्धु मध्ये धनहीनजीवनम्॥

जर्मन दार्शनिक कार्लमार्क्स है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जर्मनी स्वयं समाजवाद का कट्टर शत्रु है। संसार में रूस ही एक ऐसा देश है जो समाजवाद को सिद्धान्त और कार्य दोनों रूप में मानता है। गत द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् चीन तथा योरप के कई छोटे छोटे राज्यों में समाजवाद के सिद्धान्त को कार्यान्वित किया जा रहा है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश इसका दूसरा पहलू है। तात्पर्य यह है कि समाजवाद सभी प्रकार के भेदभाव को मिटाकर एक आदर्श समाज की स्थापना करना चाहता है। यह आधुनिक सभ्यता का समर्थक और विरोधी दोनों है। पक्षपाती तो इसलिये है कि वह मशीनों का समर्थन करता है और नवीन वैज्ञानिक उन्नति का सभी प्रकार से उपयोग करना चाहता है। वह धर्म-को ढोंग मानता है। तर्क पर जो सिद्धान्त टिक सके वही सर्वमान्य होना चाहिये। चूँकि वर्तमान सभ्यता तर्क पर ही निर्भर है, इसलिये समाजवाद उसके पक्ष में है। विरोधी इसलिये है कि आधुनिक युग पूँजीवाद का युग कहलाता है। पूँजीवाद ही समाज में विषमताओं की जड़ है। इसी का विनाश करना समाजवाद का प्रधान उद्देश्य है। इसलिये यह वाद आधुनिक सभ्यता का विरोधी भी है।

ऊपर कहा गया है कि हमारा उद्देश्य यहाँ पर समाजवाद के सिद्धान्त का वर्णन करना नहीं है। थोड़ा जो वर्णन किया गया है वह इसलिये कि पाठकगण समाजवाद से कुछ परिचित हो जायँ, अन्यथा अनभिज्ञ रहने से उन्हें इसके और राज्य के सम्बन्ध को समझने में कठिनाई होगी। अब प्रश्न यह है कि समाजवाद के अनुसार राज्य के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं? जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, समाजवाद व्यक्तिवाद का प्रतिरूप है। जिस प्रकार व्यक्तिवाद समस्त अधिकार व्यक्ति को देना चाहता है उसी प्रकार समाजवाद इसे राज्य को अर्पण करना चाहता है। राज्य के सामने वह व्यक्ति को कोई चीज नहीं समझता। समाजवादी व्यक्तिगत उद्योग को बुरा समझते हैं। वे कहते हैं कि व्यक्ति अपने लाभ के लिये कुछ भी करने का अधिकारी नहीं है। वह सब कुछ राज्य के लिये करे। उसके परिश्रम का फल राज्य उसे देगा। राज्य सभी सम्पत्ति पर अपना अधिकार रक्खे और व्यक्ति की आवश्यकतानुसार इसे वितरण करे। वह इस बात की देख-भाल रक्खे कि व्यक्ति बैठकर अपाहिज की तरह भोजन न करे। समाज पर वह किसी प्रकार से भार न हो। जो परिश्रम करे वही धन का अधिकारी समझा जाय। सारी जमीन सरकार के अधिकार में हो। कोई जमींदार और कोई काश्तकार न रहे। जो भूमि को जोते वह अपनी जमीन का मालिक समझा जाय। सब को उचित कार्य दिया जाय और उसी के अनुसार उन्हें वेतन मिले। व्यक्ति का कर्त्तव्य इतना ही है कि वह शान्तिपूर्वक राज्य के नियमों का पालन करे। वह उसकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा।

वही उसके कार्य, उसके भोजन, शिक्षा तथा कानून की व्यवस्था करेगा। व्यक्ति को कोई चिन्ता नहीं रहेगी। राज्य सभी बातों का ध्यान रक्खेगा। व्यक्ति की उन्नति-अवनति का उत्तरदायित्व राज्य पर निर्भर होगा।

समाजवादी राज्य को ही सब कुछ अर्पण कर देना चाहते हैं। शिक्षा का प्रबन्ध राज्य करे। व्यवसाय पर उसका पूर्ण अधिकार हो। वही धन का वितरण करे। वही व्यक्तियों के अन्दर सहानुभूति और सद्भावना का प्रसार करे। व्यक्तिगत सम्पत्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। एकता, समानता, न्याय इनकी रक्षा तभी हो सकती है जब राज्य व्यक्ति के लिये सब कुछ करे। छोटी से-छोटी वस्तु पर व्यक्ति का अधिकार नहीं होना चाहिये। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह सभी चीजों को अपने अधिकार में रक्खे और उनसे व्यक्ति को अधिक-से-अधिक लाभ पहुँचाये। शिक्षा सब के लिये अनिवार्य और निःशुल्क कर दी जाय। गरीबी के कारण किसी को गुण से वंचित न किया जाय। जब तक राज्य सम्पूर्ण भार को अपने ऊपर न लेगा तब तक विषमता का रोग समाज से नही जा सकता। वह सभी स्वीकार करते हैं कि सरकार की शक्ति सब से बड़ी है। जिस काम को व्यक्ति को करने में वर्षों लगेंगे उसे सरकार एक दिन में कर सकती है। मान लीजिये राज्य से शराबखोरी को बहिष्कृत करना है। विभिन्न समुदाय यह प्रयत्न करते हैं कि किसी प्रकार से इस बुराई का अन्त हो जाय। सारा समाज इसकी गन्दगी से घबड़ाने लगता है। लेकिन फिर भी शराबी आजादी के साथ दिनदहाड़े शराब पीता है। जब यही कार्य सरकार को सुपुर्द किया जाता है तो शराबी को शराब छोड़नी पड़ती है। न कोई शराब बना सकता है, न बेंच सकता है। इसी तरह जिन-जिन कामों को सरकार लेगी उसे निहायत खूबसूरती के साथ कर सकेगी। व्यक्ति केवल परिश्रम करे, बाकी चिन्ता राज्य करेगा। व्यर्थ की छीना-झपटी से क्या लाभ। व्यक्तिगत सम्पत्ति से लोभ, ईर्ष्या, कलह आदि पैदा होते हैं। अच्छा हो कि व्यक्ति के सारे अधिकार और कर्त्तव्य राज्य को दे दिये जायँ और वही उनकी देखभाल करे।

राज्य के उद्देश्य

राज्य के कर्त्तव्य को समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहले उसके उद्देश्य को समझा जाय। किसी संगठन का कर्त्तव्य उसके उद्देश्य से जाना जाता है। आर्यसमाज वैदिक संस्कृति का प्रचार करता है। इसलिए कोई यह नहीं कह सकता कि आर्य-समाजी अस्पताल क्यों नहीं बनवाते। जिसका जो उद्देश्य नहीं है उसके लिये वह धन और शक्ति नहीं खर्च कर सकता। इस लिये कर्त्तव्य को समझने के लिये उद्देश्य का समझना आवश्यक है। जब राज्य के अंतिम उद्देश्य निश्चित हो जायँगे तो कर्त्तव्य का रास्ता साफ हो जायगा। प्रश्न यह है कि राज्य की उत्पत्ति किस लिये हुई है? क्या इसकी उत्पत्ति अचानक हुई और इसका कोई निश्चित उद्देश्य नहीं

है अथवा किसी खास उद्देश्य को लेकर यह उत्पन्न हुआ है ? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से दिया गया है। समय-समय पर यह उद्देश्य बदलता रहा है। दो एक मत को उद्धृत करने से बात स्पष्ट हो जायगी।

**प्राचीन काल में यूनानियों का मत**

यूनान प्राचीन काल में राजनीति का केन्द्र था। यहीं से संसार में राजनैतिक विषयों का प्रचार हुआ। इस देश में राजनीति के कुछ ऐसे विद्वान् हुये जिनकी समता आज तक कोई नहीं कर सकता। सुकरात, अरस्तू, अफलातून इसी यूनान के दार्शनिक हुये हैं। हमें इनके विचार समझने चाहिये। राज्य के क्या उद्देश्य हैं इस पर इनका मत बहुत ही स्पष्ट है। यूनानी विद्वानों का कहना है कि राज्य का कोई उद्देश्य नहीं है। राज्य स्वयं मनुष्य के सबसे बड़े उद्देश्य की पूर्ति है। इसलिये उद्देश्य का उद्देश्य नहीं हो सकता। राज्य की स्थापना होते ही इसके सारे उद्देश्य समाप्त हो जाते हैं। इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं है। जब समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा तभी राज्य की स्थापना सम्भव है। मनुष्य के मस्तिष्क में जितनी भी कल्पनायें हैं, राज्य उन सब में श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण हैं। वह इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति अपनी उन्नति की अंतिम सीढ़ी पर पहुँच चुका है। यूनानी राज्य को एक आदर्श-पूर्ण संगठन मानते थे। अफलातून तो यहाँ तक कहता है कि सच्चे राज्य की स्थापना इस पृथ्वी पर हो ही नहीं सकती। मनुष्य के अन्दर कुछ ऐसी स्वाभाविक कमजोरियाँ हैं जिनके कारण वह इसे स्थापित करने में सर्वथा असमर्थ है। इसकी स्थापना केवल दार्शनिक कर सकते हैं। समस्त सरकारी कर्मचारी यदि दार्शनिक हो जायँ तो आदर्श राज्य की स्थापना हो सकती है। परन्तु यह सम्भव नहीं है। ऐसा राज्य स्वर्ग में ही सम्भव है। अरस्तू का कहना है कि राज्य की स्थापना जीवन की रक्षा के लिये हुई है, परन्तु इसका विकास उसे उन्नत बनाने के लिये है।*

यूनानियों के अतिरिक्त अन्य देशवासियों ने भी प्राचीन काल में राज्य के उद्देश्य और कर्त्तव्यों पर विचार किया है। उनके कथनानुसार राज्य में व्यक्ति को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं मिलनी चाहिये। राज्य को सारे काम करने का अधिकार है। मूसा के नियम के अनुसार व्यक्ति के दैनिक कार्य भी राज्य को ही निश्चित करने चाहिये। उसे यह नियम बनाना चाहिये कि मनुष्य क्या भोजन करे; कब और क्या-क्या उसमें परिवर्तन हो; वह कैसा कपड़ा पहने; उसका

* State comes into existence for life, but it continues to exist for good life.

भोजन किस प्रकार परसा जाय; तथा स्त्री-पुरुष कब और कैसे विवाह करें। तात्पर्य यह है कि छोटे से छोटे काम से लेकर बड़े-से-बड़े काम सरकार ही करे। प्राचीन काल में यहूदियों में भी इसी प्रकार के नियम पाये जाते थे। राज्य उनकी छोटी-छोटी बातों के लिये नियम बनाता था। जर्मन निवासी प्राचीन काल में राज्य को सब कुछ मानते थे; व्यक्तिगत स्वतन्त्रता स्वप्न की चीज समझी जाती थी। एक बात अवश्य है कि सरकार व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरी तरह समझती थी। दोनों की भलाई में कोई अन्तर न था। ऐसा नहीं था कि राज्य के उद्देश्य व्यक्ति की भलाई के विरुद्ध हों। यदि वह ऐसा करता तो प्रजा उसे छोड़कर किसी अन्य राज्य में चली जाती। प्राचीन काल में राज्य छोटे होते थे, जनसंख्या भी कम थी, इसलिये सम्पूर्ण प्रजा सरकार की नजरों के सामने रहती थी। उसका सुख-दुख राज्य को प्रति क्षण मालूम होता रहता था। यही वजह है कि सरकार उनकी छोटी-छोटी बातों की परवाह रखती थी। प्रजा राज्य के लिये होती थी, राज्य प्रजा के लिये नहीं। राज्य का दर्जा व्यक्ति से कहीं ऊँचा समझा जाता था। राज्य में व्यक्ति का कोई स्थान नहीं था। राज्य सब कुछ और व्यक्ति शून्य समझा जाता था।

समय के प्रभाव में विचार बदलते रहते हैं। जो सिद्धान्त प्राचीन काल में सर्वसम्मति से मान्य थे वे आज बहिष्कृत कर दिये जाते हैं।

**आधुनिक मत**

आधुनिक सिद्धान्त राज्य का कुछ और ही उद्देश्य ठहराता है। वह राज्य को व्यक्ति से छोटा समझता है। उसके अनुसार व्यक्ति की उन्नति और भलाई के लिये इसकी स्थापना हुई है। राज्य को कोई अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाये। वह स्वयं कोई उद्देश्य नहीं है वरन् एक साधन मात्र है। उसके उद्देश्य हैं प्रजा की भलाई और देश की सभी प्रकार से उन्नति करना। वह एक राजनैतिक संगठन है जो सभी संगठनों से बड़ा है। इसका कर्त्तव्य यह है कि वह अन्य संगठनों के सम्बन्ध की देख-रेख करे। जर्मन राजनीतिज्ञ होजेन्डार्फ (Holtzendorf) ने राज्य के कर्त्तव्यों को दो भागों में विभाजित किया है।

एक के अनुसार राज्य को तीन बातों का ध्यान रखना चाहिये :—

अ—राष्ट्रीयता का विकास कैसे हो ?

ब—व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये क्या प्रबन्ध हो !

स—सामाजिक उन्नति अथवा सभ्यता के विकास के लिये क्या किया जाय !

प्रजा के अन्दर सेवा, त्याग, चरित्र-बल की वृद्धि करना, राज्य के आदर्श ठहराये गये हैं। जो राज्य इनकी उन्नति की व्यवस्था करता है वह आदर्श गिना जाता है।

**राज्य का आदर्श**

जर्मन दार्शनिक हीगल (Hegel) का कहना है कि राज्य का उद्देश्य अध्यात्मवाद की उन्नति करना है। प्रत्येक व्यक्ति आदर्शमय जीवन व्यतीत करे यही राज्य का अन्तिम उद्देश्य है। कुछ विद्वानों का मत है कि राज्य का उद्देश्य अधिक-से-अधिक सुख और वैभव की वृद्धि करना है। एक बहुत बड़ी संख्या में जनता को प्रसन्न और सन्तुष्ट होना चाहिये। जिस राज्य में बहुसंख्यक प्राणी दुखी और असन्तुष्ट रहते हैं वह निन्दनीय समझा जाता है। लेकिन यह सिद्धान्त कुछ ठीक नहीं जान पड़ता। अधिक-से-अधिक लोग तो सन्तुष्ट रहें, परन्तु बाकी की क्या दशा होगी? क्या थोड़े से लोग यदि राज्य में अत्यन्त कष्ट सहते रहें तो वह निन्दनीय नहीं है? अच्छा तो यह हो कि एक भी व्यक्ति असन्तुष्ट, दुखी अथवा दरिद्र न रहे। वान मोहल (Von Mohl) नामक एक जर्मन दार्शनिक का कहना है कि राज्य के तीन उद्देश्य होने चाहिये :—

१—आरम्भिक (Primary)

२—माध्यमिक (Secondary)

३—अन्तिम (Ultimate)

आरम्भिक उद्देश्य शान्ति रखना और शासन को इस भाँति चलाना है कि व्यक्तियों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता हो। माध्यमिक उद्देश्य राष्ट्रीयता की वृद्धि करना है। अन्तिम उद्देश्य वही है जो हीगल ने कहा है अर्थात् सर्वत्र आध्यात्मिक जीवन की वृद्धि दिखलाई दे, मनुष्य जाति की पूर्ण उन्नति हो और राज्य में सभ्यता एक सिरे से दूसरे सिरे तक चन्द्रमा की किरण की तरह फैल जाय।

**राज्य के कर्त्तव्य सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त**

अठारहवीं शताब्दी के पहले राज्य के कर्त्तव्य की चर्चा कम की जाती थी। लोगों में इसके प्रति उत्सुकता इसलिये कम थी कि उनकी राजनैतिक प्रवृत्तियों का अभी विकास नहीं हुआ था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद स्वतन्त्रता और समानता की एक लहर फैली। इस लहर को समझने के लिये विचारों की स्वतन्त्रता का इतिहास जानना होगा। राज्य के कर्त्तव्य उसी समय निश्चित किये गये होंगे जब इसकी स्थापना हुई होगी। हाँ, समय समय पर कुछ नये-नये कर्त्तव्य शामिल होते गये होंगे। यदि प्रारम्भिक काल से इस इतिहास का वर्णन किया जाय तो हम नागरिक शास्त्र के विषय से बहुत दूर चले जायेंगे। १६ वीं सदी के बाद इस विषय पर अधिक जोर दिया जाने लगा। नये-नये अनुसन्धान और नई-नई खोजों के कारण लोग अपनी स्वतन्त्रता और अपने अधिकारों के महत्व को समझने लगे। इस बात की आवश्यकता पड़ी कि व्यक्ति और

राज्य के कर्त्तव्यों का बँटवारा होना चाहिये। हाब्स के कथनानुसार राज्य का कर्त्तव्य देश में केवल शान्ति रखना और व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करना है। कुछ समय पश्चात् लाक ने अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसने हाब्स के सिद्धान्त को अपूर्ण ठहराया। उसका कहना है कि राज्य का कर्त्तव्य केवल धन-जन की रक्षा करना नहीं है, बल्कि व्यक्ति को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करना है। राज्य के कर्त्तव्यों की ओर लोगों का ध्यान बढ़ता गया। वे इस बात पर जोर देने लगे कि यदि राज्य अपने कर्त्तव्यों को पूरा नहीं कर सकता तो उसे प्रजा पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं रखना चाहिये। इतना ही नहीं, बल्कि ऐसी दशा में प्रजा उसका विरोध भी कर सकती है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति तथा अमेरिका की स्वतन्त्रता का युद्ध इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। भारत में कांग्रेस आन्दोलन के पीछे यही भावना रही है। यदि ब्रिटिश सरकार अपने कर्त्तव्यों का ध्यान रखती तो यह आन्दोलन इतना जोर न पकड़ता।

लाक के पश्चात् रूसो ने इस सिद्धान्त में और भी वृद्धि की। उसने यह सिद्ध किया कि राज्य के कर्त्तव्य अनन्त हैं और उसका क्षेत्र व्यापक है। जो राज्य जितना ही सुदृढ़ और सुसंगठित होगा वह उतना ही अपने कर्त्तव्यों को पूरा करेगा। अन्तिम उद्देश्य व्यक्तिगत जीवन को प्रसन्न करना तथा उसके अन्दर सद्गुणों का प्रचार करना है। रूसो के बाद उन्नीसवीं सदी में कुछ दार्शनिकों ( utilitarions ) ने अपना नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनका कहना है कि बहुसंख्यक प्रजा में महत्वपूर्ण जीवन का संचार करना* राज्य का अनिवार्य कर्त्तव्य है। इसके बाद व्यक्तिवाद और समाजवाद वालों ने अपना विचार प्रगट किया। किसी ने व्यक्ति को समाज का स्तम्भ कहा और किसी ने समाज को ही सब कुछ ठहराया। इन दोनों सिद्धान्तों ने राज्य का जो कर्त्तव्य निश्चित किया उसका वर्णन पीछे किया गया है।

**राज्य के कर्त्तव्य का सूक्ष्म इतिहास**

प्राचीन काल में राज्य की व्यवस्था आजकल की सी न थी। आरम्भ में राज्यों का विस्तार छोटा था। जनसंख्या भी कम थी। उस समय राज्य और व्यक्ति के अधिकार की कोई चर्चा न थी। राज्य सब कुछ करता और प्रजा को चुपचाप उसे मानना पड़ता था और व्यक्ति को किसी प्रकार का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त न था। राज्य की जो इच्छा होती उसे प्रजा को स्वीकार करना पड़ता था। सम्पूर्ण अधिकार राजा को प्राप्त होते थे। एकतन्त्र

---

* The object of the state is to do the greatest good of the greatest number.

राज्य प्राचीन काल की विशेषता थी। उसके शब्द ही कानून होते थे। राज्य को इतना ध्यान अवश्य रखना पड़ता था कि प्रजा सुखी रहे। ऐसी दशा में राज्य के कर्त्तव्य कम न थे। प्रजा के सुख-दुख का उसे ध्यान रहता था। नियम बनाते समय राजा इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके पालन करने में प्रजा को कोई असुविधा न होगी।

मध्य काल में सामन्त प्रथा ( Feudalism ) का प्रचार हुआ। राज्य की व्यवस्था में एक विशेष परिवर्तन किया गया। नीचे से ऊपर तक राजनैतिक शक्तियों का एक ऐसा क्रम बाँधा गया कि राज्य की शक्ति उन्हीं हिस्सों में विभाजित हो गई। राजा की शक्ति कम कर दी गई और छोटे-छोटे लार्डों की ताकत बढ़ गई। इस प्रथा के उन्नति के शिखर पर पहुँचने पर राजा हर तरह से शक्तिहीन कर दिया गया। राज्य के कर्त्तव्यों की सीमा इतनी संकुचित हो गई कि प्रजा को स्वयं अपनी चिन्ता करनी पड़ी। इससे प्रजा को लाभ हुआ। व्यक्ति अपनी भूमि का स्वामी बन बैठा। वह समाज से अलग न था। उसके अधिकार एक दूसरे से मिले हुये थे। लोगों को राजकीय नियमों की परवाह कम हो गई; आज्ञा पालन का भाव उनके हृदय से जाता रहा। उनका ध्यान अपने अधिकारों की ओर झुकने लगा। राज्य के कर्त्तव्य एक साधारण मालिक की तरह हो गये। वह कभी-कभी हुक्म चलाता और प्रजा उसे मान लिया करती थी; इसके अतिरिक्त उनका कोई और कर्त्तव्य न था। अधिकार के बिना कर्त्तव्य नहीं रह सकते। जब राज्य की शक्ति जाती रही तो उनका कर्त्तव्य भी कम हो गया। इसका परिणाम समाजहित की दृष्टि से बुरा हुआ। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ गेटल ( Gettle ) लिखता है, "मध्यकाल में न कोई राजनीतिज्ञ संगठन था, न धार्मिक, न सामाजिक और न आर्थिक।*" यद्यपि इस कथन में बहुत कुछ अत्युक्ति है तब भी यह स्वीकर करना पड़ेगा कि मध्यकाल लड़ाइयों का युग था, उसमें शान्ति का अभाव था, कानूनों के पालन में शिथिलता आ गई थी।

आधुनिक युग के आरम्भ होते ही राज्य के कर्त्तव्य बढ़ने लगे। उसका अर्थ केवल राजा से नहीं रह गया। प्रजा को बहुत से अधिकार प्राप्त हुये। व्यक्तिगत अधिकारों की नींव पड़ी। कर्त्तव्यों के दो हिस्से किये गये। कुछ प्रजा के लिये और कुछ राज्य के लिये निर्धारित किये गये। यद्यपि इस प्रकार के विभाजन की कोई सूची नहीं है तब भी प्रजा इन अधिकारों के भेदों को भली भाँति समझती

---

* The Middle Ages were unpolitical, unreligious, unsocial and uneconomic.

है। यदि राज्य केवल टैक्स वसूल करता है और एक बड़ी फौज की सहायता से देश में शान्ति रखता है तो प्रजा इससे सन्तुष्ट नहीं रह सकती। किसी ज़माने में उसके लिये राज्य के ये कर्त्तव्य काफी रहे होंगे, परन्तु आज नहीं है। अब प्रजा को शिक्षा, कला, व्यवसाय आदि की आवश्यकता है। राज्य को विवश होकर इन्हें करना पड़ता है। इस प्रकार के कर्त्तव्य इतने अधिक हैं कि इस प्रश्न का उत्तर एक शब्द में नहीं दिया जा सकता। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि "प्रजा की जो-जो आवश्यकतायें हैं, उन्हें पूरा करना राज्य का कर्त्तव्य है।" परन्तु यह उत्तर स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। यह कहना कठिन है कि प्रजा की आवश्यकतायें क्या हैं। सब की आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न होती हैं। फिर राज्य हर एक का ठेका कैसे ले सकता है? एक दूसरी बात और है। यदि व्यक्ति की आवश्यकतायें राज्य की ओर से पूरी कर दी जायें तो उसके प्रयत्न का महत्व ही क्या रह जायगा? तात्पर्य यह है कि आरम्भ से अब तक राज्य के कर्त्तव्यों का क्षेत्र बढ़ता गया है। इसका कारण यह है कि प्रजा की माँग बढ़ती गई है। मनुष्य की बुद्धि के साथ उसकी आवश्यकतायें दिन दूनी रात चौगुनी होती जा रही हैं। वर्तमान सभ्यता का यही सबसे बड़ा श्रेय कहा जाता है। भविष्य में ये आवश्यकतायें और भी बढ़ती जायेंगी। इसी के साथ राज्य के कर्त्तव्य भी अधिक होते जायेंगे।

**राज्य के कर्तव्य और व्यक्ति की आवश्यकतायें**

ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य का कर्त्तव्य कहलाता है। परन्तु वह कुछ ऐसे कामों को भी करता है, जिनकी आवश्यकता व्यक्ति को नहीं है। इसे या तो हम राज्य का पागलपन कह सकते हैं या बुद्धि। प्रत्येक राज्य की इच्छा होती है कि उसकी सीमा बढ़ जाय। प्रजा को इसकी आवश्यकता भले ही न हो, परन्तु राज्य को यह इच्छा प्रतिक्षण रहती है। इसका नतीजा यह होता है कि वह दूसरे राज्य पर चढ़ाई करता है। सैकड़ों आदमियों की हत्या होती है और लाखों रुपये खर्च होते हैं। प्रजा यह कभी नहीं चाहती कि उसकी सम्पत्ति लड़ाइयों में खर्च कर दी जाय। लड़ाई उसकी आवश्यकता नहीं है। उस वक्त इसकी आवश्यकता अवश्य है जब उसके राज्य पर बाहर से कोई हमला होता है। प्रजा लड़ाई से डरती है; लेकिन राज्य को इस भय की कोई चिन्ता नहीं होती। वह किसी दूसरे राज्य पर चढ़ाई करना अपना सम्मान समझता है। अक्सर देखा जाता है कि प्रजा की आवश्यकता धन है तो राज्य भी यही चाहता है। प्रजा की इच्छा के विरुद्ध सरकार की ओर से टैक्स लगाये जाते हैं। उस रुपये को राज्य अपने पागलपन में भले ही खर्च कर दे, परन्तु उसे इकट्ठा करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। इसी प्रकार राज्य के कर्त्तव्यों और प्रजा

की आवश्यकताओं में अकसर भेद-भाव रहा करते हैं। यदि यह प्रतिद्वन्द्विता मिट जाय और "यथा राजा तथा प्रजा" वाला सिद्धान्त ठीक हो जाय तो सभी राज्य आदर्श बन जायँ। उस समय दुनिया की एक बहुत बड़ी हलचल दूर हो जायगी।

**एक मध्यम मार्ग**

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य के इने-गिने कर्त्तव्य हैं। इसके विपरीत समाजवाद कर्त्तव्यों का एक बहुत बड़ा गट्ठर उसके सिर पर रखना चाहता है। प्रश्न यह है कि होना क्या चाहिये। मध्यम मार्ग सबसे श्रेष्ठ माना गया है। सारा बोझ न व्यक्ति पर रखा जाय और न राज्य पर। दोनों की सुविधानुसार कुछ कर्त्तव्य राज्य को सौंप दिये जायँ और कुछ व्यक्ति को। आवश्यकता पड़ने पर वे बदले जा सकते हैं। आधुनिक युग स्वतन्त्रता और समानता का है। व्यक्ति अधिक से-अधिक स्वतन्त्रता चाहता है। प्रत्येक क्षेत्र में आज यह युद्ध चल रहा है। स्त्री-पुरुष, किसान-जमींदार, विद्यार्थी और अध्यापक सभी इस प्रश्न पर खींचतान कर रहे हैं कि उनके क्या-क्या अधिकार हैं। यदि राज्य और व्यक्ति में यह संघर्ष चल रहा है तो कोई नई बात नहीं है। इस झगड़े का निपटारा तभी हो जब कोई मध्यम मार्ग निकाला जाय। राज्य और प्रजा के कर्त्तव्य उसी समय निश्चित हो सकते हैं जब दोनों ठंढे दिल से इस पर विचार करके कोई मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करने पर तैयार होंगे।

वह मध्यम मार्ग कौन सा है? एक बात हम ध्यान में रखकर इस प्रश्न को हल कर सकते हैं यह तो स्पष्ट है कि राज्य के कर्त्तव्य समय समय पर बदलते रहते हैं। परन्तु उनका सिद्धान्त नहीं बदलता। यही कारण है कि उसके कुछ कर्त्तव्य सदैव एक से बने रहते हैं। उनके रूप में थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही पड़ जाय, परन्तु वे घट-बढ़ नहीं सकते। जैसे शारीरिक रक्षा, जायदाद की रक्षा, बाह्य हमलों से देश की रक्षा ये कर्त्तव्य ऐसे हैं जिन्हें राज्य को सदैव करना पड़ता है। आज से दो हजार वर्ष पहिले और आज बीसवीं सदी में भी इनका पालन करना पड़ता है। इतना अवश्य है कि पहिले पैदल सिपाही या घुड़सवार रक्षा किया करते थे अब हवाई जहाज और तोप-बन्दूकों से रक्षा की जाती है।

**जान-माल की रक्षा करना**

राज्य का प्रथम कर्त्तव्य जान-माल की रक्षा करना है।* जिस देश में शरीर और धन सुरक्षित नहीं है वह राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। वह इस बात की व्यवस्था करे कि राज्य के अन्दर कोई एक दूसरे को शारीरिक हानि न पहुँचाये। सरकार को

* Safety first.

छोड़ कर दण्ड देने का अधिकार किसी और को नहीं मिलना चाहिये। यदि कोई आत्महत्या करता है तो सरकार उसे दण्ड दे। बाहरी हमलों से वह देश की रक्षा करे। इसके लिये वह फौज रक्खे और उसका खर्च प्रजा से टैक्स के रूप में ले। प्रजा को प्रसन्नतापूर्वक इन टैक्सों को देना चाहिये। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार आवश्यकता से अधिक फौज रक्खे और हथियारों के बनाने में एक बहुत बड़ी रकम खर्च करे। आजकल प्रजा का धन इस व्यर्थ की तैयारी में बेहद नष्ट हो रहा है। यदि यही पैसा शिक्षा और कारोबार में लगता तो संसार से गरीबी और बेकारी दोनों चली जातीं। शरीर और शान्ति की रक्षा के लिये उतनी ही सेना और पुलीस रखनी चाहिये जितनी आवश्यक हो। कुछ कानूनों से व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा का उपाय होना चाहिये। सरकार ऐसे नियम बनाये जिससे कोई किसी की सम्पत्ति पर हाथ न लगाये। चोरी डाका आदि अपराधों के लिये कड़े दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिये। इन दोनों कर्त्तव्यों को पूरा किये बिना राज्य की स्थिति असम्भव है।

**न्याय की रक्षा**

राज्य का तीसरा आवश्यक कर्त्तव्य न्याय की रक्षा करना है। जिस राज्य में धनी, गरीब, नीच, ऊँच, काले और सफेद का भेद-भाव किया जाता है वहाँ न्याय की रक्षा नहीं हो सकती। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह सबको एक समान देखे। टैक्स का सिद्धान्त एक होना चाहिये। कचहरियों में इंसाफ करने में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करना चाहिये। एक राजनीतिज्ञ का कहना है न्याय राज्य की जड़ है।* जो राजा न्याय नहीं करता वह नरक का अनुगामी होता है। 'नीति और राज्य ये दोनों एक साथ उत्पन्न और नष्ट होते हैं।' अफलातून का कहना है 'न्याय राज्य का अन्तिम उद्देश्य है।' न्याय के बल पर राज्य की मर्यादा और दृढ़ता दोनों निर्भर हैं। निर्बल राज्य न्याय की रक्षा नहीं कर सकता। जिस राज्य में न्याययुक्त शासन होता है, वह सूचित करता है कि उसकी सरकार दृढ़ और कार्यकुशल है। राज्य में सेना और पुलीस का प्रबन्ध न्याय की रक्षा के लिये किया जाता है। कचहरियों को सभी लोग न्यायालय कहते हैं। राज्य की ओर से अपराधियों को इसलिये दण्ड दिया जाता है कि उनके कार्य न्याय के विरुद्ध होते हैं। राज्य को स्वयं इसकी रक्षा करनी पड़ती है, साथ ही प्रजा में व्यक्तिगत न्याय का विधान बनाना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति किसी के साथ अन्याय करता है तो वह राज्य की ओर से दण्ड का भागी होता है। जितने भी कानून बनते हैं सब का उद्देश्य अन्याय को रोक कर न्याय की रक्षा करना है।

---

* Justice is the heart of the state.

न्याय और समानता दोनों में सम्बन्ध है। शरीर और धन में विषमता रहते हुए भी समानता हो सकती है। प्रजातन्त्र का तात्पर्य है कि राज्य में समानता रहे। अर्थात् प्रत्येक कार्य में व्यक्ति को समान अवसर दिया जाय। जहाँ पर इस प्रकार की समानता नहीं पाई जाती, और जाति, रूप, रंग तथा धर्म में भेदभाव किया जाता है वहाँ न्याय की रक्षा नहीं हो सकती। यदि भारत में सरकारी कामों में ब्राह्मण क्षत्रियों को विशेष सुविधायें दी जायँ तो यह एक प्रकार का अन्याय होगा। राज्य का कर्त्तव्य है कि सबको समान अवसर दे, तभी न्याय की रक्षा सम्भव है। कानून सबके लिए एक होने चाहिए। धनी और गरीब का अन्तर न्यायालयों में नहीं होना चाहिए।

**स्वास्थ्य और सफाई**

राज्य का कर्त्तव्य किसी एक विभाग को सुदृढ़ करना नहीं है। प्रजा को जिन-जिन वस्तुओं से लाभ पहुँचे उन सबकी व्यवस्था करना उसका धर्म है। किसी भी प्रकार से मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक उन्नति होनी चाहिए। केवल भोजन, वस्त्र और रक्षा राज्य के कर्त्तव्य नहीं हैं। इन्हें व्यक्ति जितना कर सकता है, उससे अधिक करना राज्य का कर्त्तव्य है। अन्तःकरण की उन्नति के लिये वाह्य रहन-सहन की आवश्यकता पड़ती है। गन्दी जगहों में निवास और सड़ी-गली चीजों के प्रयोग से कोई भी बीमार पड़ सकता है। एक की बीमारी गाँव भर को बीमार कर सकती है। इसी भयंकरता को रोकने के लिये राज्य स्वास्थ्य और सफाई विभाग रखता है। इस विभाग का कर्त्तव्य है कि वह राज्य में सफाई का प्रबन्ध करे। जिस राज्य में बार-बार बीमारी आये और लोग रोगी तथा कमजोर रहें, वह प्रजा की रक्षा और उन्नति का विधान नहीं बना सकता। बड़े-बड़े शहरों में सफाई का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। घनी बस्तियों में सफाई के नियम न हों तो प्लेग और महामारी आदि बीमारियाँ मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ सकतीं। इसलिये सरकार स्थानीय संस्थाओं द्वारा सफाई का प्रबन्ध कराती है और अवसर पड़ने पर औषध भी वितरण करती है। हमारे देश में गाँवों की सफाई तथा लोगों के स्वास्थ्य पर कम ध्यान दिया जाता है। इसी का परिणाम है कि ग्रामीण जनता घरेलू दवाइयों और अपनी बुद्धि का ही भरोसा करती है।

अँग्रेजी में एक कहावत है कि सफाई स्वर्ग का मार्ग है।* हमारे यहाँ भी सफाई और पवित्रता को जीवन में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। जब तक मशीनें ईजाद नहीं हुई थीं तब तक बड़े-बड़े शहर कम थे। परन्तु आज कल शहरों की आबादी और संख्या बढ़ रही है। जीविका की खोज में गाँवों के लोग शहरों में आ

---

* Cleanliness is road to godliness.

रहे हैं। इसलिये शहरों की बनावट, हवा, रोशनी आदि के प्रबन्ध का ध्यान रखना सरकार का विशेष कर्त्तव्य हो गया है। आवागमन की सुविधा के कारण यात्रा करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। इससे छूत-छात की बीमारियों के फैलने की काफी आशंका रहती है। इसीलिये रेलों में छूत के मरीजों को चलने की इजाजत नहीं है। इससे सैकड़ों आदमी बीमार पड़ेंगे और अन्य जगहों में वे बीमारियाँ फैलेंगी। शहरों में पार्क, स्नानागार तथा शौचालय आदि इसीलिये बनाये जाते हैं कि लोग बीमारियों के शिकार न बन सकें। बीमारों के लिये औषधालय तथा अस्पताल बनवाये जाते हैं। बाजारों में सरकारी अफसर इस बात की देखभाल रखते हैं कि कोई सड़ीगली चीजें न बेचे। शराब, अफीम, गाँजा आदि नशीली चीजों पर सरकार पूरा अधिकार रखती है। सबको इनके बेचने की आज्ञा नहीं दी जाती। कुछ देशों में सरकार की ओर से अफसर नियुक्त किये जाते हैं जो स्कूलों में विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की परीक्षा करते हैं।

**आवागमन के साधन देना**

जब तक आवागमन की सुविधा न थी तब तक एक देश दूसरे से अलग था। उनमें न कोई व्यापारिक सम्बन्ध था और न सांस्कृतिक। रेल, तार, डाक, जहाज इत्यादि के बनने पर लोग एक देश से दूसरे देशों में जाने लगे। यदि इस बीसवीं शताब्दी में कोई राज्य इन सुविधाओं से अपने आपको वंचित रखता है तो वह पिछड़ा हुआ समझा जाता है। भारत आज दुनिया की दौड़ में पीछे गिना जाता है। इसके बहुत से कारण हैं। उनमें से एक यह है कि हम नये आविष्कारों से बाद में फायदा उठाने लगे हैं। इनकी उन्नति से शासन-कार्य में सहायता मिलती है। राज्य के कर्मचारी आसानी से एक सिरे से दूसरे सिरे तक जा सकते हैं। राज्य में बीमारी फैली हो अथवा अकाल पड़ा हो तो सरकार आसानी से वहाँ दवा और अन्न भेज सकती है। किसी भाग की प्रजा किसी कारणवश बगावत करे तो वह जल्दी से जल्दी वहाँ सेना पहुँचा सकती है। शासन के अतिरिक्त आवागमन की सुविधाओं से प्रजा की आर्थिक दशा में वृद्धि होती है। अपने देश में तो तिजारत बढ़ती ही है विदेशों में भी व्यापार करने का अवसर मिलता है। इन्हीं सुविधाओं से लाभ उठाकर यूरप के लोगों ने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में दुनियाँ के बाजारों पर अपना अधिकार कर लिया। व्यावसायिक उन्नति के साथ उन्हें राजनैतिक अधिकार भी मिल गये। परिणाम यह हुआ कि बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना हुई। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अधिक से अधिक लोगों को स्वदेश में घूमने और विदेश जाने की तरह-तरह की सुविधायें दे।

आवागमन के साधन देशों के सम्बन्ध और उनके सम्पर्क को बढ़ाते हैं। इससे राजनैतिक एकता की वृद्धि होती है। भ्रमण एक ऐसी चीज है जो दिल

बहलाव के अतिरिक्त मस्तिष्क शक्ति को बढ़ाता है। ज्ञान की वृद्धि होती है। फ्रांस में एक समय यह नियम था कि शिक्षित लोगों को परीक्षाओं का प्रमाण-पत्र तब तक नहीं दिया जाता जब तक वे चार सौ मील से ऊपर का सफर नहीं कर लेते थे। इंगलैंड में भी ऐसा नियम था। प्रत्येक अँग्रेज विद्यार्थी को कम-से-कम फ्रांस का भ्रमण अवश्य करना पड़ता था। इससे मनुष्य की बुद्धि बढ़ती है, सैकड़ों व्यक्तियों से मिलने का अवसर मिलता है तथा जीवन के नये-नये अनुभव होते हैं। सरकार अनुभवशील व्यक्तियों को पैदा करना चाहती है तो नागरिक और अनागरिक दोनों को वह आवागमन की सुविधा दे। एक स्थान पर बैठा हुआ मनुष्य कूपमंडूक हो जाता है। जिस राज्य में इसके साधन अधिक हैं वहाँ की प्रजा सुखी और अनुभवशील है। हमारे देश में आवागमन के साधनों की कमी है। गाँवों में जाने के लिये ठीक रास्ते तक कहीं-कहीं नहीं मिलते। वहाँ के किसान और व्यापारी अपनी वस्तुओं को आसानी से रेल और बैलगाड़ी द्वारा बड़े बड़े शहरों को नहीं भेज सकते। सरकार को गाँवों में कच्ची सड़कों का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिये। गाँवों की गरीबी और अशिक्षा का यह भी एक कारण है कि वे एक दूसरे से सर्वथा अलग हैं। वहाँ न तो कोई बाहर से आता है और न वे ही कहीं जाते हैं। आशा है कि ग्रामोत्थान में इसकी सुविधा उन्हें दी जायेगी। राष्ट्रीयता की वृद्धि के लिये अपने देश की सभी बातों से परिचित रहने की आवश्यकता है। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह एक भाग के निवासियों को दूसरे भाग में जाने की सुविधा दे। यदि सभी राज्य आपस में सहमत होकर एक दूसरे से अपना सम्बन्ध आवागमन के लिये ठीक कर लें तो संसार में अधिक शान्ति रह सकती है। उनकी कमी भी काफी अंश में दूर हो सकती है। अमेरिका में किसी-किसी वर्ष गेहूँ इतना अधिक होता है कि उसे जलाने की नौबत आ जाती है। दूसरी ओर हमारे देश में लाखों मनुष्य ऐसे हैं जो नंगे और भूखे रहते हैं। विलियम डिगबी साहब लिखते हैं, "बीसवीं सदी के शुरू में करीब दस करोड़ मनुष्य ब्रिटिश भारत में ऐसे हैं जिन्हें किसी समय भी पेट भर अन्न नहीं मिलता। इस अधःपतन की दूसरी मिसाल इस समय किसी सभ्य और उन्नतिशील देश में कहीं पर भी दिखाई नहीं पड़ती।" एक ओर तो लोग भूखों मरते हैं और दूसरी ओर गेहूँ जलाया जाता है इसे मूर्खता के सिवाय और क्या कह सकते हैं। इसलिये आवागमन की सुविधा के साथ राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अन्य देशों से मित्रता का व्यवहार रक्खे।

**दीन-दुखियों का प्रबन्ध करना**

प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे व्यक्ति रहते हैं जो कार्य करने से वंचित होते हैं। वे या तो शरीर के किसी अंग से रहित होते हैं, अथवा माता-पिता के कुप्रबन्ध के कारण धनहीन हो जाते हैं। उनके पास कोई ऐसी सम्पत्ति नहीं होती जिससे वे अपनी

जीविका उपार्जन कर सकें। कुछ के पास रहने के लिए घर तक नहीं होता। हमारे देश में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जिनके पास न घर है और न कोई सम्पत्ति। इसलिये बहुत से भिखारी इधर-उधर घूमते हुये दिखलाई पड़ते हैं। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह इनकी देख रेख करे। बहुत से राज्यों ने इसका इतना अच्छा प्रबन्ध किया है कि वहाँ किसी को भीख माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अमेरिका और रूस में कोई भीख नहीं माँग सकता। सरकार भीख माँगने वालों को दंड देती है। लेकिन साथ ही वहाँ उनके लिये काम की व्यवस्था है। जो अपाहिज हैं उनके लिये भी कोई न कोई प्रबन्ध किया गया है। यदि राज्य ऐसा नहीं करता है तो उसमें चोरी और व्यभिचार की वृद्धि होगी। जब भूखे और दीन दुखियों की संख्या बढ़ जायगी तो राज्य में हाहाकार मच जायगा। हमारे देश में दीन-दुखियों की रक्षा तथा उनकी जीविका का कोई प्रबन्ध नहीं है। थोड़े से ईसाई मिशनरी सेवा-कार्य में लगे हैं, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना है। राज्य की ओर से इसकी व्यवस्था होनी चाहिये। दैवी विपत्तियों में किसी का वश नहीं है। जो लोग स्वस्थ और सम्पन्न हैं उन्हें लँगड़े-लूलों से घृणा नहीं करनी चाहिये। उनकी कमाई में इन गरीबों का भी हिस्सा है। मजदूर वर्ग सबसे अधिक परिश्रम करता है, लेकिन सामाजिक व्यवस्था की कमी के कारण वह सबसे गरीब है। वे बिचारे अपने पेट की ही चिन्ता में पड़े रहते हैं। पूँजीपति उनकी गरीबी से लाभ उठाते हैं। उनसे अधिक-से-अधिक काम लेते हैं और कम-से-कम मजदूरी देते हैं। सरकार को इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। इस दिशा में भारतीय सरकार ने कुछ किया है, लेकिन वह काफी नहीं है।

**सामाजिक सुधार**

समाज कोई स्थिर वस्तु नहीं है। वह क्रमशः उन्नति-अवनति करता रहता है। ऐसा समय संसार के इतिहास में न आया है और न आयेगा जब सम्पूर्ण सामाजिक बुराइयाँ दूर हो गई हों, या दूर हो जायेंगी। सामाजिक सुधार सर्दैव चलते रहेंगे। कारण यह है कि जो तीव्र बुद्धि वाले होते हैं वे नये जमाने के अनुकूल अपने आपको जल्दी ढाल लेते हैं। वे पुरानी रूढ़ियों के दास नहीं होते। इसके विपरीत अधिकतर मनुष्य रूढ़िवाद के गुलाम होते हैं। उन्हें अन्धविश्वास से निकालने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता है। यदि उन्हें उसी दशा में छोड़ दिया जाय तब भी काम नहीं चल सकता। थोड़े से लोगों की उन्नति से पूरे राज्य की उन्नति नहीं हो सकती। कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि सरकार का सिद्धान्त यह होना चाहिये कि अधिक-से-अधिक लोगों की भलाई और उन्नति हो। परन्तु यह सिद्धान्त सर्वसम्मति से मान्य नहीं है। सरकार सबकी

उन्नति का ठीकेदार है। सामाजिक रूढ़ियों तथा कुरीतियों को दूर करना उसका कर्तव्य है। विभिन्न समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार की समस्यायें होती हैं। हमारे देश को ले लीजिये। छुआछूत, गरीबी, मजदूरों की समस्या, अन्धविश्वास, अज्ञानता, बालविवाह, भिक्षावृत्ति, आदि बहुत-सी कुरीतियाँ समाज में प्रचलित हैं। वैसे तो सुधार करने वाली संस्थायें इन्हें दूर करने का प्रयत्न कर रही हैं, लेकिन सरकार को भी इन्हें दूर करना चाहिये। कानून के भय से बहुत-सी कुरीतियाँ समाज से निकाली जा सकती हैं। सारदा बिल के पास हो जाने से बाल-विवाह की प्रथा लगभग समाप्त हो रही है। यदि अनिवार्य-शिक्षा सम्बन्धी कोई कानून बना दिया जाय तो अशिक्षा भी काफी अंश में दूर हो सकती है। कई देशों में शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क है।

सरकार एक शक्ति है। छोटे-छोटे संगठन उसी से शक्ति प्राप्त करते हैं। समाज सुधार एक कठिन कार्य है। कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं जब सरकार की सहायता के बिना सुधार का काम आगे नहीं चल सकता। उस हालत में सरकार की शरण लेनी पड़ती है। उसका कर्तव्य है कि वह सुधार संस्थाओं को आर्थिक सहायता दे। यदि उन्हें किसी और प्रकार की सहायता की आवश्यकता है तो उसे भी वह प्रदान करे। समाजवादी तो यहाँ तक कहते हैं कि राज्य में व्यक्तिगत उद्योग होना ही नहीं चाहिये। जनता की भलाई का ध्यान रखते हुये सरकार सभी प्रकार के उद्योग-धन्धों को करे। इससे आर्थिक विषमता का नाश और प्रजा में सद्भाव तथा सहयोग की वृद्धि होगी। इसी से सरकार के शान्ति आदि उद्देश्य पूरे होंगे।

**व्यक्तिगत स्वतन्त्रता**

यह विषय विवादग्रस्त है कि राज्य व्यक्ति को किस हद तक स्वतन्त्र रक्खे। किन कार्यों को वह स्वयं करे और किन्हें प्रजा के ऊपर छोड़ दे। इसका निर्णय करना कठिन है। कारण यह है कि जैसी जनता होगी उसी सीमा तक राज्य उन पर उत्तरदायित्व देगा। यदि प्रजा के विचार उन्नत हैं, वह निःस्वार्थ भाव से सेवा-कार्य कर सकती है तो सरकार उसे अधिक उत्तरदायित्व देगी। व्यक्ति को इतनी स्वतन्त्रता दी जायगी कि वह अपना सुधार तथा अपनी भलाई स्वयं करे। यदि प्रजा कूपमंडूक है, वह अन्ध विश्वास के बन्धन से जकड़ी हुई है तो सरकार कम-से-कम स्वतन्त्रता उसे प्रदान करेगी। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राज्य का उद्देश्य है और इसी की पूर्ति के लिये उसके सारे प्रयत्न होने चाहिये। कहा गया है कि "हम स्वतन्त्र होने के लिये ही बन्धन में पड़े हुये हैं।" * वह सरकार अपने उद्देश्य

*We are in bondage in order to be free.

को भूल जाती है जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण करती है। नाजीवाद और फासिस्टवाद इसी लिये दोषी ठहराये जाते हैं कि उनमें व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता आँख मूँद कर कुचली जाती है। यह कोई नहीं कहता कि सम्पूर्ण अधिकार व्यक्तियों को दे दिये जायँ और सरकार शक्तिहीन बन जाय। सरकार का कर्त्तव्य इन दोनों के बीच में है। व्यक्ति को क्रमशः अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता मिलती जाय और सरकार उसकी रक्षा का प्रबन्ध करे। जनता के राज्य का यही तात्पर्य है कि वह स्वयं अपना शासन करे। प्रत्येक व्यक्ति को, जो बालक नहीं है, वोट देने का अधिकार मिलना चाहिये। उसे इस बात की भी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये कि वह जिसे चाहे अपना वोट दे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार के कर्तव्य अपरिमित हैं। जहाँ तक वह उनका पालन करेगी उसी हद तक वह जनता के हृदय पर शासन कर सकेगी। तलवार के बल से भी राज्य किया जाता है, लेकिन वह स्थायी नहीं होता। किसी समय वहाँ क्रान्ति की ज्वाला भभक उठेगी, यह कोई नहीं कह सकता। जिस राज्य में प्रजा की अनुमति का ध्यान रक्खा जाता है, वहीं स्थायी शान्ति रहती है। कानून का पालन वहीं होता है जहाँ प्रजा की राय मानी जाती है। इसलिये सरकार का कर्त्तव्य प्रजा के अधिकारों की रक्षा करना और उसकी राय का ध्यान रखना है। यह राय सभी क्षेत्रों में दी जाती है। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह हर क्षेत्र में अधिक-से-अधिक बहुमत से कार्य करे। प्रजा तभी संतुष्ट रह सकती है जब राज्य में उसकी सुनाई हो। कोई सरकार यह नहीं कह सकती कि लोकमत देशहित के विरुद्ध है। वह ऐसी शिक्षा का प्रचार करे जिससे देशवासियों में राष्ट्रीयता और देशभक्ति ( Patriotism ) की भावना पैदा हो। अपने कर्त्तव्यों का पालन करते समय सरकार को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह लोकप्रिय हो। प्रजा को सरकार पर और सरकार को अपनी प्रजा पर इसी बात का गर्व हो कि दोनों एक दूसरे के हितचिन्तक हैं।

अध्याय ६

# सरकार और इसके अंग

## (Structure of Government)

**राज्य और सरकार**

कुछ लेखकों का मत है कि राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं है। दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। राज्य कहे अथवा सरकार दोनों का अर्थ एक ही है। इस प्रकार के लेखकों के पास प्रमाण भी काफी हैं। जैसे कोई अँग्रेजी सरकार कहता है तो उसका अर्थ अँग्रेजी राज्य भी है, इसी प्रकार जर्मन सरकार और जर्मन राज्य एक ही अर्थ रखते हैं। जितने राज्य हैं उतनी ही सरकार हैं। जहाँ राज्य होगा वहाँ सरकार का होना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि सरकार ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो राज्य से अलग अपनी सत्ता रखती हो। इतना एकीकरण होते हुए भी इन दोनों में भेद है। जितना अन्तर शरीर और प्राण में है उतना ही राज्य और सरकार में है। प्राण के बिना शरीर मिट्टी है। इसी प्रकार सरकार के बिना राज्य आदमियों का एक झुंड मात्र है। सरकार राज्य की एक मशीन है। राज्य के अवयव (Elements) सरकार से भिन्न हैं। सरकार राज्य का वह साधन है जिसके द्वारा वह अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। राज्य एक स्थूल पदार्थ है। इसका सम्बन्ध किसी विशेष स्थान से रहता है। सरकार एक परिवर्तनशील भावना है जो अवसर बदलती रहती है। राज्य का नकशा हम खींच सकते हैं, उसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा विस्तार का पता लगा सकते हैं, परन्तु सरकार की कोई शक्ल नहीं बना सकते। यदि राज्य को हम एक बहुत बड़ा कारखाना मान लें तो सरकार उसका सबसे बड़ा एजेंट है। राज्य के और भी बहुत से एजेंट्स हैं, लेकिन सरकार इन सबमें बड़ी है। 'राज्य' शब्द से हम यह समझते हैं कि उसकी कोई सीमा होगी और कुछ व्यक्ति उसमें निवास करते होंगे, परन्तु 'सरकार' शब्द से हम यह नहीं जान सकते कि उसका स्वरूप क्या और उसके उद्देश्य क्या हैं। उसके स्वरूप इतने भिन्न हैं कि केवल 'सरकार' शब्द उनके स्पष्टीकरण के लिये काफी नहीं है। कोई राज्य स्वदेशी और विदेशी नहीं हुआ करता। लेकिन सरकार स्वदेशी और विदेशी होती है।

सरकार राज्य के अन्दर एक प्रकार का संगठन है। आर्थिक, धार्मिक, व्यावसायिक, साहित्यिक तथा और भी अनेक संगठन राज्य में होते हैं। सरकार इन सबसे कई मानों में भिन्न है। एक तो वह इन सबकी स्वामी है। उसी की कृपा पर ये संगठन जीवित रहते हैं। किसी संगठन या समुदाय को वह छिन्न-भिन्न कर सकती है। सरकार सबसे बड़ा राजनीतिक संगठन है। वह राज्य को जिस ढाँचे में चाहे ढाल सकती है। चाहे तो राज्य में हद दर्जे की गरीबी पैदा कर दे और चाहे तो सोने और चाँदी से अपने देश को भर दे। किसी समय वह राज्य को टुकड़े-टुकड़े कर सकती है। दूसरे राज्यों पर अपना प्रभाव जमा सकती है। सरकार की शक्ति अनन्त है। वह थोड़े से सरकारी अफसरों का एक गिरोह नहीं है बल्कि ऐसी शक्ति है जो मनुष्य की बनाई सभी शक्तियों में महान् है। यद्यपि मनुष्य ने ही इसे जन्म दिया है और उसी के उद्यम से इसका विकास हुआ है। फिर भी वह व्यक्तियों पर शासन करती है। बड़ा-से-बड़ा सरकारी अफसर सरकार से डरता है। वह किसी मनुष्य को फाँसी पर लटका सकती है। दुनिया में ऐसी सरकारें मौजूद हैं जिन्होंने अपने देश में हद दर्जे की तबाही पैदा कर रक्खी है। इसके विपरीत कुछ सरकारों ने अपने राज्य से गरीबी और बेकारी को सर्वथा मिटा दिया है। उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सरकार राज्य के अन्दर वह राजनैतिक शक्ति है जो राज्य को जीवित एवं प्रगतिशील रखती है।

**सरकार के गुण**

जब हम अमुक राज्य को अच्छा और दूसरे को बुरा कहते हैं तो हमारा तात्पर्य सरकार से होता है। राज्य अच्छा और बुरा नहीं हो सकता। सरकार अच्छी और बुरी होती है। अच्छी सरकार से अच्छा राज्य बनता है। ऊपर कहा गया है कि सरकार की शक्ति अनन्त है और वह जो चाहे कर सकती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह एक अनियमित शक्ति है। नियम उल्लंघन वह नहीं करती। उसका सबसे बड़ा गुण यह माना गया है कि स्वयं नियमों का पालन करे और दूसरों से करावे। जितने कानून बनते हैं सरकार उन सब की रक्षा करती है और जनता को उनके पालन का मार्ग प्रदर्शित करती है। व्यक्ति के अन्दर जितने अच्छे गुण हो सकते हैं वे सब सरकार में पाये जाते हैं। व्यक्ति के गुणों और अच्छी भावनाओं के संगठन से उसकी उत्पत्ति होती है। सरकार न्याय के बल पर स्थिर है। यह असम्भव है कि बड़ा से-बड़ा सरकारी अफसर राज्य का एक पैसा खा जाय। सरकार उसे वही दंड देगी जो एक साधारण चोर को। दंड देने में वह सदैव निष्पक्ष रहती है। समाज की अच्छी प्रवृत्तियों को वह जागृत करती है और बुरी भावनाओं को दबाकर जनता को आगे बढ़ाती है। राज्य में एकता और समानता का भाव फैला कर विभिन्न कलाओं को जन्म देती है। जो काम व्यक्ति नहीं कर सकता और

समाज जिसे करने का अवसर नहीं पाता, उसे सरकार क्षण मात्र में कर सकती है। बाल-विवाह की प्रथा रोकने के लिये हमारे देश में वर्षों से कोशिश की जा रही थी। व्यक्ति और समाज दोनों ही इसके पक्ष में थे, किन्तु रूढ़िवादियों के आगे उनकी एक नहीं चलती थी। "सारदा बिल" पास कर सरकार ने इसे बन्द करा दिया। यद्यपि अब भी चोरी से कुछ लोग इस कानून का उल्लंघन करते हैं फिर भी हम सरकार की शक्तियों का इससे अनुमान लगा सकते हैं।

बुरों से भलों की रक्षा करना, देश-देशान्तरों से अनुभवशील व्यक्तियों को बुलाकर अपने देश की उन्नति करना, अच्छे से अच्छे कानूनों द्वारा अपने देश-वासियों का कल्याण करना, न्याय को बरतना, अमीर-गरीब के भेदभाव को मिटाते रहना, तथा इसी प्रकार के और भी कामों को सरकार करती है। देश की रक्षा और शान्ति का पूरा भार सरकार पर रहता है। इन कर्त्तव्यों से यह प्रकट है कि सरकार के गुणों की सूची हम तैयार नहीं कर सकते। उसके गुण हर कानून और कार्य में दिखलाई पड़ते हैं। व्यक्ति और समाज जहाँ अपनी-अपनी भलाई और स्वार्थ की बातें करते हैं वहाँ सरकार इन सबकी भलाई का उपाय सोचती है। उसकी दृष्टि में न कोई अमीर है और न गरीब। वह जाति-पाँति तथा काले-सफेद का भेद-भाव नहीं करती। कुछ सरकार ऐसी हैं जो काले-सफेद का अन्तर करती हैं, लेकिन हम उनकी प्रशंसा नहीं कर सकते। अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका में सफेद और काले का भेदभाव किया जाता है लेकिन इसके लिये दुनिया उन्हें कोसती है। सरकारी सिद्धान्त राज्य की भलाई के लिये है। सरकार की रूप-रेखा भले ही बदल जाय लेकिन उसके गुणों में अन्तर नहीं पड़ सकता, किन्तु सरकार की नियत ठीक होनी चाहिये।

जहाँ सरकार में इतने गुण हैं, वहाँ कुछ अवगुण भी हैं। वह अपनी शक्ति का अनुमान आवश्यकता से अधिक करती है; स्वभाव से रूढ़ि-वादी होने के कारण सभी सामाजिक सुधारों में आरम्भ में कठिनाइयाँ डालती है। कभी-कभी देखा जाता है कि एक ही सरकार अपने देश में अच्छे और विदेशों के लिये घातक कानून बनाती है। कुछ सरकार आज बीसवीं सदी में तलवार और बन्दूक को अपनी शक्ति समझती हैं। इसका कारण यह है कि दुनियाँ की हवा बदली हुई है। सरकार का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह जनता की राय पर चले, लेकिन आज वे जनता को ठुकरा कर जीवित रहना चाहती हैं। ऐसी सरकार स्थायी नहीं रह सकती। सरकार में एक और भी दोष है। अपनी कमी और काहिली के कारण कभी-कभी वह धनी और स्वार्थी व्यक्तियों की गिरोह बन जाती है। सरकार परिवर्तन से डरती है। वह अपने ढाँचे को, चाहे वह कितना भी पुराना अथवा निकम्मा क्यों न हो, बदलना नहीं चाहती। अपनी हार का अनुमान लगते

ही पैशाचिक शक्तियों का उपयोग करने में वह थोड़ी भी हिचक नहीं करती। विदेशी सरकार अपने देश की भलाई के लिये दूसरे देशों को बड़ी क्रूरता से लूटती और तबाह करती है।

**सरकार के अंग**

जिस प्रकार किसी कुटुम्ब का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उस घर के मालिक पर होता है उसी तरह राज्य का सारा भार सरकार पर निर्भर है। थोड़ी भी असावधानी से राज्य का अन्त हो सकता है। कुटुम्ब को हम ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि व्यक्ति अलग-अलग कामों में लगे हुये हैं; घर के मालिक ने उनके कामों को बाँट दिया है; सबके काम का महत्व एक-सा है। एक की असावधानी का प्रभाव सारे कुटुम्ब पर पड़ता है। कुटुम्ब की तरह सरकार ने भी अपने कामों को कई विभागों में बाँट रक्खा है। उसके ऊपर इतना बड़ा उत्तरदायित्व है कि कार्य विभाजन के बिना ठीक काम नहीं हो सकता। उसे इतने कर्त्तव्यों का पालन करना है कि बिना उनका वर्गीकरण किये वह सुचारु रूप से सबको पूरा नहीं कर सकती। उसका काम केवल टैक्स वसूल करना और कानूनों को पास करना नहीं है। उसे देखना पड़ता है कि उन कानूनों का पालन हो रहा है अथवा नहीं; जो उन्हें भंग करते हैं उनके दण्ड की व्यवस्था करनी पड़ती है। दण्ड देने के लिये नियम तथा न्यायालय दोनों बनवाने पड़ते हैं। कुछ लोग इसीलिये नियुक्त किये जाते हैं कि वे इस बात का पता लगाते रहें कि कौन लोग कानूनों को तोड़ रहे हैं।

सरकार के कामों की गिनती से हम पार नहीं पा सकते। उसका काम तीन भागों में बँटा हुआ है। इन्हीं तीन भागों को सरकार का तीन अंग कहा गया है। सरकार के जितने काम हैं सब इन्हीं भागों के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। इसीलिये उसके तीन मुख्य काम कहे गये हैं। वह देश के लिये कानून बनाती है, उनके पालन करने के लिये लोगों को बाध्य करती है और जो इन्हें तोड़ता है उसे दण्ड देती है। अथवा कहना चाहिये कि सरकार रूपी वृक्ष की ये तीन शाखायें हैं, बाकी उप-शाखायें, टहनियाँ और पत्ते हैं। सरकार का जो विभाग कानून बनाता है उसे विधान मंडल (Legislature) कहते हैं। जो विभाग कानूनों की देख-रेख करता है वह कार्य-पालिका (Executive) कहलाता है। तीसरा विभाग नियम तोड़ने वालों को दंड देता है, उसे न्याय-पालिका (Judiciary) कहते हैं। प्रत्येक विभाग का अलग-अलग वर्णन करना कई दृष्टियों से अच्छा होगा। कारण यह है कि यद्यपि ये अंग अलग-अलग कार्य करते हैं और इनका संगठन भिन्न है, फिर भी इनमें एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये किसी सिद्धान्त पर अलग किये गये हैं। इन सिद्धान्तों की ओर हमें दृष्टि डालनी होगी।

**सरकारी अंगों के विभाजन के सिद्धान्त**

विधान-मंडल, कार्य-पालिका और न्याय-पालिका—ये सरकार के तीन अंग हैं। इनके संगठन और कार्य एक दूसरे से भिन्न हैं। प्रश्न यह है कि क्या ये तीनों अंग एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र हैं अथवा कहीं-न-कहीं इनका सम्बन्ध रक्खा गया है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे एक दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र होकर काम नहीं कर सकते। मान लीजिये विधान-मंडल ने कोई कानून पास किया। कार्य-पालिका के कर्मचारी उसकी देख-रेख नहीं करते अथवा न्यायालय में जज उस आदमी को दण्ड देने से इनकार कर देता है जो दिन-दहाड़े डाके और चोरी करता है। इसी तरह और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर एक विभाग दूसरे की परवाह नहीं करता तो इसका परिणाम यह होगा कि देश में अशान्ति फैलेगी और अच्छी से अच्छी सरकार बदनाम हो जायगी।

मानटेस्क्यू ( Montesquieu ) ने अपनी एक पुस्तक में इन तीनों अंगों के विभाजन पर विचार किया है। वह लिखता है, 'प्रत्येक सरकार के अन्तर्गत तीन शक्तियाँ होती हैं : विधान-मंडल, कार्य-पालिका और न्याय-पालिका। पहली शक्ति क़ानून बनाती है, दूसरी उनका पालन करवाती है और तीसरी तोड़ने वालों को दण्ड देती है। राज्य में स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक है कि सरकार इस ढंग पर इन तीनों अंगों का विभाजन करे कि एक व्यक्ति दूसरे से भयभीत न हो। यदि कानून बनाने और उनके पालन करवाने का भार एक के हाथ में सौंप दिया जाय तो व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं रह सकता। इसी प्रकार उस दशा में भी स्वतन्त्रता नहीं रह सकती जब कि न्याय-पालिका और कार्य-पालिका अलग-अलग कार्य न करें। यदि उपरोक्त दोनों अंगों के काम मिला दिये जायँ तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जीवन दोनों सुरक्षित नहीं रह सकते।"*

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि मानटेस्क्यू इस बात के पक्ष में है कि सरकार

---

* "If the Legislative and Executive powers" says Montesquieu, "are united in the same person, or in the same body of persons, there is no liberty, because of the danger that the same monarch or the same senate may make tyrannical laws and execute them tyrannically. Nor, again, is there any liberty if Judicial power is not separated from Legislative power. The power of the life and liberty of the Citizens would be arbitrary for the judge would be the law maker, if it were joined to the executive power, the Judge would have the force of an oppressor."

( The spirit of the laws

के तीनों अंगों को अलग-अलग काम करना चाहिये। एक अंग दूसरे के काम में हस्तक्षेप न करे वरना नागरिक स्वतन्त्र नहीं रह सकता। इसी सिद्धान्त के आधार पर अमेरिका की शासन-पद्धति का निर्माण किया गया है। कांग्रेस वहाँ का विधान-मंडल है। उसका काम केवल कानून बनाना है। प्रेसीडेन्ट कार्य-पालिका का प्रधान है। वह अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र है। कहा जाता है कि "अमेरिका का प्रेसीडेन्ट केवल स्त्री को पुरुष नहीं बना सकता बाकी सब कुछ कर सकता है।" इसी प्रकार वहाँ का सब से बड़ा न्यायालय सुप्रीम कोर्ट ( Supreme Court ) पूरी तरह स्वतन्त्र है। अर्थात् संयुक्त राज्य अमेरिका में सरकार के तीनों अंग एक दूसरे से अलग रक्खे गये हैं। एक विभाग का बड़ा से बड़ा अधिकारी दूसरे विभाग में हाथ नहीं डाल सकता। अमेरिका के समान इन तीनों अंगों के इतनी सुन्दरता के साथ विभाजन की मिसाल दुनियाँ के किसी राज्य में नहीं पाई जाती।

मानटेस्क्यू की तरह ब्लैक स्टोन ( Black Stone ) ने अपनी एक पुस्तक* में तीनों अंगों के विभाजन पर बल दिया है, ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि अरस्तू ने भी इस बात पर बल दिया है कि तीनों अंग जहाँ तक हो अलग-अलग रक्खे जायँ। प्राचीन और मध्ययुग के भारतीय इतिहास से पता चलता है कि सरकार की विभाजन प्रणाली स्पष्ट न थी। राजा और उनके थोड़े से सलाहकार राज्य के लिये कानून बनाते थे; वे ही इन्हें पालन कराते और भंग करने वालों को दंड देते थे। फिर भी हम देखते हैं कि उनकी प्रजा आजकल से कहीं प्रसन्न और सुखी थी। आगे चल कर इस बात का वर्णन किया गया है कि आज भी ये तीनों अंग बिलकुल अलग नहीं हैं। कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि सरकार के न केवल तीन बल्कि चार और पाँच अंग हैं। अमेरिका के एक विद्वान् जे० क्यू० डेली ( J. Q. Dealey ) ने सरकार के सात अंग ठहराया है। लेकिन जिस आधार पर इन्होंने इन अंगों का विभाजन किया है उसके अनुसार हम सरकार को कई भागों में बाँट सकते हैं। कुछ फ्रांसीसी विद्वानों ने सरकार को केवल दो अंगों में विभाजित किया है—विधान-मंडल और कार्य-पालिका विभाग। न्याय-पालिका को वे कार्य-पालिका का एक भाग मानते हैं। चाहे कितने भी टुकड़े किये जायँ सभी सरकार तीनों विभागों द्वारा अपना काम करती हैं। इतना अवश्य है कि उनके सम्बन्ध में काफी अन्तर पाया जाता है।

**विभाजन सिद्धान्त पर एक**

कहने को हम सरकार के तीनों अंगों को एक दूसरे से अलग समझते हैं और हर अंग को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं, लेकिन कार्य रूप में कुछ और देखते हैं। सबसे पहले हमारी दृष्टि अमेरिका ( U. S. A. ) की ओर जाती है। वहाँ की शासन-पद्धति

* Commentaries on the laws of England.

आलोचनात्मक दृष्टि

की यह विशेषता समझी जाती है कि तीनों अंग एक दूसरे से अलग-अलग कार्य करते हैं। एक अमेरिकन लेखक ने कहा है "हमारी शासन-पद्धति की विशेषता सरकार का अंग विभाजन है और इसकी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसमें 'ईश्वर' शब्द का नाम नहीं है।" काँग्रेस, प्रेसीडेन्ट और प्रधान न्यायालय ( Supreme Court ) यद्यपि अलग-अलग हैं फिर भी इनका एक घनिष्ट सम्बन्ध है। काँग्रेस कोई कानून ऐसा नहीं पास कर सकती जो प्रेसीडेन्ट की इच्छा के विरुद्ध हो। काँग्रेस द्वारा पास किये गये कानून को वह रद्द कर सकता है। इतनी सुविधा काँग्रेस को अवश्य दी गई है कि वह प्रेसीडेन्ट के रद्द किये हुये कानून को दो तिहाई बहुमत से पास कर राज्य में लागू कर सके। लेकिन यह दो तिहाई बहुमत काँग्रेस की दोनों सभाओं में अलग-अलग होना चाहिये। प्रेसीडेन्ट काँग्रस का सदस्य नहीं बन सकता। इसका अर्थ यह है कि विधान-मंडल और कार्य-पालिका दोनों अलग-अलग हैं, लेकिन जब कोई आवश्यक कानून पास कराना होता है तो प्रेसीडेन्ट उसे संदेश ( Message ) के रूप में काँग्रेस में भेज देता है और वह संदेश कानून के रूप में पास कर दिया जाता है। यद्यपि काँग्रेस उसे पास करने के लिये बाध्य नहीं है, फिर भी प्रेसीडेन्ट का प्रभाव उसे पास करा देता है। फिर यह कैसे कहा जाय कि अमेरिका में विधान-मंडल और कार्य-पालिका में कोई सम्बन्ध नहीं है। अमेरिका ( U. S. A. ) का प्रधान न्यायालय ( Supreme Court ) पूर्ण स्वतन्त्र कहा जाता है। सरकार का कोई विभाग उसके कामों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। लेकिन हमें मालूम होना चाहिये कि प्रधान न्यायालय के सभी न्यायाधीशों को प्रेसीडेन्ट नियुक्त करता है। इस कार्य में वह सीनेट ( Senate ) से परामर्श करता है। अमेरिका में कई राजनैतिक दल हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विधान-मंडल और प्रेसीडेन्ट के विचार एक हों और प्रेसीडेन्ट वही बनाया जाय तो काँग्रेस के विचार से सहमत हो।

इंगलैंड में भी ये तीनों अंग अलग-अलग किये गये हैं। पार्लियामेन्ट कानून बनाती है, कैबिनेट ( Cabinet ) प्रधान कार्य-पालिका है और प्रिवी कौंसिल सबसे बड़ा न्यायालय है। लेकिन जब हम गहराई के साथ इनका अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि ये अंग नाममात्र के लिये अलग किये गये हैं। पार्लियामेन्ट के दो अंग हैं, लार्ड ( House of Lords ) और कामन सभा ( House of Commons ) लार्ड सभा का सभापति, जो लार्ड चान्सलर ( Lord Chancellor ) कहलाता है, कैबिनेट का सदस्य और प्रिवी कौंसिल का सभापति होता है। इसका अर्थ यह है कि एक ही व्यक्ति विधान-मंडल कार्य-पालिका, और न्यायपालिका तीनों में काम कर रहा है। फिर हम क्यों कहते हैं कि तीनों अंग एक दूसरे से

कोई सम्बन्ध नहीं रखते। कार्य-पालिका के सभी सदस्य कामन्स सभा के सदस्य होते हैं। इससे स्पष्ट है कि सिद्धान्त रूप में इंगलैंड में ये तीनों विभाग अलग-अलग हैं, लेकिन कार्यरूप में इनमें एक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

फ्रांस में ये तीनों अंग काफी मिले-जुले दिखाई देते हैं। यहाँ का प्रेसीडेन्ट, जो कार्य-पालिका का प्रधान होता है, विधान-मंडल द्वारा निर्वाचित किया जाता है। उसे यह अधिकार है कि वह सीनेट ( Senate ) की राय से चेम्बर आफ डिप्यूटीज ( Chamber of Deputies ) को भंग कर दे। जर्मनी की लड़ाई के पहले जर्मन सम्राट का विधान-मंडल पर काफी प्रभाव था। आज जिन-जिन देशों में तानाशाही ( Dictatorship ) दिखलाई पड़ती है वहाँ विधान-मंडल और न्याय-पालिका लगभग एक ही अंग बन गये हैं। यूरोप के कई देशों में प्रशासन विधि ( Administrative Laws ) की प्रथा प्रचलित है। इन कानूनों को विधान-मंडल नहीं बनाते। कार्य-पालिका के कर्मचारियों को यह अधिकार दिया गया है कि आवश्यकता पड़ने पर वे ऐसे कानून बना सकते हैं।

सच्ची बात यह है कि हम इन तीनों अंगों को बिलकुल अलग नहीं कर सकते। कार्य रूप में विभाजन का यह सिद्धान्त असम्भव है। सरकार स्वयं एक मशीन है। इसके पुर्जे-पुर्जे अलग कर देने पर यह काम नहीं कर सकती। इसके सभी अंग एक दूसरे से काफी मिले-जुले रहने चाहिये। राज्य एक ऐसी इकाई है कि इसकी भलाई के लिए हम समूचे सरकार पर तो निर्भर रह सकते हैं लेकिन इसके एक-एक टुकड़े पर भरोसा नहीं कर सकते। सरकार के तीनों अंगों में से कोई भी अंग इतना शक्तिशाली हो सकता है कि वह दूसरे अंगों पर हावी हो जाय। यह बात नागरिक स्वतन्त्रता में बाधक सिद्ध होगी। इसलिए इनके विभाजन में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि ये अलग-अलग काम करते हुए भी आपस में टकराने न पायें। इनका मेल उन जगहों पर अवश्य रहे जहाँ से राज्य की अधिक भलाई हो सकती है। यह कहना गलत है कि न्याय और कार्य-पालिका का कार्य एक व्यक्ति के हाथ में आ जाने से राज्य में स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। इंगलैंड की ओर हम दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि ये दोनों अंग एक व्यक्ति के हाथ में होते हुये भी वहाँ काफी स्वतन्त्रता है। केवल अंगों के अलग-अलग होने से स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती। तीनों अंगों के विभाजन में हम कोई दीवार नहीं खड़ी कर सकते। इसका विभाजन प्रत्येक देश में अलग-अलग ढंग पर हो सकता है। कारण यह है कि विभिन्न देशों में लोगों की अलग-अलग मनोवृत्तियाँ हैं और उनकी सामाजिक व्यवस्था में काफी अन्तर है। उनके वातावरण और संस्कृति में भी अन्तर है। इन्हीं के अनुसार इन तीनों अंगों को शक्ति प्रदान की जा सकती है। कुछ बातें ऐसी आवश्यक हैं जो हर देश में लागू हो सकती हैं।

पहली बात तो यह है विधान-मण्डल का स्थान इन तीनों में श्रेष्ठ है। इसलिये इसे सबसे अधिक शक्तिशाली होना चाहिये। आर्थिक अधिकार केवल विधान-मंडल को मिलना चाहिये, क्योंकि जनता के पैसे को उसके प्रतिनिधियों को ही खर्च करने का अधिकार है। दूसरी बात यह है कि न्याय-पालिका पूर्णतया स्वतन्त्र होनी चाहिये, जैसा भारतीय संविधान में किया गया है। किसी देश में न्याय तब तक नहीं हो सकता जब तक न्यायालयों को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान न की जाय। हमारे देश में अंगों के विभाजन में कुछ ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन्हें हम स्वतन्त्रता के पश्चात् अब चालू नहीं रख सकते। इनसे नागरिक स्वतन्त्रता में बाधायें पड़ती हैं। पहली कमी यह है कि जिले का क्लेक्टर वहाँ की कार्य-पालिका का प्रधान है और न्याय भी करता है। काँग्रेस सरकार ने कुछ अंशों में इस कमी को दूर किया है। परन्तु अभी यह प्रयोग के ही रूप में हो रहा है। दूसरी कमी यह है कि राष्ट्रपति को आर्डिनेन्स जारी करने का भी अधिकार दिया गया है। वे किसी भी समय भारतीय विधान-मंडल ( संसद ) की राय को ठुकरा कर आर्डिनेन्स ( Ordinance ) जारी कर सकते हैं।

**विधान-मंडल ( Legislature )**

विधान-मंडल का मुख्य कार्य कानून बनाना है। इस सभा के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होने चाहिये। इस सभा में मनोनीत होकर भी लोग आते हैं। हमारे देश में अभी हाल तक काफी लोग मनोनीत होकर विधान-मंडलों में आते थे। सरकार अपने चुने हुए आदमियों को मनोनीतकर इनमें इसलिए भेजती थी कि प्रत्येक कार्य में वे उसका साथ देंगे। परन्तु मनोनीत करने की प्रथा अब प्रायः सभी देशों से दूर कर दी गई है। विधान-मंडलों में विभिन्न मत के लोगों को अपना प्रतिनिधि भेजना चाहिये। लीकाक लिखता है * "विधान मंडलों में जनता के अधिक-से-अधिक प्रतिनिधि आने चाहिये। प्रत्येक दृष्टिकोण और समुदाय के लोगों को उसमें आने का अवसर मिलना चाहिये जिससे समाज के सभी अंग उसमें स्थान पा सकें।" विधान-मंडल में सदस्यों की संख्या क्या हो इसमें लोगों के मतभेद हैं। कुछ लोग कहते हैं कि सदस्यों की संख्या जितनी ही अधिक होगी उतने ही प्रकार के विचारों का सहयोग प्राप्त होगा। दूसरे प्रकार के राजनीतिज्ञ इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। वे कहते हैं कि कम प्रतिनिधि होने से अच्छी तरह विचार करने का अवसर मिलेगा। प्रतिनिधियों का बाजार लगाने से कोई लाभ नहीं।

---

* A Legislative body must consist of many persons, representing numerous interests, various points of view, and different sections of the community.

प्राचीन काल में जब कि प्रत्येक देश की जनसंख्या थोड़ी थी, प्रतिनिधि चुनने का रिवाज न था। सारी जनता इकट्ठी होकर अपने लिये नियम बना लिया करती थी। यूनान देश में यह रिवाज अधिक समय तक प्रचलित था। जनसंख्या बढ़ जाने पर सारी जनता का एकत्रित होना असम्भव ही नहीं बल्कि भयंकर भी है। भारत को हम उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। यह देश काफी लंबा-चौड़ा है, फिर भी यहाँ कोई ऐसा मैदान नहीं है जहाँ ३४ करोड़ आदमी इकट्ठे होकर अपने लिये कानून बना सकें। इन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के लिये प्रतिनिधित्व की प्रथा चलाई गई। जहाँ तक प्रतिनिधियों की संख्या का प्रश्न है, इसमें मध्यम मार्ग सबसे अच्छा होगा। जिस देश की जितनी ही कम या अधिक जनसंख्या हो उसी हिसाब से वहाँ का छोटा-बड़ा विधान-मंडल होना चाहिये। इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि देश का कोई वर्ग इसमें स्थान ग्रहण करने से वंचित न रह जाय। इससे जनता में असन्तोष और द्वेष की वृद्धि होगी।

विधान-मंडल के सम्बन्ध में कुछ बातों का ध्यान प्रत्येक देश को रखना चाहिये। पहिली बात तो यह है कि इसकी अवधि अधिक नहीं होना चाहिये। कम से कम ३ वर्ष और अधिक से अधिक ५ वर्ष इसकी आयु हो। संसार के लगभग सभी देशों में इन्हीं के आसपास विधान-मंडलों की अवधि रक्खी गई है। दूसरी बात यह है कि विधान-मंडल के सदस्यों को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वे कोई भी बिल उपस्थित करें और उन पर अपनी राय व्यक्त कर सकें। इसके अतिरिक्त सदस्यों को कुछ ऐसी सुविधायें मिलनी चाहिये जिनसे वे अपने निर्वाचन-क्षेत्र में जाकर उसका अध्ययन कर सकें। जर्मनी में विधान-मंडल के सदस्यों को रेलवे का निःशुल्क पास दिया जाता है, जिससे वे जहाँ चाहें बिना टिकट आ जा सकें। किसी-किसी देश में सदस्यों को माहवारी वेतन दिया जाता है। कहीं-कहीं पर यह रिवाज है कि साल के अन्त में एक निश्चित राशि जो भी सदस्य चाहे ले सकता है। इंगलैंड में कामन सभा के प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार है कि वह साल के अन्त में ६०००) चाहे तो ले सकता है। उत्तर प्रदेश में विधान-मण्डल के प्रत्येक सदस्य को २००) मासिक पुरस्कार दिया जाता है। विधान-मण्डल भवन के अन्दर कोई सदस्य इंगलैंड में गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। यह प्रथा लगभग सभी सभ्य देशों में पाई जाती है।

विधान-मंडल सरकार के सभी अंगों में प्रधान है। इसकी उपयोगिता सबसे अधिक है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लास्की लिखता है, "प्रायः...कार्य-पालिका और न्याय-पालिका दोनों की शक्तियाँ विधान-मंडल की इच्छा पर निर्भर हैं।"* विधान-

---

* In general......the powers both of Executive and Judiciary find their limits in the declared will of the Legislative organ.

मंडल के द्वारा जनता अपने मत का स्पष्टीकरण करती है। कानून बनाने के अतिरिक्त यह सरकार के शेष अंगों की टीका-टिप्पणी भी करती है।

**विधान-मंडल में दो सभायें**

विधान-मंडल का कार्य इतना वृहत् है कि लगभग सभी देशों ने इसके दो भाग किये हैं। इन दोनों के नाम अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। अमेरिका में एक को सीनेट कहते हैं और दूसरी को हाउस आफ रिप्रजेन्टेटिव ( House of Representatives ); फ्रान्स में एक को सीनेट और दूसरी को चेम्बर आफ डिप्यूटीज ( Chamber of Deputies ) कहते हैं। हमारे देश में नये शासन-विधान के अनुसार केन्द्रीय विधान-मंडल में एक का नाम राज्य परिषद और दूसरे का लोक सभा है। इसी शासन विधान के अनुसार कुछ प्रदेशों में दो सभाओं का नियम बनाया गया है। दो सभाओं से कुछ लाभ भी हैं और कुछ हानियाँ भी।

**एक सभा**

जर्मनी की लड़ाई के पहले अधिकतर देशों में विधान-मंडल में एक ही सभा होती थी। आज भी बलगारिया, लेटविया, फिनलैंड, पुर्तगाल, टर्की आदि देशों में विधान-मंडल के एक ही अंग होते हैं। वहाँ दो सभाओं का नियम नहीं है। इतना अवश्य है कि संसार का कोई शक्तिशाली और बड़ा देश एक सभा वाला ढंग पसन्द नहीं करता। जहाँ एक सभा का रिवाज है वहाँ विधान-मंडल का सभापति प्रेसीडेन्ट (President) कहलाता है।

**दो सभायें**

ऊपर कहा गया है कि संसार के सभी सभ्य देशों ने दो सभाओं का नियम स्वीकार किया है। यहाँ पर बड़ी सभा को द्वितीय सभा ( Second Chamber or Upper Chamber ) और छोटी सभा को प्रथम सभा (First Chamber or Lower Chamber ) कहते हैं। प्रायः बड़ी सभा में प्रतिनिधियों की संख्या कम होती है। उसकी अवधि छोटी सभा से अधिक होती है। किसी-किसी देश में बड़ी सभा न कभी भंग की जाती है और न उसका चुनाव होता है। छोटे और बड़े शब्द से यह तात्पर्य नहीं है कि बड़ी सभा बड़ी होती है और छोटी सभा छोटी। वास्तव में बात बिलकुल उल्टी है। छोटा बड़ा इसलिये कहा जाता है कि बड़ी सभा ( Upper-Chamber ) में देश के बड़े-बड़े लोग चुन कर भेजे जाते हैं, लेकिन छोटी सभा ( Lower Chamber ) में आम-जनता के प्रतिनिधि आते हैं। बड़ी सभा एक प्रकार से धनिकों की सभा है। उसमें आने के लिये सदस्यों को बड़ी सम्पत्ति का मालिक होना पड़ता है। कोई गरीब आदमी बड़ी सभा का सदस्य नहीं बन सकता।

बड़ी सभा का सभापति अधिकतर देशों में प्रेसीडेन्ट और छोटी सभा का

स्पीकर ( Speaker ) कहलाता है। इंगलैंड में कामन सभा का सभापति स्पीकर ( Speaker ) कहलाता है। सदस्यों की संख्या में प्रत्येक देश की बड़ी सभा छोटी होती है। उसके मेम्बर थोड़े होते हैं। इंगलैंड इस नियम के अन्तर्गत नहीं आता। वहाँ की बड़ी सभा (House of Lords) छोटी सभा (House of Commons) से बड़ी है। लार्ड सभा में ७०० के लगभग और कामन सभा में केवल ६२० सदस्य हैं। संसार के विधान-मंडलों में इंगलैंड का विधान-मंडल सबसे बड़ा है। बड़ी सभा या दूसरी सभा विचारों में आम जनता की विरोधी होती है। वह सदैव धनिकों का पक्षपात करती है। इसीलिये सभी देशों में इसे बहुत कम अधिकार दिये गये हैं। अधिकार शक्तियाँ छोटी सभा को दी जाती हैं। इंगलैंड में कामन्स सभा को सब कुछ अधिकार प्राप्त है, लार्ड्स सभा नाम मात्र के लिये है। इसीलिये जब लार्ड्स सभा की बैठक होती है तो ७०० सदस्यों में से बीस सदस्य भी उपस्थित नहीं होते। जनता से जो कुछ टैक्स वसूल किया जाता है उसे खर्च करने का अधिकार सभी देशों में छोटी सभा ( Lower Chamber ) को दिया गया है। बड़ी सभा उसमें कुछ नहीं कर सकती। बड़ी सभा ( Second Chamber ) को एक लेखक ने "गाड़ी का पाँचवाँ पहिया" कहा है। अर्थात् बड़ी सभा एक बेकार चीज है।

**बड़ी सभा ( Upper Chamber ) की आवश्यकता**

जब सभी अधिकार छोटी सभा ( Lower Chamber ) को प्राप्त हैं तो बड़ी सभा ( Upper Chamber) की क्या आवश्यकता है ? बड़ी सभा से भी कुछ लाभ हैं। कानून के पास करने में छोटी सभा शीघ्रता नहीं कर सकती। हर बिल के लिये यह आवश्यक है कि वह तीन बार ( Three Readings ) एक सभा में पास हो जाने पर दूसरी सभा में भेजा जाता है। वहाँ भी उसी प्रकार तीन बार उस पर विचार किया जाता है। उसमें बहुत से संशोधन किये जाते हैं। इस प्रकार बिल की सारी त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। यदि बड़ी सभा न होती तो हर कानून में कोई न कोई त्रुटि रह जाती। बड़ी सभा से दूसरा लाभ यह है कि अल्प संख्यक वर्ग को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है और उसे अपना विचार रखने का अवसर मिलता है। आम-जनता अपने प्रतिनिधियों को छोटी सभा ( Lower Chamber ) में भेजती है। ये प्रतिनिधि जनता की आवश्यकतायें पूरी करने की कोशिश करते हैं। कोई भी साधारण आदमी किसी पूंजीपति को अपना वोट नहीं दे सकता, क्योंकि वह जानता है कि इससे उसे कोई लाभ न होगा। लेकिन बड़ी सभा में रुपये तथा सम्पत्ति का प्रतिबन्ध लगाकर कुछ ऐसे नियम बनाये गये हैं कि धनिकों को वहाँ प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। उन्हें भी अपनी कठिनाइयों को

रखने का अवसर मिलता है। बड़ी सभा से एक तीसरा लाभ यह है कि देश के सबसे अनुभवशील और योग्य पुरुष इसी सभा में आते हैं। उनके विचारों से आम-जनता को लाभ पहुँचता है। बड़ी सभा के कुछ सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत होकर आते हैं। हर देश में कुछ ऐसे योग्य और विद्वान् व्यक्ति होते हैं जो जनता द्वारा नहीं पहचाने जाते। उन्हें आम-जनता अपना वोट नहीं देती। इसलिये बड़ी सभा ( Upper Chamber ) में सरकार उन्हें मनोनीत करती है और वहाँ से वे अपने उच्च विचार प्रगट करते हैं।

**कानून कैसे बनते हैं**

कानून विधान-मंडल द्वारा बनाये जाते हैं। जब कोई कानून बनाना होता है तो विधान-मंडल का कोई सदस्य उस आशय का एक बिल उपस्थित करता है। वह सभा भवन में उठकर अपने बिल की आवश्यकता और उसका विषय सबको समझाता है। तब वह बिल सरकारी विज्ञप्ति ( Government-Gazette ) द्वारा जनता में प्रचलित किया जाता है। फिर कोई भी उस पर अपनी राय दे सकता है। सभा भवन में इन रायों पर विचार किया जाता है और तब उसकी टीका-टिप्पणी होती है। इसके बाद उसमें कुछ संशोधन किया जाता है। फिर तीसरी बार उस पर प्रतिनिधियों में बहस होती है और सर्व-सम्पति से वह बिल पास होने पर दूसरी सभा में भेज दिया जाता है। वहाँ भी इसी प्रकार तीन बार विचार किया जाता है और आवश्यकता होने पर संशोधन भी होता है। फिर पहली सभा में भेजा जाता है। यदि दूसरी सभा के सभी संशोधन पहली सभा को मंजूर होते हैं तो बिल पास समझा जाता है और तब उसे ऐक्ट ( Act ) कहा जाता है। जब कार्य-पालिका के प्रधान का उस पर हस्ताक्षर हो जाता है तो वह ऐक्ट कानून बन जाता है। जब एक सभा के संशोधन दूसरी सभा को स्वीकार नहीं होते तो दोनों सभाओं के सदस्य एकत्रित होकर अपने मतभेद का निवारण करते हैं।

**इनीशियेटिव और रिफरेन्डम ( Initiative and Referendum )**

आधुनिक प्रजातन्त्र के युग में जनता को अधिक-से-अधिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। प्रजातन्त्र का अर्थ ही यह है कि सभी सरकारी अधिकार प्रजा को दे दिये जायँ। कानून बनाने और उस पर जनता की राय प्रगट करने के लिये कई देशों में कुछ विशेष नियम बनाये गये हैं। एक नियम यह है कि यदि कुछ निश्चित संख्या में मताधिकारी ( यह संख्या सरकार की ओर से निश्चित रहती है ) कोई कानून पास कराना चाहें तो वे विधान-मंडल पर इस बात का दबाव डालें कि अमुक कानून पास कर दिया जाय। जनता अपनी राय लिख कर विधान-मंडल में भेज देती है और वहाँ उस पर विचार किया जाता है। इस नियम

को इनीशियेटिव ( Initiative ) कहते हैं। दूसरा नियम यह है कि जो कानून विधान-मंडल द्वारा पास किये जाते हैं उन पर जनता की राय लेना आवश्यक होता है। जब एक निश्चित संख्या में मताधिकारी अपनी राय उसके पक्ष में दे देते हैं तब वह कानून पास समझा जाता है। इसी को रिफरेन्डम ( Referendum ) कहते हैं। इन दोनों से यह लाभ है कि जनता की राय स्पष्ट हो जाती है। उसे बाद में यह कहने का अवसर नहीं रह जाता कि अमुक कानून बुरा है। ये दोनों ढंग कोई नये नहीं हैं। प्राचीन काल में भारत, यूनान और रोम नगर में कानूनों पर जनता की राय ली जाती थी। उसी की नकल कुछ देशों में अब भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

स्विटजरलैंड

स्विटजरलैंड में ये दोनों ढंग काफी समय से प्रचलित हैं। वर्तमान प्रजातन्त्र देशों में स्विटजरलैंड का प्रजातन्त्र सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है। जिस प्रकार भारत कई सूबों में बँटा हुआ है उसी तरह स्विटजरलैंड छोटे-छोटे कैन्टन्स ( Cantons ) में विभाजित किया गया है। कुछ कैन्टन्स ( Cantons ) तो इतने छोटे हैं कि वहाँ सभी लोग एकत्र होकर अपने लिये कानून बना लिया करते हैं। स्विटजरलैंड में ३०,००० मताधिकारी विधान-मंडल को इस बात के लिये बाध्य कर सकते हैं कि वह अमुक कानून पास कर दे। सरकार को विवश होकर उसे पास करना पड़ता है। शासन-पद्धति को बदलने के लिये यदि ५०,००० मताधिकारी सरकार के सामने प्रार्थना-पत्र भेजें तो सरकार को उनकी बात माननी पड़ती है। अमेरिका ( U. S. A. ) की कुछ रियासतों ( States ) में ये रिवाज प्रचलित हैं। कुछ विद्वान इन तरीकों के पक्ष में हैं और कुछ विपक्ष में। जो पक्ष में हैं वे कहते हैं कि इससे प्रजा को अधिक अधिकार प्राप्त होते हैं और जनता में संतोष रहता है। मतदाताओं को अपने मत का मूल्य मालूम पड़ता है। कानून को पास करने या बहिष्कृत करने में कोई उलझन नहीं होती। प्रजा उत्साह के साथ राजनीति में भाग लेती है। कानून जनता के लिये भार न होकर उसकी इच्छाओं के प्रतिबिम्ब होते हैं। वह प्रसन्नतापूर्वक उनका पालन करती है। परन्तु जो लोग इनके विरुद्ध हैं उनका कहना है कि आम जनता में यह शक्ति नहीं है कि वह कानूनों के महत्व को समझे। ऐसी दशा में हर कानून पर जनता की राय लेना और उसकी इच्छा पर उसे पास करना ठीक नहीं है। इससे कानून बनाने की शक्ति प्रतिनिधियों के हाथ से निकल कर मताधिकारियों के हाथ में आ जाती है। फिर प्रतिनिधियों से क्या लाभ है! कानून एक टेढ़ी चीज है और हर आदमी उसके महत्व को नहीं समझ सकता। इसलिये जनता की राय पर उसे छोड़ देना ठीक नहीं है। कुछ भी हो, स्विटजरलैंड में यह पद्धति सफलतापूर्वक काम कर रही है।

**कार्यपालिका (Executive)**

कार्य-पालिका से सरकार के उस अंग से तात्पर्य है जो शासन को कार्यान्वित करता है। यह विधान-मंडल के बनाये हुए कानूनों की देख-रेख रखता है। वास्तव में देश का शासन कार्यपालिका ही करती है। शासन के दैनिक जीवन में इसी अंग का हाथ सबसे अधिक होता है। विधान-मंडल और न्याय-पालिका से इसका सीधा सम्बन्ध है। जो कानून को भंग करता है वह कार्यपालिका द्वारा दोषी ठहराया जाता है और तब न्यायालय उसे दण्ड देते हैं। लीकाक लिखता है, "कार्यपालिका से उन सरकारी अफसरों से तात्पर्य है जिनका काम सरकारी कानूनों का पालन कराना है।"* गिलक्राइस्ट लिखता है, "कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानूनी ढंग पर जनता की राय का पालन कराता है।† वास्तव में कार्यपालिका कोई सभा नहीं है। राष्ट्रपति से लेकर छोटा से छोटा सरकारी कर्मचारी इसके अन्तर्गत गिना जाता है। विधान-मंडल कभी-कभी मिलता है, लेकिन कार्यपालिका हर घड़ी अपना काम करती है। हमारे देश में राष्ट्रपति से लेकर एक साधारण चौकीदार तक कार्यपालिका विभाग का सदस्य है। कार्य-पालिका के दो अर्थ होते हैं। एक तो देश के प्रधान तथा उसके सहायकों से और दूसरा कार्यपालिका विभाग के सभी कर्मचारियों से। इंगलैंड में प्रधान मन्त्री (Prime Minister) और कैबिनेट के सभी सदस्यों को कार्यपालिका से सूचित किया जाता है। और कभी-कभी इसका अर्थ कर्मचारियों से भी होता है। अमेरिका में प्रेसीडेन्ट और कैबिनेट को कार्यपालिका कहा जाता है।

**कार्यपालिका के विभिन्न रूप**

प्रत्येक देश की शासन-पद्धति अलग-अलग है। वहाँ की कार्य-पालिका भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। किसी-किसी देश में कार्य-पालिका के प्रधान को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वह नाम-मात्र के लिये वेतन लेकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। ब्रिटेन का सम्राट् ब्रिटिश साम्राज्य का स्वामी कहलाता है। राज्य के सारे काम उसी के नाम पर होते हैं, लेकिन कार्यरूप में वह कुछ भी नहीं करता। सारा काम कैबिनेट करती है। इसके विपरीत अमेरिका में प्रेसीडेन्ट सब कुछ करता है। उसके सलाहकार उसकी अध्यक्षता में काम करते हैं, जिन्हें वह किसी भी समय निकाल सकता है। वही अपने देश की सेना

---

*The term 'Executive' is used to designate those officers of the Government whose business it is to 'execute' or carry out the law of the land.

† The Executive is that branch of Governmant which carries out or executes the will of the people as formulated in laws.

का सबसे बड़ा अफसर होता है और समय पड़ने पर बड़े-से-बड़े तानाशाह (Dictator) को भी मात कर सकता है। न केवल शक्ति में बल्कि स्वरूप और संगठन में कार्यपालिका विभिन्न प्रकार की होती है। इनका अलग-अलग वर्णन करना अधिक सुविधाजनक होगा।

**पैतृक कार्य-पालिका (Hereditary Executive)**

इस प्रकार की कार्यपालिका इंगलैंड में पाई जाती है। इसके अनुसार राजगद्दी का अधिकारी राजा का बड़ा लड़का होता है। उसके न रहने पर उसका छोटा भाई राज्य का अधिकारी होता है। तात्पर्य यह है कि वहाँ का राजा जनता द्वारा निर्वाचित नहीं किया जाता। उसका अधिकार सदैव के लिये अमर कर दिया गया है। इंगलैंड में कितनी ही लड़ाइयाँ हुईं; कुछ बादशाहों को फाँसी और देशनिकाला तक दे दिया गया; फिर भी वहाँ की गद्दी बराबर चली आ रही है। उसके सच्चे अधिकारी को कोई अलग नहीं कर सकता। वह स्वयं अपनी इच्छा से उसे छोड़ सकता है। इस प्रकार की कार्यपालिका के अन्दर सम्पूर्ण शक्ति मन्त्रियों को प्राप्त रहती है। ब्रिटिश साम्राज्य को केवल बीस या इक्कीस मन्त्री (Cabinet Ministers) चलाते हैं, उन्हीं की राय पार्लियामेंट में मानी जाती है। इतना लाभ अवश्य है कि देश-देशान्तरों में राजा की मर्यादा बनी रहती है। ब्रिटेन का सम्राट् चाहे कुछ भी न करे, फिर भी उसकी मर्यादा संसार में सबसे बड़ी समझी जाती है।* ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर ५० करोड़ जनसंख्या उसी की प्रजा कहलाती रही है। कानूनों पर अन्तिम हस्ताक्षर उसी का होता है। इससे एक और भी लाभ है। राज्य के लिये झगड़े की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। जिसका हक होता है वह स्वयं गद्दी का अधिकारी मान लिया जाता है।

**निर्वाचित कार्य-पालिका (Elective Executive)**

जहाँ पैतृक कार्यपालिका नहीं है वहाँ निर्वाचित कार्यपालिका की प्रथा है। जिस देश का राजा, जो प्रायः प्रेसीडेन्ट कहलाता है, जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है, वहाँ की कार्यपालिका निर्वाचित कार्यपालिका कहलाती है। इसका दूसरा नाम प्रेसीडेन्शियल कार्यपालिका (Presidential Executive) भी है। इस प्रकार की कार्यपालिका तीन प्रकार की होती है। एक तो वह जहाँ पर जनता सीधे प्रेसीडेन्ट को चुनती है। चिली (Chile) में प्रेसीडेन्ट सीधे जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है। मध्यकाल में जर्मन का सम्राट् जनता द्वारा नहीं चुना जाता था, परन्तु छोटी-

---

* He represents the highest social standard in the British Empire.

छोटी रियासतों में जनता अपना राजा चुन सकती थी। अमेरिका की कुछ रियासतों में आज भी जनता अपना प्रेसीडेन्ट सीधे चुनती है। निर्वाचित कार्यपालिका का दूसरा रूप वह है, जहाँ जनता सीधे प्रेसीडेन्ट को नहीं चुन सकती। पहले वह थोड़े से प्रतिनिधियों को चुनती है और फिर ये प्रतिनिधि प्रेसीडेन्ट को चुनते हैं। अमेरिका ( U. S. A. ) में इसी प्रकार की कार्यपालिका है। पहले जनता कुछ प्रतिनिधियों को ( College of Electors ) चुनती है और ये प्रतिनिधि प्रेसीडेन्ट को चुनते हैं। तीसरे प्रकार की निर्वाचित कार्यपालिका वह है जहाँ का प्रेसीडेन्ट विधान-मंडल द्वारा निर्वाचित किया जाता है। फ्रांस में इसी प्रथा का रिवाज है। वहाँ का विधान-मंडल ( National Assembly ) फ्रांस के प्रेसीडेन्ट को चुनता है।

**कार्यपालिका का संगठन**

केवल सम्राट् अथवा प्रेसीडेन्ट को कार्यपालिका कहना ठीक नहीं है। किसी अर्थ में वे इसके प्रधान कहे जा सकते हैं। कुछ देशों में सारी शक्ति मन्त्रिमंडल के हाथों में केन्द्रीभूत होती है। इंगलैंड, फ्रांस तथा आस्ट्रेलिया में सारी शक्ति कैबिनेट ( Cabinet ) के हाथों में होती है। यह कैबिनेट उस पार्टी के सदस्यों से बनाई जाती है, जिसका विधान-मंडल में बहुमत होता है। इसके सदस्य जो मन्त्री ( Minister ) कहलाते हैं तब तक कार्य कर सकते हैं जब तक विधान-मंडल का इसमें विश्वास होता है। किसी भी समय विधान-मंडल अविश्वास का प्रस्ताव ( Vote of No-Confidence ) पास कर मन्त्रिमंडल को समाप्त कर सकता है और नये मन्त्रियों को उनकी जगह बुला सकता है। मन्त्रिमंडलों में यह रिवाज-सा हो गया है कि सबका उत्तरदायित्व सम्मिलित ( Joint Responsibility ) समझा जाता है। कोई मंत्री गलती करता है तो सारा मंत्रिमंडल उसके लिये जिम्मेवार ठहराया जाता है। एक मंत्री त्याग पत्र देता है तो पूरे मंत्रिमंडल को हटना पड़ता है। मंत्रिमंडल का प्रत्येक सदस्य किसी न किसी विभाग का प्रधान होता है।

ब्रिटेन में कैबिनेट से पार्टी प्रथा की नींव पड़ी। हर पार्टी इस बात की कोशिश करती है कि वह कैबिनेट पर अपना अधिकार जमाये। अमेरिका ( U. S. A. ) में कैबिनेट का संगठन किसी और प्रकार का है। वहाँ पर प्रेसीडेन्ट स्वयं मन्त्रियों को चुनता है और जब चाहे उन्हें हटा सकता है। विधान-मंडल का उसमें कोई हाथ नहीं होता। यहाँ भी मन्त्रियों को एक-एक विभाग सौंप दिया जाता है। वास्तव में यही कैबिनेट सारा काम करती है। राज्य के सारे कर्मचारी इसी की मातहती में काम करते हैं। सरकार की बागडोर इसी के हाथों में होती है।

**कार्यपालिका के कर्त्तव्य**

न्यायपालिका के कर्मचारियों और विधान-मंडल के सदस्यों को छोड़कर बाकी सभी सरकारी कर्मचारी कार्यपालिका के सदस्य माने जाते हैं। यह बात दूसरी है कि किसी का पद बड़ा होता है और किसी का छोटा। सरकार के इस अंग का कर्त्तव्य वही है जो राज्य का कर्त्तव्य कहा जाता है। देश में शान्ति रखना, धन-जन की रक्षा करना, विदेशियों के आक्रमण से देश को बचाना, शिक्षा-प्रचार करना, उद्योग-धन्धों की वृद्धि करना, कानूनों की रक्षा करना, राज्य की हर प्रकार से उन्नति करना इत्यादि कार्यपालिका के कर्त्तव्य कहे गये हैं। इन कामों को मोटे तौर पर आठ या दस विभागों ( Departments ) में बाँट दिया जाता है। हर विभाग एक मन्त्री के हवाले कर दिया जाता है। नीचे से ऊपर तक सभी कर्मचारी अपने-अपने विभाग की मातहती में काम करते हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, विदेशी विभाग, सेना, व्यापार, इमारत, पोस्ट आफिस और तार, आवागमन, तथा मजदूर आमतौर पर अलग-अलग विभाग होते हैं। आवश्यकता पड़ने पर नये विभाग बना लिये जाते हैं।

**कार्यपालिका के दो स्वरूप**

कार्यपालिका की दो किस्में होती हैं। संसार की सभी कार्यपालिकायें इन्हीं दोनों के अन्तर्गत आ जाती हैं। एक को अकेली कार्यपालिका ( Single Executive ) और दूसरी को बहुसंख्यक कार्यपालिका ( Plural Executive ) कहते हैं। पहले प्रकार में राज्य की पूर्ण शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में होती है। इस प्रकार की कार्यपालिका किसी भी देश में नहीं दिखाई पड़ती। प्राचीन तथा मध्यकाल में राजाओं को सारी शक्तियाँ प्राप्त होती थीं। लेकिन आजकल यह सम्भव नहीं है। १९१७ के पहले रूस का जार सारी शक्तियों को अपने हाथ में रखता था। यह युग बहुसंख्यक कार्यपालिका के लिये उपयुक्त है। इसके अनुसार राज्य का भार दो या दो से अधिक व्यक्तियों पर रहता है। किसी समय स्पार्टा नगर में दो शासक होते थे। दोनों मिलकर राज्य करते थे और दोनों की शक्ति बराबर होती थी। लोगों का विश्वास था कि दो राजा होने से एक की शक्ति अधिक नहीं बढ़ने पायेगी। स्विटजरलैंड में अब भी बहुसंख्यक कार्यपालिका की प्रथा प्रचलित है। प्रधान कार्यपालिका ( Federal Council ) ७ सदस्यों की एक सभा है। यह सभा ३ वर्ष के लिये विधान-मंडल द्वारा निर्वाचित की जाती है। ये सातों सदस्य राज्य के कामों को ७ विभागों में बाँट लेते हैं। हर एक किसी विभाग का प्रधान होता है। नाम मात्र को इन्हीं में से कोई इनका सभापति बन जाता है, लेकिन वास्तव में वह इन्हीं का एक सहकारी होता है। इंगलैंड की कैबिनेट बहुसंख्यक कार्यपालिका का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

कार्यपालिका विभाग में सरकार के सबसे अधिक कर्मचारी काम करते हैं। इसमें बड़े अफसर से लेकर छोटे-से-छोटा चपरासी तक सम्मिलित हैं। बड़े-बड़े अफसरों को, जो प्राय: सिविल सर्विस के सदस्य होते हैं, सरकार स्थायी रूप से नियुक्त करती है। इनकी भर्ती के लिये एक सरकारी विभाग होता है जो पब्लिक सर्विस कमीशन (Public Service Commission) कहलाता है। राज्य के लगभग सभी कर्मचारी इसी कमीशन द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। उनकी जगह स्थायी समझी जाती है। सरकार बदलती रहती है, लेकिन ये कर्मचारी अपनी-अपनी जगह काम करते रहते हैं। छोटे-छोटे कर्मचारियों की नियुक्ति 'कमीशन' की ओर से नहीं होती। इसलिये वे किसी भी समय अलग किये जा सकते हैं। अमेरिका (U. S. A.) में एक विचित्र प्रथा है जो संसार के किसी भी हिस्से में नहीं पाई जाती। जब कोई नया प्रेसीडेन्ट चुना जाता है तो वह पिछले सभी कर्मचारियों को निकाल कर अपनी पार्टी के नये-नये कर्मचारी भर्ती कर लेता है। परिणाम यह होता है कि सरकारी कर्मचारी अपने आपको स्थायी नहीं समझते। उन्हें इस बात का भय रहता है कि मालूम नहीं किस पार्टी का प्रेसीडेन्ट चुना जायगा। इस प्रथा को 'विनाशी पद्धति' (Spoil System) कहते हैं। इससे दो हानियाँ होती हैं। एक तो सरकारी काम में बाधा पड़ती है, दूसरे कितने ही व्यक्ति बेरोजगार हो जाते हैं। परन्तु अब स्थायी कर्मचारियों की व्यवस्था वहाँ भी कर दी गई है।

**कार्यपालिका विभाग (Executive Department)**

सरकार का तीसरा अंग न्यायपालिका है। कानून की परख न्यायालयों में होती है। इस अंग का मुख्य कर्त्तव्य कानून भंग करने वालों को दंड देना है। राज्य में जब दो व्यक्तियों अथवा गिरोहों में झगड़ा होता है तो यह विभाग उसका निर्णय करता है। इस विभाग के अन्तर्गत बहुत से न्यायालय होते हैं। ऐसा भी होता है कि राज्य और व्यक्ति में झगड़ा हो जाय। न्यायालय उसका फैसला करते हैं। यदि राज्य दोषी है तो उसके उस कर्मचारी को दंड दिया जाता है, जिसने राज्य के नाम पर गलती की थी। सरकार को नागरिकों की स्वतन्त्रता और अधिकारों का उतना ही ध्यान होता है, जितना प्रत्येक नागरिक को कानून की रक्षा का। कितने ही अपराधों में सरकार को जुर्माना देने पड़ते हैं। सरकार इस बात को पसन्द करती है कि कचहरियों में पूरा-पूरा न्याय किया जाय। न्याय के ही बल पर राज्य स्थायी रह सकता है। अफलातून (Plato) का कहना है, "न्याय मनुष्य के मस्तिष्क का सबसे बड़ा गुण है।*" अच्छे-से-अच्छे कानून

**न्यायपालिका (Judiciary)**

* Justice is the highest virtue of the mind.

ोड़े जाते हैं। लोग अपनी कमजोरियों के कारण उनके महत्व को नहीं समझते। इस प्रकार के अपराधी जब कचहरियों में लाये जाते हैं तो जज उन्हें उसी मात्रा में दंड देता है जितने में उनकी बुद्धि ठीक हो जाय। दंड क्यों दिया जाता है, और इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में कहाँ तक बाधा पड़ती है, इसका वर्णन कानून वाले अध्याय में सविस्तर किया गया है। यहाँ पर इतना कहना काफी होगा कि कचहरियों में दंड नागरिक की भलाई के लिये दिया जाता है। दंड देते समय सरकार धनी-गरीब तथा छोटे-बड़े का ध्यान नहीं रखती। उसकी दृष्टि में सभी बराबर हैं।

**न्यायाधीश की भर्ती**

जिस प्रकार कार्यपालिका का संगठन चपरासी से राष्ट्रपति तक है उसी प्रकार कचहरियाँ भी छोटी-से-बड़ी तक राज्य में फैली होती हैं। छोटी कचहरियों में न्यायाधीश की उतनी ही जिम्मेवारी है जितनी बड़ी कचहरी में। प्रायः न्यायाधीशों की भर्ती तीन प्रकार से की जाती है। जो देश जैसा चाहे किसी एक तरीके को अपना ले। न्यायाधीश का काम बड़ी जिम्मेवारी का है। इसलिये उनकी भर्ती काफी परख के साथ होनी चाहिये। जब कि जजों को जीवन भर न्याय करना है तो उनकी भर्ती न्याय के सिद्धान्त पर होनी चाहिये, ऐसा नहीं कि कोई आदमी घूस देकर न्यायाधीश बन बैठे। जब आरम्भ में ही उसने इतना बड़ा अन्याय किया तो उससे आगे चल कर न्याय की क्या आशा की जा सकती है। भर्ती होने से पहले हर न्यायाधीश में दो गुणों की परीक्षा की जाती है। एक तो यह कि उसे कानूनों का पूरा ज्ञान हो। जो कानून न जानेगा वह न्याय नहीं कर सकता। कानून की जानकारी के साथ न्यायाधीश को निष्पक्ष और स्वतन्त्र विचार का होना चाहिये। पक्षपात और न्याय इन दोनों में शत्रुता है। जो व्यक्ति पक्षपात करेगा वह न्याय नहीं कर सकता। जिन व्यक्तियों में ये दोनों गुण पाये जाते हैं वे न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किये जाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि उनकी भर्ती का नियम क्या है। ऊपर कहा गया है कि तीन प्रकार से इनकी नियुक्ति की जाती है। एक तो यह कि विधान-मंडल जजों को चुनता है। लेकिन यह ढंग दुनिया के किसी देश में नहीं पाया जाता। केवल स्विटजरलैंड में विधान सभा जजों का निर्वाचन करती है। जहाँ अंग विभाजन का सिद्धान्त पूरी तरह बर्ता जाता है वहाँ इस तरीके को बुरा ठहराया गया है। लोगों का कहना है कि जब न्यायाधीश विधान-मंडल द्वारा चुने जायेंगे तो न्यायपालिका और विधान-मंडल दोनों अलग-अलग नहीं रह सकते। अमेरिका में यह ढंग बुरा ठहराया गया है। जजों की भर्ती का दूसरा नियम यह है कि आम जनता उनका निर्वाचन करे। इससे जनता उन्हीं व्यक्तियों को चुनेगी जिनमें

उसका विश्वास होगा। अमेरिका (U. S. A.) के कुछ देशों में जजों की भर्ती इसी ढंग पर होती है। लेकिन एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि कितनी ही बार अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति चुनाव में सफल नहीं होते। जिस प्रकार विधान-मंडलों के चुनाव में कितने ही योग्य व्यक्ति हरा दिये जाते हैं, उसी प्रकार बहुत से योग्य व्यक्ति न्यायाधीश नहीं बन पाते। जजों की भर्ती का तीसरा ढंग यह है कि कार्यपालिका सभा द्वारा उनकी नियुक्ति की जाय। यह ढंग सबसे उत्तम ठहराया गया है। संसार के लगभग सभी सभ्य देशों में इसी का आश्रय लिया गया है। कार्यपालिका सरलता-पूर्वक उन व्यक्तियों को चुन लेती है जिन्हें वह सबसे योग्य समझती है।

**न्यायपालिका का संगठन**

सरकार का न्याय विभाग सीढ़ी की तरह नीचे से ऊपर तक संगठित है। हमारे देश में सबसे छोटी कचहरी गाँव की पंचायत कहलाती है। गाँव के छोटे-मोटे मुकदमे इसी पंचायत द्वारा फैसल किये जाते हैं। यह पंचायत हर गाँव में होती है और फिर आठ या दस गाँवों की एक बड़ी पंचायत रहती है। पंचायत में प्रायः पाँच या दस आदमी होते हैं। इसका सभापति सरपंच कहलाता है। पंचायत से ऊपर तहसील होती है। फिर जिले की छोटी और बड़ी अदालतें होती हैं। इसके बाद हाईकोर्ट होती है। यह हमारे देश की सबसे बड़ी कचहरी है। नवीन संविधान के अनुसार एक उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) स्थापित किया गया है। इसका कार्यालय दिल्ली में है और यह देश की सबसे बड़ी कचहरी कहलाती है। लेकिन इसका मुख्य काम शासन सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करना तथा दो प्रदेशों वा राज्यों के झगड़े को तै करना है।

कचहरियों में जितने भी मुकदमे आते हैं वे दो प्रकार के होते हैं। एक तो माल के मुकदमे (Civil Cases) और दूसरे जान या अपराध के (Criminal Cases), इसीलिये कानून भी दो प्रकार के होते हैं, फौजदारी के कानून और माल के कानून (Criminal Law and Civil Law)। न्यायालयों में इन दोनों प्रकार के कानूनों का उपयोग किया जाता है। अमेरिका (U. S. A.) की सबसे बड़ी कचहरी प्रधान न्यायालय (Supreme Court) कहलाती है। वहाँ का प्रेसीडेन्ट जजों को नियुक्त करता है। सभी देशों में न्याय विभाग का प्रधान कार्यपालिका का कोई सदस्य (Cabinet Minister) होता है। हमारे देश में केन्द्रीय मन्त्रि मंडल का एक मन्त्री (Minister) न्याय-विभाग का प्रधान होता है। फ्रान्स में इसी मेम्बर की सहायता से वहाँ का प्रेसीडेन्ट न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। लगभग सभी सभ्य देशों में जूरी (Jury) की प्रथा प्रचलित है। न्यायाधीशों की सहायता के लिये कुछ अन्य ५ या ७ व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं।

कुछ बातों में ये अपनी राय न्यायाधीश को देते हैं। हमारे यहाँ भी जूरी की प्रथा है। लोगों का अनुमान है कि इस प्रथा से न्याय में सुविधा होती है।

**न्यायाधीशों का कार्यकाल**

न्यायाधीश कितने साल के लिये नियुक्त किये जायँ इस पर लोगों की भिन्न-भिन्न राय है। कुछ का विचार है कि ये जीवन-पर्यन्त के लिये नियुक्त होने चाहिये। एक बार नियुक्त होने पर फिर उन्हें कोई हटा नहीं सकता। लेकिन कुछ विद्वानों का मत है कि न्यायाधीशों को तभी तक काम करना चाहिये जब तक उनका बर्ताव कार्यपालिका और विधान-मंडल के साथ ठीक हो। इन्हें जल्दी निकाल देना ठीक नहीं है। इंगलैंड में न्यायाधीश तब तक नहीं निकाले जा सकते जब तक पार्लियामेन्ट उन्हें निकालने का प्रस्ताव बहुमत से पास न करे। इनकी नियुक्ति काफी परख के बाद होती है। हाईकोर्ट के जज वे ही नियुक्त किये जाते हैं जो कम-से-कम १० वर्ष तक हाईकोर्ट में वकालत किये हों। न्याय विभाग को विशुद्ध रखने के लिये यह आवश्यक है कि जजों को अच्छा वेतन दिया जाय, ताकि वे आर्थिक कठिनाइयों में न रहें। कम वेतन से घूसखोरी बढ़ती है। कई महकमों में लोग कम वेतन होते हुए भी काम करने के लिये लालायित रहते हैं। इसका कारण यही है कि वहाँ अनुचित ढंग से पैसे की आय होती है। न्याय विभाग में यह गन्दगी पैदा हो जाय तो न्याय में बाधा पड़ेगी। अदालतें धनियों के हाथ की कठपुतली बन जायेंगी।

**आदर्श न्याय-विभाग**

निष्पक्षता न्याय की कसौटी है। जिस न्यायालय में कोई भेद-भाव नहीं किया जाता और कानून के आधार पर लोगों को उचित दंड दिया जाता है वही न्याय कर सकता है। न्यायालयों का कर्त्तव्य केवल दंड देना नहीं बल्कि उचित और अनुचित में भेद करना है। जहाँ अनुचित ढंग से कोई व्यक्ति एक दूसरे का हक छीन लेता है वहाँ न्यायालय उसे ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं। आदर्श न्याय के लिये आदर्श व्यक्तियों की आवश्यकता है। आदर्श व्यक्ति अच्छे वातावरण में उत्पन्न होते हैं। इसलिये शिक्षा का प्रचार राज्य का मुख्य कर्त्तव्य ठहराया गया है। जजों को इतनी अधिक तनख्वाहें दी जायँ कि उन्हें अपने भरण-पोषण के लिये औरों पर भरोसा न करना पड़े। राज्य के किसी विभाग का कर्मचारी न्याय विभाग के कामों में हस्तक्षेप न करे। जजों को कानून के अतिरिक्त किसी प्रकार की सिफारिश सुनने से इन्कार कर देना चाहिये। उनके दिल में जो निष्पक्ष भाव से बात बैठे उसी की सहायता से फैसला दें। न्यायालयों को देश काल और पात्र का ध्यान रखना चाहिये। जजों को फूल की तरह कोमल और पत्थर की तरह कठोर होना चाहिये। कड़ा दंड देने में उनका हृदय पिघलना नहीं चाहिये।

न्याय तभी हो सकता है जब कानून सुलझे हुए हों। कानून स्पष्ट न हो और इसका कई अर्थ लगाया जाय तो न्याय नहीं हो सकता। विधान-मंडल कानूनों को स्पष्ट करके न्यायालयों को दे। सरकार का कोई अंग अकेले तब तक ठीक काम नहीं कर सकता, जब तक बाकी अंग अपने कर्त्तव्य का पालन न करें। कार्य-पालिका निर्दोष लोगों को फँसा कर न्यायालयों में उपस्थित करेगी तो जजों को न्याय करने में कठिनाई होगी। कितने ही निरपराध व्यक्ति जेलों में भेज दिये जायेंगे। आदर्श न्याय-विभाग के लिये जजों की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता के अतिरिक्त आदर्श कार्यपालिका और आदर्श विधान-मंडल की आवश्यकता है।

**न्यायाधीश और कानून**

विधान-मंडल कानून बनाने में कितना भी सावधान क्यों न रहे थोड़ी बहुत कमी का रहना अनिवार्य है। कानूनों के दो-दो और तीन-तीन अर्थ लगाये जाते हैं। कुछ ऐसे भी अवसर न्यायालयों में आते हैं जिनके लिये उचित कानून का कोई विधान नहीं रहता। कारण यह है कि विधान-मंडल के सदस्यों को मतभेद के सारे पहलुओं का ज्ञान नहीं हो सकता। यह मनुष्य की शक्ति से बाहर है। इसीलिये जज को इन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वह अपनी बुद्धि का प्रयोग इन अवसरों पर करता है। जब एक कानून के कई अर्थ लगाये जाते हैं तो वह उसी अर्थ का प्रयोग करता है जो उसकी बुद्धि में सबसे उचित होता है। ऐसे भी अपराध सामने आ जाते हैं जिनके लिये कोई कानून नहीं होता। ऐसी दशा में जज यह नहीं कह सकता कि वह इसका फैसला नहीं करेगा; क्योंकि कानून की कमी है। उसे कोई-न-कोई मार्ग निकालना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर वह कुछ तो अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है और कुछ अन्य कानूनों का। इन दोनों का परिणाम यह होता है कि एक ओर तो कानून का मतलब साफ होता है और दूसरी ओर नये-नये कानून बनते हैं। न्यायालयों में कितने ही नये कानून बनते रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि न्याय विभाग विधान-मंडल के अधिकार का दुरुपयोग करता है बल्कि उसे विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। विधान-मंडल इसे बुरा नहीं मानता। लगभग सभी देशों में इस प्रकार के कानूनों का प्रचार है। ये कानून अधिक सुलझे हुये और स्पष्ट होते हैं, क्योंकि जजों के वर्षों अनुभव के बाद बनते हैं। साथ ही कार्य रूप में इन्हें परिणत करना रहता है। इन कानूनों को न्यायाधीशों का कानून ( Judge-made-law ) कहते हैं।

---

# अध्याय १०

## प्रभुता ( Sovereignty )

**प्रभुता की परिभाषा**

प्रत्येक राज्य में एक ऐसी शक्ति होती है जहाँ सारी शक्तियाँ केन्द्रीभूत होती हैं। सरकार की बागडोर इसी शक्ति के हाथ में होती है। यही शक्ति प्रभुता कहलाती है। वैसे तो सरकार की शक्तियाँ बिखरी हुई हैं और किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं होतीं फिर भी कोई-न-कोई प्रधान होता है। यही प्रधान व्यक्ति राजा ( Sovereign ) कहलाता है और उसकी शक्ति प्रभुता ( Sovereignty ) कहलाती है। हमारे देश में राष्ट्रपति सबसे प्रधान व्यक्ति हैं। प्रभुता उन्हीं के हाथ में है। लेकिन आगे चलकर यह विचार किया जायगा कि वास्तव में प्रधान शासक कौन है और प्रभुता कहाँ निवास करती है। इस प्रश्न पर लोगों के अनेक विचार हैं। प्रभुता की परिभाषा करते हुए जान आस्टिन ( John Austin ) लिखता है, "यदि किसी राजनैतिक संगठन के अन्दर कोई ऐसा व्यक्ति है जो किसी के अन्तर्गत नहीं है और सारा संगठित समाज उसकी आज्ञाओं का पालन करता है तो वह व्यक्ति राजा और संगठित समाज एक स्वतन्त्र राष्ट्र कहलाता है।" * प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बोदाँ ( Bodin ) लिखता है, "प्रभुता सम्पूर्ण प्रजा पर सबसे बड़ी शक्ति है जिसे बड़ा-से-बड़ा कानून नहीं दबा सकता।" †

प्रभुता राज्य में सबसे बड़ी राजनैतिक शक्ति है। उसे न कोई दबा सकता है और न राज्य से बाहर निकाल सकता है। प्रभुता के बिना कोई राज्य जीवित नहीं रह सकता। वह राज्य का प्राण है। जैसे कुटुम्ब में किसी मालिक की आवश्यकता होती है उसी तरह राज्य में एक स्वामी की आवश्यकता है। यही स्वामी राजा कहलाता है। भिन्न-भिन्न देशों में वह अलग-अलग नामों से सूचित किया जाता है। कहीं तानाशाह ( Dictator ), कहीं बादशाह (King or Emperor )

---

* If a determinate human superior not in the habit of obedience to a like superior receives haitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is sovereign in that society, and that society is a society political and independent

† Sovereignty is the supreme power over citizens and subjects unrestrained by the laws.

और कहीं सभापति या राष्ट्रपति ( President ) कहलाता है। इनके नाम में भिन्नता भले ही हो परन्तु इन्हें जो शक्ति प्राप्त है उसका स्वरूप एक-सा है। वह शक्ति प्रभुता ( Sovereignty ) कहलाती है। कुछ राज्यों में यह शक्ति विशेष प्रबल होती है और कुछ में साधारण। इस शक्ति में इतनी प्रतिभा है कि इसे प्राप्त कर मनुष्य प्रायः अहंकारी और मदान्ध हो जाता है।*

**प्रभुता का स्वभाव**

कोई वस्तु गुण दोष से परे नहीं है। प्रभुता में कुछ ऐसे गुण हैं जो अन्य सत्ताओं में नहीं पाये जाते। प्राय: इसके पाँच गुण कहे गये हैं। पहिला यह कि स्वभाव से ही प्रभुता सर्वप्रधान है। वह किसी दूसरी सत्ता की मातहती में नहीं रह सकती। राज्य की जितनी शक्तियाँ हैं, प्रभुता इन सबसे ऊपर अपना सिक्का जमाये रहती है। उसकी इस मर्यादा में कमी पड़ते ही सरकार तितर बितर हो जाती है। इसीलिये कहा गया है कि राज्य के बिना प्रभुता और प्रभुता के बिना राज्य जीवित नहीं रह सकते। राज्य के अन्दर सभी संगठनों वा समुदायों को राजा का हुक्म मानना पड़ता है। प्रभुता का दूसरा गुण इसका स्थायीपन है। जब तक राज्य की नींव स्थिर है तब तक प्रभुता दृढ़ बनी रहती है। ऐसा कहीं भी नहीं सुना गया कि राज्य कायम रहे और प्रभुता नष्ट हो जाय। यह कहना कठिन है कि पहले राज्य हुआ या प्रभुता। जिस तरह हम यह नहीं बतला सकते कि पहले मुर्गी हुई या मुर्गी का अंडा, उसी तरह राज्य और प्रभुता की तिथि हम निश्चय नहीं कर सकते। प्रभुता का तीसरा गुण इसकी व्यापकता है। यह कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो एक ही स्थान पर कायम रहती है। राज्य में यह शक्ति बिखरी हुई है। हर व्यक्ति, हर संगठन इसकी शक्ति से प्रभावित रहता है। कोई भी अनियमित काम करते हुये वह इस शक्ति से डरता है। चोरी करने वाला शंकित होता है कि कहीं प्रभुता उसे दण्ड न देवे। प्रभुता का चौथा गुण उसका अटूट सम्बन्ध है। दो व्यक्ति इसे आपस में बाँट नहीं सकते। एक राज्य में एक से अधिक प्रभुता नहीं रह सकती। एक देश के न दो राजा हो सकते हैं और न एक कुटुम्ब के दो स्वामी। इसी तरह प्रभुता भी दो नहीं हो सकती। भ्रम से हम दो शक्तियों को प्रभुता भले ही कह लें लेकिन यह बात असम्भव है। जैसे एक मियान में दो

---

*भरतहि दोष देइ को जाये। जग बौराइ राज पद पाये॥
विषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोह बस तोहि जनाई॥
सहसबाहु, सुरनाथ, त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥
कही तात तुम नीति सुहाई। सबते कठिन राजमद भाई॥
नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥

तलवार नहीं रहती उसी तरह एक देश में दो प्रधान शक्तियाँ निवास नहीं कर सकतीं।

प्रभुता का अन्तिम गुण यह है कि वह अपनी शक्ति किसी और को प्रदान नहीं कर सकती। यदि यह शक्ति किसी अन्य को प्रदान कर दी गई तो यह स्वयं जीवित नहीं सकती। एक अमेरिकन विद्वान् लीबर ( Lieber ) लिखता है, "जिस प्रकार कोई मनुष्य अपना प्राण किसी और के शरीर में नहीं डाल सकता और न कोई पेड़ अपनी हरियाली किसी दूसरे पेड़ को दे सकता है, उसी प्रकार प्रभुता अपनी शक्ति किसी अन्य को प्रदान नहीं कर सकती।"* इस बारे में प्रभुता विवश है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि एक राजा को हटा कर कोई दूसरा राजा नहीं बन सकता। प्रभुता किसी भी व्यक्ति के हाथ में दी जा सकती है। रूसो (Rousseau) के कथनानुसार प्रभुता एक प्रकार की इच्छा है। इसलिये शक्ति तो हम बदल सकते हैं लेकिन इच्छा नहीं बदल सकते।†

किसी अर्थ में सभी कर्मचारी राज्य करते हैं। जिले का कलेक्टर और राज्य का राज्यपाल दोनों अपने-अपने क्षेत्र में राजा हैं।

इससे स्पष्ट है कि प्रभुता किसी एक के हाथ में नहीं रहती। प्राचीन काल में राजाओं को अपने राज्य में प्रजा पर पूरा अधिकार होता था। कानून बनाना, टैक्स लगाना, अपराधियों को दंड देना, सरकारी कर्मचारियों को नियुक्त करना, आदि कार्य राजा के हाथ रहते थे। फिर भी यह कहना कठिन है कि सम्पूर्ण प्रभुता उसी के हाथ में रहती थी। राजा किसी-न-किसी से सलाह लेते होंगे। मंत्री अथवा उनके मित्र राजकीय कामों में उनकी सहायता अवश्य करते होंगे। वे पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं कहे जा सकते, क्योंकि धार्मिक तथा सामाजिक नियम उन्हें मानने पड़ते थे। उनकी निजी शक्ति उनकी स्वतन्त्रता में बाधक थी। इससे स्पष्ट है कि राजा न तो पूर्ण स्वतन्त्र होता है और न सारी शक्तियों को अपने हाथ में ले सकता है। ये दोनों बातें असम्भव हैं। इंगलैंड में सम्राट्, पार्लियामेन्ट, कैबिनेट तथा और छोटे-छोटे अफसर वहाँ का शासन करते हैं। वे सभी वहाँ के राजा कहे जा सकते हैं। थोड़ी बहुत प्रभुता इन सबके हाथ में है। ऊपर कहाँ गया है कि सम्राट् सब कुछ करता है। और सारी शक्ति उसी के हाथ में है लेकिन कार्य रूप में यह बात नहीं है। न तो सम्राट् के हाथ में कोई शक्ति है और न वह कुछ करता है। वह प्रधान मंत्री ( Prime Minister ) के हाथ की कठपुतली है। बिना उसकी इच्छा के वह विदेश यात्रा तक नहीं कर सकता। कानूनों पर हस्ताक्षर उसी की इच्छा से करता है। बिना उसकी सलाह के किसी दावत में सम्मिलित तक नहीं हो सकता। वह जिस स्त्री से चाहे विवाह नहीं कर सकता। इसी स्वतन्त्रता के कारण इंगलैंड के एक उत्तराधिकारी को गद्दी छोड़ देनी पड़ी। किसी पत्र पत्रिका में वह कोई स्वतन्त्र लेख नहीं लिख सकता और न कहीं एक शब्द बोल सकता है। वह जिससे चाहे मिल भी नहीं सकता।

ये उदाहरण इस बात के लिये पर्याप्त हैं कि सम्राट् के हाथ में कोई शक्ति नहीं है। वह केवल नाम के लिये प्रधान है। असली शासक पार्लियामेंट, कैबिनेट और प्रधान मन्त्री हैं। फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या इनके ऊपर कोई अनुशासन नहीं है? क्या पार्लियामेंट जो कानून चाहे बना सकती है? ऐसी बात नहीं है। जनता का उसे प्रतिक्षण भय रहता है। पार्लियामेंट के सदस्य जनता के प्रतिनिधि हैं। वे उसकी इच्छा के विपरीत नहीं जा सकते। जनता की जो आवश्यकता होती है उसी पर पार्लियामेंट के सदस्य विचार करते हैं। कैबिनेट स्वयं पार्लियामेंट की एक कमेटी है। इसीलिये जनता सर्वोपरि है। इसलिये कहा जाता है कि इंगलैंड में • का जोर है। वहाँ का असली शासक जनता है। लेकिन यह बात कुछ समझ नहीं आती कि जब प्रजा स्वयं अपना राज्य करती है तो राजा प्रजा में भेद क्या

है ? इस दशा में यह पता लगाना और भी कठिन है कि प्रभुता किसके हाथ में है। न तो वह सम्राट् के हाथ में है, न कैबिनेट के, न पार्लियामेंट के और न किसी विशेष अधिकारी के। यदि यह कहें कि प्रभुता प्रजा के हाथ में है तो 'राजा' और 'प्रजा' के भेद की आवश्यकता क्या है ? अच्छा होगा कि हम उस शक्ति को "प्रजा-सत्ता" कहें। इस लम्बी व्याख्या के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे कि जनता के अतिरिक्त न कोई राजा है और न 'प्रभुता' कोई चीज है। फिर यह प्रश्न ही क्यों उठाया गया ? यही बात अन्य देशों में भी पाई जाती है।

लोग यह समझते हैं कि अमेरिका का प्रेसीडेन्ट वहाँ का राजा है और सारी राजनैतिक शक्तियाँ उसी के हाथ में हैं। लेकिन कार्य रूप में बात ऐसी नहीं है। लीकाक लिखता है, "अमेरिका का प्रेसीडेन्ट, कांग्रेस, रियासतों की सरकार, इनमें से कोई भी वहाँ का राजा नहीं है। प्रधान राजनैतिक शक्ति किसी और जगह है"।*

हमारे देश में भी राष्ट्रपति उसकी मंत्रि-परिषद, राज्यपाल आदि यहाँ के राजा कहे जा सकते हैं। परन्तु ये तीनों शक्तियाँ जनता की शक्ति के नीचे काम करती हैं, इसलिये हम इनकी शक्ति को प्रभुता नहीं कह सकते। किसी भी शासन पद्धति के अन्दर यह पता लगाना कठिन है कि प्रभुता कहाँ निवास करती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि प्रभुता हर देश में जनता के हाथ में होती है। वह जब चाहे शासन पद्धति को बदल सकती है और राजा को निकाल बाहर कर सकती है। शासन व्यवस्था प्रजा की बनाई हुई चीज है। सरकारी नौकर जनता के पैसे से जीवित रहते हैं, इसलिये वे उसी के नौकर हैं। लेकिन हमें एक बात याद रखनी चाहिये, कि 'जनता' शब्द एक विशेष अर्थ रखता है। इसका अर्थ केवल 'मत-दाताओं' से है। इसमें भी एक कठिनाई है। जनता स्वयं कोई चीज नहीं है। न तो इसका कोई निश्चित स्वरूप है और न कुछ खास व्यक्ति अपने को जनता कह सकते हैं। तो फिर प्रभुता कहाँ रहेगी ? जान आस्टिन ( John Austin ) के कथनानुसार यह किसी प्रत्यक्ष व्यक्ति में होनी चाहिये। रूसो की तरह यह कोई अप्रत्यक्ष ( General Will ) वस्तु नहीं है। कुछ राजनीतिज्ञ यह तर्क उपस्थित करते हैं कि राज्य में सर्वशक्तिमान वही व्यक्ति या समूह है जो शासन-विधान को बदल सकता है। उसी शक्ति को प्रभुता कहना ठीक है। लेकिन यह कैसे कहा जाय कि अमुक शक्ति शासन पद्धति को बदल सकती है। जनता क्रान्ति द्वारा मालूम नहीं कितनी बार शासन पद्धति को पलट देती है। रूस में १९१७ ई०

---

*Neither the President, nor the Congress nor the State Government is the body invested with the sovereign power of the state. The supreme authority lies elsewhere.

की क्रान्ति इस बात का प्रमाण है। तो क्या हम कह सकते हैं कि क्रान्ति ही एक ऐसी शक्ति है जिसे 'प्रभुता' कहा जा सकता है? इस प्रकार के तर्क से हम पार नहीं पा सकते।

पिछले अध्याय में यह कहा गया है कि सरकार स्वयं कोई चीज नहीं है।

**सरकार और प्रभुता**

वह समस्त सरकारी कर्मचारियों से मिलकर बनी हुई एक शक्ति है। इन कर्मचारियों को राज्य की ओर से किसी-न किसी प्रकार की शक्ति प्राप्त रहती है। इन शक्तियों की देख-रेख के लिये एक प्रधान शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। वही प्रधान शक्ति प्रभुता कहलाती है। जिस प्रकार हम सरकार को देख नहीं सकते और न उसका कोई चित्र खींच सकते हैं उसी तरह प्रभुता को भी हम नहीं देख सकते। इसी के बल पर सरकार चलती रहती है। इन दोनों को एक दूसरे से शक्ति मिलती है। इसलिये प्रभुता सरकार का एक विशेष गुण है। इसे स्थिर रखने के लिये सरकार को भीतर और बाहर दोनों ओर से देश को स्वतन्त्र रखना पड़ता है। परतन्त्र सरकार की कोई प्रभुता नहीं होती। इसी बल पर सरकार किसी के सामने अपना सिर नहीं झुकाती। कभी-कभी सरकार और प्रभुता ये दोनों शब्द एक अर्थ में प्रयोग किये जाते हैं। जब हम कहते हैं कि पोलैंड की सरकार का अन्त हो गया तो इसका यह भी अर्थ है कि वहाँ की प्रभुता समाप्त हो गई। स्पेन की सरकार दुर्बल है अर्थात् वहाँ की प्रभुता शक्तिहीन है। अमुक देश की सरकार बदल गई का अर्थ यही है कि वहाँ की प्रभुता एक के हाथ से निकल कर किसी दूसरे के हाथ में चली गई। इतनी एकता होते हुये भी दोनों दो चीजें हैं। सरकार राज्य की एक मशीन है और प्रभुता राज्य का एक विशेष गुण है। सरकार एक संगठन है और प्रभुता एक शक्ति है। सरकार का रूप बदलता रहता है, कभी वह कमजोर और कभी मजबूत रहती है, लेकिन प्रभुता सदैव प्रधान और एक-सी बनी रहती है।

वास्तव में प्रभुता बाँटी नहीं जा सकती। किसी देश में दो प्रभुता साथ-साथ

**प्रभुता के भेद**

नहीं रह सकती। कुछ विद्वानों ने इसके भेद किये हैं, परन्तु हम उसे भेद नहीं कह सकते। व्यापक रूप से समझने के वे विभिन्न प्रकार हैं। पहिला भेद यह किया जाता है कि प्रभुता दो प्रकार की होती है—एक झूठी और दूसरी सच्ची। इंगलैंड का सम्राट् झूठी प्रभुता रखता है। वह कहने को तो सर्वशक्तिमान है, लेकिन उसे अधिकार कुछ नहीं है। लेकिन वह और पार्लियामेंट एक साथ मिलकर सच्ची प्रभुता के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। दूसरा भेद कानूनी और राजनैतिक प्रभुता है। कानूनी प्रभुता वह है जो कानूनन सर्वश्रेष्ठ ठहराई जाती है, लेकिन दैनिक और प्रत्यक्ष राजनीति में

उसका कोई हाथ नहीं होता। उसकी आवश्यकता इतनी अवश्य है कि लोग उसे देखते रहें और यह न समझें कि उनका कोई राजा नहीं है। इंगलैंड में सम्राट् और पार्लियामेंट दोनों कानूनी राजा समझे जाते हैं परन्तु असली प्रभुता जनता के हाथों में रक्खी गई है। यही राजनैतिक प्रभुता का स्वरूप है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति में कानूनी और राजनैतिक दोनों प्रकार की प्रभुता पाई जाती है। यदि कोई शासक सारी शक्ति अपने हाथ में रखता है तो वह कानूनी और राजनैतिक दोनों प्रकार की प्रभुता का अधिकारी है। कानून उसे शासक घोषित करते हैं और दैनिक जीवन में भी वह सभी कार्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करता है। प्रभुता का तीसरा भेद असली और नकली प्रभुता है। इसका उदाहरण हमें अफगानिस्तान में दिखलाई पड़ता है। अमानुल्लाह वहाँ का असली राजा था। कानून और जनता की ओर से वह राजा स्वीकार किया गया था। जब वहाँ विद्रोह हुआ तो अमानुल्ला निकाल दिया गया और बच्चा शका वहाँ का राजा बन बैठा। न तो जनता उसे चाहती थी और न कानून से ही वह राजा था। लेकिन उसने अपने को राजा घोषित कर दिया। अन्त में नादिर खाँ ने उसे भी निकाल दिया और स्वयं अफगानिस्तान का राजा बन बैठा। इसलिये बच्चा शका और नादिर खाँ दोनों नकली राजा थे। बाद में नादिर खाँ को जनता ने राजा स्वीकार कर लिया और वह नकली से असली राजा बन गया। प्रभुता की वास्तविकता को समझने के लिये ये भेद पर्याप्त हैं।

**प्रभुता का इतिहास**

प्रभुता उतनी ही पुरानी है जितना राज्य। इन दोनों की उत्पत्ति एक साथ हुई है। अरस्तू और अफलातून ने इस सत्ता का वर्णन किया है। अफलातून ने राजा को दार्शनिक तथा रक्षक (Philosopher King or the Guardian ) कहा है। अरस्तू ने इसी प्रभुता के आधार पर राज्य को तीन भागों में विभाजित किया है। यूनान में प्रभुता एक महत्त्वपूर्ण और पवित्र शक्ति समझी जाती थी और वह अपने रंग में राज्य को ढाल सकती थी। वहाँ की रियासतों का अन्त होने ही रोमन साम्राज्य की नींव पड़ी। रोमन नगर बढ़ते-बढ़ते रोमन साम्राज्य हुआ। रोम सम्राट् और सीनेट अपने को इसका कर्त्ता-धर्त्ता समझते थे। लेकिन कानूनन प्रभुता जनता की चीज समझी जाती थी। वह उन्हीं के हाथों में रक्खी गई थी।

आधुनिक युग में जो प्रभुता का अर्थ लगाया जाता है उसका जन्म फ्यूडल काल में हुआ था।* जो राजा अपनी भूमि को छोटे-छोटे राजाओं में बाँटता था

---

* ......"It was in this struggle of the church...with the feudal lords that the modern conce ption of sovereignty was developed."

वह इन सब का प्रधान समझा जाता था। वही सब का राजनैतिक गुरु माना जाता था। वैसे तो राज्य में छोटे-छोटे कई राजा थे लेकिन सर्वप्रधान एक ही समझा जाता था। तभी से आज तक यह परिभाषा चली आ रही है कि 'प्रभुता सर्वप्रधान राजनैतिक शक्ति है।' छोटे-छोटे राजाओं को उसकी आज्ञा माननी पड़ती थी। उसकी सर्वप्रधानता में किसी को सन्देह नहीं था। हुक्म और आज्ञा-पालन की जो जड़ फ्यूडल काल में डाली गई थी, वह बढ़ती गई। उसका रूप बदलते-बदलते आज कानून और आज्ञा-पालन हो गया। गिर्क (Gierke) लिखता है कि आधुनिक प्रभुता का जन्म उस समय हुआ जब कि पोप और सम्राट् में राज्य के लिये लड़ाइयाँ हुई थीं। इसके बाद हाब्स (Hobbes) और बोदाँ (Bodin) ने प्रभुता पर और अधिक प्रकाश डाला। बाद में इस पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। बीसवीं सदी के कुछ राजनीतिज्ञों ने प्रभुता के अर्थ को एकदम पलट दिया है। उनका कहना है कि व्यावसायिक क्रान्ति ने जैसे मनुष्य के जीवन के सारे पहलुओं को बदल दिया उसी तरह प्रभुता भी अब वह नहीं रही जो बीसवीं सदी के पहले थी। इस सिद्धान्त को व्यापकवाद (Pluralism) कहते हैं।

व्यापकवाद (Pluralism)

प्रभुता में व्यापकवाद के प्रचारक मुख्य तीन व्यक्ति हैं। जी० डी० एच० कोल, ड्यूगिट और लास्की (G. D. H. Cole, Duguit and Laski) इनका कहना है कि प्रभुता कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो किसी एक व्यक्ति या गिरोह के हाथों में रक्खी जाय। राज्य के अन्दर बहुत से संगठन होते हैं। प्रत्येक संगठन राज्य के लिये उतना ही आवश्यक है जितना बड़ा-से बड़ा सरकारी अफसर। दैनिक जीवन में उन संगठनों से व्यक्ति को सरकारी अफसरों से कहीं अधिक लाभ पहुँचता है। इसलिये प्रभुता का कुछ अंश उन संगठनों के हाथ में भी होना चाहिये। वे शक्ति को लिये बिना नहीं रह सकते। राज्य किसी का धर्म-परिवर्तन नहीं कर सकता। सब को अपने अपने धर्म प्रिय हैं। इसलिये राज्य की बड़ी-से-बड़ी सत्ता को यह कहने का अधिकार नहीं है कि वह सब कुछ कर सकती है। कल्याण तभी होगा जब सरकार प्रभुता को नीचे से ऊपर तक बाँट दे। वह हर संगठन की वास्तविकता को समझे और उसे शक्ति प्रदान करने में थोड़ी भी हिचक न करे। व्यावसायिक क्रान्ति के बाद न केवल व्यावसायिक बल्कि विचार तथा सांस्कृतिक सभी प्रकार के संगठनों की वृद्धि हुई है। सरकार इन्हें शक्ति प्रदान करके इनके कार्यों को उत्साहित करे। वह यह न डरे कि अमुक संगठन बढ़ते-बढ़ते राज्य पर आरूढ़ हो जायगा। यदि राज्य का उद्देश्य प्रजा की सेवा और उन्नति करना है तो ये संगठन भी आज काफी सेवा कर रहे हैं। मजदूर-दल, किसान-दल, शिक्षा-संगठन, विश्वविद्यालय, स्वास्थ्य गृह ये

सब अपने-अपने मार्ग में स्वतंत्र होने चाहिये। सरकार केवल इन्हें आपस में संयोजित करती रहे। ये सभी राज्य के अंग हैं। जैसे शरीर में हाथ का महत्व किसी अंग से कम नहीं है उसी तरह इन संगठनों का महत्व राज्य में काफी बड़ा है। किसी वस्तु का हिस्सा उतना ही आवश्यक है जितना सम्पूर्ण वस्तु। इसलिये इन संगठनों को थोड़ी-बहुत प्रभुता प्राप्त है और होनी चाहिये।

आधुनिक युग प्रजातन्त्र का युग है। जनता को अधिक-से-अधिक शक्ति और अधिकार मिलते जायँ, यह इस युग की एक विशेषता है। व्यापकवादियों ( Pluralists ) का उद्देश्य है कि जनता के सभी उचित कार्यों को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। यदि आज भी प्रभुता किसी दल विशेष के हाथों में पड़ी रहे तो प्रजातन्त्र का कोई अर्थ नहीं है। जब स्वयं प्रजातन्त्रवादी देश इस बात का एलान करते हैं कि उनका उद्देश्य प्रजा को पूर्ण स्वतन्त्र कर समस्त राजकीय शक्तियों को जनता में वितरित करना है तो उन्हें इसी ओर बढ़ना चाहिए। व्यापकवाद प्रजा की शक्ति बढ़ाने का एक आधुनिक आन्दोलन है। इससे न केवल प्रजातन्त्र की उन्नति होगी बल्कि और वाद भी इस सिद्धान्त की नकल करेंगे। प्रजा की शक्ति के साथ उनकी स्वतन्त्रता और क्रियायें बढ़ती जायेंगी। सम्भव है किसी समय ये संगठन जनता की हर प्रकार की भलाई के अधिकारी बन बैठें और प्रभुता कोई चीज न रह जाय।

जो लोग प्रभुता के एकीकरण वाले सिद्धान्त में विश्वास करते हैं वे व्यापकवाद को भयानक और बेकार कहते हैं। उनका कहना है कि इन संगठनों में व्यक्ति अपने-आपको भुला देगा तो कानून के आज्ञापालन की आवश्यकता नहीं रह जायगी। राज्य ऐसे बड़े संगठन को, जो सदियों से बड़ी छानबीन के साथ बनाया गया है, छोटे-छोटे संगठनों के लिये नष्ट-भ्रष्ट कर देना कोई बुद्धिमानी नहीं है। आलोचकों की यह दलील है कि वर्तमान मजदूर-संगठन के बल को देखते हुये कोई करने का साहस न करेगा कि इस प्रकार के संगठनों को सरकार प्रोत्साहन देती रहे। जो कुछ भी हो, यह स्वीकार करना अच्छा होगा कि संगठनों का काफी महत्व है और उन्हें राज्य की ओर से शक्ति मिलनी चाहिये।

**कानून और प्रभुता**

कहा जाता है कि, "विधि एक प्रकार की आज्ञा है जिसे राजा देता है।"* इसका तात्पर्य यह है कि प्रभुता और विधि दोनों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। कानून तब तक नहीं बन सकता जब तक राजा की आज्ञा न हो। प्रभुता चाहे राजा में हो, या पार्लियामेंट में, अथवा जनता में, कानून पर उसका एक-सा प्रभाव पड़ता है। उस व्यक्ति अथवा गिरोह के अतिरिक्त, जिसे प्रभुता प्राप्त है, कोई

* Law is a command issued by the supreme political authority.

कानून बनाने का अधिकारी नहीं है। कानून स्वयं एक प्रकार की शक्ति है जो प्रभुता से प्राप्त होती है। यदि प्रभुता का भय न हो तो रोज ही कानून तोड़ने वालों की भरमार लग जाय। जब कानून बनाने का अधिकार राजा को प्राप्त है तो क्या वह सभी तरह के कानून बना सकता है? प्रजा राज्य के उन कानूनों को नहीं मान सकती जो उसकी भलाई और उन्नति में बाधक हों। प्रभुता के अभिमान में कोई राजा अन्याय नहीं कर सकता। प्रभुता को धर्म और व्यक्तिगत मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। वह उन्हीं कानूनों का पालन करा सकती है जो प्रजा की इच्छा के अनुकूल बनाये गये हों।

**प्रभुता की सीमा**

ऊपर कहा गया है कि प्रभुता की शक्ति अनन्त है। उसकी सीमा का कहीं अन्त नहीं है। लेकिन कार्य रूप में उसके लिये भी अनेक रुकावटें हैं। वह किसी ऐसे कानून का प्रचार नहीं कर सकती जो किसी धर्म अथवा न्याय के विरुद्ध हो। इस प्रकार के कानूनों का विरोध जनता खुले दिल से करेगी, और प्रभुता को उसके सामने झुकना होगा। उसके अन्दर प्रजा पर शासन करने की जितनी शक्ति होगी, चाहे वह शक्ति शारीरिक, मानसिक, वा आध्यात्मिक हो, उसी हद तक वह प्रजा को दबा सकती है। बड़े-बड़े तानाशाहों की शक्ति का कहीं-न-कहीं अन्त है। वे भूमि और आकाश एक भले ही कर देना चाहें लेकिन ऐसी शक्ति उनके पास नहीं होती। अपने राज्य में वे जो कुछ करना चाहते हैं सब नहीं होता। कारण यह है कि शक्ति से प्रत्येक वस्तु परिमित है। हर व्यक्ति वा संगठन का एक व्यक्तित्व होता है। वह जितना बड़ा होगा उसी हद तक मनुष्य अपनी योजना में सफल होगा। डाइसी (Dicey) लिखता है, "प्रभुता प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकती।" इसका तात्पर्य यह है कि कुछ दैवी तथा प्राकृतिक बन्धन प्रभुता को सब कुछ करने से रोकते हैं। ब्लन्चली (Bluntschli) लिखता है, "ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो सर्वथा स्वतन्त्र हो। यहाँ तक की राज्य का पूर्ण ढाँचा सर्वशक्तिमान नहीं है। वह बाह्य, आन्तरिक, अन्य राज्यों के अधिकार, अपनी शक्ति तथा व्यक्तिगत अधिकारों से घिरा हुआ है।"* जैसे व्यक्ति के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता समाज में सम्भव नहीं है उसी तरह प्रभुता भी स्वतन्त्र नहीं हो सकती। उसे प्रजा की शक्ति और नियम का ध्यान रखते हुए काम करना पड़ता है।

---

* There is no such thing as absolute independence, even the state as a whole is not almighty; for it is limited externally by the rights of other states and internally by its own nature and the rights of its individual members.

प्रभुता चार प्रकार से घिरी हुई है। वह इनकी सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकती। सबसे पहली रुकावट दैवी शक्ति है। इसका दूसरा नाम प्राकृतिक नियम है। जिस प्रकार ये शक्तियाँ व्यक्ति के लिये पथ-प्रदर्शक हैं उसी तरह प्रभुता भी इनके प्रतिकूल नहीं जा सकती। जड़ और चेतन सभी पदार्थ इस दैवी शक्ति के आश्रित हैं, प्रभुता इसमें अपवाद नहीं है। दूसरी रुकावट शासन-पद्धति की है। सरकार जो नियम एक बार बनाती है उसका वह स्वयं उल्लंघन नहीं कर सकती। प्रभुता अपनी बनाई हुई शासन-पद्धति को कैसे तोड़ सकती है ? प्रजा की अनुमति लेकर वह उसमें परिवर्तन कर सकती है। सरकारी कर्मचारी शासन पद्धति की भले ही अवहेलना करें, परन्तु प्रभुता ऐसा नहीं कर सकती।* उसकी तीसरी रुकावट अन्तर्राष्ट्रीय नियम हैं। कोई प्रभुता इनका उल्लंघन जल्दी नहीं कर सकती। विश्व-शान्ति के लिये इनका पालन अनिवार्य है। जापान, जर्मनी, इटली आदि देशों की प्रभुता ने अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की सदा अवहेलना की है फिर भी वे राज्य राष्ट्रों की उच्च श्रेणी में गिने जाते हैं। परन्तु इन नियमों के उल्लंघन से विश्वव्यापी युद्ध के रूप में संसार को एक बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी है। प्रभुता अपने देश के रीति-रिवाजों से घिरी होती है। धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध वह एक शब्द नहीं बोल सकती। रस्म रिवाज का स्थान राजकीय कानूनों से बढ़कर होता है। बड़ी-से-बड़ी शक्ति इनका तिरस्कार नहीं कर सकती। वह कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो, इन्हें बचा कर ही उसे चलना पड़ता है। इतिहासकारों ने औरंगजेब को स्वेच्छाचारी और कठोर कहा है। उसके तलवार की धाक हिन्दू और मुसलमान दोनों मानते थे। फिर भी धर्म में वह इतना विश्वास करता था कि कुरान की आयतों का कभी विरोध नहीं करता था। इसलाम को वह अपनी शक्ति से बढ़कर समझता था।

जान आस्टिन का सिद्धान्त

प्रभुता के समस्त सिद्धान्तों में जान आस्टिन ( John Austin ) का सिद्धान्त महत्वपूर्ण कहा गया है। वह इंगलैंड में एक प्रसिद्ध वकील था। उसने १८३२ ई० में अपनी एक पुस्तक 'लेक्चर्स आन जूरिसप्रूडेन्स ( Lectures on jurisprudence ) में प्रभुता पर अपना विचार प्रकट किया था। तब से बराबर उस पर टीका-टिप्पणी होती आ रही है। आस्टिन के ही शब्दों में उसका सिद्धान्त रखना अच्छा होगा। वह लिखता है—"प्रभुता और राज्य की व्याख्या हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं.........जो मनुष्य औरों पर हुक्म चलाते हुये, स्वयं किसी के आज्ञा-पालन के लिये बाध्य नहीं है, वही राजा है। जिस समाज वा क्षेत्र में उसकी आज्ञा का निर्विरोध पालन होता है वह राज्य

* The constitution limits the government not the state.

कहलाता है। राजा और प्रजा का स्पष्टीकरण उसी स्वतन्त्र समाज व राज्य में होता है।"*

आस्टिन के इस सिद्धान्त की व्याख्या करने पर इसमें तीन विशेष बातें दिखाई पड़ती हैं :—

१—प्रत्येक राज्य में प्रत्यक्ष प्रभुता का होना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना सरकारी कानून नहीं बन सकते। क्योंकि आस्टिन स्वयं लिखता है कि प्रभुता चाहे किसी व्यक्ति अथवा समूह के हाथों में हो, उसका स्वरूप प्रत्यक्ष होना चाहिये।

२—प्रभुता की शक्ति किसी भी तरह से सीमित नहीं है। वह किसी दूसरी शक्ति से घिरी नहीं रह सकती। वह पूर्ण स्वतन्त्र और असीम है।

३—प्रभुता के टुकड़े नहीं किये जा सकते। एक राज्य में दो प्रभुता नहीं होती। एकीकरण प्रभुता का प्रधान गुण है।

आस्टिन के इस सिद्धान्त में कानूनी दृष्टि से काफी सच्चाई मौजूद है, लेकिन कार्य रूप में यह सिद्धान्त असम्भव है। संसार में ईश्वर के अतिरिक्त किसी असीम शक्ति का अनुमान ही गलत है। कोई ऐसा राजा इतिहास के किसी युग में दिखाई नहीं पड़ता जो सभी प्रकार स्वतन्त्र रहा हो। आज भी संसार के किसी देश अथवा गिरोह में ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसकी शक्ति की सीमा न हो। संघ शासन में आस्टिन का सिद्धान्त असफल हो जाता है। अमेरिका में हम यह नहीं कह सकते कि प्रभुता कहाँ है। उसने अँग्रेजी शासन-विधान की गलत व्याख्या की है। यदि वह प्रभुता को कानूनी और राजनैतिक दो भागों में न बाँटे होता तो उसके सिद्धान्त की और भी अवहेलना हुई होती।

———

* "The notions of sovereignty and independent political society may be expressed thus...if a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior receive hebitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is the sovereign in that society, and society including the superior, is a society political and independent. To that determinate superior the other members of the society are subjects..."

# अध्याय ११

## शासन-विधान

## ( Constitution of the State )

**परिभाषा**

कोई राज्य ऐसा नहीं जहाँ किसी प्रकार का शासन-विधान न हो। इसे पहचानने के लिये राज्य के सम्पूर्ण सरकारी संगठन की जानकारी रखनी होगी। इसकी परिभाषा के विषय में लेखकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ डाइसी लिखता है, "शासन-विधान उन राजकीय नियमों को कहते हैं जो प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभुता पर अपना प्रभाव डालते हैं।"[1] नीतिशास्त्र का विद्वान् आस्टिन लिखता है, "शासन-विधान उस नियम को कहते हैं जो सरकार की रूप-रेखा का निर्माण करता है।"[2] यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू का कहना है, "शासन-विधान वह पद्धति है जिसके द्वारा राज्य के सभी नागरिक एक सूत्र में बाँधे जाते हैं।"[3] लीकाक ने इसकी परिभाषा केवल ६ शब्दों में की है। वह लिखता है, "किसी राज्य के ढाँचे को उसका शासन-विधान कहते हैं।"[4] ब्राइस के कथनानुसार "शासन-विधान उन नियमों को कहते हैं जो सरकार के आकार का निर्माण और उसके प्रति नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्यों की व्याख्या करते हैं।"[5]

इन परिभाषाओं में थोड़ा-बहुत भेद अवश्य है, परन्तु गहराई के साथ विचार करने पर सबमें एक घनिष्ठ एकता पाई जाती है। शासन-विधान और सरकारी संगठन दोनों एक हैं। केवल नाम का भेद है। यह विचार गलत है कि

---

1—All rules which directly or indirectly affect the distribution or the exercise of Sovereign power in the state.

2—That which fixes the structure of the Supreme Government.

3—The constitution is the way in which citizens, who are the component parts of the state, are arranged in relation to one another.

4—The form of any particular state.

5—The constitution of a state or a nation consists of those of its rules or laws which determine the form of the government and the respective rights and duties of the citizens towards the government.

कोई देश बिना शासन-विधान के रह सकता है। वैसे तो देश में आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक सभी प्रकार के संगठन होते हैं; सबकी उपयोगिता कम नहीं है; परन्तु राजनैतिक संगठन इन सबके ऊपर होता है। इसी के नियन्त्रण में अन्य संगठन अपना कार्य करते हैं। इस सिद्धान्त को सामने रखते हुए शासन-विधान की परिभाषा एक और प्रकार से की जा सकती है। राजनैतिक संगठन देश में सबसे महत्वपूर्ण संगठन माना जाता है। इसी से देश की उन्नति अवनति का प्रश्न हल होता है। यदि शासन-विधान देश की जलवायु तथा परम्परा के अनुकूल है तो उससे नागरिकों को अधिक लाभ पहुँचेगा। इसके विपरीत यदि वह लोकमत के विरुद्ध है तो राज्य में सभी प्रकार की अशांति रहेगी। नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्य बहुत कुछ शासन विधान द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। यदि इसकी विस्तृत व्याख्या की जाय तो हमें इसी परिणाम पर पहुँचना होगा कि शासन-पद्धति उस राजनैतिक विधान को कहते हैं जिसके अन्तर्गत अनेक संगठन होते हैं, जिसमें सरकार के प्रति नागरिकों के अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्याख्या होती है और जिससे सरकार की रूप-रेखा का निर्माण किया जाता है।

**शासन-विधान की आवश्यकता**

जिस संगठन से राज्य में शांति की स्थापना हो और व्यक्ति उसके अन्तर्गत अपने अधिकार और कर्त्तव्यों को पहचाने, उसकी आवश्यकता कितनी अधिक है पाठकगण स्वयं इस पर विचार कर सकते हैं। नीचे से ऊपर तक सारे देश में सरकारी संगठन का एक जाल फैला रहता है। गाँव के चौकीदार से राष्ट्रपति तक अनेक कर्मचारी इसके अन्दर काम करते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि इन सबके अधिकार भलीभाँति स्पष्ट किये गये हों। प्रत्येक को इस बात की पूरी जानकारी हो कि जनता तथा सरकार के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं। शासन-विधान में इसकी पूरी व्याख्या की जाती है। इसकी अनुपस्थिति में सरकार के सभी काम उलझन में पड़ सकते हैं। यह कैसे सम्भव है कि कोई मनुष्य शरीर की सुडौल बनावट के बिना अपने को सर्वांगपूर्ण और स्वस्थ बना सके ? यदि राज्य में राजा ही सब कुछ है तब भी कुछ विषयों को स्पष्ट करने के लिये इस बात की आवश्यकता पड़ेगी कि शासन की सुविधा के लिये कुछ लिखित नियम मौजूद हों। छोटा या बड़ा, प्रजातंत्र या एकतंत्र कैसा भी राज्य हो, शासन-विधान के बिना उसका कार्य नहीं चल सकता।

सम्भव है किसी देश का शासन-विधान लिखित न हो। फ्रांस के इतिहास में एक लम्बा समय बिना किसी शासन विधान के पाया जाता है। कुछ फ्रेंच राजनीतिज्ञ आज भी यह कहते हैं फ्रांस में कोई शासन विधान नहीं है। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। शासन-विधान के बिना सरकार का कार्य एक दिन

भी नहीं चल सकता। कोई संगठन तब तक नहीं बनाया जा सकता जब तक उसका एक स्वरूप निश्चित न कर लिया जाय। शासन विधान सरकारी ढाँचे का एक स्वरूप है।

**शासन-विधान के गुण**

यह कहना कठिन है कि कौन-सा शासन-विधान सबसे अच्छा है। एक ही शासन पद्धति, जो किसी देश के लिये अच्छी है, दूसरे देश में बुरी हो सकती है। सामाजिक संगठन और भौगोलिक स्थिति के अनुकूल विभिन्न देशों में अलग-अलग प्रकार की शासन-पद्धतियाँ होती हैं। प्रत्येक शासन-विधान के अन्दर अपनी एक विशेषता होती है। अफलातून के कथनानुसार एक आदर्श शासन-विधान तभी सम्भव है जब शासक निःस्वार्थ भाव से शासन करे, अर्थात् शासन में उसकी अनासक्ति हो।* शासन विधान से जनता में न्याय का बीजारोपण होता है। यही हमें सामाजिक कर्त्तव्यों का पथ प्रदर्शित करता है। इसी को देख कर जनता की राजनैतिक परिस्थिति का अनुमान किया जाता है। यदि किसी देश के शासन-विधान के अन्दर राजनैतिक विषयों में सरकारी कर्मचारियों की तौहफा आम जनता को चूँ तक करने का अधिकार नहीं है तो वह सर्वथा निन्दनीय समझा जायेगा। ब्रिटिश शासन-विधान की जो लोग सराहना करते हैं उनका तात्पर्य यह नहीं है कि उसका ढाँचा सोने और चाँदी का बना हुआ है। इसकी वजह यह है कि इसके अन्दर एक ऐसी भावना है जिससे आम जनता सन्तुष्ट रहती है। इंगलैंड के शासन-विधान की यह एक विशेषता है कि विश्वव्यापी युद्ध के समय में भी वहाँ की जनता सरकार की टीका-टिप्पणी कर सकती है।

शासन-विधान में प्रादेशिक अन्तर होते हुए भी कुछ बातें ऐसी हैं जो अनिवार्य रूप से सबमें होनी चाहिये। इनके बिना अच्छा-से-अच्छा शासन विधान नीरस और निस्सार प्रतीत होगा। ये गुण निम्नलिखित हैं :—

**स्पष्टता**

१—प्रत्येक शासन-विधान सुलझा हुआ और स्पष्ट होना चाहिये। इसमें किसी प्रकार की संदेहयुक्त बातें नहीं रहनी चाहिये। कोई भी इसे पढ़ कर अच्छी तरह समझ ले और उसके मन में दोअमली बात पैदा न हो। शासन-विधान जितना ही स्पष्ट होगा सरकार को उतनी ही कम कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी। इसीलिये लिखित शासन-विधानों की महत्ता अधिक मानी जाती है। जब चीजें लिखित होती हैं तो उनमें दोहरे अर्थ का भय कम रहता है।

---

* A good constitution is only possible, when the ruler does not want to rule.

व्यापकता

२—शासन-विधान ऐसा होना चाहिये जिसमें राजनैतिक संगठन की सभी बातें पाई जायँ। उसके अध्ययन से सरकार की पूरी जानकारी हो जानी चाहिये। यदि इसमें सरकार के किसी विभाग पर प्रकाश नहीं पड़ता अथवा किसी विभाग के कर्मचारियों का अधिकार निहित नहीं होता तो ऐसा शासन-विधान अपूर्ण समझा जायेगा। न्याय, कार्य-कारिणी तथा धारा-सभा के क्षेत्रों की व्याख्या भली भाँति होनी चाहिये। यही शासन-पद्धति की व्यापकता कहलाती है। इसी से सरकारी कर्मचारियों को कार्य करने की शक्ति मिलती है। संकुचित शासन-पद्धतियों में कर्मचारी मनमानी कर सकते हैं, किन्तु जो शासन-विधान व्यापक है उसमें कोई खींचातानी नहीं कर सकता।

सरलता

३—जहाँ तक सम्भव हो शासन-विधान सरल और सूक्ष्म होना चाहिये। केवल व्यापक और मूल सिद्धान्तों का समावेश इसके अन्दर होना चाहिये। छोटी-छोटी बातों की विस्तृत व्याख्या शासन-विधान के बाहर की चीज है। पुलीस विभाग के अधिकार और कर्त्तव्य तो इसके अन्दर लिखे जा सकते हैं, परन्तु इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है कि डाकुओं से मुकाबला पड़ने पर एक सिपाही क्या करे। जो शासन-विधान जितना ही विस्तृत होगा समयानुसार उसमें परिवर्तन भी अधिक करने होंगे। इसी से बचने के लिये छोटी-छोटी बातें इससे बाहर रक्खी जाती हैं। समय के प्रवाह में आवश्यकतानुसार सरकारी कर्मचारी इसका निपटारा स्वयं करते हैं।

परिवर्तन-शीलता

४—कोई शासन-विधान सदैव के लिये स्थायी नहीं बनाया जा सकता। लोगों के विचार बदलते रहते हैं। इन्हीं के अनुकूल उनके संगठनों में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है। शासन-विधान में यह परिवर्तनशीलता मौजूद होनी चाहिये। बड़ा-से-बड़ा संगठन समय की उपेक्षा नहीं कर सकता।* जो चीज आज हमें अच्छी लगती है वही कल बुरी हो सकती है। जिस शासन-विधान से आज हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है वह कल हमारी स्वतन्त्रता में रुकावटें डाल सकता है। इसलिये शासन-विधान ऐसा होना चाहिये जिसमें समयानुकूल परिवर्तन किया जा सके; अर्थात् लोग अपनी रुचि के अनुसार उसे बदल सकें। किसी अँग्रेज विद्वान का कहना है कि "एक पीढ़ी के मनुष्यों को यह अधिकार नहीं है कि वे अपनी आनेवाली संतान को राजनैतिक बंधन में बाँध सकें। इसलिये प्रत्येक शासन-विधान की आयु अधिक-से-अधिक चौंतीस

* There is no time-proof organization.

वर्ष होनी चाहिये।" अन्त में वह लिखता है कि शासन-विधान की आयु पीढ़ी की आयु से अधिक नहीं होनी चाहिये। हमारी आवश्यकताएँ प्रति-दिन बदलती रहती हैं। शासन-विधान भी इसी तरह की एक आवश्यकता है। इसके अन्दर परिवर्तन के गुण हर समय मौजूद होने चाहिये।

शासन विधान का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। कुछ लेखक ऐतिहासिक आधार पर, कुछ स्पष्टीकरण की नीति से और कुछ भौगोलिक दृष्टि से विभाजन करते हैं। एक ही शासन-विधान कई विभाजनों में लाया जा सकता है। ये विभाजन चार प्रकार से किये जाते हैं।

**शासन-विधान का वर्गीकरण**

**लिखित और अलिखित शासन-विधान**

१—इस विभाजन के अनुसार संसार के सभी शासन-विधान दो कोटि में रक्खे जा सकते हैं। जिन देशों के शासन-विधान लिखित हैं वे एक कोटि में और बाकी दूसरी कोटि में माने जाते हैं। तात्पर्य यह है कि शासन-विधान या तो लिखित हो सकता है या अलिखित। लेकिन यह विभाजन सर्वथा अपूर्ण है। कोई भी शासन-विधान पूर्णतया अलिखित नहीं हो सकता। यह भी सम्भव नहीं है कि शासन-सम्बन्धी सभी बातें लिखित कर ली जायें। हर देश में कुछ प्राचीन परम्पराएँ तथा रस्म-रिवाज होते हैं। बहुसंख्यक जनता राजकीय नियमों से उन्हें अधिक आवश्यक समझती है। सरकारी कानूनों का वह उल्लंघन कर सकती है, लेकिन अपनी परम्परा को नहीं तोड़ सकती। सभी शासन-विधानों में कुछ लिखित और कुछ अलिखित बातें होती हैं। अन्तर केवल परिमाण का होता है।

यद्यपि यह विभाजन विवाद-ग्रस्त है फिर भी इसकी थोड़ी-बहुत उपयोगिता हो सकती है। जो शासन-विधान अधिक-से-अधिक लिखित होता है वह उतना ही स्पष्ट माना जाता है। उसका इतिहास शीशे की तरह साफ होता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का संघशासन-विधान अधिक अंश में लिखित है। किसी राजनीतिज्ञ का कहना है कि वह शासन पद्धति १८ मिनट में पढ़ी जा सकती है। अलिखित शासन-विधान में कुछ बातें तो लिखित होती हैं, परन्तु अधिकतर चीजें रस्म-रिवाज के अनुसार बर्ती जाती हैं। जनसाधारण अपने प्रसिद्ध विश्वासों तथा सामाजिक नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते हैं। किसी विशेष परिस्थिति में ही उन्हें सरकारी कानूनों का आश्रय लेना पड़ता है। वर्तमान समय में लगभग सभी देशों का झुकाव लिखित शासन-विधान की ओर है। सभी अपने शासन-विधान को लिखित रूप में कर लेना चाहते हैं।

२—शासन-विधानों का वर्गीकरण ऐतिहासिक आधार पर भी किया गया है। जो शासन विधान बहुत ही प्राचीन हैं और इतिहास में जिनकी उत्पत्ति का कोई निश्चित समय नहीं मिलता वे विकसित शासन-विधान कहलाते हैं। उनका वर्तमान रूप सदियों के विकास से बना है। आवश्यकतानुसार उनमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। विकसित शासन-विधान लोकमत के निकट होते हैं। इनमें सामाजिक रीति-नीति का समावेश होता है। जनता को इसमें परिवर्तन करने में कठिनाई नहीं होती। इंगलैंड की शासन पद्धति विकसित है। इसके सभी अंग—कामन सभा, सम्राट्, लार्ड सभा—आज से कई शताब्दी पहले उत्पन्न हुए थे। भारतीय शासन-विधान भी क्रमशः विकसित हुआ है। ब्रिटिश काल में किसी एक निश्चित तारीख को इसका निर्माण नहीं हुआ। करीब १५० वर्षों में, अर्थात् ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय से आज तक इसके एक-एक अंग पुष्ट होते गये हैं। साथ ही वर्तमान शासन-विधान में कितनी ही ऐसी बातें मौजूद हैं जो हिन्दू तथा मुसलमान काल में पाई जाती थीं।

**विकसित और बनावटी शासन-विधान**

विकसित शासन विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक ओर तो इसकी जड़ भूतकाल में होती है, प्राचीन रस्म-रिवाजों की पुट इसके अन्दर पाई जाती है, और दूसरी ओर इसका पग सदैव उन्नति के पथ पर रहता है। जनता को किसी नई चीज की आवश्यकता हुई कि शासन-विधान में नये सुधार कर दिये गये। विकसित शासन-विधान में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता कभी नहीं पड़ती। इसीलिये जिस देश में ऐसा शासन-विधान पाया जाता है वहाँ क्रान्ति की सम्भावना कम होती है। जनता को यह विश्वास रहता है कि वह जब चाहे इसमें परिवर्तन कर सकेगी। स्वतन्त्रता के पहले भारतीय शासन-विधान यद्यपि विकसित था लेकिन जनता इससे संतुष्ट नहीं थी। इस अपवाद का कारण यह था कि इसका विकास भारतीय जनता के हित की दृष्टि से न होकर ब्रिटिश सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिये हुआ था। परन्तु अब भारतीय शासन का विकास जनता के हित के लिए होगा।

बनावटी शासन-विधान के अन्दर उपरोक्त गुण नहीं होते। यह विधान किसी निश्चित वर्ष में बना हुआ होता है। इतिहास इसके आदि और अन्त पर पूरा प्रकाश डालता है। जब देश के निवासी आवश्यकतानुसार किसी समय अपना शासन-विधान बना लेते हैं तो वह बनावटी शासन-विधान कहलाता है। 'बनावटी' शब्द किसी छोटे अथवा बुरे अर्थ में यहाँ प्रयोग नहीं किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अमुक शासन विधान विकसित न होकर बनाया गया है। लेकिन इससे यह तात्पर्य नहीं है कि बनावटी शासन-विधान का विकास होता ही नहीं। समय-समय पर इसमें भी परिवर्तन होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का शासन-विधान बनावटी

कहलाता है। १७८३ में, जब यह देश पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया, इसका शासन-विधान बनाया गया। समय-समय पर इसमें अनेक परिवर्तन हुए हैं। परन्तु जिस उद्देश्य को सामने रखकर आरम्भ में इसका निर्माण किया गया था वह आज भी मौजूद है। जब किसी देश में क्रान्ति होती है और क्रान्तिकारी इसमें सफल हो जाते हैं तो बनावटी शासन-विधान आवश्यक हो जाता है। रूस का वर्तमान शासन-विधान बनावटी है। वह १९१७ ई० में रूसी क्रान्ति के पश्चात् बनाया गया था।

**परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील शासन-विधान**

२—परिवर्तनशील शासन-विधान उसे कहते हैं जो सरलतापूर्वक बदला जा सके। इसके विपरीत जिसका बदलना कठिन हो वह अपरिवर्तनशील शासन-विधान कहलाता है। पहले हम परिवर्तनशील शासन विधान पर विचार करें। प्रत्येक देश में दो प्रकार के कानून होते हैं। साधारण कानूनों से सरकार के दैनिक कार्य चलते हैं। इनके द्वारा कचहरियों में मुकदमे फैसल किये जाते हैं। दूसरे प्रकार के कानून वैधानिक कानून ( Constitutional Laws ) कहलाते हैं। जब कभी शासन विधान में कोई परिवर्तन करना होता है तो इन्हीं वैधानिक कानून द्वारा ऐसा किया जाता है। कुछ देश ऐसे हैं जहाँ ये दोनों प्रकार के कानून एक ही हैं। एक ही विधान-मंडल इन्हें बनाता है और वही इन्हें हटा भी सकता है। इंगलैंड में साधारण तथा वैधानिक कानूनों में कोई अन्तर नहीं है। पार्लियामेंट सभी प्रकार के कानून बना सकती है। वह चीजों पर कर भी लगाती है और शासन-विधान को बदलती भी है। वह जब चाहे अपनी अवधि बढ़ा सकती है तथा अपने को भंग कर सकती है। पहले भारत में साधारण और वैधानिक कानूनों में अन्तर था। भारतीय विधान-मंडल साधारण कानून को पास कर सकते थे, परंतु शासन विधान में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकते थे। यह अधिकार केवल ब्रिटिश पार्लियामेंट को था जो भारतीय शासन-विधान का संरक्षक कहलाती थी। पर अब स्वतन्त्र भारत को भी दोनों प्रकार के कानून बनाने का अधिकार है। जिन देशों में इन दोनों प्रकार के कानूनों में कोई अन्तर नहीं होता वहाँ का शासन-विधान परिवर्तनशील कहलाता है।

रहता है। अर्थात् शासन-विधान उसके विचारों का प्रतीक होता है। बिना किसी कठिनाई के साधारण कानून द्वारा वह बदला जा सकता है। प्रगतिशील समाज के लिये परिवर्तनशील शासन-विधान अत्यन्त लाभदायक और उपयुक्त है। इसे बदलने में जनता कोई हिचक नहीं करती। परिवर्तनशील शासन-विधान जनता के उद्गार का सामना भलीभाँति कर सकता है। इंगलैंड का शासन-विधान परिवर्तनशील कहलाता है। किसी भी समय पार्लियामेंट इसे बदल सकती है।

जहाँ परिवर्तनशील शासन-विधान में इतने गुण हैं वहाँ कुछ अवगुण भी पाये जाते हैं। जो शासन-विधान बार-बार बदलता रहे वह क्षणिक कहलाता है। उससे देश को कोई लाभ नहीं हो सकता। क्षणिक आवेश में आकर जनता इसे बदल सकती है। किसी भी प्रकार की कठिनाई उपस्थित होने पर उसकी दृष्टि तुरन्त शासन-विधान की ओर जाती है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति में क्रान्तिकारियों का ध्यान एकमात्र शासन की ओर था। उसी में उन्हें जनता के अधिकार दिखाई पड़ते थे। राज्य क्रान्ति से अब तक कई प्रकार का शासन-विधान फ्रांस में बन चुका, परन्तु पिछले शासन को छोड़ कर कोई भी २० वर्ष से अधिक नहीं रह सका। इसकी वजह यही है कि वहाँ की जनता को शासन-विधान के बदलने की आदत पड़ गई है। बार बार परिवर्तन होते रहने से देश में राजनैतिक दलबन्दियों की वृद्धि होती है। इससे सामाजिक उन्नति में बाधा पड़ती है। परिवर्तनशील शासन-विधान के अन्दर विधान-मंडल के सदस्यों के अधिकार इतने अधिक होते हैं कि वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण कर सकते हैं। इसीलिये यह शासन-विधान उस समुदाय वा देश में सफल हो सकता है जहाँ की जनता शिक्षित और उत्तरदायी है।

अपरिवर्तनशील शासन-विधान वह है जो आसानी से न बदल सके। अर्थात् जिसे बदलने के लिये एक विशेष नियम की आवश्यकता हो। इस शासन-विधान में तभी कोई परिवर्तन हो सकता है जब वैधानिक कानूनों का आश्रय लिया जाय। साधारण कानून इसमें काम नहीं कर सकते। संयुक्त राज्य अमेरिका का शासन-विधान अपरिवर्तनशील कहलाता है। इसमें तब तक कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता जब तक काँग्रेस ( संयुक्त राज्य अमेरिका का विधान-मंडल ) के दो-तिहाई सदस्य इसका समर्थन न करें। साथ ही जितनी रियासतें संघशासन में शामिल हैं उनमें भी तीन चौथाई का बहुमत आवश्यक है। इतनी उलझन के बाद कोई परिवर्तन किया जा सकता है। इन्हीं कठिनाइयों के कारण वहाँ शासन-विधान में जल्दी कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। फ्रांस का शासन-विधान परिवर्तनशील है। वहाँ की छोटी और बड़ी दोनों धारा सभायें (Chamber of Deputies and the Senate) अलग-अलग पहले विचार करती हैं। इसके बाद दोनों एक साथ ( National Assembly ) बैठ कर फिर विचार करती हैं। जब इन

दोनों सभाओं के दोहरे समर्थन प्राप्त होते हैं तभी कोई परिवर्तन किया जाता है।

इस अपरिवर्तनशील शासन-विधान के मुख्य तीन गुण हैं। एक तो इसमें स्थायीपन का भाव रहता है। कोई भी चतुर व्यक्ति इसे इसलिये समझ सकता है कि यह निहायत स्पष्ट और साफ होता है। इसके अन्दर सरकारी कर्मचारियों के अधिकार भलीभाँति स्पष्ट होते हैं। इससे वे अपने अधिकारों का अनुचित प्रयोग नहीं कर सकते। तीसरे, इसके अन्दर दलबन्दियों का भय कम होता है। लेकिन इस में कुछ कमजोरियाँ भी हैं। कोई भी शासन-विधान सदैव के लिये पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसकी अपरिवर्तन-शीलता इसे नीरस और बेकार बना देती है। जनता में असन्तोष की भावना बढ़ जाती है। क्रान्ति का भय रहता है। जब आवश्यक परिवर्तनों की अवहेलना की जाती है तो जनता में क्रोधाग्नि की ज्वाला का बढ़ना स्वाभाविक है। शासन-विधान समय समय पर परिवर्तन न किये जायँ तो इसके बन्धन में रहकर जनता उन्नति नहीं कर सकती। लार्ड मेकाले का विचार सही है कि क्रान्ति का मूल कारण शासन-विधान की अपरिवर्तन-शीलता है।* अपरिवर्तन-शील शासन-विधान लिखित होने के कारण शाब्दिक जाल से इतना जकड़ा होता है कि उसे समझना कोई सरल काम नहीं है। इसलिये सबसे अच्छा शासन-विधान वह है जो परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील दोनों के मेल से बना हो। वर्तमान समय में सभी देश अपरिवर्तनशील शासन-विधान के पक्ष में हैं।

**एकात्मक और संघात्मक शासन-विधान**

४—एकात्मक शासन-विधान उसे कहते हैं जिसमें सरकार अपना सब काम एक केन्द्रीय स्थान से करे। शासन की सुविधा के लिए वह प्रादेशिक सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं को थोड़े बहुत अधिकार दे सकती है, परन्तु सम्पूर्ण अधिकार केन्द्रीय सरकार में निहित होते हैं। वह जब चाहे दिसरे हुए अधिकारों को वापस ले सकती है। इंगलैंड, फ्रांस, इटली, भारत आदि देशों का शासन-विधान एकात्मक है। एकात्मक राज्य में केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय कार्यकारिणी, केन्द्रीय विधान-मंडल तथा केन्द्रीय न्यायालय को प्रमुख शक्ति प्राप्त होती है। इन्हीं की अध्यक्षता में बाकी शक्तियाँ अपना कार्य करती हैं। एकात्मक शासन-विधान उन राज्यों में अधिक सफल हो सकता है जो क्षेत्रफल में छोटे हों और जिनके अन्दर भाषा तथा रस्म-रिवाज में विषमता न हो। भारत

* The great cause of revolution is that while nations move onwards constitutions stand still.

ऐसे विशालकाय देश में एकात्मक शासन-विधान सफल अथवा लोकप्रिय नहीं हो सकता।

संघात्मक शासन-विधान के अन्दर केन्द्रीय सरकार अवश्य होती है परन्तु प्रदेशों अथवा रियासतों को, जो उस संघ में शामिल हैं अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं। मान लीजिये कोई देश अपने को संगठित तथा शक्तिशाली बनाना चाहता है। उसके अन्दर अनेक छोटे-छोटे प्रान्त अथवा रियासतें हैं। इन सबके सामूहिक मिलन से जो शासन-विधान बनाया जाता है उसे संघात्मक कहते हैं। केन्द्रीय सरकार उन विषयों को, जो सम्पूर्ण देश से सम्बन्ध रखते हैं, अपने अधिकार में रखती है। इसके अन्दर बाह्य आक्रमणों से रक्षा, रेल, तार, डाक इत्यादि हैं। बाकी विषयों में प्रान्त वा रियासतें स्वतन्त्र होती हैं। वे अपनी इच्छानुसार इनका प्रबन्ध करती हैं। किसी विशेष परिस्थिति में एकात्मक राज्य की सभी रियासतें अपना एक संघशासन-विधान बना लें और अपने सम्पूर्ण अधिकारों को केन्द्रीय सरकार को दे दें तो वह अर्द्ध संघात्मक शासन-विधान (Confederation) कहलावेगा। संघात्मक प्रणाली के अन्दर प्रान्त वा रियासतें अपनी प्रभुता को कायम रखती हैं, किन्तु अर्द्ध संघात्मक में वे इसे खो बैठती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, आस्ट्रेलिया, स्विटजरलैंड, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में संघात्मक शासन-विधान है।

संघात्मक शासन-विधान के अन्दर शासन की सभी मशीनें दोहरी होती हैं। कारण यह है कि एक तो केन्द्रीय सरकार होती है और दूसरी प्रान्त या रियासतों की सरकारें होती हैं। दोनों को पूरी-पूरी मशीनें रखनी पड़ती हैं। दो विधान-मंडल दो कार्यकारिणी, दो न्यायालय, दो प्रभुता, दो कानून, दो टैक्स इत्यादि-इत्यादि दोहरी चीजें संघात्मक शासन-विधान में पाई जाती हैं। निवासियों को दो प्रकार की नागरिकता प्राप्त होती है। इसीलिये उन्हें दो सरकारों के प्रति कर्त्तव्य-पालन करने पड़ते हैं।

प्रश्न यह है कि संघात्मक शासन-विधान की क्या आवश्यकता है? एकात्मक शासन-विधान से काम क्यों नहीं चला लिया जाता? संघशासन की स्थापना मुख्य ६ दृष्टियों से की जाती है :—

१—छोटे छोटे राज्यों के संगठन से संघ सरकार की शक्ति बढ़ जाती है और वह दृढ़तापूर्वक किसी बाहरी हमले का मुकाबिला कर सकती है।

२—सब के मिलन से देश की आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा में उन्नति होती है।

३—जो देश छोटे-छोटे प्रान्तों में बिखरा हुआ है वहाँ संघ-शासन-विधान इन को एक सूत्र में बाँधकर दृढ़ राष्ट्रीयता का निर्माण करता है।

४—संघशासन-विधान से देश की अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादा बढ़ जाती है। उसकी राजनैतिक शक्ति बढ़ने से विदेशी शक्तियाँ उसका आदर करती हैं।

५—संघशासन-विधान में क्रान्ति का भय नहीं रहता। जनता अपनी इच्छानुसार अपना प्रबन्ध करती है और वह हर प्रकार से सन्तुष्ट रहती है।

६—एकात्मक शासन-विधान में केन्द्रीय सरकार को प्रान्तीय सरकारों से सदैव सन्देह रहता है। परन्तु संघ-शासन-विधान में वह भयभीत नहीं रहता। आन्तरिक शान्ति के लिये उसे किसी बड़ी फौज की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये संघ-शासन-विधान में सुरक्षा व्यय कम पड़ता है।

संघ-शासन-विधान के लिये कुछ शर्तें आवश्यक हैं। इनके बिना बड़े-से-बड़े देश में इसकी स्थापना नहीं हो सकती। डाइसी के कथनानुसार संघ-शासन में चार बातों का होना अनिवार्य है :—

१—देश में छोटे-छोटे कई राजनैतिक विभाग ( Political Divisions ) हों। जब तक वे नहीं होंगे तब तक कोई संघ नहीं बनाया जा सकता।

२—अच्छा यह हो कि ये राजनैतिक विभाग क्षेत्रफल में बराबर हों और इनके अन्दर एक सांस्कृतिक एकता ( Cultural Unity ) हो। परन्तु इसकी अनुपस्थिति में भी संघ-शासन की स्थापना हो सकती है।

३—सभी राजनैतिक विभाग समान रूप से मिलने के लिये लालायित हों। सबकी यह प्रबल इच्छा हो कि एक संघ शासन बनाया जाय। छोटे-छोटे राज्यों को दबाकर जो संघ-शासन बनाया जाता है वह क्षणिक तथा अपूर्ण होता है।

४—सभी विभागों में कई प्रकार की समान बातें होनी चाहिये। उनके अन्दर निवास करने वाले व्यक्तियों का इतिहास, उनका रहन-सहन तथा राष्ट्रीयता एक होनी चाहिये।

उपरोक्त बातें जहाँ मिलेंगी वहीं संघ शासन की स्थापना हो सकती है। जब संघ-शासन-विधान स्थापित करना हो तो तीन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा। इनके बिना राज्य में न तो शान्ति रह सकती है और न संघ का उद्देश्य ही पूरा हो सकता है।

१—संघ-शासन-विधान पूर्णतया लिखित होना चाहिये। अलिखित होने से केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों में मतभेद और सन्देह उत्पन्न हो सकते हैं। संघ-शासन-विधान एक प्रकार का सुलहनामा है जो किसी उद्देश्य से कई स्वतन्त्र राज्यों के बीच में किया जाता है। ऐसी दशा में सुलह की शर्तें (Constitution) लिखित होनी चाहिये।

२—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के अधिकार भली भाँति स्पष्ट होने चाहिये। इनका विभाजन इस तरह किया जाय कि वे आपस में टकराने न पावें। शासन सम्बन्धी विषय दो भागों में बाँट कर कुछ केन्द्रीय और कुछ प्रान्तीय सरकारों को दे देने चाहिये। अधिकार स्पष्ट होने से सरकारी कर्मचारी अपने कर्त्तव्यों का ठीक-ठीक पालन कर सकेंगे।

३—संघ-शासन-विधान में विषयों का विभाजन कितना भी अच्छी तरह क्यों न किया जाय, संघर्ष अनिवार्य है। लिखित शब्दों की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है। दो राजनैतिक विभाग आपस में उलझ सकते हैं। इसलिये संघ-शासन में एक संघ न्यायालय का होना आवश्यक है। संघ न्यायालय संघशासन का संरक्षक कहा जाता है।

उपसंहार

शासन-विधान के वर्गीकरण को देखते हुए यह कहना कठिन है कि कौन सबसे अच्छा है। देश के निवासी स्वयं यह निश्चित कर सकते हैं कि उन्हें किस प्रकार का शासन विधान चाहिये। उदाहरण के लिये भारतीय शासन-विधान को ले लीजिये। ब्रिटिश शासन एकात्मक रहा है। इसमें किसी प्रकार की कमजोरी नहीं थी। देश के कोने-कोने में सरकार की धाक थी और कोई कानूनों का उल्लंघन नहीं कर सकता था। फिर भी भारतीय जनता इसे पसन्द नहीं करती थी। वह इसे विदेशी समझती थी। इसलिये शासन विधान वही उत्तम है। जिसका निर्माण जनता स्वयं करे। वर्तमान रुचि संघ-शासन-विधान के पक्ष में है हर देश यह चाहता है कि वहाँ का शासन विधान सघात्मक हो जाय। जो कुछ भी हो, शासन-विधान जनता के विचारों के अनुकूल होना चाहिये। उसमें सामयिक परिवर्तन की शक्ति नितान्त आवश्यक है।

---

# अध्याय १२

## सरकार की किस्में

### ( The Forms of Government )

**राज्य और सरकार**

सरकार का वर्गीकरण करने में कुछ लेखकों ने राज्य और सरकार के अन्तर का ध्यान नहीं रक्खा है। उन्होंने राज्य के मनमाना भेद कर डाले हैं। वास्तव में राज्य और सरकार के अन्तर को सामने रखते हुए सरकार का वर्गीकरण करना चाहिये। राज्य एक निश्चित स्थान को किसी विशेष अवस्था में कहते हैं। उसकी एक सीमा होती है और कुछ लोग उसमें निवास करते हैं। ऐसी दशा में उसका वर्गीकरण कैसे हो सकता है। यदि छोटे-छोटे राज्यों को एक श्रेणी में तथा बड़े राज्यों को दूसरी श्रेणी में मान लें तो इस वर्गीकरण से लाभ ही क्या है ! शासन-विधान के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जाय तो वह राज्य का न होकर शासन-विधान का वर्गीकरण हो जायगा। राज्य में जैसे अच्छे, बुरे अथवा विद्वान और मूर्ख व्यक्ति रहते हों इनके आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि अमुक राज्य पिछड़ा हुआ और अमुक उन्नतिशील है। परन्तु इस वर्गीकरण का क्या महत्व है ? प्रत्येक राज्य में उन्नति अवनति होती रहती है। यह भेद क्षणिक होगा। हमें सरकार के वर्गीकरण को राज्य का वर्गीकरण नहीं कहना चाहिये। जनसंख्या के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण हो ही नहीं सकता। सरकार राज्य की एक मशीन है। वह विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार की हो सकती है। प्राचीन काल से अब तक सरकार के वर्गीकरण पर विचार किये गये हैं। समय-समय पर इसमें परिवर्तन भी हुए हैं।

**सरकार का वर्गीकरण**

सरकार का वर्गीकरण कई आधार पर किया गया है। कुछ लेखकों ने शासकों की संख्या को आधार मानकर इसका विभाजन किया है। यदि राज्य में एक राजा है और उसे सब प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं तो वह एकतन्त्र ( Monarchy ) कहलाता है। यदि सम्पूर्ण जनता स्वयं अपना शासन करती है तो उसे प्रजातन्त्र ( Democracy ) कहते हैं। इन दोनों के बीच में यदि थोड़े से चुने हुए

लोग शासन करते हैं तो उसे कुलीन तन्त्र ( Aristocracy ) कहते हैं। कुछ विद्वानों ने शासकों की संख्या के अतिरिक्त उनकी राजनैतिक भावना ( Administrative Spirit ) को सामने रखते हुए सरकार का वर्गीकरण किया है। यदि राजा निर्दयी है और प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करता है तो उसे कठोर शासन ( Tyranny ) कहा गया है। यदि थोड़े से लोग प्रजा के हित का ध्यान न रख कर अपनी ही सुविधाओं के लिये राज्य करते हैं तो उसे अल्प-जन-तन्त्र ( Oligarchy ) कहा गया है। यदि अशिक्षित जनता स्वयं अपना शासन करती है तो वह मूर्खजन राज्य ( Mobocracy ) कहलाता है। इन्हीं दोनों आधारों पर प्राचीन काल से अब तक सरकार के वर्गीकरण होते आ रहे हैं। शासन-विधान में नई-नई प्रणालियों का समावेश होने के कारण वर्तमान वर्गीकरण कुछ और तरह से किया जाता है।

**अफलातून का वर्गीकरण**

अफलातून ( Plato ) ने सरकार का वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया है। अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' और 'स्टेट्समैन' में उसने दो प्रकार से सरकार को बाँटा है। इसी एक वर्गीकरण के आधार पर अरस्तू ( Aristotle ) ने भी सरकार का विभाजन किया है, जिसका वर्णन आगे किया गया है। अफलातून पूर्ण दार्शनिक (Philosopher) था। वह ज्ञान (Knowledge) का प्यासा था। इसी ज्ञान के आधार पर उसने सरकार को बाँटा है। सरकार तीन प्रकार की हो सकती है :—

**पूर्णज्ञानी सरकार**

१—इसके अन्दर शासक, चाहे वह एक व्यक्ति हो अथवा बहुत से व्यक्ति हों, पूर्ण ज्ञानी होता है। ज्ञान से ही प्रभावित होकर वह प्रजा पर राज्य करता है। उसका उद्देश्य जनता को ज्ञानी बनाना है। परन्तु ऐसी सरकार इस पृथ्वी पर असम्भव है। केवल स्वर्ग में इसकी स्थापना हो सकती है।

**अपूर्णज्ञानी सरकार**

२—इसके अन्दर शासक कुछ अपनी बुद्धि से और कुछ कानूनों का आश्रय लेकर राज्य करता है। ऐसी सरकार के लिये क़ानून का होना आवश्यक है। अधिकतर सरकारें इसी प्रकार की होती हैं।

**अज्ञानी सरकार**

३—यह सरकार मूर्खों की होती है। इसमें कानून तो होते हैं, परन्तु कोई उनका पालन नहीं करता। शासक प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करते हैं। यह सरकार सबसे बुरी होती है और अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती।

अफलातून का कहना है कि एकतन्त्र शासन ( Monarchy ) सबसे

अच्छा होता है। परन्तु राजा को अत्याचारी नहीं होना चाहिये। यदि वह अत्याचारी ( Tyrant ) है तो एकतन्त्र शासन सबसे बुरा होता है। कुलीन तन्त्र शासन ( Aristocracy ) मध्यम श्रेणी का है। इसके अन्दर प्रजा को न अधिक सुख मिलता है और न विशेष कष्ट ही होता है। प्रजातन्त्र शासन (Democracy) सबसे बुरा है। इसके अन्दर सद्गुणों की वृद्धि नहीं हो सकती।

**अरस्तू का वर्गीकरण**

अरस्तू अफलातून का एक शिष्य था। उसने बहुत सी चीजें उससे सीखी थीं। परन्तु उसके विचार अफलातून से अधिक सुलझे हुए थे। कहा जाता है कि 'अफलातून राजनीति को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाया और अरस्तू ने संसार में उसका प्रचार किया।' यानी अफलातून आदर्शवादी (Idealist) और अरस्तू व्यावहारिक ( Realist ) था। इसलिये सरकार के वर्गीकरण में अरस्तू के विचार बहुत ही साफ हैं। वर्तमान राजनीतिज्ञों ने उसी के आधार पर इसका वर्गीकरण किया है। अपने वर्गीकरण में अरस्तू ने दो बातों का ध्यान रक्खा है। एक तो शासकों की संख्या का और दूसरे सरकार के उद्देश्य का। वह लिखता है कि प्रत्येक सरकार की दो दशायें होती हैं। साधारण दशा में वह प्रजा के हित का ध्यान रखती है परन्तु विशेष दशा में उस पर नाना प्रकार के अत्याचार करती है। उसका वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार का है :—

| शासन-विधान का स्वरूप | साधारण दशा, जिसमें शासक प्रजा के हित का ध्यान रखता है। | विशेष दशा, जिसमें शासक अपने ही सुख का ध्यान रखता है। |
|---|---|---|
| एक व्यक्ति का शासन | एकतन्त्र (Monarchy) | कठोर शासन (Tyranny) |
| कुछ व्यक्तियों का शासन | कुलीन तन्त्र (Aristocracy) | अल्प-जनतन्त्र (Oligarchy) |
| बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन | बहुतन्त्र (Polity) | प्रजातन्त्र (Democracy) |

उपरोक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि अरस्तू के विचार से सरकार ३ प्रकार की होती है। एक-तन्त्र ( Monarchy ), कुलीन तन्त्र ( Aristocracy ), और बहुतन्त्र ( Polity )। विशेष अवस्था में इनके कार्य जब प्रजा के प्रतिकूल हो जाते हैं तो इनका नाम कुछ और हो जाता है। यह वर्गीकरण इतना प्राचीन है कि वर्तमान सरकारों पर लागू नहीं होता। समय के प्रवाह में इतने प्रकार की

सरकारें स्थापित की गई हैं कि इनका वर्गीकरण नये सिरे से होना चाहिये। अरस्तू को यह पता न था कि भविष्य में तानाशाही, संघशासन, नये प्रकार का प्रजातन्त्र आदि विभिन्न सरकारें बनेंगी।

अफलातून और अरस्तू के वर्गीकरण से अब काम नहीं चल सकता। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वर्तमान राजनीतिज्ञ इनके विचारों से लाभ नहीं उठा सकते। दोनों के वर्गीकरण में सरकार एक चक्के की भाँति घूमती है। इसी के आधार पर देश की शासन प्रणाली बदलती है। कोई भी सरकार स्थायी नहीं रह सकती। अफलातून लिखता है कि मान लीजिये एक आदर्श सरकार की स्थापना की गई। यह सरकार चाहे एकतन्त्र (Monarchy) हो अथवा कुलीनतन्त्र (Aristocracy)। कुछ समय पश्चात् राजा अथवा कुलीन वर्ग अपने सम्मान के चक्कर में पड़कर प्रजा के हित को भूल जाता है। इस विकृत सरकार का नाम धनिकतन्त्र (Timocracy) है। इसके अन्दर व्यक्तिगत सम्पत्ति को बढ़ाने की चाह शासक और शासित दोनों में अधिक होती है। यह धनपिपासा इतनी बढ़ जाती है कि थोड़े से धनीवर्ग के लोग सरकार को अपने हाथ में कर लेते हैं। इस सरकार का नाम अल्प जन-तन्त्र (Oligarchy) है। इसकी स्थापना होते ही आम जनता में असन्तोष की वृद्धि होती है। पूँजीवाद तथा शक्ति संचय की टीका-टिप्पणी होने लगती है। अन्त में सरकार की बागडोर आम जनता के हाथों में आ जाती है। इसका नाम प्रजातन्त्र (Democracy) है। जब साधारण लोग राज्य करेंगे तो शान्ति और स्वतन्त्रता दोनों का दुरुपयोग होगा। इन्हीं साधारण लोगों में कोई अवसरवादी और पदलोलुप सरकार की पूरी बागडोर अपने हाथों में ले लेता है। इसका नाम कठोर शासन (Tyranny) है। यह व्यक्ति जनता पर तरह-तरह के अत्याचार करता है और विवश होकर लोगों को उसे सहन करना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य के विकृत स्वभाव के कारण अच्छी-से-अच्छी सरकार बिगड़ते-बिगड़ते कठोर शासन का रूप धारण कर लेती है।

अरस्तू भी सरकार के इस चक्र को मानता है, परन्तु यह आदर्श-सरकार से आरम्भ न होकर एकतन्त्र (Monarchy) से आरम्भ होता। वह लिखता है कि प्राचीन काल में एकतन्त्र राज्य थे। जो व्यक्ति राज्य करता उसमें कुछ विशेष गुण होते थे, जिनसे प्रजा उसका आदर करती थी। धीरे धीरे समाज में और भी प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हुए। उन्हें भी राज्य करने की इच्छा हुई। जब इनकी सरकार स्थापित हुई तो इसका नाम कुलीनतन्त्र (Aristocracy) पड़ा। कुछ समय तक तो इसका शासन अच्छा था, परन्तु विलासिता में पड़कर इसका स्वरूप बिगड़ गया। कुलीन वर्ग के स्थान पर धनीवर्ग शासक बना। इसका नाम

अल्प-जन-तन्त्र ( Oligarchy ) पड़ा । धनीवर्ग में किसी बलवान व्यक्ति ने जब शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली तो वह प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करने लगा । इस सरकार का नाम कठोर शासन ( Tyranny ) पड़ा । अत्याचारी को निकालकर जब सम्पूर्ण प्रजा ने सरकार को अपने हाथ में कर लिया तो इसका नाम प्रजातन्त्र ( Democracy ) पड़ा । इस प्रजातन्त्र को अरस्तू सबसे बुरी सरकार मानता है । वह इसे मूर्खों की सरकार* कहता है । इस चक्र का कारण यह है कि जब कोई सरकार अपने उद्देश्य को भूल जाती है तो उसका पतन होने लगता है और थोड़े दिनों में कोई दूसरी शक्ति उस पर अपना अधिकार जमा लेती है ।

**वर्तमान वर्गीकरण**

सभी युगों में राजनीतिज्ञों ने सरकार का वर्गीकरण किया है । प्राचीन काल के वर्गीकरण पर ऊपर विचार किया गया है । १६वीं शताब्दी में इटली का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मेकेवली उपरोक्त वर्गीकरण को मानते हुये एक नये प्रकार की सरकार का अन्वेषण करता है । उसका कहना है कि इन सबके मेल से एक मिश्रित सरकार ( Mixed Government ) भी बन सकती है । इसके अनुसार वही मिश्रित सरकार सबसे अच्छी होती है । १६वीं शताब्दी के सबसे प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक बोदाँ ( Jean Bodin ) ने प्रभुता के आधार पर सरकार का वर्गीकरण किया है । वह लिखता है कि यदि प्रभुता किसी एक व्यक्ति के हाथ में है तो वहाँ की सरकार एकतन्त्र ( Monarchic ) होगी । कुछ लोगों के हाथ में है तो वह कुलीन तन्त्र ( Aristocratic ) होगी । और यदि सम्पूर्ण प्रजा राज्य करती है तो वह प्रजातन्त्र ( Democratic ) कहलावेगी । बोदाँ के कथनानुसार एकतन्त्र सरकार तीन प्रकार की हो सकती है—स्वेच्छाचारी ( Despotic ), राजकीय ( Royal ) और निरंकुश ( Tyrannical ) । पहले प्रकार में राजा अपनी इच्छानुसार राज्य करता है । वह किसी व्यक्ति या सभा से सलाह नहीं लेता । दूसरे प्रकार में वह राजकीय नियमों का पालन करता है और प्रजा के हित का ध्यान रखते हुये शासन करता है । तीसरे प्रकार के राजा अत्याचारी होता है । न वह दैवी नियमों से डरता है और न सरकारी कानूनों का ही उसे भय होता है । इनमें बोदाँ की राजकीय एकतन्त्र ( Royal Monarchy ) सरकार सबसे उत्तम है ।

archies of the West ) और पूर्वीय प्रदेशों का कठोर शासन ( Despotism of the East ) । गणतन्त्र दो प्रकार का हो सकता है—प्रजातन्त्र ( Democratic ) और कुलीन तन्त्र ( Aristocratic ) । रूसो ने सरकार का वर्गीकरण सरल ढंग पर किया है । उसके अनुसार सरकार या तो एकतन्त्र होगी या कुलीनतन्त्र या प्रजातन्त्र । इन तीनों के मेल से एक मिश्रित सरकार भी बन सकती है । वैसे तो सरकार का वर्गीकरण कितने ही राजनीतिज्ञों ने किया है, परन्तु ये सभी थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अरस्तू ( Aristotle ) के अनुयायी हैं । इन सब में सर मैरियट ( Sir J. A. R. Marriot ) का वर्गीकरण सर्वश्रेष्ठ और समयानुकूल है । उसका कहना है कि अरस्तु का वर्गीकरण वर्तमान समय में काम नहीं दे सकता । इसलिये सरकारों का वर्गीकरण किसी और प्रकार से होना चाहिये ।

सर मैरियट ने सरकार का वर्गीकरण शासन-विधान के आधार पर किया है । उसके विचारों में शासन-विधान से ही सरकार का निर्माण होता है । जैसा अच्छा या बुरा शासन-विधान होगा वैसी ही अच्छी या बुरी सरकार होगी । जिन देशों का शासन-विधान प्रजा के अनुकूल है वहाँ की सरकार हितैषी कहलाती है । इसीलिये शासन-विधान को सामने रखते हुये सर मैरियट ने सरकारों को बाँटा है । एक प्रकार से इसने शासन-विधान के वर्गीकरण को सरकार का वर्गीकरण मान लिया है । वह लिखता है कि सरकार का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जा सकता है :—

**एकात्मक और संघात्मक सरकार**

( १ ) जहाँ एक केन्द्रीय सरकार समूचे देश पर शासन करती है और प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है, वहाँ की सरकार एकात्मक ( Unitary type of Government ) होगी । इसके विपरीत जहाँ संघशासन की स्थापना की गई है और सम्पूर्ण शक्ति शासन-विधान में संचित है वहाँ की सरकार संघात्मक (Federal type of Government ) कहलायेगी । फ्रांस और ब्रिटेन एकात्मक सरकार के तथा संयुक्त राज्य अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका, कनाडा, रूस आदि संघात्मक सरकार के उदाहरण हैं ।

**परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील सरकार**

( २ ) जिस देश का शासन-विधान सरलतापूर्वक बदला जा सके वहाँ की सरकार परिवर्तनशील ( Flexible ) कहलाती है । जिसको बदलना कठिन है वह अपरिवर्तनशील सरकार ( Rigid ) कहलाती है । परिवर्तनशील सरकार के अन्दर शासन-विधान अलिखित और अपरिवर्तनशील सरकार में

लिखित होता है। पहिले प्रकार में इंगलैंड और दूसरे में संयुक्त राज्य अमेरिका है।

**अध्यक्षात्मक और कैबिनेट सरकार (Presidential and Cabinet Government)**

( ३ ) अध्यक्षात्मक सरकार के अन्दर राज्य का प्रधान सभापति ( President ) कहलाता है। जनता स्वयं उसे चुनती है। उसकी शक्ति राजा से कहीं बढ़कर होती है। संयुक्तराज्य अमेरिका में इसी प्रकार की सरकार है। कैबिनेट सरकार वह है जहाँ सभी राजकीय शक्तियाँ एक सभा को प्राप्त होती हैं। यह सभा कैबिनेट कहलाती है। इसके सदस्य विधान-मंडल के भी सदस्य होते हैं। इंगलैंड की सरकार कैबिनेट सरकार कहलाती है। कैबिनेट की पूरी जिम्मेदारी विधान-मंडल के प्रति होती है।

उपरोक्त वर्गीकरणों में एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र को किसी न किसी रूप में सभी मानते हैं। या तो राज्य का प्रधान एक व्यक्ति होगा, या थोड़े से लोग होंगे या सम्पूर्ण जनता होगी। यह बात दूसरी है कि किसके अन्दर प्रजा की अधिक भलाई हो सकती है। इस पर आगे विचार किया गया है। कोई भी सरकार ऐसी नहीं हो सकती जिसमें इन तीनों परिपाटियों का आभास न हो। कुछ तो ऐसी भी सरकारें मिलेंगी जिनमें इन तीनों का मिश्रण दिखाई देगा। इसलिये प्रत्येक पर अलग अलग विचार करने से इनके गुण-दोष स्पष्ट हो जायेंगे।

**एकतन्त्र सरकार Monarchy**

एकतन्त्र सरकार सबसे प्राचीन है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य का प्रधान एक ही व्यक्ति हो। लगभग सभी देशों में प्राचीन काल में इसी प्रकार की प्रणाली थी। छोटे-छोटे राज्य होते थे और प्रत्येक का प्रधान एक व्यक्ति, जिसे राजा कहते थे, हुआ करता था। रोम के इतिहास में ऐसा भी जिक्र आता है कि वहाँ दो राजा साथ-साथ काम करते थे। दोनों को प्रजा चुनती थी और उनके अधिकार बराबर थे। इस अपवाद को छोड़कर दो राजाओं का जिक्र एक राज्य में कहीं नहीं मिलता। एकतन्त्र सरकार दो प्रकार की हो सकती है :—

**निरंकुश एकतन्त्र**

१—इसमें राजा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से राज्य करता है। उसके शब्द ही कानून होते हैं। फ्रांस के इतिहास में चौदहवाँ लुई इस प्रकार के शासन के लिये प्रसिद्ध है। वह कहता था 'मैं ही राज्य हूँ।'* इस निरंकुश एकतन्त्र को हम कभी एक स्वच्छ

* I am the state.

(Absolute Monarchy) सरकार कह सकते हैं जब राजा योग्य तथा उत्तरदायी हो और प्रजा के हित का ध्यान रक्खे; निःस्वार्थ भाव से वह अपने आपको प्रजा का सेवक समझता हो। ऐसी सरकार उन राज्यों में अधिक उपयुक्त हो सकती है जहाँ की जनता अशिक्षित और जंगली है। कोई सभ्य समाज निरंकुश शासन को पसन्द नहीं कर सकता। वर्तमान काल में इस प्रकार की सरकार किसी भी देश में नहीं दिखाई पड़ती।

वैधानिक एक-तन्त्र (Constitutional or limited Monarchy)

२—इस सरकार के अन्दर राजा को किसी निश्चित शासन-विधान के अनुसार राज्य करना पड़ता है। वह इस विधान को तोड़ने का अधिकारी नहीं है। कोई भी कार्य वह मनमाना नहीं कर सकता। किसी-किसी देश में इस सरकार ने राजा को नाम-मात्र के लिये प्रधान बना रक्खा है। इंगलैंड में सम्राट् इसी वैधानिक नियम के अनुसार ब्रिटिश साम्राज्य पर शासन करता है। शासन की वास्तविक कार्यवाही कुछ मन्त्रियों के हाथ में होती है। कुछ लोगों का मत है कि ऐसी सरकार के अन्दर राजा का रहना ही व्यर्थ है। जब उसे कुछ अधिकार ही नहीं है तो उस पर व्यर्थ का धन खर्च करने से क्या लाभ। लेकिन इसके पक्षपाती राजा के महत्व को मानते हैं। उनका कहना है कि वही व्यक्ति राज्य को एकसूत्र में बाँधे हुये है। अधिकार न रखते हुये भी वह समाज की शोभा को बढ़ाता है। जिस प्रकार फूलों के गमले कमरे की शोभा को बढ़ाते हैं उसी प्रकार वह भी राज्य को सुशोभित करता है। यदि भाग्यवश राजा योग्य और अनुभवी है तो सरकार का कार्य और भी अच्छी तरह चलेगा।

एकतन्त्र को पुनः दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है। राजा या तो पैतृक अधिकारी होता है या जनता द्वारा चुना जाता है। यदि जनता उसे चुनती है तो इसे निर्वाचित एकतन्त्र ( Elected Monarchy ) और यदि उसका पद पैतृक है तो इसे पैतृक एक-तन्त्र ( Hereditary Monarchy ) कहते हैं। पैतृक एकतन्त्र में कुछ अच्छाइयाँ और कुछ बुराइयाँ भी हैं। यदि राजा अपने पिता के कारण गद्दी पर बैठता है तो उसे बार बार चुनने के भार से जनता बच जाती है। सरकार का कार्य स्वाभाविक रूप से चलता है। परन्तु यदि किसी राजा का लड़का अयोग्य हुआ तो इसका बुरा परिणाम प्रजा को भोगना पड़ता है। ऐसी सरकार के अन्दर प्रजा के भाग्य का निपटारा ईश्वर पर छोड़ दिया गया है। निर्वाचित एकतन्त्र में जनता अपनी इच्छानुसार योग्य-से-योग्य व्यक्ति को एक निश्चित काल के लिये चुन लेती है। यदि वह प्रजा के हित का ध्यान नहीं रखता तो दोबारा उसका निर्वाचन नहीं किया जाता।

अपराधियों को दण्ड देती है। इससे बढ़कर स्वतन्त्र और न्यायी सरकार दूसरी नहीं हो सकती। अब्राहम लिंकन लिखता है, "प्रजातन्त्र वह सरकार है जिसमें सम्पूर्ण जनता अपनी भलाई के लिये अपने ढंग पर अपना शासन करे।"*

प्रजातन्त्र व्यक्ति के अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा पोषक है। इसके अन्दर लोकमत के बिना सरकार कोई कार्य नहीं करती. सरकारी विभागों में कर्मचारियों की संख्या चाहे कुछ भी हो, गम्भीर और पेचीदा मामले आम जनता की राय से हल किये जाते हैं। सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आधार है। राज्य के सब काम व्यक्ति की भलाई और उन्नति के लिये हो रहे हैं। अतएव उसकी इच्छा और राय को ठुकरा कर उन्नति का स्वप्न देखना गलत है। राजनैतिक संगठन व्यक्ति की उन्नति का एक साधन है। यदि कोई सरकार अपनी शक्ति का व्यक्तिगत हित के विरोध में प्रयोग करती है तो वह मनुष्य जीवन के उद्देश्य से विमुख है। प्रजातन्त्र के अनुसार राजनैतिक संगठन का आधार एकता, समानता, स्वतन्त्रता और न्याय है।

वर्तमान प्रजातन्त्रवादी देश अपनी स्वार्थ रक्षा के लिये कुछ भी करें, परन्तु सिद्धान्तरूपेण उन्हें यह स्वीकार करना पड़ता है कि सरकार का उद्देश्य केवल हुक्म चलाना और कानून बनाना नहीं है। व्यक्ति के अन्दर उन्नति की सारी शक्तियाँ मौजूद हैं। वे तब तक कार्य नहीं कर सकतीं जब तक उनके लिये विशेष वातावरण तैयार न किया जाय। सरकार का कार्य इसी वातावरण की स्थापना करना है। व्यक्ति को साधन बनाकर वह उसे साध्य पर पहुँचा सकती है। सामाजिक प्राणी होने के नाते उसके अन्दर प्रेम, सद्भाव, सहिष्णुता आदि गुण कालान्तर से मौजूद हैं। सरकारी कर्मचारियों के हुक्म और विधान-मंडलों के कानून उसमें वृद्धि नहीं कर सकते। यदि व्यक्ति की मर्यादा का ध्यान रखते हुये सामाजिक संगठन का स्वरूप निश्चित किया जाय तो लताओं की तरह वह स्वयं उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच सकता है। इसीलिये प्रजातन्त्रवादी सरकार अपने आपको व्यक्ति की उन्नति का ठीकेदार नहीं वरन् सहायक मात्र समझे।

जब प्रजातन्त्र के अन्दर व्यक्ति को ही अपनी उन्नति का साधन बनना है और सरकार केवल सहायता कर सकती है तो यह आवश्यक है कि नागरिक को एक विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाय। राष्ट्रीय शिक्षा के बिना उसके अन्दर स्वावलम्बन और आत्मसम्मान का भाव नहीं आ सकता। सरकार इन दोनों का ध्यान रखते हुये निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करे। यदि राज्य में

* Democracy is a government of the people, for the people and by the people.

बहुसंख्यक नागरिक राजनैतिक शिक्षा से अनभिज्ञ हैं तो वहाँ प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता। लोगों में इतनी चेतना अनिवार्य है कि वे सच्चे प्रतिनिधियों को पहचान सकें। अशिक्षित समाज में अच्छी-से-अच्छी सरकार असफल सिद्ध होगी। सरकार एक शक्ति अवश्य है, परन्तु उसका प्रयोग व्यक्ति के सहयोग से होना चाहिये। प्रजातन्त्र व्यक्ति के लिये कोई नई चीज नहीं है। स्वतन्त्रता की भावना ने उसे यह अवसर दिया कि नवीन प्रकार का राजनैतिक संगठन बनाकर वह वैज्ञानिक युग की सामग्रियों से लाभ उठाये। यदि विज्ञान का प्रादुर्भाव न होता और व्यावसायिक जगत में एक विशेष क्रान्ति न हुई होती तो इस 'वाद' की उपयोगिता में बहुतों को सन्देह होता।

व्यक्ति स्वभाव से ही अपने कार्यों को अपनी इच्छानुसार करना चाहता है। उसे अपनी गलतियों से सीखने में अधिक आनन्द मिलता है। दूसरों की टीका-टिप्पणी से उसके दिल को चोट पहुँचती है। जब किसी वाद-विवाद में उसकी राय मान ली जाती है तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। प्रजातन्त्र के अन्दर ऐसे वाद-विवाद की अधिक गुंजाइश होती है।* सरकार के सब मसले आम जनता की चर्चाओं द्वारा फैसल किये जाते हैं। व्यक्ति को अपनी प्रतिभा और वाक्चातुर्य दिखलाने का पूरा अवसर मिलता है। प्रजातन्त्र दो प्रकार का होता है :—

**प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy)**

(१) इसमें राज्य की सम्पूर्ण प्रजा प्रत्यक्ष रूप से शासन में भाग लेती है। जब कभी किसी राजनैतिक विषय पर विचार करना होता है तो राज्य के सब लोग एकत्र होकर उसी पर विचार करते हैं। कानून बनाने में प्रत्येक व्यक्ति की राय ली जाती है। हर आदमी से पूछ कर टैक्स लगाया जाता है। इसलिये ऐसी सरकार उसी राज्य में संभव है जिसका क्षेत्रफल छोटा हो और थोड़े से लोग निवास करते हों। इसी आधार पर अफलातून ने आदर्श नगर की जनसंख्या ५०४० निश्चित की है। प्राचीन यूनान और रोम नगर में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सरकार की प्रथा थी। आज भी स्विटजरलैंड के कैंटन्स (देश के छोटे-छोटे राजनैतिक विभाग) में इसी नियम के अनुसार शासन होता है।

**अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र**

(२) वर्तमान राज्यों की सीमा इतनी बड़ी है कि बड़े-से-बड़े काम के लिये सम्पूर्ण जनता का एक स्थान पर एकत्र होना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। इसीलिये निर्वाचन पद्धति द्वारा अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की स्थापना की गई है। जब सम्पूर्ण प्रजा सम्मिलित

---

* Democracy is a government of discussions.

(Indirect Democracy) रूप से एकत्र नहीं हो सकती तो वह अपना प्रतिनिधि भेजती है। प्रतिनिधियों की राय संपूर्ण प्रजा की राय मानी जाती है। कुछ राजनीतिज्ञ इसका विरोध करते हैं। उनका कहना है कि एक व्यक्ति एक समय एक ही राय दे सकता है। प्रतिनिधि अपनी निजी राय को छोड़ कर सैकड़ों की रायें क्यों और कैसे दे सकता है ? प्रजातन्त्र को सफल बनाना है तो इससे बढ़कर कोई और तरीका नहीं हो सकता। यदि मताधिकारी योग्य व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुनें तो प्रतिनिधि प्रथा बुरी नहीं है।

**प्रजातन्त्र के गुण-दोष**

प्रजातन्त्र के जितने गुण हैं उतनी ही बुराइयाँ हैं। लेकिन वे बुराइयाँ ऐसी नहीं हैं जो दूर न हो सकें। जब प्रजा अपनी इच्छानुसार अपना शासन करती है तो वह असंतुष्ट नहीं रह सकती। यदि उसमें कुछ कमजोरियाँ हैं तो शासन के उत्तरदायित्व को लेकर वह उन्हें धीरे-धीरे दूर करेगी। इस सरकार के अन्दर सभी लोग समान समझे जाते हैं। इसीलिये कुछ राजनीतिज्ञों ने प्रजातन्त्र को सरकार का कोई भेद न मानकर समाज का एक विशेष संगठन कहा है। अर्थात् राज्य में राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार की समानता होनी चाहिये। तभी सच्ची प्रजातन्त्र सरकार बन सकती है। जब हर व्यक्ति अपने देश के शासन में हाथ बँटाता है तो उसके अन्दर आत्मगौरव की भावना जागृत होती है। अपनी काहिली तथा अन्य कमजोरियों को वह दूर करना चाहता है। उसके अंदर राजनैतिक शिक्षा की वृद्धि होती है। आवश्यकता पड़ने पर वह अपने देश के लिये हर तरह का त्याग और कष्ट सहन कर सकता है। प्रजातन्त्र सरकार के अंदर किसी क्रान्ति का भय नहीं रहता। लोग जैसे और जब चाहें इसे बदल सकते हैं।

प्रजातन्त्र सरकार के अन्दर कुछ बुराइयाँ भी हैं। संपूर्ण जनता समान रूप से अपने हितों को नहीं पहचान सकती। सब की बुद्धि बराबर नहीं होती। इससे अवसरवादी तथा पदलोलुप व्यक्ति अनुचित लाभ उठते हैं। चुनाव के समय वे झूठी-झूठी प्रतिज्ञायें करते हैं, भोले-भाले निर्वाचकों को अपनी ओर फोड़ते हैं तथा गलत सिद्धान्तों पर पार्टियाँ बनाकर अपने को प्रतिनिधि निर्वाचित करा लेते हैं। चुनाव के बाद जब वे विधान-मंडलों में जाते हैं तो वहाँ प्रजा के हित को भूलकर अपने स्वार्थसाधन में लग जाते हैं। वर्तमान प्रजातन्त्र सरकारों में राजनैतिक दलबन्दियों की लड़ाई इतने जोरों पर है कि अच्छे और निष्पक्ष व्यक्ति सरकारी कामों से उदासीन होते जा रहे हैं। अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की रक्षा का कोई साधन नहीं दिखाई पड़ता। यह उचित नहीं है कि मूर्ख और शिक्षित दोनों को समान अधिकार दिये जायँ। इसलिये प्रजातन्त्र सरकार को 'मूर्खों का राज्य' कहा गया है।*

* Democracy is a government of fools.

नहीं है। इसका विश्लेषण करते हुए एक विद्वान् का कहना है कि मनुष्य का उद्देश्य स्वतन्त्रता, न्याय, प्रसन्नता, शान्ति अथवा सुख नहीं है।* सरकार सब कुछ है। कोई शक्ति उसके विरुद्ध कार्य नहीं कर सकती। राष्ट्रीयता उसी की देन है। उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी प्रकार का संगठन नहीं बनाया जा सकता।†

तानाशाही के अन्दर लोकमत का मूल्य नहीं है। कहा जाता है कि राजनीति के अन्दर मनुष्य का विचार तर्क के विरुद्ध हो जाता है। इसलिये उसके ऊपर किसी न किसी प्रधान की आवश्यकता है। प्रभुता का व्यापकवाद तानाशाही को मान्य नहीं है। आम जनता सरकार पर प्रभाव डालने के लिये स्वतन्त्र नहीं है।‡ राजनैतिक संगठन में किसी शक्तिशाली नेता का होना अनिवार्य है। जनता का कर्त्तव्य है कि वह उसकी आज्ञाओं का पालन करे। नेता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह कोई विद्वान् और नीति-कुशल हो। उनके अन्दर संगठन की अद्वितीय शक्ति होनी चाहिये।

मुसोलिनी का कहना है कि मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है। वह समय और स्थान के बन्धन से ऊपर है। उसके अन्दर साहस, आत्मत्याग तथा बड़प्पन के और भी भाव बिना किसी स्वार्थ के मौजूद हैं। उसके कार्यों का उद्देश्य आत्मसुख अथवा भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति नहीं है। उसके अन्दर एक ऐसी दैवी शक्ति है जिससे वह संसार में विजय प्राप्त करना चाहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राष्ट्र को एकतन्त्र भाव से किसी नेता में विश्वास करना चाहिये। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि तानाशाही और प्रजातन्त्र में महान् अन्तर है। एक दूसरे की प्रतिक्रिया हैं।§ यदि प्रजातन्त्र कार्यरूप में अपने सिद्धान्त पर अटल रहता तो इस नये प्रकार की सरकार के लिये उन्नति का मार्ग असम्भव हो जाता। इतना अवश्य मानना होगा कि तानाशाही सरकार की सबसे बड़ी देन अपने राष्ट्र को आर्थिक क्षेत्र में वर्तमान वैज्ञानिक युग के अनुकूल बनाना है।

---

* Justice, happiness and peace are dreams, comfort is boring senile, man is a beast of prey.

† "Every thing for the state," "nothing against the state," "nothing outside the state." "Except by the permission of the state there may be neither political parties, trade unions, industrial or commercial associations."

‡ The masses are not allowed to exercise any influence on the life of the state.

§ Authority from the top down and responsibility from the bottom up.

सरकार की ऊपरी बनावट से इसकी अच्छाई बुराई का पता नहीं लग सकता।

**सर्वश्रेष्ठ सरकार**

किसी मनुष्य के शरीर से हम नहीं जान सकते कि वह अच्छे या बुरे विचार का है। उसके कार्यों से उसके विचार जाने जा सकते हैं। सरकार कार्यों से ही पहचानी जाती है। मान लीजिये किसी राज्य का प्रधान एक व्यक्ति है। सभी अधिकार उसी को दिये गये हैं। ऐसी सरकार अच्छी और बुरी दोनों हो सकती है। यदि वह व्यक्ति सहृदय है और निःस्वार्थ भाव से अपने को प्रजा का सेवक समझता है तो उसकी सरकार आदर्श होगी। लेकिन वही अत्याचारी है तो उसकी सरकार घृणित समझी जायगी। यही बात कुलीन तन्त्र में भी है। थोड़े से देश-हितैषी प्रजा पर शासन करें और हर पहलू से उसकी सामाजिक और आर्थिक दशा को बढ़ायें तो उनकी सरकार कोई बुरी नहीं है। परन्तु यदि वे अपने ही सुख और अधिकारों का ध्यान रक्खें तो वह बुरी समझी जायगी।

प्रजातन्त्र को आदर्श तभी मान सकते हैं जब इसके अन्दर अनेक गुण मौजूद हों। यदि सम्पूर्ण प्रजा अशिक्षित है और उसे अपने राजनैतिक प्रबन्ध का ज्ञान नहीं है तो वह स्वयं राज्य करते हुये भी दुखी रहेगी। राज्य में लड़ाई-झगड़े होंगे। प्रजातन्त्र तभी सफल हो सकता है जब कि आम जनता अपने अधिकारों का मूल्य समझे; उसके अन्दर राजनैतिक शिक्षा हो; और वह उन्नति की किसी सतह तक पहुँच चुकी हो। किसी अशिक्षित और असभ्य देश के लिये प्रजातन्त्र सबसे भयंकर चीज है। वहाँ सुदृढ़ एक-तन्त्र सरकार की आवश्यकता है।

कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि सरकार के ऊपरी ढाँचे पर विचार करना व्यर्थ है। कुछ ऐसे गुण हैं जो किसी भी सरकार को अच्छा बना सकते हैं। उनकी अनुपस्थिति में अच्छी-से-अच्छी सरकार बुरी हो सकती है। जान स्टुअर्ट मिल लिखता है, 'अच्छी सरकार की सबसे बड़ी विशेषता यह कि वह जनता के चरित्र और मस्तिष्क का विकास करे।'* गार्नर का कहना है, "सभी देशों के लिये एक प्रकार की सरकार उसी तरह नहीं बनाई जा सकती जैसे हर मनुष्य के लिये एक ही नाप का कपड़ा नहीं बनाया जा सकता।†" वह सरकार को उपमा एक घर से देता है। जैसे घर लोगों की रुचि और आवश्यकतानुसार बनाये जाते हैं उसी तरह

सरकार भी विभिन्न समाज में विभिन्न प्रकार की होनी चाहिये।* सरकार की बनावट और उसकी नीति में भेद होता है। बनावट कैसी भी हो, यदि वह प्रजा के हित का ध्यान रखती है तो वह अच्छी सरकार कहलायेगी। किसी कवि ने कहा है, "सरकार के ऊपरी आकार पर मूर्ख लोग टीका-टिप्पणी करते हैं। असली विचारणीय वस्तु उसकी नीति है।"†

—:o:—

* Government is like a house which must be adapted in construction to the particular purposes and needs of those who dwell in it, and it must be altered from time to time as their needs change and multiply.

† For forms of Government,
Let fools contest;
Whatever is best
Administered is best.

# अध्याय १३

## मताधिकार ( Franchise )

**मताधिकार का अर्थ**

जैसा कि शब्द से स्पष्ट है 'मत' एक प्रकार का 'अधिकार' है लेकिन हर आदमी रोज बीसों मामलों में अपना मत देता है तो क्या उसे किसी तरह का अधिकार प्राप्त है ! उसकी कितनी ही रायें ठुकरा दी जाती हैं। यदि उसे थोड़ा भी अधिकार प्राप्त होता तो वह उन्हें ठुकराने न देता। अधिकार तो तभी माना जा सकता है जब उसकी राय का कुछ मूल्य हो, अथवा उसके बिना कोई काम रुक जाय। 'मताधिकार' ( Franchise ) शब्द एक विशेष अर्थ रखता है, यहां पर 'मत' शब्द से तात्पर्य केवल "राजनैतिक विषयों में राय देने से है।" मताधिकार उसी को प्राप्त है जो सरकार की ओर से कुछ विषयों में राय देने का अधिकारी होता है। इस योग्यता की कुछ कसौटी है जिसे पूरा किये बिना कोई मताधिकारी नहीं बन सकता। राज्य में सबसे महत्वपूर्ण काम कानून बनाना है। लगभग सभी देशों में प्रजा के प्रतिनिधि इस काम को करते हैं। इसलिये प्रतिनिधियों का दर्जा काफी बड़ा है। यदि राजा जिसे चाहे प्रतिनिधि बना दे और जो चाहे कानून पास करा ले, तो प्रतिनिधि और कानून दोनों का कोई महत्व नहीं रह जाता। लेकिन किसी भी राज्य में ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती। कानून बनाने का अधिकार केवल प्रतिनिधियों को दिया गया है, जिन्हें प्रजा अपनी इच्छानुसार चुनकर भेजती है। इसका तात्पर्य यह है कि जनता के हाथ में यह शक्ति दी गई है कि वह जिसे चाहे अपना प्रतिनिधि चुने। यदि यह शक्ति राज्य में हर किसी को दे दी जाय तो प्रतिनिधियों का चुनाव ठीक-ठीक नहीं हो सकता। नादान बच्चों और मूर्ख व्यक्तियों की समझ में यह बात नहीं आ सकती कि कौन योग्य और कौन अयोग्य है। इसलिये सरकार उन्हीं को प्रतिनिधि चुनने का अधिकार देती है जो किसी हद तक शिक्षित और समझदार होते हैं। अथवा दूसरे शब्दों में यह कहते हैं कि प्रतिनिधि चुनने का अधिकार केवल नागरिक को दिया जाता है। आरम्भ में यह बतलाया गया है कि नागरिक कौन है और उसके क्या-क्या अधिकार हैं। उसके अधिकारों में से अपनी राय के अनुसार प्रतिनिधियों का चुनना भी एक अधिकार है। उसके मत के बिना कोई प्रतिनिधि नहीं चुना जा

सकता और जिसे जनता अपनी राय से चुन लेती है उसे कोई निकाल भी नहीं सकता। इससे स्पष्ट है कि मताधिकार एक बहुत बड़ी शक्ति है जो केवल नागरिक को दी गई है। यह अधिकार राज्य की ओर से हर नागरिक को दिया जाता है।

**प्राचीन काल में मताधिकार**

मताधिकार एक नई चीज है। इसका रिवाज प्राचीन काल में आजकल की तरह न था। इसके दो कारण हैं। एक तो यह ऐसी कला है जो पूर्वजों को मालूम न थी। जिस प्रकार आधुनिक काल की बहुत-सी वैज्ञानिक वस्तुओं का उन्हें ज्ञान न था उसी तरह यह विज्ञान भी उनकी समझ से बाहर था। दूसरी वजह यह है कि प्राचीन काल में शासन की व्यवस्था आजकल की-सी न थी। न तो इतनी आबादी थी और न आवागमन के इतने साधन थे। छोटे-छोटे राज्य थे और उनका सम्बन्ध अन्य राज्यों से लगभग नहीं के बराबर था। इतना अवश्य है कि वे राज्य प्रजातन्त्र थे। उनमें प्रजा की राय से काम किया जाता था। यदि कभी कोई अत्याचारी अथवा कठोर राजा हुआ तो प्रजा उसे निकाल बाहर करती अथवा वह स्वयं कहीं लड़भिड़ कर अपनी जान गँवा देता। उसके समय में प्रजा के अधिकार छीन लिये जाते और उसे अनेक अत्याचारों का सामना करना पड़ता था। लेकिन प्रजातन्त्र राज्यों में यह बात नहीं थी। वहाँ सारी प्रजा इकट्ठी होकर अपने लिये कानून बनाती और राज्य के हर मामले में ठंडे दिल से विचार करती थी। राजा खुशी-खुशी उन रायों को मान लेता और परोक्ष व प्रत्यक्ष दोनों प्रकार से उनका पालन करता था। ऐसे राज्य आदर्श कहलाते थे। यूनान देश में इस प्रकार के अनेक राज्य थे, जिसमें एथेन्स ( Athens ) अपनी चरम सीमा को पहुँच चुका था। उसी स्वतन्त्र वातावरण ने सुकरात, अफलातून और अरस्तू ऐसे व्यक्तियों का जन्म दिया जिनकी विद्वत्ता पर आज भी संसार को गर्व है। भारतीय इतिहास में गणतन्त्र राज्यों में प्रजा की राय का सम्मान किया जाता था। धर्म और लोकमत के विरुद्ध चलने में राजा अपना अपमान समझते थे।

जब राज्य के सभी व्यक्ति इकट्ठे होकर अपनी-अपनी राय को प्रकट कर लेते थे, प्रतिनिधि चुनने की आवश्यकता न थी। जो व्यक्ति स्वयं अपनी राय प्रकट कर सकता है उसे औरों को अपना मताधिकारी चुनने की क्या आवश्यकता है। इसी लिये 'मताधिकार' शब्द का जिक्र प्राचीन काल के इतिहासों में नहीं आता। और यदि कहीं इस शब्द का प्रयोग किया भी गया है तो उसका अर्थ आजकल से भिन्न है। भारत में भी यूनान की तरह प्रजातन्त्र राज्य थे। सिकन्दर जब इस देशको विजय करने के लिये आया तो उसको उन प्रजातन्त्र राज्यों से मुठभेड़ हुई थी। वह इन राज्यों की प्रशंसा करता है। राज्यों की सीमा और जनसंख्या कम होने के कारण प्रतिनिधित्व की प्रथा न थी। यूनान का राजनैतिक इतिहास देखने से पता चलता

है कि मत देने वालों के अतिरिक्त किसी और को बोलने नहीं दिया जाता था। जो राज्य के आदिम निवासी होते वे ही इकट्ठे होकर अपनी राय दे सकते थे। विदेशियों को राजनैतिक मामलों में बोलने का अधिकार न था। गुलामों की दशा उनसे भी बदतर थी। वे, राय देना तो दूर रहा अपने पास कोई जायदाद भी नहीं रख सकते थे और न अपने रहने के लिये घर बना सकते थे। वे जानवरों की तरह बाजारों में बेचे जाते थे। एथेन्स नगर में एक समय १००० आदिम निवासी और १०,००० गुलाम तथा विदेशी थे। राज्य की ओर से इन्हें कोई अधिकार नहीं दिया गया था।

**मताधिकार की उत्पत्ति**

मताधिकार एक वैज्ञानिक आविष्कार है। औद्योगिक क्रान्ति के पहले इस प्रथा का रिवाज न था। कहने-सुनने को किसी-किसी देश में प्रतिनिधित्व का रिवाज था लेकिन उसका ढंग आजकल की तरह न था। लोग विधान-मंडलों में जाना नहीं चाहते थे। ब्रिटेन के इतिहास से ज्ञात होता है कि जब पार्लियामेंट के सदस्य नहीं आते थे तो उन्हें पुलीस की हिरासत में लाया जाता था। धारा सभा का सदस्य होना लोगों को भार प्रतीत होता था। उन्हें यह बात समझ में नहीं आती कि एक व्यक्ति किसी और की राय को प्रकट कर सकता है। कहने को तो 'मताधिकार' की उत्पत्ति इस क्रान्ति से काफी पहले हुई थी, लेकिन इसका वर्तमान ढंग क्रान्ति के बाद बना। प्रत्येक देश की आबादी काफी बढ़ने लगी। छोटे-से-छोटे प्रजातन्त्रवादी देशों में यह सम्भव न था कि सभी लोग एकत्रित होकर किसी मामले पर विचार कर सकें। एक दूसरी बात यह थी कि प्रजा को उन दिनों अधिकार भी कहने-सुनने को ही प्राप्त थे। राजा और प्रजा दो विपक्षी समझे जाते थे। प्रजा उनकी आज्ञाओं को दैवी अधिकार समझ कर मान लेती थी। जब आबादी अधिक बढ़ गई और वैज्ञानिक उन्नति से लोगों की अधिकार-चेष्टा बढ़ने लगी तो 'मताधिकार' का जन्म हुआ। प्रजा अपने प्रतिनिधि चुनकर विधान-मंडलों में भेजने लगी। तब से यह प्रथा जारी है। मताधिकार और इसका महत्व बढ़ रहा है। लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि व्यक्ति के स्थान पर जब तक कानूनों का राज्य स्थापित नहीं होता तब तक सरकार अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकती। एक निष्पक्ष और उत्तरदायी शासन तभी स्थापित होगा जब शासक और शासित दोनों ही नियमों का आदर करेंगे। प्रजा के प्रतिनिधि ही कानूनों का निर्माण करते हैं। इसलिये मताधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे उन्हीं व्यक्तियों को अपना वोट दें जो विधान-मंडलों में अपने उत्तरदायित्व को समझें। किसी वस्तु का अधिकार मिलता है, परन्तु इसके उपयोग से लोग वर्षों वंचित रहते हैं। वर्तमान प्रजातन्त्रवादी देशों को देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि आम जनता अभी अपनी शक्ति को नहीं पहचानती। शिक्षा के अभाव के कारण उसकी बुद्धि का विकास रुका हुआ है।

अधिकार उसी व्यक्ति को दिया जाता है जो उसका उचित उपयोग करे

**मताधिकारी कौन है ?**

हर अधिकार के पीछे कर्त्तव्य की भावना छिपी रहती है राज्य में बड़े-बड़े सरकारी अफसरों को बहुत से अधिकार प्राप्त रहते हैं, लेकिन उनकी जिम्मेदारी भी अधिक होती है कुटुम्ब का स्वामी यह जानता है कि वह जिसे चाहे बुरा-भला कह सकता है, लेकिन उसे कुटुम्ब की सबसे अधिक चिन्ता रहती है। कुटुम्ब की बुराई भलाई उसी की बड़ाई और निन्दा समझी जाती है। अधिकार प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है जितना उसे निबाहना। अशिक्षित देश में मताधिकार सबको दे दिया जाय तो इसका काफी दुरुपयोग होगा। इसका उदाहरण हमारे देश में मौजूद है। यद्यपि इस देश में मताधिकार थोड़े से लोगों को मिला हुआ है फिर भी वे इसका दुरुपयोग करते हैं। यही सोचकर राज्य की ओर से कुछ ऐसी शर्तें रक्खी गई हैं जिन्हें पूरा किये बिना कोई मताधिकारी नहीं बन सकता। विदेशी किसी देश में मताधिकारी नहीं बन सकते। भीख माँगने वालों को अपने ही देश में मत देने का अधिकार नहीं रहता। पागल तथा दिवालिये मत नहीं दे सकते। इसके लिये हर देश में एक निश्चित आयु का विधान बनाया गया है। किसी भी देश में नाबालिग मत देने के अधिकारी नहीं समझे जाते। कहीं-कहीं पर स्त्रियों को भी मत देने का अधिकार नहीं है। मताधिकारी बनने के लिये सम्पत्ति की भी शर्त लगाई है। जिसके पास न कोई सम्पत्ति और न अपना घर है, वह मताधिकारी नहीं बन सकता। किसी दर्जे तक शिक्षा भी अनिवार्य ठहराई गई है। अर्थात् जो उस माप तक शिक्षित नहीं है वह मत नहीं दे सकता। मताधिकार के सम्बन्ध में लोगों के दो विचार हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि मताधिकार बिना किसी भेद-भाव के सभी नागरिकों को प्राप्त होना चाहिये। यदि किसी नागरिक को वोट या मत देने का अधिकार नहीं है तो उसकी नागरिकता का कोई अर्थ नहीं है। फ्रांसीसी विद्वान् रूसो का मत है कि मताधिकार सभी नागरिकों को एक समान मिलना चाहिये। यदि प्रजातन्त्र को सफल बनाना है तो जनता को इस अधिकार से भूषित करना चाहिये। इस दलील में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि शिक्षा की कमी के कारण इस अधिकार का लोग दुरुपयोग करेंगे। किसी-किसी देश में जिनकी संख्या आज काफी बढ़ गई है, शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य है। यह इसलिये किया गया है कि अधिक-से-अधिक लोग मताधिकार का उपयोग कर सकें। इसे विश्वव्यापी करने में सबसे बड़ा भय यही है कि अज्ञानतावश इसका दुरुपयोग होगा। इसीलिये प्रजातन्त्र के पक्ष में होते हुए भी जान स्टुअर्ट मिल, लेकी, सिजविक आदि विद्वानों ने मताधिकार के विश्वसिद्धान्त ( Universal Franchise ) का खंडन किया है। वे कहते हैं कि सभी नागरिकों को मताधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिये।

यह अधिकार उन्हीं को मिलना चाहिये जो इसका उचित उपयोग कर सकें अथवा जिनके अन्दर इसे समझने की शक्ति हो। जान स्टुअर्ट मिल लिखता है, "मैं इसे बुरा समझता हूँ कि पढ़ने-लिखने तथा गणित की साधारण योग्यता न होते हुए भी किसी को मताधिकार प्रदान कर दिया जाय।"* इतना ही नहीं, वह सम्पत्ति पर भी बल देता है और स्पष्ट लिखता है कि जो सरकार को किसी प्रकार का कर न देते हों उन्हें मताधिकार नहीं मिलना चाहिये। भारतीय प्रजातन्त्र में यह अनुभव हो रहा है कि विश्वमताधिकार व्यावहारिक रूप से उपयोगी नहीं है। प्रत्येक मताधिकारी के लिये शिक्षा, सम्पत्ति एवं आचरण सम्बन्धी प्रतिबन्ध आवश्यक है। इसके अभाव में कोई भी प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता।

अब हम संसार के प्रमुख देशों की ओर दृष्टिपात करें कि वहाँ मताधिकार किनको किनको प्राप्त है। उनका मुकाबिला करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि हमारा देश उनसे पीछे है। यहाँ की एक बहुत बड़ी जनसंख्या इस शब्द ( मताधिकार ) से परिचित तक नहीं है। यही नहीं, हम यह भी देखेंगे कि इस देश में जो प्रजातन्त्र की डींग मारी जाती है वह निर्मूल और [illegible] है। ग्रामीण जनता अब भी चन्द पढ़े-लिखे लोगों की हाँ में हाँ मिलाती है। वोट बेचे जाते हैं। निर्वाचन के समय झूठी झूठी प्रतिज्ञायें की जाती हैं और जनता पर अनुचित दबाव डाला जाता है। पिछले चुनाव के समय यह कमी काफी हद तक दूर हो गई थी। जनता ने अपने सच्चे प्रतिनिधियों को पहचाना और साधारण तथा गरीब लोगों को अपना प्रतिनिधि चुना। उन्हें यह मालूम हो गया कि जब तक हमारे सच्चे प्रतिनिधि विधान-मंडलों में न जायेंगे तब तक देश की भलाई नहीं हो सकती।

**इंगलैंड**

१६१८ के पहले ब्रिटेन निवासी मताधिकार के सच्चे अर्थ से अनभिज्ञ थे। उन्हें इस अधिकार की चेष्टा न थी। १६१८ ई० में एक नया कानून† पास किया गया जिसके अनुसार काफी लोगों को मताधिकार मिला। १६२८ ई० में एक दूसरा कानून पास किया गया, जिसके अनुसार स्त्री-पुरुष सबको बराबर हक दे दिये गये। आज इंगलैंड के किसी भी निर्वाचन में स्त्री व पुरुष दोनों अपना मत दे सकते हैं। जिसकी आयु २१ वर्ष से अधिक हो, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, ५० रुपये सालाना आमदनी की तिजारत करता हो, और वोट लिये जाने के दिन तक कम-से-कम

---

* I regard it as wholly inadmissible that any person should participate in the suffrage without being able to read, write, and I will add, perform the common operations of arithmetic.

† Representation of the People Act.

३ माह पहले से अपने निर्वाचन क्षेत्र में रहता हो, उसे मताधिकार दिया गया है। हर मताधिकारी का नाम रजिस्टर में दर्ज कर लिया जाता है। किसी को दो से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों में मत देने का अधिकार नहीं है, वह भी इस शर्त पर कि दोनों क्षेत्रों में वह भिन्न-भिन्न हैसियत से अपने को मताधिकारी सिद्ध करे। इसके अतिरिक्त किसी और को मताधिकार प्राप्त नहीं है। लार्ड्स, नाबालिग, विदेशी, दिवालिये तथा पागल मताधिकार से वंचित रक्खे गये हैं।

**फ्रांस**

फ्रांस स्वतन्त्रता की ज्योति* कहा जाता है लेकिन ध्यान से देखने से पता चलता है कि यहाँ स्वतन्त्रता के क्षेत्र में कोई विशेषता नहीं है। वहाँ का वायुमंडल स्त्रियों के प्रतिकूल है। भौगोलिक दृष्टि से इस कथन की पुष्टि भले ही न हो, पर राजनैतिक क्षेत्र में यह बात स्पष्ट है। वहाँ स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त नहीं है। स्त्रियाँ राजनीति से अलग रक्खी जाती हैं। लेकिन २१ वर्ष से ऊपर वाले सभी पुरुषों को मत देने का अधिकार है। यह प्रथा १८७४ ई० से आज तक चली आ रही है। पागल, अपराधी तथा फौजी सिपाहियों को वोट देने का अधिकार नहीं है। बड़े आश्चर्य की बात है कि यूरप ऐसे महाद्वीप में, जो आधुनिक सभ्यता का जन्मदाता कहलाता है, फ्रांस एक ऐसा देश है जिसने नारी वर्ग को राजनीति से वंचित कर रक्खा है।

**अमेरिका (U. S. A.)**

अमेरिका यूरप का दोहरा खाका कहा जाता है। कोई ऐसी बात यूरप में न होगी जिसकी नकल अमेरिका में मौजूद न हो। वहाँ संघशासन की व्यवस्था है, इसलिये मताधिकारी दो श्रेणियों में बाँट दिये गये हैं। एक तो वे जो अपनी रियासतों के निर्वाचन में भाग ले सकते हैं, और दूसरे वे जो संघ-विधान-मंडल के चुनाव में मत देने के अधिकारी हैं। सभी रियासतों में मताधिकार सम्बन्धी अलग-अलग नियम हैं। किसी में शिक्षा की शर्त है तो किसी में जायदाद की। फिर भी थोड़े से अपवादों के अतिरिक्त १९२० ई० से स्त्री और पुरुष दोनों को एक समान मताधिकार प्राप्त है।

**जर्मनी**

१९२० ई० तक जर्मनी में मताधिकार केवल पुरुषों को प्राप्त था। मताधिकारी तीन हिस्सों में बाँट दिये गये थे, जिसका इतिहास और उद्देश्य वर्णन करना यहाँ उचित नहीं है। मताधिकारी के लिये कम-से-कम २५ वर्ष की आयु का होना आवश्यक था। १९२० के बाद जर्मनी ने यूरप के और मुल्कों की नकल की। वर्तमान जर्मन

---

* Torch bearer of liberty.

शासन पद्धति के अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों को मत देने का समान अधिकार है। उनकी आयु २५ वर्ष से घटा कर २० वर्ष कर दी गई है।

**भारत**

भारत में मताधिकार सम्बन्धी नियम इतना टेढ़ा-मेढ़ा रहा है कि साधारण लोग उसे समझ ही नहीं सकते। साथ ही कुछ ऐसी विशेषतायें थीं जो और देशों में नहीं पाई जातीं। इस देश की आबादी ४० करोड़ के लगभग रही है, जिसमें ५ करोड़ नागरिकों को मत देने का अधिकार था। अर्थात् अधिक-से अधिक १२½ की सदी आदमी मताधिकारी बन सकते थे। इससे स्पष्ट है कि हर सैकड़े ८८ आदमी वोट नहीं दे सकते थे। इस देश में इतना ही भेदभाव नहीं रक्खा गया था कि कौन संघ-शासन में मताधिकारी बन सकता था और कौन प्रान्तीय शासन में, बल्कि हर प्रान्त में मताधिकार के अलग-अलग नियम बनाये गये थे। जो नियम उत्तर प्रदेश में रहा है वही बम्बई में नहीं था। वैसे तो इसकी वजह भौगोलिक परिस्थिति बतलाई जाती है, लेकिन कोई इससे इनकार नहीं कर सकता कि इससे राष्ट्रीय एकता नष्ट हुई है। राजनैतिक दृष्टि से यह नीति देश के लिये घातक थी। अध्ययन की सुविधा के लिये मताधिकारियों को दो कोटि में रख सकते हैं। एक तो वे जो केवल केन्द्रीय विधान-मंडल के लिये मत दे सकते थे। दूसरे वे जो अपने ही सूबे में मत देने के अधिकारी थे।

भारतीय मताधिकार में, चाहे वह केन्द्रीय हो अथवा प्रान्तीय, कुछ ऐसी बातें थीं जिनका वर्णन करना यहाँ अनुचित न होगा।

१—प्रत्येक मताधिकारी के लिये अँग्रेजी प्रजा होना आवश्यक था। उन रियासतों के राजा तथा नागरिक भी मत देने के अधिकारी थे जो संघ शासन में सम्मिलित होते।

२—पागल, दिवालिये, अपराधी मताधिकारी नहीं बन सकते थे।

३—जिन्हें काले पानी की सजा हुई हो या जो हिरासत अथवा जेल में रहे हों वे भी अपना मत नहीं दे सकते थे।

४—प्रत्येक मताधिकारी के लिये कम-से-कम २१ वर्ष की आयु का होना आवश्यक था।

५—१९३५ ई० तक हमारे देश में केवल पुरुषों को मत देने का अधिकार था। लेकिन नये शासन विधान के अनुसार अब स्त्रियाँ भी वोट दे सकती हैं।

६—मताधिकारी के लिये अपने निर्वाचन क्षेत्र का निवासी होना आवश्यक था।

यदि हम सिद्धान्त की चर्चा करें तो पता चलेगा कि इस देश में मताधिकार के इतने टुकड़े किये गये थे कि इनमें एकता की कोई भावना नहीं थी। कोई

निश्चित सिद्धान्त मानकर मताधिकार का वितरण नहीं किया गया था। देश को छोटे-छोटे समुदायों और सम्प्रदायों में विभाजित कर एक विकट समस्या रख दी गई थी। और देशों में केवल शिक्षा और सम्पत्ति के आधार पर मताधिकार का सिद्धान्त बनाया गया है, लेकिन भारत में ६ ऐसी बातें रक्खी गई थीं जो मताधिकारियों के लिए आवश्यक थीं। इनसे पता चलेगा कि किस प्रकार जाति और धर्म के मामलों को राजनीति में मिलाकर खिचड़ी पकाई गई थी।

**सम्प्रदाय**

१—किसी हिन्दू निर्वाचन-क्षेत्र में कोई मुसलमान अपना मत नहीं दे सकता था। कोई यूरप का निवासी मुसलमान निर्वाचन-क्षेत्र में अपना मत देने का अधिकारी नहीं था। अँग्रेज ईसाई हिन्दुस्तानी ईसाई के निर्वाचन-क्षेत्र में वोट नहीं दे सकता था।

**वर्ग**

२—मताधिकार में स्त्री और पुरुष वर्ग को भी अलग किया था। मुसलिम स्त्री निर्वाचन-क्षेत्र में केवल स्त्रियों को मत देने का अधिकार था। लेकिन हिन्दू स्त्री निर्वाचन-क्षेत्र में स्त्री और पुरुष दोनों मत दे सकते थे। एक विचित्र बात और थी। १९१९ ई० के शासन-विधान के अनुसार जो पुरुष मताधिकारी ठहराये गये थे, उनकी स्त्रियाँ भी, चाहे वे सधवा हों वा विधवा, मताधिकारिणी मान ली गई थीं।

**संगठन**

३—कुछ निर्वाचन-क्षेत्रों में वे ही मताधिकारी ठहराये गये थे जो किसी संगठन वा दल के सदस्य हों। जैसे मजदूर निर्वाचन क्षेत्र में वही व्यक्ति मताधिकारी था जो मजदूरदल का सदस्य हो। चैम्बर आफ कामर्स (Chamber of Commerce) निर्वाचन क्षेत्र में वोट देने का वही अधिकारी था जो चैम्बर का सदस्य था।

**सामाजिक विभेद**

४—मताधिकार वितरण में ऊँच और नीच का भी ध्यान रक्खा गया था। इससे समाज के टुकड़े-टुकड़े होने के सिवाय कोई लाभ नहीं था। इतना अवश्य था कि जो समाज में पिछड़े हुये लोग थे उन्हें मताधिकार का अवसर मिल जाता था। हिन्दू समाज अपनी इस कमजोरी के लिये काफी जिम्मेवार है। किसी-किसी निर्वाचन क्षेत्र में केवल विशेष जाति वा वर्ग के लोग मत देने के अधिकारी थे। कुछ सूबों में अछूतों के लिये स्थान नियत कर दिये गये थे, अर्थात् उनके प्रतिनिधियों की एक निश्चित संख्या स्थिर कर दी गई थी।

**साम्पत्तिक विभेद**

५—लगभग सभी सूबों में मताधिकारी के लिये थोड़ी-बहुत सम्पत्ति का रखना आवश्यक ठहराया गया था। मताधिकारी वे ही बन सकते थे जो या तो सरकार को टैक्स देते रहे हों अथवा किसी निश्चित पूँजी से ऊपर उनकी वार्षिक आमदनी हो।

६—फ़ौज का पेन्शन-याफ़्ता अफ़सर मत देने का अधिकारी था।

सरकारी नौकर

७—पुरुषों के लिये कम-से-कम चौथे दर्जे तक की शिक्षा और स्त्रियों के लिये शिक्षित होने का प्रमाण आवश्यक था। अशिक्षित
शिक्षा व्यक्ति मताधिकारी नहीं बन सकता था।

८—जिसे 'सर' अथवा 'ख़ाँ' या इसी तरह का कोई और सरकारी खिताब
खिताब प्राप्त था वह मत देने का अधिकारी समझा जाता था।

९—मताधिकारियों की सूची में उन लोगों का भी नाम शामिल कर लिया गया था जो किसी खास स्थान को ग्रहण करते थे। अर्थात्
पद में जो भी उन स्थानों को सुशोभित करता वह मताधिकारी मान लिया जाता। हाईकोर्ट के जज, विश्वविद्यालयों के वाइस चान्सलर इस कोटि में आते थे।*

नागरिकों की गणना करना और भी आवश्यक है। सरकार को उनकी शिक्षा, आर्थिक दशा तथा उन्नति-अवनति से परिचित रहना पड़ता है। भारत की मनुष्य गणना प्रति दसवें वर्ष होती है। १९५१ में यह गणना की गई है। मनुष्य गणना का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार को है। कोई व्यक्ति अथवा प्रादेशिक सरकार इसे नहीं कर सकती।

**निर्वाचन नियम**

निर्वाचन क्षेत्रों में प्रतिनिधि चुनने के कई ढंग हैं। एक तो यह कि हर निर्वाचन क्षेत्र से एक प्रतिनिधि चुन लिया जाय। इससे सुविधा यह होगी कि जितने प्रतिनिधि चुनने हों उतने ही निर्वाचन क्षेत्रों में देश को बाँट दिया जाय। इस ढंग को 'एक निर्वाचन क्षेत्र प्रथा' ( Single District System ) कहते हैं। यह प्रथा सबसे अच्छी समझी जाती है। इंगलैंड में इसी प्रकार से निर्वाचन होता है। लेकिन किसी-किसी निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। फ्रांस में कुछ दिनों तक 'एक निर्वाचन क्षेत्र प्रथा' का नियम था लेकिन आज नहीं है। इस प्रथा का प्रचार भारत में भी नहीं है। इसमें कुछ अच्छाइयाँ और कुछ बुराइयाँ भी हैं। सबसे बड़ी अच्छाई तो यह है कि प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र की भलाई के लिये पूरा जिम्मेवार होता है। उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता। अपने निर्वाचन क्षेत्र की आवश्यकताओं को विधान-मंडल में रखने के लिये वह एकमात्र उत्तरदायी होता है। वह अपने निर्वाचन क्षेत्र को भलीभाँति जानता है और वहाँ की जनता उससे अपनी भलाई की आशा रखती है। यदि एक निर्वाचन क्षेत्र से दो या अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं तो यह जिम्मेवारी सब में बँट जाती है, और इस दशा में कोई भी पूरी जिम्मेवारी लेने के लिये तैयार नहीं हो सकता। दूसरा लाभ यह है कि एक प्रतिनिधि होने से निर्वाचन क्षेत्र का हर व्यक्ति उसे जानता है। अपने क्षेत्र का निवासी होने के नाते सबसे भली-भाँति परिचित होता है। तीसरा लाभ यह है कि निर्वाचन क्षेत्र में अनेक दलबन्दियाँ नहीं होने पातीं। जब एक ही प्रतिनिधि का चुनाव है तो अधिक-से-अधिक दो दल हो सकते हैं, एक उसके पक्ष में और दूसरा विपक्ष में। चौथा लाभ यह है कि निर्वाचन में सुविधा होती है। अल्प संख्यक लोगों को इस प्रथा से प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का अवसर मिलता है। लेकिन इससे कुछ ऐसी हानियाँ हैं जिनकी वजह से यह प्रथा सर्वमान्य नहीं है। एक तो आबादी सदैव घटती-बढ़ती रहती है। हर चुनाव के अवसर पर सरकार को जनसंख्या की गणना करानी होगी, जो कठिन और साथ ही व्यर्थ भी है। वोट लेने के नाते प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र की भलाई चाहते हैं। उन्हें समूचे देश की भलाई का ध्यान कम होता है। तीसरी बुराई यह है कि यदि किसी निर्वाचन

क्षेत्र में दो योग्य व्यक्ति हों और जनता दोनों को चुन कर भेजना चाहती हो तो वह नहीं भेज सकती। इतनी कमी होते हुए भी 'एक निर्वाचन क्षेत्र प्रथा' सबसे सरल और उत्तम है। प्रत्येक देश में इसकी नकल होनी चाहिये। निर्वाचन का दूसरा नियम 'बहुनिर्वाचन प्रथा' ( General Ticket Method ) है। यह पहली प्रथा के विरुद्ध इस बात का पक्षपाती है कि हर निर्वाचन क्षेत्र से कई प्रतिनिधि चुने जाने चाहिये। प्रत्येक प्रतिनिधि के लिये अलग अलग निर्वाचन क्षेत्र बनाना व्यर्थ की परेशानी है। थोड़े से निर्वाचन क्षेत्रों में सम्पूर्ण देश को बाँट दिया जाय और जितने प्रतिनिधि चुनने हों उनको हर क्षेत्र में आबादी के हिसाब से चुन लिया जाय। इसमें परेशानी भी कम है और मतदाताओं को कोई घाटा भी नहीं है। लेकिन हमें याद रखना चाहिये कि इस प्रथा से हर एक निर्वाचन क्षेत्र में दलबन्दियों की भरमार लग जायगी। कोई भी प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र को 'अपना' नहीं कह सकता। यदि कोई पार्टी ज्यादा मजबूत है तो सारे प्रतिनिधि उसी दल से चुन लिये जायेंगे और बाकी लोगों को मुँह ताकना होगा। जो कुछ भी हो यह मानना पड़ेगा कि इस प्रथा में अच्छाइयाँ-बुराइयाँ दोनों हैं। संसार में अधिकतर देश 'बहु-निर्वाचन प्रथा' को मानते हैं।

है। प्रत्येक निर्वाचन केन्द्र पर मतदाताओं के नाम का एक रजिस्टर रक्खा रहता है ताकि कोई अनागरिक मताधिकारी न बन जाय। निर्वाचन केन्द्र पर एक लोहे या लकड़ी का बक्स होता है जिसमें ताला बन्द रहता है। वहाँ एक व्यक्ति सरकार की ओर से नियुक्त किया जाता है जो बक्स की निगरानी करता है और किसी तरह की अनुचित बात नहीं होने देता। यह व्यक्ति रिटर्निंग आफिसर ( Returning Officer ) कहलाता है। जब मताधिकारी आते हैं तो उनको एक-एक करके बक्स के पास बुलाया जाता है। वहाँ पर उनके हाथ में एक छपा हुआ कार्ड दिया जाता है, जिस पर उन सब व्यक्तियों का नाम छपा रहता है जो प्रतिनिधित्व के लिये खड़े रहते हैं। मतदाता लाल स्याही से उस व्यक्ति के नाम के आगे निशान कर देता है, जिसे वह अपना वोट देना चाहता है। फिर वह उस कार्ड को बक्स में ऊपर से डाल देता है। कोई यह देख नहीं सकता कि मतदाता ने किसको वोट दिया है। जब निश्चित समय समाप्त हो जाता है तो कोई वोट नहीं दे सकता। इसके बाद रिटर्निंग आफिसर कुछ और व्यक्तियों के साथ, जो सरकार की ओर से निश्चित रहते हैं, वोट को गिनता है और सरकार को उसका नतीजा बतला दिया जाता है। इस नये तरीके का प्रचार लगभग सभी देशों में है। भारत में भी यही तरीका व्यवहार में लाया जाता है। जिन्हें सबसे अधिक वोट मिलते हैं वे प्रतिनिधि चुन लिये जाते हैं।

**स्वतन्त्र मत**

मतदाताओं को पूरी स्वतन्त्रता है कि वे जिसे चाहें अपना मत दें। कोई उन पर किसी तरह का दबाव नहीं डाल सकता। उन पर अनुचित दबाव डालना एक बड़ा अपराध माना जाता है। यदि सरकार को इसका पता चल जाय तो वह दबाव डालने वाले को कड़ी सजा देती है। जिस प्रकार मतदाता अपना प्रतिनिधि चुनने में स्वतन्त्र है उसी तरह उसे यह भी स्वतन्त्रता दी गई है कि वह अपना वोट दे अथवा न दे। कोई व्यक्ति किसी मतदाता को जबरदस्ती निर्वाचन केन्द्र पर नहीं ला सकता। वहाँ आकर भी वह कह सकता है कि वह अपना वोट किसी को नहीं देना चाहता। कुछ विद्वानों का मत है कि सरकार को यह नियम बना देना चाहिये कि मतदाता को अपना मत देना पड़ेगा। लेकिन यह बात नागरिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध है। संसार के बहुत कम देशों में नागरिक को अपना मत देने के लिये बाध्य किया जाता है। स्पेन और बेल्जियम में उसे बाध्य होकर अपना मत देना पड़ता है। जो अपना मत नहीं देते उन्हें सरकार दंड देती है। मतदाता का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकारों को समझे और उनका उपयोग करे। सरकार को इसके लिये दंड देने की आवश्यकता नहीं है।

**स्त्रियाँ और मताधिकार**

"राजनीति में स्त्रियाँ अछूत हैं,"—बहुत दिनों तक लोगों का यह मत रहा है। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक लोगों का यह विचार था कि स्त्रियों के राजनीति में आने से राजनीति गन्दी होगी और कुटुम्ब का नाश हो जायगा। स्त्रियों का काम घर का प्रबन्ध करना है न कि राजनैतिक क्षेत्र में लड़ाई लड़ना। १८६६ ई० में जान स्टुअर्ट मिल ने एक पुस्तक लिख कर यह भविष्यवाणी की थी कि 'एक पीढ़ी के अन्दर वह समय आने वाला है जबकि स्त्रियाँ पुरुषों की तरह राजनीति में भाग लेंगी।' यह भविष्यवाणी सच्ची निकली। सबसे पहले आस्ट्रेलिया में स्त्रियों को मताधिकार मिला। इसके बाद इङ्गलैंड आदि देशों में यह फैला। संसार में शायद ही कोई सभ्य देश होगा जहाँ स्त्रियों को मताधिकार न मिला हो। जो लोग इसके पक्ष में हैं उनका कहना है कि राज्य में स्त्री और पुरुष दोनों रहते हैं। इसलिये समानता के आधार पर किसी को अधिकार से वंचित रखना अनुचित है। स्त्रियाँ अपनी भलाई स्वयं कर सकती हैं। वर्तमान प्रजातन्त्र के युग में देश की आधी जनता को राजनीति में अछूत समझना अन्याय नहीं तो और क्या है? जबकि स्त्रियाँ भी उसी प्रकार बुद्धिशीला हैं जैसे पुरुष तो क्यों एक को अपना विचार प्रगट करने का अवसर नहीं दिया जाता? इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजनैतिक, धार्मिक अथवा सामाजिक क्षेत्र में वे पुरुष से कम कुशल नहीं रही हैं। रजिया बेगम, झाँसी की रानी, चाँद बीबी, विक्टोरिया, एलिजबेथ आदि स्त्रियों ने जो संसार के सामने अपनी कार्य-कुशलता और साहस का परिचय दिया है वह किसी असाधारण पुरुष से कम नहीं है। जिन देशों में स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त है वे दुनिया में किसी से पिछड़े नहीं हैं। स्त्री जाति के नाते अधिकार से वंचित कर देना निरी अज्ञानता है। स्त्रियों के आगमन से राजनीति अधिक शुद्ध और सुव्यवस्थित होगी। जब एक मामूली मजदूर वोट दे सकता है तो कोई वजह नहीं है कि एक पढ़ी-लिखी स्त्री इस अधिकार से वंचित रक्खी जाय।

अच्छे कारनामें इस बात के प्रमाण हैं कि उनका जन्म किसी योग्य स्त्री ने दिया था। माताओं की जिम्मेवारी कम नहीं हैं कि वे घर को सँभालें। इससे अधिक अधिकार और क्या हो सकता है कि स्त्री अपने घर को जैसा चाहे बना सकती है। यूरप की लहर कोई बड़ी उपयोगी सिद्ध न होगी। कुछ लोग कहते हैं कि वोट देने का अधिकार उन्हीं को मिलना चाहिये जो लड़ाई में तलवार उठा सकें। स्त्रियाँ स्वभाव से कोमल होती हैं, वे फौज में काम नहीं कर सकतीं, इसलिये उन्हें वोट माँगने का कोई अधिकार नहीं है।

किसी विषय पर दलीलों की कमी नहीं हो सकती। इतना अवश्य है कि स्त्री-पुरुष में कार्य की दृष्टि से अन्तर किया जा सकता है, लेकिन जहाँ अधिकार का प्रश्न है वहाँ हम दोनों को एक समान समझें। जिन देशों में स्त्रियां को सामाजिक और राजनैतिक दोनों अधिकार प्राप्त हैं वे उन्नतिशील हैं। हर आदमी को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, इस बात का अवसर मिलना चाहिये कि सभी क्षेत्रों में वह अपनी शक्ति की परीक्षा करे। यदि स्त्रियों को राजनीति गन्दी मालूम होगी तो वे स्वयं उसे छोड़ देंगी। एक समय था जब स्त्रियों को शिक्षा देना गुनाह समझा जाता था, लेकिन अनुभव के बाद यह मालूम हुआ कि बात गलत थी। स्त्री और पुरुषों में किसी प्रकार के होड़ की आवश्यकता नहीं है। समाज का कल्याण दोनों के सहयोग से होगा।*

**अल्प संख्यक और निर्वाचन**

निर्वाचन में चाहे कितनी भी कोशिश की जाय दलबन्दी को कोई रोक नहीं सकता। नतीजा यह है कि जो दल मजबूत होता है उसी के प्रतिनिधि अधिक संख्या में चुन लिये जाते हैं। दलबन्दी का परिणाम इतना बुरा होता है कि अच्छा-से-अच्छा उम्मीदवार हरा दिया जाता है और उसके स्थान में अयोग्य व्यक्ति चुन लिया जाता है। दलबन्दी कई प्रकार से होती है जिसका विस्तृत वर्णन एक दूसरे अध्याय में किया गया है। कभी-कभी इसे साम्प्रदायिक रुप दे दिया जाता है। अर्थात् जो सम्प्रदाय सबसे मजबूत है, और जिसकी संख्या अधिक है, उसकी पार्टी मजबूत होती है। ऐसी दशा में जिस सम्प्रदाय में थोड़े लोग हैं उनकी पार्टी कमजोर होती है। जब कभी किसी मामले में मत लिया जाता है तो बहुसंख्यक सम्प्रदाय की विजय होती है। साम्प्रदायिक मामला बहुत ही टेढ़ा होता है। जिन्होंने

* Men and women are complementary opposites. Each best fulfils itself by developing precisely those qualities lacking in he other.

(Meyric Booth)

हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े तथा अरब और यहूदियों की लड़ाई का वर्णन सुना है वे इस बात को समझ सकते हैं कि किस प्रकार एक सम्प्रदाय दूसरे का जानी दुश्मन हो जाता है। छोटे और बड़े सभी सम्प्रदायों को इसमें शरीक होने की आवश्यकता है। राजनीति ऐसी चीज है जिसमें सबको हिस्सा मिलना चाहिये। इसी छोटे सम्प्रदाय वा समुदाय की समस्या को अल्पसंख्यक समस्या ( Minority Problem ) और इनके निर्वाचन को अल्पसंख्यक निर्वाचन ( Minority Representation ) कहते हैं।

बलवान दलों के मुकाबिले में कौन-सा ऐसा उपाय निकाला जाय कि कमजोर दल वालों को भी विधान-मंडलों में अपने प्रतिनिधि भेजने का अवसर मिले। लोगों ने बहुत सी बातें सोची हैं। उन सबका वर्णन करना यहाँ उचित न होगा। केवल दो तरीकों पर विचार करना चाहिये जो आमतौर पर काम में लाये जाते हैं। बाकी केवल किताबों के अन्दर बन्द हैं। इनमें से एक को "समानुपाती निर्वाचन" ( Proportional Representation ) वा 'हेअर प्रथा' ( Hare System ) और दूसरे को 'निहित निर्वाचन' ( Reservation of Seats ) कहते हैं। 'समानुपाती निर्वाचन' का अर्थ यह है कि हर सम्प्रदाय वा गिरोह को उसकी संख्या के अनुसार यह बतला दिया जाय कि उसे इतने प्रतिनिधि भेजने हैं। इससे सभी गिरोह अपने प्रतिनिधि भेज सकेंगे और किसी को कोई शिकायत न होगी। अल्प-संख्यक गिरोह विधान-मंडलों में अपना उचित स्थान पावेगा। इस तरीके को पहले-पहल थामस हेअर ( Thomas Hare ) साहब ने सन् १८५१ ई० में निकाला था। उन्हीं के नाम पर इसे 'हेअर प्रथा' कहते हैं। यह तरीका बहुत से देशों में प्रचलित है। अब तक जितने तरीके अल्प संख्यक निर्वाचन के लिये निकाले गये हैं उनमें 'समानुपाती निर्वाचन' सबमें श्रेष्ठ है। अल्प संख्यक निर्वाचन का दूसरा तरीका 'निहित निर्वाचन' ( Reservation of Seats ) कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विधान-मंडलों में अल्प संख्यक गिरोहों के प्रतिनिधियों के लिये सीटें निश्चित कर दी जायँ। अर्थात् यह बात निर्वाचन से पहले ही तय हो जाय कि अमुक गिरोह के इतने प्रतिनिधि विधान-मंडल में भेजे जावेंगे। इससे छोटे गिरोहों को यह भय नहीं रहेगा कि बड़े-बड़े दल उन्हें दबाकर निर्वाचन में हरा देंगे। इस तरीके को 'राष्ट्र संघ' ( League of Nations ) ने पहले-पहल मध्य यूरप की रियासतों में प्रयोग किया था। भारत में साम्प्रदायिक समस्याओं को सुलझाने और अल्प संख्यक गिरोह की रक्षा के लिये 'निहित निर्वाचन' का प्रयोग किया गया है। वर्तमान शासन विधान में यही तरीका काम में लाया जा रहा है।

निर्वाचन दो प्रकार से होता है। एक में मताधिकारियों को यह अधिकार है कि वे प्रत्यक्ष रूप से अपना प्रतिनिधि चुनें। यह तरीका लगभग सभी देशों में प्रचलित है। मताधिकारी अपनी इच्छानुसार उम्मीदवारों को वोट देते हैं और जिन्हें सबसे अधिक वोट मिलता है वे प्रतिनिधि कहलाते हैं। भारत में इसी तरीके का रिवाज है। मिश्र, टर्की, ईराक तथा कुछ

**परोक्ष निर्वाचन**
**Indirect Election**

अन्य देशों में परोक्ष निर्वाचन प्रथा प्रचलित है। मताधिकारी अपने निर्वाचन-क्षेत्र में कुछ व्यक्तियों को चुन लेते हैं। ये चुने हुये व्यक्ति प्रतिनिधियों को चुनते हैं। अमेरिका और फ्रांस में कुछ दिनों तक इस प्रथा का तजुरबा किया गया, लेकिन बाद में परित्याग कर दिया गया। जहाँ परोक्ष निर्वाचन की प्रथा प्रचलित है वहाँ निर्वाचन दो बार होता है। एक तो मताधिकारी ४०, ५०, या १०० खास व्यक्तियों को चुन लेते हैं। फिर दूसरे निर्वाचन में चुने हुए व्यक्ति प्रतिनिधियों को चुनते हैं। रूस में यही प्रथा है। अमेरिका का प्रेसीडेन्ट इसी निर्वाचन पद्धति से चुना जाता है। जिन्हें प्रेसीडेन्ट को चुनने का अधिकार है वे पहले कुछ व्यक्तियों को ( Electoral College ) चुन लेते हैं। फिर चुने हुए व्यक्ति प्रेसीडेन्ट का निर्वाचन करते हैं। प्रश्न यह है कि इन दोनों में कौन अच्छा है? प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रथा सबसे अच्छी मानी जाती है। इससे मताधिकारी राजनैतिक शिक्षा ग्रहण करते हैं। वे प्रतिनिधियों को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उनके पास पहुँच सकते हैं। उन्हें यह शौक होता है कि अपनी इच्छानुसार प्रतिनिधि चुनें। लेकिन इसमें एक कमजोरी भी है। हम यह आशा नहीं कर सकते कि सभी मताधिकारी योग्य प्रतिनिधियों को चुनेंगे। आम जनता की दृष्टि उतनी तीव्र नहीं होती जितनी थोड़े से चुने हुये लोगों की। यहाँ पर परोक्ष निर्वाचन प्रथा का उपयोग उचित मालूम पड़ता है। मताधिकारियों में जनता के वास्तविक हित को बहुत थोड़े लोग समझते हैं। यदि वे मिलकर कुछ योग्य व्यक्तियों को चुन लें तो ये चुने हुये व्यक्ति अच्छे प्रतिनिधि चुन सकते हैं। एक बात की कठिनाई अवश्य रह जायेगी कि मताधिकारियों और चुने हुए व्यक्तियों का दृष्टिकोण एक न हो। सम्भव है एक किसी और को अपना प्रतिनिधि चुनना चाहे और दूसरा किसी और को। इन दोनों में कोई भी अच्छी हो, परोक्ष निर्वाचन प्रथा बहुत कम देशों में पाई जाती है। परन्तु आंशिक रूप में यह प्रायः सभी प्रजातन्त्र देशों में प्रचलित है।

मताधिकारियों द्वारा निर्वाचित व्यक्ति प्रतिनिधि कहलाता है। जिस प्रकार मताधिकार सबको नहीं मिल सकता, और इसके लिये कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं, उसी तरह सभी व्यक्ति प्रतिनिधि

**प्रतिनिधि**

के लिये उम्मीदवार नहीं हो सकते। सबसे पहली शर्त तो यह है कि उसे स्वयं मताधिकारी होना चाहिये। कोई व्यक्ति मताधिकारी तब तक नहीं बन सकता जब तक वह नागरिक न हो। इसलिये प्रतिनिधि के लिये नागरिक होना आवश्यक है। कोई विदेशी इसके लिये उम्मीदवार नहीं हो सकता। यद्यपि ऐसी शर्तें हर मुल्क में अलग-अलग होती हैं फिर भी चन्द बातें सब जगह एक-सी पाई जाती हैं। एक ही देश में विभिन्न विधान-मंडलों के लिये भिन्न-भिन्न शर्तें होती हैं। प्रतिनिधि को किसी निश्चित आयु से अधिक होना पड़ता है। यह आयु नागरिक की साधारण आयु से कुछ अधिक होती है। आमतौर से बड़ी सभा के लिये आयु अधिक रक्खी जाती है। भारत में केन्द्रीय और राज्य विधान-मंडलों में बड़ी और छोटी सभा के लिये क्रमशः ३० और २५ वर्ष की आयु होनी चाहिये। आयु का प्रतिबन्ध इसलिये लगाया गया है कि केवल अनुभवी व्यक्तियों को विधान-मंडलों में जाने का अवसर मिले।

कुछ ऐसे नियम बनाये गये हैं जिनसे कितने ही व्यक्ति प्रतिनिधि नहीं बन सकते। इंगलैंड में न्यायाधीश कामन्स सभा के प्रतिनिधि नहीं बन सकते। भारत में सरकारी विभाग में काम करने वाला व्यक्ति विधान-मंडल का सदस्य नहीं हो सकता। सरकारी वकील भी इसका सदस्य नहीं बन सकता। मंत्रिमंडल के सदस्य, चाहे वे राज्य में हों अथवा केन्द्र में, इसके सदस्य हो सकते हैं। यद्यपि वे एक प्रकार से सरकारी नौकर हैं और सरकार से वेतन पाते हैं, फिर भी वे सदस्य होते हैं। यदि किसी के विषय में यह पता चल जाय कि उसने कानून के विरुद्ध तरीके से प्रतिनिधित्व प्राप्त किया है तो वह प्रतिनिधि नहीं रह सकता। प्रतिनिधित्व में धर्म भी कहीं-कहीं बाधक ठहराया गया है। स्थापित चर्च के मंत्री ( Ministers of the Established Churches ) कामन्स सभा के सदस्य नहीं बन सकते।

कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि हर प्रतिनिधि को अपने निर्वाचन क्षेत्र से कुछ सलाहें ( Instructions ) मिलनी चाहिये। मताधिकारी इस बात का ध्यान रक्खें कि वह उन सलाहों को पूरा करता है या नहीं। यदि पूरा नहीं करता तो उन्हें यह अधिकार मिलना चाहिए कि उसे वापिस बुला लें और उसकी जगह दूसरा प्रतिनिधि भेजें। इस प्रथा की आलोचना कई शब्दों में की गई है। आस्टिन का कहना है कि प्रतिनिधि जनता के ट्रस्टी हैं। मताधिकारियों को यह अधिकार नहीं है कि वे उन्हें जब चाहें वापिस बुला लें। यदि वे उससे सन्तुष्ट नहीं हैं तो अगले निर्वाचन में उसे मत देने से इनकार कर सकते हैं। प्रतिनिधि के विरुद्ध किसी तरह की कानूनी कार्रवाई करने का अधिकार किसी को प्राप्त नहीं है। प्रतिनिधि और मताधिकारी इन दोनों के दृष्टिकोण और कार्यक्रम में अन्तर पड़ना स्वाभाविक है। एक का ध्यान अपने ही निर्वाचन क्षेत्र में सीमित रहता है,

परन्तु प्रतिनिधि को समूचे देश की भलाई का ध्यान रखना पड़ता है। यदि उन्हें मताधिकारियों की इच्छानुसार चलना है तो अच्छा हो वे कोई मामूली नौकर विधान मंडलों में भेज दें, ताकि वह उनका हुक्म बजाता रहे। योग्य और प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रतिनिधि बनना स्वीकार नहीं कर सकते। यह बात आम जनता की शक्ति से बाहर है कि वह हर कानून पर अपने प्रतिनिधि को उचित सलाह दे। प्रतिनिधि मताधिकारी से कहीं योग्य होता है। वह औरों से सलाह लेने के बजाय बहुतों को सलाह दे सकता है। विधान-मंडल में वह किसी का हुकुम बजाने के लिए नहीं, बल्कि जनता की तकलीफें दूर करने के लिए जाता है। संघ-शासन में यह नियम किसी सीमा तक उपयोगी हो सकता है। वहाँ पर केन्द्रीय विधान मंडल में रियासतों के चुने हुए प्रतिनिधि आते हैं। उन्हें अपनी रियासत की भलाई का ध्यान रखना होता है। ऐसी दशा में उनकी सरकार उन्हें कुछ सलाहें दे सकती है जिनका पालन करना उनका कर्त्तव्य है। इस अवसर पर हमें ध्यान रखना चाहिये कि वह रियासत का प्रतिनिधि नहीं, बल्कि एक प्रकार का राजदूत ( Ambassador ) है।

मध्य काल में जर्मन साम्राज्य में यह नियम बहुत दिनों तक प्रचलित था। उस समय जर्मनी सैकड़ों छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। रियासत के प्रतिनिधियों को थोड़ी सी सलाहें दे दी जाती थीं, जिनका उन्हें पालन करना पड़ता था। आधुनिक युग में कोई इसे पसन्द नहीं करता। संघ-शासन में भी इसका चलन नहीं है। अमेरिका में, जहाँ ४८ रियासतें को एक संघ सरकार बनाई गई है, यह नियम नागरिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध समझा जाता है। वर्तमान प्रजातन्त्र राज्यों में प्रतिनिधियों पर इतना कड़ा बन्धन लगाना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

**सम्मिलित और पृथक् निर्वाचन ( Joint and separate electorate )**

जिन देशों में कई सम्प्रदाय हैं वहाँ एक बहुत बड़ी समस्या है कि निर्वाचन की नीति क्या हो। क्या जनसंख्या के अनुसार निर्वाचन क्षेत्र बना कर प्रतिनिधि चुने जायँ और साम्प्रदायिक प्रश्नों को उठाकर ताख पर रख दिया जाय, अथवा हर सम्प्रदाय को अलग-अलग प्रतिनिधित्व दे दिया जाय? भारत में यह प्रश्न बहुत ही जटिल है। यहाँ पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी इत्यादि सम्प्रदाय हैं। हर बुद्धिमान् आदमी यह कहता है कि जब तक ये सम्प्रदाय आपस में मिलकर न रहेंगे तब तक यह देश एक राष्ट्र नहीं बन सकता। आपस में मिलने का तात्पर्य यह नहीं है कि एक की हस्ती मिट जाय। बल्कि सभी सम्प्रदायों का उद्देश्य देश की उन्नति हो। प्रत्येक सम्प्रदाय पहले देश का भला सोचे और तब अपनी उन्नति का। यदि देश रसातल को जायगा तो एक टुकड़े की रक्षा नहीं हो।

सकती। यह दूसरा प्रश्न है कि देश को एक राष्ट्र बनाने के लिए निर्वाचन कहाँ तक सहायक होता है। यदि इस प्रश्न को हल कर दिया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि सम्मिलित निर्वाचन अच्छा है अथवा पृथक् निर्वाचन।

पृथक् निर्वाचन का तात्पर्य है कि हर सम्प्रदाय को अलग अलग प्रतिनिधि चुनने का अधिकार हो; अर्थात् हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई अपना-अपना प्रतिनिधि चुने। इसका नतीजा यह होगा कि विधान मंडलों में साम्प्रदायिक आधार पर दलबन्दियाँ होंगी। हिन्दू अपने मन्दिर के लिए लड़ेंगे और कहते फिरेंगे कि "गाय खतरे में" और मुसलमान अपनी मसजिद पर जान देने के लिए तैयार रहेंगे। सारे देश की भलाई सोचने वाला कोई न होगा। हर्ष की बात है कि अब यहाँ पृथक् चुनाव के स्थान पर सम्मिलित चुनाव की नीति को अपना लिया गया है जो राष्ट्रीयता की अभिवृद्धि में बहुत सहायक होगी।

सम्मिलित निर्वाचन का तात्पर्य यह है कि सब को एक साथ प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया जाय। इस बात का विचार न किया जाय कि कितने सम्प्रदाय या वर्ग हैं। निर्वाचन क्षेत्र जनसंख्या के आधार पर बनाये जायँ और मताधिकारियों को इस बात की स्वतन्त्रता हो कि वे जिसे चाहें अपना मत दें। सम्प्रदाय का क्षेत्र देश से बड़ा नहीं होता। हो सकता है किसी सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय वालों को अपना प्रतिनिधि चुनें। जब इन अवसरों पर एक दूसरे के हित सम्मिलित दिखाई देंगे तो लोग आपस में मिलने की कोशिश करेंगे। व्यक्तिगत और धार्मिक विषयों में उनमें मतभेद भले ही हो, परन्तु राजनीति में उनका सहयोग आवश्यक होगा। जो सरकार अपने देश की हितैषी होगी वह पृथक् निर्वाचन को पसन्द नहीं कर सकती। यह कहना गलत है कि अल्प संख्यक वर्ग की रक्षा का यही एक तरीका है। एक निष्पक्ष और सदाचारी व्यक्ति से देश की अधिक भलाई होती है। यदि किसी सम्प्रदाय का प्रतिनिधि धारा सभा में नहीं जाता तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके हित सुरक्षित नहीं रहेंगे। जब देश की भलाई के अन्दर सभी आते हैं तो कोई सम्प्रदाय अपने हित को अलग क्यों समझता है। राजनैतिक शिक्षा देशवासियों को पृथक् निर्वाचन की भयंकरता बतला सकती है। जो देश जितने ही अधिक टुकड़ों में विभाजित रहेगा वह उतना ही कमज़ोर गिना जायगा। १८वीं शताब्दी में भारत में विदेशियों की सफलता का यह एक बड़ा कारण रहा है कि यह देश एक हजार टुकड़ों में बँटा हुआ था।*

* India in the 18th century was broken up into one thousand pieces. [ Hindus and Musalmans of India—by Atulchand Chakrabarti ]

# अध्याय १४

## दलबन्दी (Party System)

**दलबन्दी का अर्थ**

कोई भी ऐसा व्यक्ति न होगा जिसके दो चार मित्र न हों। हर आदमी किसी-न-किसी गिरोह का सदस्य होता है। गाँव, शहर, स्कूल, हर जगह अनेक दल होते हैं। त्योहारों तथा उत्सवों पर लोग अपने मित्रों अथवा दलवालों से मिलते-जुलते हैं। कभी-कभी मित्रमंडली इकट्ठी होकर गाना-बजाना करती है। इस तरह दलबन्दी का अर्थ समझने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि हर आदमी किसी-न-किसी दल का सदस्य ही नहीं, बल्कि इसके लाभ और हानि से भी परिचित होता है। अब तक जिन दलों का वर्णन किया गया है उनका राजनीति में कोई स्थान नहीं होता। दलबन्दी (Party System) एक विशेष अर्थ रखती है। इसका तात्पर्य केवल राजनीति से है। प्रजातन्त्र देशों में राजनैतिक दल-बन्दियाँ आवश्यक और स्वाभाविक हैं। इनका सिद्धान्त धार्मिक और व्यक्तिगत न होकर किसी राजनैतिक आधार पर बनता है। जिन देशों में इस प्रकार की दलबन्दियाँ हैं वहाँ प्रजा को अधिक अधिकार दिये गये हैं। प्रत्येक दल का एक दृढ़ संगठन होता है। इसके कुछ स्थायी सदस्य और नियम होते हैं। सबसे आवश्यक बात यह है कि इनका एक लीडर या अगुआ होता है जिसके इशारे पर उस दल के सदस्य चलते हैं।

यदि राजनैतिक दल की परिभाषा की जाय तो पता चलेगा कि वह कुछ ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो किसी विशेष राजनैतिक सिद्धान्त में विश्वास करता है। अथवा यों कहना चाहिये कि वह एक संगठित जमात है जिसका उद्देश्य सरकार को अपनी इच्छानुसार चलाना है। गिलक्राइस्ट (Gilchrist) लिखता है, "राजनैतिक दल उन लोगों का एक संगठन है जो एक विचार और एक उद्देश्य रखते हैं।"* लीकाक लिखता है, "राजनैतिक दल से हमारा तात्पर्य नागरिकों के एक संगठन से है

* Party means a number of people joined by common opinions on a given subject.

जो राजनीति में एक सिद्धान्त पर सहमत हैं।"* एक तीसरी परिभाषा यह दी गई है कि "राजनैतिक दल कुछ नागरिकों का गुट है जो इस बात के लिये उत्सुक रहता है कि सरकार की सारी कार्यवाई एक विशेष ढंग पर हो।"† एक सज्जन ने इसकी परिभाषा बड़े लम्बे शब्दों में की है। वे लिखते हैं, "राजनैतिक दल व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जिसका दृष्टिकोण वर्तमान राजनैतिक प्रश्नों पर एक है और जो संगठित होकर यह विचार करते हैं कि किस प्रकार सरकार उनकी इच्छानुसार अपना कार्य करे।"‡ इससे स्पष्ट है कि दलबन्दी राजनैतिक संगठन को कहते हैं।

**विभिन्न राजनैतिक दल**

ऊपर कहा गया है कि दलबन्दी एक राजनैतिक संगठन है जिसका रूप वही होता है जो अन्य संगठनों का। गाँव तथा शहरों में अलग अलग संगठन होते हैं। म्युनिसिपल बोर्ड में भी दलबन्दियाँ रहती हैं। हर स्कूल या कालेज में अलग-अलग जमातें बनती हैं। प्रत्येक संगठन का कोई उद्देश्य और कार्य-क्रम होता है। उसके काम करने का ढंग अन्य संगठनों से भिन्न होता है। इस मामले में उसकी अपनी राय होती है। पार्टी का एक अगुआ होता है जो उसे आगे बढ़ाता है। पार्टी का उद्देश्य अपने हाथ में सरकार को लेना है। वह अपनी शक्ति को इसलिये बढ़ाना चाहती है कि उसके हाथ में शासन की बागडोर आ जाय। प्रत्येक दल अधिक-से-अधिक सदस्यों को शामिल करना चाहता है। सभी संगठन या दल अपनी-अपनी डींग मारते हैं। कोई धार्मिक संगठन अपने आपको किसी राजनैतिक संगठन से कम महत्वपूर्ण और लाभदायक नहीं समझता। और दलों में एक ही व्यक्ति बहुतों का सदस्य बन सकता है, लेकिन राजनैतिक दल में यह बात नहीं है। एक दल का सदस्य किसी और का सदस्य नहीं बन सकता। अपने दल का परित्याग कर वह दूसरे में जा सकता है। राजनैतिक दलों का उद्देश्य धारा सभाओं में प्रतिनिधित्व प्राप्त करना है।

---

* By political party we mean a more or less organized group of citizens who act together as a political unit.

† A party is a body of citizens who agree in desiring to see the business of legislation and government carried on in a particular way.

‡ A party is a body of individuals holding similar views as to the leading political questions of the day, united together to secure the adoption and the maintenance of those views in the conduct of government.

प्रत्येक राजनैतिक दल ( Political Party ) का एक उद्देश्य होता है। वह चाहता है कि सरकार इसी के अनुसार अपना कार्य करे। यह उद्देश्य कई प्रकार का होता है। उद्देश्य के कारण उसके कार्य-क्रम में भी अन्तर होता है। लेकिन सभी दल सरकार पर अपनी दृष्टि रखते हैं। वर्तमान सरकार की टीका-टिप्पणी करने में कोई कसर बाकी नहीं रखते। लेकिन जिस दल के हाथ में सरकार होती है वह इन टीका-टिप्पणियों को बहुत परवाह नहीं करता। अब तो यहाँ तक कहा जाता है कि जिस सरकार की टीका अधिक होती है वह प्रगतिशील कहलाती है और जनता को अपने विचार प्रकट करने का पूरा अवसर देती है। एक अत्याचारी सरकार की कोई डर के कारण बुराई नहीं करता, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह अच्छी है। प्रत्येक राजनैतिक दल इस बात के लिये तैयार रहता है कि अवसर पाने पर सरकार को अपने हाथों में कर ले। दलबन्दी का यह भी उद्देश्य है कि सरकारी विभागों में अधिक-से-अधिक कर्मचारी एक दल के हों। अपने सदस्य को अधिक सुविधायें देना, उसकी रक्षा का प्रबन्ध करना, उसके अधिकार के लिए सरकार से लड़ना, राजनैतिक दल का एक सिद्धान्त होता है। निर्वाचन क्षेत्र में प्रत्येक दल अपना बहुमत चाहता है। इसके लिये वह जनता में अपने उद्देश्यों का प्रचार करता है। अपनी योग्यता तथा सेवा का प्रमाण देने के लिये वह नाना प्रकार से जनता की सेवा करता है। जिन्हें किसी निर्वाचन केन्द्र पर जाने का अवसर मिला है वे समझ सकते हैं कि राजनैतिक दल जनता की कितनी खुशामद करते हैं। मुफ्त भोजन का प्रबन्ध किया जाता है, सवारियों का इन्तजाम रहता है और आगे के लिये बड़े-बड़े आश्वासन दिये जाते हैं। कभी-कभी तो मताधिकारियों को रुपये तक प्रदान किये जाते हैं। यूरप के देशों में दलबन्दी की होड़ इतनी अधिक है कि अपनी विजय के लिये कोई कसर बाकी नहीं रक्खी जाती। निर्वाचन के दिन मुफ्त हवाई जहाज उड़ाये जाते हैं, शहरों की गली-गली में मोटरें घूमती हैं और जो चाहे उन पर चढ़ सकता है। हर पार्टी रेल में वोटरों को मुफ्त ढोती है। आखिर यह सब कुछ क्यों होता है? सब का उद्देश्य यही है कि किसी तरह अमुक दल के हाथ में सरकार की बागडोर आ जाय।

**दलबन्दी के उद्देश्य**

जब तक प्रजा को यह अधिकार न था कि वह राज्य के विषयों में अपनी स्वतन्त्र राय प्रकट करे, तब तक दलबन्दियों का नाम न था और इसकी आवश्यकता भी न थी। यदि राज्य में कोई दल ऐसा खड़ा हो जाता जो सरकारी मामले में हस्तक्षेप करता तो वह आततायियों का एक गिरोह समझा जाता था। राजा उसे बड़ी सख्ती के साथ छिन्न-भिन्न कर देता था। मध्य काल तक इस प्रकार के राजनैतिक

**दलबन्दी की उत्पत्ति**

संगठन का, प्रजातन्त्र राज्यों में भी, जो कि इक्के-दुक्के दिखलाई पड़ते थे, नामोनिशान न था। भारत प्रजातंत्र का जन्मस्थान कहा जाता है। यहाँ के राजा अपनी प्रजा की भलाई और उसकी राय के लिये हर घड़ी अपने को तैयार रखते थे। फिर भी यहाँ दलबन्दियों का जिक्र नहीं सुना जाता। कारण यह है कि उन दिनों सामाजिक संगठन का स्वरूप कुछ और था। व्यक्तिगत जीवन के आगे दलबन्दियों का कोई मूल्य नहीं था। जहाँगीर ऐसे महान् सम्राट् ने, जिसका राज्य भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ था, दलबन्दियों की कोई आवश्यकता न समझी। न्याय के लिये उसने अपने दरबार में एक सोने की जंजीर लटका रक्खी थी जिसे कोई भी खींच सकता था और अपनी गरज बादशाह के सामने पेश कर सकता था। अकबर का राज्य, जो भारत में किसी स्वर्ण युग से कम न था, इसका नाम तक नहीं जानता। स्वयं योरप में एलिजाबेथ से पहले इन पार्टियों का कहीं जिक्र नहीं आता। उसी के समय से इसकी प्रथा चली। पहिले इसका आधार केवल धार्मिक वैमनस्य था लेकिन बाद में चल कर राजनैतिक दलबन्दी के रूप में परिणत हो गया। यह बात निर्विवाद है कि दलबन्दी की उत्पत्ति सबसे पहले योरप में हुई। इंगलैंड पार्टी सरकारों का सिरताज कहलाता है। दुनिया के प्रजातंत्र राज्यों ने इसकी नकल की है। आज एक भी प्रजातन्त्र राज्य ऐसा नहीं है जिसमें कम से कम दो या तीन राजनैतिक दल ( Politcal Partics ) न हों। प्रजातन्त्र राज्य की यह एक अच्छाई समझी जाती है कि उसमें कई दल हों और हरेक अपनी राय स्वतंत्र तरीके से देश के सामने प्रकट करे।

**दलबन्दी की वृद्धि**

विचारों में अन्तर पड़ना स्वाभाविक है। किसी मामले में कम से कम दो रायें अवश्य होती हैं। यह भी सम्भव है कि उस पर दो से अधिक रायें हों। राजनैतिक मामला इतना जटिल होता है कि उस पर अनेक रायें हो सकती हैं। सरकार के सभी काम विभिन्न दृष्टिकोण से देखे जाते हैं। इसलिये हर राजनैतिक मामले में कई विचार होते हैं। पहले दो दल आम तौर से हुआ करते थे, एक पक्ष में और दूसरा विपक्ष में। बाद में चल कर इनमें भी टुकड़े होने लगे और दलबन्दियों की भरमार हुई। इस मामले को काँग्रेस के उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकते हैं। काँग्रेस का उद्देश्य भारत को स्वतन्त्र करना रहा है। फिर कोई वजह नहीं मालूम पड़ती कि इसमें कई तरह की बातें पैदा हों। गाँधीवादी दल, समाजवादी दल, अग्रगामी दल—सबका उद्देश्य एक है, परन्तु इनके विचारों में मतभेद है। इसी तरह इंगलैंड में उदार और अनुदार दो ही दल थे। बाद में चल कर उदार दल के अन्दर एक मजदूर दल हुआ। राजनीतिज्ञों का कहना है कि अधिक-से अधिक चार दल होने चाहिये। सबसे अच्छा तो यह है कि दो ही हों। इससे पक्ष विपक्ष दोनों की पुष्टि अच्छी तरह हो सकती

है। दो से अधिक दलबन्दियाँ बाल की खाल निकालने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करतीं। व्यर्थ की दलबन्दियों से देश को लाभ के बदले हानि होती है। छोटी-छोटी बातों पर वादविवाद की झड़ी लग जाती है और सरकार को काम करने में कठिनाई होती है। उसके अच्छे-से-अच्छे कामों की आलोचना की जाती है। विपक्षी दल का यह हौसला होता है कि वह सरकार की किसी भी बात को चुपचाप नहीं मान सकता। स्वयं महात्मा गाँधी का कहना है कि "काँग्रेस की टीका-टिप्पणी करना एक फैशन हो गया है।"* आधुनिक काल में दलबन्दियों की इतनी भरमार है कि कोई भी मुल्क इससे वंचित नहीं है। इस आधार पर यह कह सकते हैं कि तानाशाही (Dictatorship) इन्हीं को रोकने का एक उपाय है। तानाशाह अपने देश में एक राजनैतिक दल के अतिरिक्त किसी और को रहने की आज्ञा नहीं देता। इसके विपरीत प्रजातन्त्र राज्य इनकी वृद्धि का अधिक-से-अधिक अवसर देते हैं। पाश्चात्य देशों के कुछ प्रजातन्त्र राज्यों में ६, ७ दल तक पाये जाते हैं। इनके अलग अलग उद्देश्य और नियम हैं।

ऊपर कहा गया है कि अधिक-से-अधिक चार राजनैतिक दल होने चाहिये। एक तो वह जो पूरा रूढ़िवादी हो और तरह तरह की तब्दीली का पक्षपाती न हो। दूसरा वह जो रूढ़ियों को तोड़कर आगे बढ़ना चाहता हो। तीसरा वह जो इन दोनों के बीच में हो। कुछ बातों में रूढ़िवादियों का समर्थन करे और कुछ में अग्रगामी दल वालों का। इनके अतिरिक्त एक चौथा दल भी हो सकता है जो इन तीनों में किसी से भी सहमत नहीं रह सकता। कभी एक का साथ देगा और कभी दूसरे का। उसका उद्देश्य यह होगा कि प्रत्येक दल की अनुचित कार्रवाइयों को रोके। संघ राज्यों में दलबन्दियों का स्वरूप कुछ और होता है। वहाँ प्रायः दो दल हुआ करते हैं। एक केन्द्रीय शासन को अधिक मजबूत बनाना चाहता है। उसका उद्देश्य यह है कि सम्पूर्ण प्रभुता केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत हो। दूसरा दल इसका विरोधी और प्रान्तीयता का पक्षपाती होता है। केन्द्रीय सरकार को वह आवश्यकता से अधिक शक्तिशाली नहीं बनाना चाहता। शक्ति के वितरण में उसका पूरा विश्वास होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दलबन्दियों का अन्त नहीं।

**दलबन्दी से लाभ और हानि**

प्रजातन्त्र की सफलता के लिये दलबन्दी आवश्यक है। कहा जाता है कि इसके बिना प्रजातन्त्र का अन्त हो जायगा। यह देखना है कि इन दलबन्दियों से क्या लाभ और हानि है। वर्तमान राज्यों की सीमा काफी बड़ी है। हर आदमी एक दूसरे को नहीं जान सकता। लेकिन दलबन्दियों के कारण वह काफी लोगों के सहयोग में आता है। और संगठनों से कोई अपने को अलग भले ही रक्खे लेकिन सरकारी

* It has become a fashion of the day to criticise the congress.

सबसे बड़ा दुर्गुण यह है कि पार्टी का सदस्य अपने दल के सामने देशभक्ति को कोई चीज नहीं समझता।

दलबन्दी और प्रजातन्त्र

प्रजातन्त्र के अन्दर जनता को पूरी स्वतन्त्रता है कि वह निर्भयतापूर्वक अपने विचारों को स्पष्ट करे। प्रेस को स्वतन्त्रता रहती है कि वह सभी प्रकार के विचारों को स्थान दे। जनता जब चाहे सभायें कर सकती है और उसमें कोई भी उचित प्रस्ताव पास कर सकती है। हर व्याख्यानदाता को अपनी राय प्रकट करने का अधिकार है। लेखक स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं। सरकार के बुरे कामों की कोई भी आलोचना कर सकता है। सभी कामों में जनता की राय ली जाती है। किसी-किसी देश में यह प्रजातन्त्र उस सीमा तक पहुँच गया है कि जनता के बहुमत के बिना कोई कार्य नहीं किया जाता। स्विटजरलैंड इसका जीता जागता उदाहरण है। वहाँ कानून बनने के बाद भी प्रजा की राय उस पर ली जाती है। प्रजातन्त्र नागरिक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का पक्षपाती है। यदि हम ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि इसके सभी सिद्धान्त दलबन्दी में पाये जाते हैं। जिस स्वतन्त्रता को प्रजातन्त्र एक-एक व्यक्ति को देना चाहता है, उसी का संगठित रूप दल कहलाता है। इसके कार्यक्रम उस मार्ग पर बनाये जाते हैं जिस पर व्यक्ति को चलना चाहिये। पार्टियाँ प्रजातन्त्र के अन्दर इस बात का प्रमाण हैं कि नागरिक को किस हद तक स्वतन्त्रता दी गई है। पार्टियों के धुआँधार प्रचार से प्रजातन्त्र की पुष्टि होती है। उसे इस बात का भय होता है कि कहीं व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का अनुचित लाभ न उठाये। इतने पर भी दलबन्दी रोकी नहीं जाती। जब तक सरकार इस बात का प्रमाण न दे कि अमुक दल नागरिक स्वतन्त्रता में बाधक है तब तक वह उसे रोक नहीं सकती। यदि प्रजातन्त्र के अन्दर नागरिक सचमुच स्वतन्त्र है तो वह सभी दलों को स्वतन्त्रता के साथ अपनी आवाज लोगों को सुनाने दे। लेखक को सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त है तो इसकी परीक्षा दलबन्दियों द्वारा हो सकती है। अगर किसी दल द्वारा प्रकाशित छोटी-छोटी पुस्तिकायें जब्त कर ली जाती हैं तो नागरिक स्वतन्त्रता एक झूठा बहाना है। जनता अपनी इच्छानुसार दल बनाकर अपनी आवाज को मजबूत बना सकती। एक व्यक्ति सरकार को अच्छे से अच्छे मामले में दबा नहीं सकता, लेकिन दल उसके सामने यह साबित कर सकते हैं कि या तो वह जनता की राय को सुने अथवा अपना प्रजातन्त्रवादी ढकोसला छोड़ दे। किसी राष्ट्र के अन्दर कोई राजनैतिक दल नहीं है तो इसके मानी हैं कि वहाँ सच्चे प्रजातन्त्र का अभाव है। राजनीति में अधिक भाग लेने का सबसे बड़ा साधन राजनैतिक दल है।

तानाशाही प्रजातन्त्र का विरोधी है। इसके अन्दर व्यक्ति वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह तानाशाह की इच्छा के अनुकूल चलता है। नागरिकों को वहाँ

**दलबन्दी और तानाशाही**

मनमाने संगठन बनाने की आज्ञा नहीं है। तानाशाही के अन्दर एक ही दल होता है। तानाशाह स्वयं इसका प्रधान होता है। वहाँ की सरकार और दल इन दोनों के उद्देश्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। सरकार उस दल के हाथों में होती है। उसके सभी कर्मचारी उस दल के सदस्य होते हैं। उसके सदस्यों की मर्यादा देश में सबसे अधिक की जाती है। अन्य पार्टियों का चिन्ह भी बाकी नहीं रहता। शासन की व्यवस्था इस ढंग से बनाई जाती है कि इसी दल के हाथों में राज्य की बागडोर बनी रहे। यदि कोई दूसरा दल सर उठाता है तो वह निर्दयतापूर्वक दबा दिया जाता है। इटली में फासिस्ट पार्टी के अतिरिक्त कोई दूसरी पार्टी सर नहीं उठा सकती थी। जर्मनी में नाजी पार्टी का दौर-दौरा था। हिटलर स्वयं उसका प्रधान था। रूस में बोलशेविक पार्टी राज्य करती है। स्टैलिन उसका सर्वेसर्वा है। यह प्रायः देखा गया है कि स्टैलिन ने सैकड़ों आदमियों को इसी गुनाह पर तलवार के घाट उतार दिया कि वे अलग पार्टी बनाना चाहते थे। तानाशाही के अन्दर दल का सारा कार्यक्रम प्रजातन्त्रवादी देशों से भिन्न होता है। तानाशाह तलवार की शक्ति में विश्वास करता है और अपनी पार्टी को इसी रास्ते पर तैयार करता है। उसकी पार्टी अन्य देशों से लोहा लेने के लिये सदैव तैयार रहती है। तानाशाही के अन्दर राजनैतिक दल उस भरी बन्दूक की तरह है जो किसी भी समय आग लगा सकती है। प्रजातन्त्र के अन्दर पार्टियाँ अपना-अपना राग अलापती हैं लेकिन तानाशाही के अन्दर दल का एकमात्र उद्देश्य देश की उन्नति होता है। प्रजातन्त्र के अन्दर पार्टियाँ आपस में ही लड़ती हैं लेकिन तानाशाह का दल और देशों पर अपनी दृष्टि रखता है।

**आधुनिक दलबन्दी की प्रथा**

आधुनिक युग स्वतन्त्रता का युग कहलाता है। सभी प्रजातन्त्र देशों में पार्टी मार्ग पर राजनैतिक कार्य किये जाते हैं। निर्वाचन से लेकर कानून बनाने तक सब काम राजनैतिक दल करते हैं। ये सरकारी नीति का प्रचार तथा निर्वाचन का संगठन करते हैं। उन्हीं की सहायता से मताधिकारी निर्वाचन केन्द्र पर लाये जाते हैं। वर्तमान पार्टी प्रथा को समझने के लिये अच्छा होगा कि प्रमुख देशों के दलों का अध्ययन किया जाय। भारत भी उन्हीं मार्गों पर दलों का संगठन करना चाहता है। जिस प्रकार और बातों में हम यौरप की नकल कर रहे हैं, उसी तरह राजनैतिक मामलों में भी हमारी दृष्टि उसी ओर है। इस दृष्टि से इन पार्टियों का अध्ययन हमारे लिये उपयोगी सिद्ध होगा। इससे यह भी मालूम होगा कि किस तरह धार्मिक और साम्प्रदायिक प्रश्नों के ऊपर राजनीति में पार्टियाँ बनाई जाती हैं।

एलिजाबेथ के समय तक इंगलैंड में पार्टी प्रथा का नाम न था। लेकिन धार्मिक प्रश्न धीरे-धीरे बढ़ रहे थे। लिबमैन लिखता है "जिसे इंगलैंड की पार्टी प्रथा का

इंगलैंड — अध्ययन करना हो वह चार्ल्स प्रथम के समय के घरेलू युद्ध (Civil War 1642-45) का इतिहास पढ़े।" चार्ल्स प्रथम के समय धार्मिक प्रश्नों पर दो पार्टियाँ हो गईं। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक दल राजा का पक्षपाती था और दूसरा पार्लियामेंट का। घरेलू युद्ध में एक का नाम राउन्ड हेड पड़ा और दूसरे का कवेलियर। इसके बाद इन्हीं का नाम ह्विग और टोरी पड़ा। जार्ज प्रथम के समय में कैबिनेट की प्रथा चली। पार्टी के बिना इसका चलना असम्भव था। जो पार्टी पार्लियामेंट में सबसे मजबूत होती उसी के सदस्य कैबिनेट के मेम्बर होते थे। १८वीं सदी तक इंगलैंड की राजनीति केवल धनिकों के हाथ की कठपुतली थी, परन्तु इसके अंत में स्वतन्त्रता का बादल मड़राने लगा। उन्नीसवीं सदी के मध्य में फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने योरप में स्वतन्त्रता की भावना को जागृत किया। औद्योगिक क्रान्ति से यह भावना और भी बढ़ने लगी। लोगों में शिक्षा और व्यवसाय की वृद्धि से नागरिक जीवन का संचार हुआ। उनका ध्यान धर्म से हटकर राजनीति की ओर पलटा। ह्विग लोग उदार दल (Liberal) कहलाये और टोरी अनुदार दल (Conservative)। उदार दल वाले जनता को अधिक अधिकार देना चाहते थे और सामाजिक सुधारों के पक्षपाती थे। इनके विपरीत अनुदार दल वाले केवल धनिकों के हाथों में शासन की बागडोर देना चाहते थे। वे धनिकों के पक्षपाती और सामाजिक सुधारों के विरोधी थे।

मशीनों की वृद्धि के कारण सामाजिक व्यवस्था बदलती गई और मजदूरों की संख्या बढ़ने लगी। इसलिये यह आवश्यक था कि उनके अधिकारों की नई व्यवस्था बनाई जाय। इसके अतिरिक्त उनकी दशा आम जनता से बुरी थी। वे सभी प्रकार से मिल मालिकों के हाथों में थे। पूँजीपति जितना चाहता उनसे काम कराता और अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें मजदूरी देता। स्वतन्त्रता की भावना मजदूरों में भी बढ़ रही थी। उदार दल उनके अन्दर सुधार करना चाहता था, लेकिन अनुदार दल-वाले विरोध करते थे। उदार दल में एक गिरोह मजदूरों के पूरे पक्ष में था। वह इस बात पर तुला हुआ था कि चाहे जैसे हो मजदूरों को अधिकार मिलने चाहिये। सम्पूर्ण उदार दल इतना उत्सुक न था। इसलिये बीसवीं सदी के आरम्भ में यह दल दो भागों में बँट गया। जो मजदूरों के पक्के सहायक थे उन्होंने अपना नाम मजदूर दल (Labour Party) रख लिया। इस प्रकार इंगलैंड में तीन पार्टियाँ हुईं, उदार, अनुदार और मजदूर दल (Liberal, Conservative and Labour party)। १९२३ ई० में रेम्जे मैकडानल्ड मजदूर दल के नेता हुए। उनके अन्दर इस पार्टी ने इतनी उन्नति की कि १९२४ ई० में शासन की बागडोर इसी मजदूर दल के हाथ में आई। १९२९ ई० में फिर यही दल इंगलैंड का शासक बना। किसी कारण वश १९३१ ई० में रेम्जे मैकडानल्ड ने मन्त्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया और मजदूर

दल की सरकार का अन्त हो गया। आज इंगलैंड में ये तीनों दल हैं। हर दल का सम्पूर्ण देश में संगठन है, उसके कई दफ्तर हैं और लाखों रुपये प्रतिवर्ष चन्दे के रूप में आते हैं। अनुदार दल इन सबमें धनी है। हर दल का एक सिद्धान्त है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये हर 'पार्टी स्कूल खोलती है, अस्पताल बनवाती है तथा तरह-तरह के सामाजिक सुधार करती है। इन पार्टियों के कार्य-क्रम से देश को विशेष लाभ पहुँचता है।

**अमेरिका (U. S. A.)**

१७७५ ई० तक अमेरिका परतन्त्र देश था। जो पार्टी इंगलैंड में थी उसी की नकल वहाँ भी थी। लेकिन १७८२ ई० में जब यह देश स्वतन्त्र हुआ तो वहाँ नई नई पार्टियाँ बनीं। स्वतन्त्रता के बाद जब वहाँ संघ-शासन की व्यवस्था हुई तो यह स्वाभाविक था कि दो दल उठ खड़े होते। एक संघ शासन को अधिक अधिकार देना चाहता था। वह केन्द्रीय शासन को मजबूत बनाने के पक्ष में था। इसके विपरीत दूसरा दल प्रान्तीयता का पक्षपाती था। वह चाहता था कि रियासतों को सारे अधिकार बाँट दिये जायँ। स्थानीय अधिकार उसे केन्द्रीय अधिकारों से कहीं आवश्यक थे। जब केन्द्रीय शासन अच्छी तरह दृढ़ हो गया तो संघ का विरोधी दल समाप्त हो गया। उसका स्थान एक नई पार्टी ने लिया। इसका नाम स्वतन्त्र दल (Republican Party) था। इस दल ने स्वतन्त्रता में दूसरे दल को भी मात कर दिया। १८०१ ई० में इसकी शक्ति सबसे अधिक हो गई। १८१६ से १८३० ई० तक इसके अतिरिक्त अमेरिका में कोई दूसरी पार्टी न थी। इसलिये वहाँ के इतिहास में इस १४ वर्ष के समय को "सद्भावना का युग" कहते हैं। १८३० के बाद फिर दो पार्टियाँ उठ खड़ी हुईं। अभी इनका संगठन बन ही रहा था कि गुलामों की रिहाई का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। हमें ध्यान रखना चाहिये कि पार्टियाँ सदैव किसी खास प्रश्न पर बना करती हैं। जब कभी कोई बड़ा प्रश्न देश के सामने उपस्थित होता है तो पिछली दलबन्दी समाप्त हो जाती है और नये दल उठ खड़े होते हैं। इसी प्रश्न पर घरेलू युद्ध आरम्भ हुआ और गुलामी प्रथा जाती रही। जब गुलामी का प्रश्न दूर हो गया तो कोई समस्या ऐसी न रही जिस पर दलबन्दी होती। परिणाम यह हुआ कि वहाँ पुरानी दोनों पार्टियाँ (Republican and Democrat) बनी रहीं। उनके सामने कोई विशेष उद्देश्य न था। तब से आज तक अमेरिका में कोई ऐसा प्रश्न पैदा नहीं हुआ जिस पर नई पार्टियाँ बनें। छोटी-छोटी बातों पर पार्टियाँ बनती-बिगड़ती रहती हैं। यदि ठीक-ठीक शब्दों में अमेरिकन पार्टी का वर्णन किया जाय तो कहना पड़ेगा कि अमेरिका में कोई पार्टी नहीं है। नाम मात्र को उनका संगठन अवश्य है, लेकिन उनके सामने कोई विशेष कार्यक्रम (Programme) नहीं है। समाजवाद की लहर वहाँ भी पहुँच गई है। इस पर

वहाँ दो समाजवादी दल भी ( Socialist and Socialist Labour ) उत्पन्न हुए हैं। इसके अतिरिक्त १६१२ ई० से एक 'अग्रगामी दल' ( Progressive Party ) का भी जन्म हुआ है। इतनी पार्टियाँ होते हुए भी अमेरिका को 'पार्टी रहित देश' ( Non-party Country ) कहा जाय तो अनुचित न होगा।

कहने को अमेरिका में कोई पार्टी नहीं है लेकिन दलबन्दी की भावना जितनी वहाँ है उतनी बहुत कम देशों में पाई जाती है। इसकी वजह यह है कि वहाँ चुनाव बार-बार होते रहते हैं। और देशों में केवल धारा सभा के प्रतिनिधियों का चुनाव होता है, लेकिन अमेरिका में प्रेसीडैन्ट, सहायक प्रेसीडेन्ट तथा कुछ बड़े-बड़े अफसरों तक का चुनाव होता है। इसलिये राजनैतिक भावना की चहल-पहल रहती है। एक सबसे विचित्र बात जो दुनिया के किसी भी हिस्से में प्रचलित नहीं है, अमेरिका की "विनाशी नीति" ( Spoil System ) है। इसका अर्थ यह है कि जब प्रेसीडेन्ट का चुनाव हो जाता है तो वह अपनी पार्टी को प्रसन्न करने के लिये सभी सरकारी कर्मचारियों को निकाल बाहर कर देता है और उनकी जगह अपनी पार्टी के लोगों को भर्ती कर लेता है। इससे यह हानि होती है कि सरकारी कर्मचारी अपने को स्थायी नहीं समझते। चपरासी तक डरता है कि कहीं वह निकाल न दिया जाय। सरकारी विभागों में अनुभवशाली व्यक्तियों का अभाव रहता है। पार्टी प्रथा का इतना प्रभाव किसी और देश में शायद ही पड़ता हो। अब इसे रोकने का किसी हद तक प्रयत्न किया गया है। कुछ जगहें स्थायी बना दी गई हैं। सिविल सर्विस की परीक्षा का नियम बनाया गया है। इसमें सफलीभूत व्यक्ति राज्य के स्थायी कर्मचारी समझे जाते हैं। अमेरिका में बड़े-बड़े सेठ-साहूकार पार्टी के लीडरों को लम्बी-लम्बी राशि देकर अपने मन के अनुकूल कानून पास करवा लेते हैं।

ऊपर कहा गया है कि पार्टियाँ किसी जटिल प्रश्न पर बनती हैं। वैसे तो निर्वाचन प्रथा के अभाव में पार्टी बनने का कोई प्रश्न पैदा नहीं होता।

**भारत** मुगल राज्य में न कोई पार्टी और न व्यवस्थापिका सभा थी। कोई प्रश्न छिड़ जाता तो बादशाह का फैसला अन्तिम माना जाता था। फिर उस पर किसी तरह का वादविवाद नहीं हो सकता था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में राजनैतिक दशा काफी बुरी थी। कम्पनी के कर्मचारी मनमानी करते थे। मेकाले लिखता है, "कम्पनी के नौकर अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये देश के सभी आन्तरिक व्यापार पर अपना अधिकार किये हुए थे। वे यहाँ के निवासियों को महँगा खरीदने और सस्ता बेचने पर बाध्य करते थे। फैक्टरी का एक-एक नौकर अपने को डाइरेक्टर समझता और उसके मालिक कम्पनी को अपनी बपौती समझते थे। कलकत्ता शहर में कम्पनी के पास कुबेर का खजाना इकट्ठा था। इस पैशाचिक नीति के फलस्वरूप ३० लाख आदमी दाने-दाने को मुहाल थे। यद्यपि अत्याचार को सहन

करने की उनमें काफी शक्ति थी, परन्तु ऐसा अत्याचार उनसे सहन नहीं हुआ।"* कम्पनी के ढाई सौ वर्षों के काम का नतीजा यह हुआ कि देश एक सिरे से दूसरे सिरे तक उसका कट्टर शत्रु हो गया। सन् १८५७ ई० के गदर के बाद कम्पनी का राज्य समाप्त हो गया और भारत के शासन का भार पार्लियामेंट ने अपने हाथों में लिया। शासन प्रबन्ध का ढाँचा इंगलैंड के आधार पर बनाया गया। इसी बीच में सन् १८८५ ई० में काँग्रेस का जन्म हुआ। देश के कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञों ने इसकी नींव इसलिये डाली कि यह संस्था ब्रिटेन और भारत दोनों में सहयोग उत्पन्न करेगी। साथ ही भारतीय सामाजिक सुधार में हाथ बँटायेगी।

सुधार के प्रश्न पर दो दल उत्पन्न हुए। एक इसका पक्षपाती और दूसरा विरोधी था। धारा सभाओं में भी इस आशय के दो दल हो गये। फिर भारतीयों के अधिकार का प्रश्न उठा। यह एक जटिल प्रश्न था। इस पर न केवल धारा सभाओं में बल्कि देश में दो दल उठ खड़े हुए। एक ब्रिटेन से मिल कर अपने अधिकारों की माँग करना चाहता था, लेकिन दूसरा दल इसे पसन्द न करता था। वह ब्रिटेन का विरोध करते हुये आगे बढ़ना चाहता था। एक का नाम 'नरम' दल था और दूसरे का 'गरम' दल। इन दोनों दलों का संगठन बढ़ने लगा। धारा सभाओं, काँग्रेस सारे देश में इन्हीं दलों का जोर था। इसके बाद जब देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न उठा तो भारत के हर सम्प्रदाय ने अपना दल बनाकर इसका समर्थन किया। साम्प्रदायिक संगठनों को राजनैतिक संगठन में मिलाना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है, लेकिन भारत एक ऐसा मुल्क है जहाँ विभिन्न सम्प्रदाय अपना अलग-अलग संगठन बनाकर सरकार के सामने अपनी माँगें पेश करते हैं। मुसलिम लीग अपने आपको एक राजनैतिक पार्टी कहती रही है, परन्तु इसका स्थान वही रहा है जो हिन्दू सभा का। दोनों दल साम्प्रदायिक रहे हैं। इतना अवश्य है कि दोनों दल अपने-अपने सम्प्रदाय की उन्नति चाहते रहे हैं।

---

* "The servants of the Company" writes Macaulay, "obtained—not for their employers but for themselves a monopoly of almost the whole internal trade. They forced the natives to buy dear and sell cheap......Every servant of a British factory was armed with all the power of his master, and master was armed with all the power of the Company. Enormous fortunes were thus rapidly accumulated at Calcutta, while thirty millions of human beings were reduced to the last extremity of wretchedness. They had been accustomed to live under tyranny, but never under tyranny like this" [ Essay on Clive ].

भारत में राजनैतिक मामले धार्मिक दृष्टि से देखे जाते हैं। यही कारण है कि मुसलिम लीग और हिन्दू सभा दोनों अपने आपको किसी राजनैतिक पार्टी से कम नहीं समझती थीं। लेकिन यह बात वास्तविकता से कोसों दूर है। परतन्त्र होने से हमारे देश में स्वतन्त्रता की वह लहर नहीं रही है जो अन्य प्रजातन्त्र देशों में है। बिना स्वतन्त्रता की लहर के जनता में दलबन्दी की भावना नहीं हो सकती। लोग यह सोचते हैं कि टुकड़े के लिये क्या लड़ा जाय जब वास्तविक शक्ति विदेशियों के हाथ में है। राजनैतिक मामलों से अधिकतर लोग उदासीन रहे हैं। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों के मार्ग पर अभी यहाँ पार्टियाँ नहीं हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत में कोई राजनैतिक दल है ही नहीं। यहाँ कहने-सुनने को कम-से-कम चार या पाँच पार्टियाँ हैं। कृषक पार्टी, कांग्रेस पार्टी, मजदूर पार्टी, स्वतन्त्र पार्टी लिबरल पार्टी, समाजवादी पार्टी, किसान मजदूर प्रजा पार्टी तथा कुछ और भी ऐसी ही छोटी-छोटी पार्टियाँ हैं। इनमें से कुछ तो ऐसी हैं जो केवल प्रादेशिक धारा सभाओं तक सीमित हैं। समाजवादी, किसान मजदूर प्रजा पार्टी, लिबरल और कांग्रेस पार्टियाँ ऐसी हैं जो समूचे देश में अपना प्रभुत्व रखती हैं। इन सब में कांग्रेस पार्टी का संगठन सुदृढ़ और व्यापक है।

लिबरल पार्टी पुरानी पार्टी है। जब काँग्रेस का जाल इतना अधिक नहीं फैला था उस समय यह काफी बढ़ी-चढ़ी थी। इसके अन्दर देश के अच्छे अच्छे व्यक्ति रह चुके हैं। गोखले इसी पार्टी के एक नेता थे। आरम्भ से अब तक इसका एक ही उद्देश्य रहा है। वह यह कि अँग्रेजी सरकार से सहयोग प्राप्त करते हुए देश की सामाजिक और राजनैतिक उन्नति करना। इस दल का विश्वास रहा है कि भारत की भलाई इसी में है कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर बना रहे। जिस समय वह ब्रिटिश साम्राज्य से निकल जायगा उस समय कोई और देश इस पर हावी हो जायगा। सामाजिक सुधारों के लिये यह दल स्कूल खोलता है, कालेज चलाता है, व्यवसायों की उन्नति करता है, अछूतों में काम करता है तथा गाँवों में कृषि आदि की उन्नति करता है। राजनैतिक उन्नति के लिये दल के सदस्य धारा सभाओं में जाते हैं और जनता के राजनैतिक अधिकारों की माँग करते हैं। प्रतिवर्ष इसका सालाना जलसा होता है, जिसमें देश के प्रतिनिधि अपना अगला कार्यक्रम बनाते हैं। इस पार्टी की ओर से पत्र-पत्रिकायें भी निकलती हैं जो अपने उद्देश्य का प्रचार करती हैं। 'भारत सेवक मण्डल' ( Servants of India Society ) नाम की संस्था इसी पार्टी की संस्था है, जिसकी नींव गोखले ने डाली थी। इसके सदस्य सेवा का व्रत लेकर लिबरल पार्टी का काम करते हैं।

भारत की सबसे बड़ी राजनैतिक पार्टी काँग्रेस है। इसका मुख्य उद्देश्य देश को आजाद करना रहा है। यह पार्टी इतनी सुसंगठित है कि देश का बच्चा बच्चा

इसके नाम से परिचित है। कोई गाँव ऐसा न होगा जिसमें इस पार्टी का संगठन न हो। हर जिले में इसका दफ्तर है, इसके बाद सूबों में और फिर सम्पूर्ण भारत के लिये इसका सब से बड़ा कार्यालय दिल्ली में स्थापित किया गया है। इस पार्टी का कोई सदस्य विदेशी वस्त्र इस्तेमाल नहीं कर सकता। पार्टी के हर सदस्य को हाथ से चर्खे पर सूत कातना आवश्यक है। जो व्यक्ति इसका सदस्य होना चाहता है उसे ।) प्रतिवर्ष शुल्क देने पड़ते हैं और अहिंसा तथा सत्य का व्रत लेना पड़ता है। प्रतिवर्ष इसका सालाना जलसा होता है जिसमें लाखों रुपये खर्च किये जाते हैं। इस पार्टी के अन्दर छोटी-मोटी और भी गिरोहें हैं, लेकिन ये सब एक ही उद्देश्य रखती हैं और अपने कामों से काँग्रेस को पूरा-पूरा सहयोग देती हैं। जिस प्रकार जर्मनी में नाजी पार्टी का सदस्य बनना एक गौरव समझा जाता था उसी तरह भारत में काँग्रेस का सदस्य काफी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इसका उद्देश्य देश को पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी बनाकर 'पंचायती राज्य' कायम करना है। यह पार्टी हथियार की लड़ाई से घृणा करती है। इसका सब से बड़ा हथियार प्रेम और सत्य है जिसके बल पर यह अपने देशवासियों को आकर्षित करती है। इस पार्टी का अनुशासन ( Discipline ) इतना कड़ा है कि कोई सदस्य इसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता के पश्चात् महात्मा गाँधी की मृत्यु तथा कुछ आन्तरिक कारणों से इस पार्टी की लोक-प्रियता कम हो रही है।

यह कहना अनुचित नहीं है कि काँग्रेस में नाना प्रकार की दुर्बलतायें उत्पन्न हो गई हैं। थोड़े से उच्च कोटि के नेताओं को छोड़कर सम्पूर्ण संगठन अपने उद्देश्य से विचलित हो गया है। काँग्रेस कार्यकर्ताओं में पद और अधिकार की भावना इतनी अधिक है कि आपस में संघर्ष और द्वेष पैदा हो गया है। सेवा और कष्ट-सहन की भावना का लोप होता जा रहा है। समाज में अपनी प्रतिष्ठा और अपने ऐश्वर्य की वृद्धि करना उनका प्रमुख ध्येय है।* गरीबी का व्रत लेकर देश की समस्याओं को हल करने की इच्छा उनमें नहीं पाई जाती। संगठन के नियमों में भी ढिलाई और उपेक्षा का भाव पाया जाता है। गत निर्वाचन में काँग्रेस को सफलता अवश्य मिली है, परन्तु इसके अनुशासन और कर्तव्यहीनता से प्रत्येक विचारवान व्यक्ति क्षुब्ध है। स्वयं काँग्रेसी नेतागण इस दल को सुसंगठित और

* विनोबा भावे का १४ दिसम्बर १९४८ ई० को गांधीनगर ( जयपुर ) में सर्वोदय प्रदर्शिनी के उद्घाटन में भाषण :—

"काँग्रेस मैन आज अपने पुराने बलिदानों की कीमत ले रहे हैं। अब उनमें त्याग करने की कोई भावना या प्रेरणा नहीं है। आज काँग्रेस में सत्य के लिये कोई स्थान नहीं है। आज उसमें अधिकार पाने के लिये संघर्ष और झगड़े ही दृष्टिगोचर होते हैं।"

शक्तिशाली बनाने पर विचार कर रहे हैं। इसी की सफलता पर इसका भविष्य निर्भर है।

भारत के राजनीतिक दलों में किसान मजदूर प्रजा पार्टी तथा समाजवादी पार्टी का स्थान कम नहीं है। ये दोनों पार्टियाँ काँग्रेस से ही उत्पन्न हुई हैं किन्तु इनका अस्तित्व स्वतन्त्र है। इनमें समाजवादी पार्टी प्राचीन है। इसका आरम्भिक नाम काँग्रेस समाजवादी पार्टी था, जिसका पहला अधिवेशन आचार्य नरेन्द्र देव के सभापतित्व में पटना में हुआ था। इसका उद्देश्य वही है जो काँग्रेस का है। थोड़े से मतभेद को छोड़कर वह काँग्रेस के बहुत कुछ निकट है। इसका विचार काँग्रेस से उग्र है। किसान और मजदूरों की उन्नति पर यह विशेष बल देता है। उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण और बिना मुआवजे के ज़मींदारी उन्मूलन इसका ध्येय है। इसकी प्रगति बहुत ही ठोस है। गत निर्वाचन ने यह सिद्ध कर दिया है कि काँग्रेस के बाद समाजवादी पार्टी का ही स्थान है। किसान मजदूर प्रजा पार्टी की लोकप्रियता आरम्भ में अधिक थी, परन्तु धीरे-धीरे इसका महत्व कम होता गया। इसका कारण यह है कि वह दल काँग्रेस की आलोचना के अतिरिक्त कोई ठोस कार्य नहीं करता था। गत निर्वाचन में इसे इतनी असफलता मिली कि इसका अस्तित्व हिल उठा है। इसीलिये समाजवादी पार्टी के साथ इसके मिलने की बात सुनाई पड़ रही है।

कम्यूनिस्ट पार्टी, हिन्दू महासभा, मुसलिम लीग तथा छोटे-छोटे और भी दो चार दल पाये जाते हैं। भारत विभाजन के पश्चात् मुसलिम लीग का अस्तित्व समाप्त हो गया। हिन्दू महासभा तथा कुछ और दल साम्प्रदायिक रूप में कार्य करते हैं इसीलिये राष्ट्रीय दृष्टि से ये लोकप्रिय नहीं हैं। कम्यूनिस्ट पार्टी एक उग्र तथा प्राचीन दल है। पिछले निर्वाचन में मदरास में इसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। तभी से इसकी चर्चा अधिक होने लगी है। इस दल के क्रान्तिकारी विचार लोकप्रिय नहीं है। भारतवासी तथा किसी भी देश के निवासी, जिनकी एक स्थायी सभ्यता है, स्वभावतः विकासवाद के पोषक है। उन्हें क्रान्तिकारी परिवर्तन रुचिकर नहीं हैं। कम्यूनिस्ट पार्टी को बहुत कुछ प्रेरणा रूस से मिलती है। इसके भविष्य के विषय में कुछ कहना बहुत ही कठिन है। यह दल आरम्भ से ही श्रम संस्थाओं पर अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करता रहा है। पूँजीपतियों के विरुद्ध मोर्चा बनाकर शोषित वर्ग का संगठन और उत्थान इसका प्रमुख कार्यक्रम है। इस दल के कार्यकर्ताओं में गुप्त रीति से षड्यन्त्र तथा अविश्रांत परिश्रम करना अधिक पाया जाता है। आर्थिक समानता का सिद्धान्त नवयुवकों को बहुत ही आकर्षित करता है।

———

# अध्याय १५

## राष्ट्रीयता

### ( Nationalism )

राष्ट्रीयता की परिभाषा—राष्ट्रीयता की उत्पत्ति—राष्ट्रीयता से लाभ—राष्ट्रीयता से हानि—राष्ट्रीयता के अंग—मनुष्य का स्वभाव—धर्म—जाति भौगोलिक परिस्थिति - भाषा—राजनैतिक एकता—इतिहास- निश्चित देश—सम्मिलित स्वार्थ—क्या राष्ट्रीयता धर्म है—राष्ट्रीयता की कसौटी—राष्ट्रीयता का विनाश—क्या भारत एक राष्ट्र है—राष्ट्रीयता का भविष्य।

**राष्ट्रीयता की परिभाषा**

नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता का समावेश यद्यपि नहीं होता। किन्तु समाज शास्त्र के नाते हम इसे अलग नहीं कर सकते। राष्ट्रीयता प्रत्येक नागरिक का धर्म है। इस दृष्टि से हमें इसका ज्ञान आवश्यक है। "राष्ट्रीयता" शब्द इतना व्यापक है कि इसकी परिभाषा करना कोई खेल नहीं है। प्रजातन्त्रवाद का पुजारी लार्ड ब्राइस स्वीकार करता है कि वह इसकी परिभाषा नहीं कर सकता। वह लिखता है, "हम इसे देख कर केवल पहचान सकते हैं।" हेज ( Hayes ), जिसने राष्ट्रीयता के ऊपर कई ग्रन्थ लिखे हैं, स्पष्ट करता है कि, "राष्ट्र शब्द काफ़ी कठिन है।" वह लिखता है कि राष्ट्रीयता शब्द का जन्म उन्नीसवीं सदी में हुआ है। 'मूर्त पदार्थों' की परिभाषा सरल होती है, क्योंकि उनका कोई रूप-रंग होता है, लेकिन जिसकी शकल का ही पता नहीं उसका वर्णन सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। कुछ राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रीयता की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है, लेकिन इनमें से एक भी पूर्ण नहीं है। ए० टैनबर ( A. Taynber ) लिखते हैं, "राष्ट्रीयता एक इच्छा है जो बहुत से लोगों को किसी राजनैतिक क्षेत्र में रहने के लिये बाध्य करती है।" डाक्टर हालैंड रोज लिखते हैं, "राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना है।" प्रोफेसर ए० ई० ज़िमरिन का कहना है, "राष्ट्रीयता न केवल आध्यात्मिक वरन् एक जिन्दा जवानी प्रश्न है।" अभी हाल के एक फ्रांसीसी विद्वान् का कथन है कि, "राष्ट्रीयता एक सामाजिक शक्ति है।" ब्राईजन नामक एक अंग्रेज लिखता है, "राष्ट्रीयता हम

विचारों का एक जंगल है जिनसे राजनीति और लेखन कला की वृद्धि होती है।" इसी तरह अनेक परिभाषायें राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में मिलती हैं। इनमें कुछ तो ऐसी हैं जिनका अर्थ ही समझ में नहीं आता। दो एक परिभाषायें इस तरह की हैं जिनसे इसका कुछ आभास होता है। प्रोफेसर जिमरिन ने लिखा है, "राष्ट्रीयता का सम्बन्ध एक निश्चित देश के साथ होता है और इसका आकार वहाँ की जनता के घनिष्ठ जीवन से बनता है।"

इस प्रकार की परिभाषाओं का कोई अन्त नहीं है। अब यह देखना चाहिये कि वास्तव में राष्ट्रीयता कौन सी वस्तु है। आमतौर से लोग समझते हैं कि राष्ट्र और देश में कोई अन्तर नहीं है। जो जिस देश में निवास करता है वह उसी राष्ट्र का व्यक्ति कहलाता है। जो अमेरिका में रहता है वह अमेरिकन राष्ट्र का है, जो फ्रांस में रहता है वह फ्रेंच राष्ट्र का। लेकिन आगे चलकर हम देखेंगे कि राष्ट्रीयता और देश में कोई अटूट सम्बन्ध नहीं है। संसार में कुछ ऐसे भी व्यक्ति देखने में आते हैं जो किसी देश से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखते और दुनिया में फैले हुए हैं, फिर भी वे एक राष्ट्र के कहे जाते हैं। वास्तव में राष्ट्रीयता एक भावना जो एक देश को दूसरे से अलग करती है। इसे ना है और कुछ हानियाँ भी, जिनका वर्णन इसी अध्याय में उचित स्थान पर किया जायगा। कुछ ऐसे भी देश हैं जो राष्ट्र कहलाने के योग्य नहीं हैं। राष्ट्रीयता एक आदमी के वश की चीज नहीं है जो किसी देश में पैदा करे। यह आम जनता का एक सम्मिलित गुण है। बीसवीं सदी में हर देश का यह हौसला है कि वह जैसे हो अपने को राष्ट्र बनावे। जो देश इसमें पीछे हैं, और किसी कारणवश राष्ट्र बनने में असमर्थ हैं, वे आज या तो परतन्त्र हैं या अपने पड़ोसी राष्ट्रों की आँखों की किरकिरी बने हुए हैं।

**राष्ट्रीयता की उत्पत्ति**

राष्ट्रीयता की उत्पत्ति योरप में उन्नीसवीं सदी में हुई है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद दुनिया में स्वतन्त्रता की लहर पैदा हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों के विचारों में अन्तर पड़ने लगा। फिर औद्योगिक क्रान्ति हुई। इससे योरप में मशीनों का जन्म हुआ। हाथ के कारोबार का महत्व कम होने लगा और उसका स्थान मशीनों ने ग्रहण किया। पहले हर देश अपने आपको वहीं तक दृढ़ समझता था जहाँ तक उसके अन्दर शारीरिक शक्ति थी। जो देश जितना ही अधिक आबाद था वह उतना ही दृढ़ समझा जाता था। लेकिन मशीनों ने इसे बदल दिया। जिसके पास जितनी अधिक मशीनें थीं और जो जितना ही अधिक माल तैयार करके विदेशों में भेजता था वह उतना ही शक्तिशाली समझा जाता था। प्रत्येक देश की यह इच्छा हुई कि वह अपने देश के माल से दुनिया के बाजारों को अधिक-से-अधिक पाट दे। यह मुकाबिला इतना जोर पकड़ता गया कि हर एक देश अपने पड़ोसी तक को

अपना शत्रु समझने लगा। इसी होड़ का नाम राष्ट्रीयता है। बीसवीं सदी की राष्ट्रीयता इसी आपस के गलाकाट मुकाबिले का परिणाम है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वर्तमान राष्ट्रीयता वह पागलपन है जो अपने देश के लिये सब कुछ करा सकता है। बड़े बड़े देश इसीलिये लड़ रहे हैं कि संसार में वे सर्वप्रधान राष्ट्र बन जायँ। राष्ट्रीयता यहीं पर रुक नहीं गई। जब शक्ति का मुकाबिला बढ़ने लगा तो बड़े-बड़े देशों को यह चिन्ता हुई कि कहीं अमुक देश का बाजार औरों के हाथ न चला जाय। इसलिये उन्हें एक साम्राज्य बनाने की इच्छा हुई। इसी प्रकार शक्ति का भूत बढ़ता गया। इसके साथ ही बड़े-बड़े साम्राज्यों की उत्पत्ति हुई। अभी जो विश्वव्यापी युद्ध समाप्त हुआ है उसकी जड़ में साम्राज्य पिपासा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साम्राज्य भी इसीलिये चाहिये कि अधिक-से-अधिक बाजार उनके हाथों में रह सकें। इसलिये राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के साथ वैमनस्य की उत्पत्ति हुई, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज योरप में दिखलाई पड़ रहा है। योरप एक बारूद की खान है जिसमें थोड़ी सी चिनगारी लगते ही आग भभक उठती है। वर्तमान काल में राष्ट्रीयता ने अन्तर्राष्ट्रीयता का रूप धारण कर लिया है। दूसरे में वे सारी बुराइयाँ मौजूद हैं जो पहले में हैं। सिद्धान्त में राष्ट्रीयता अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता अच्छी चीजें हैं, लेकिन इसका वर्तमान रूप विकृत है। प्रत्येक देश के अन्दर स्वार्थ और शक्ति की भावना इस कदर जाग्रत है कि लोग सच्ची राष्ट्रीयता को भूल गये हैं।

**राष्ट्रीयता से लाभ**

राष्ट्रीयता कोई बुरी चीज नहीं है। इससे स्वदेश-प्रेम का भाव प्रकट होता है। जब कोई व्यक्ति अपने को किसी राष्ट्र का अंग मानता है तो उसके अन्दर एक शक्ति मालूम पड़ती है जो व्यक्तिगत बल से कहीं अधिक होती है। इससे उसके दिल में एक प्रकार का गौरव होता है। यह बात निर्विवाद है कि बलशाली देश का निवासी अपने आपको बड़ा समझता है। उसे अपने देश पर गर्व होता है। राष्ट्रीयता एक प्रकार की एकता है। केवल राजनैतिक एकता से यह उत्पन्न नहीं होती, बल्कि कई चीजों में एकता की आवश्यकता पड़ती है। धर्म, भौगोलिक परिस्थिति, भाषा, रहनसहन, विचार इन सब की एकता की आवश्यकता है। जो देश अपने को राष्ट्र कहने का दावा करते हैं उन्हें बहुत ही संगठित और सम्पन्न होने की आवश्यकता है। कई बातों के एक होते हुए भी हम दो देशों को एक मंच पर नहीं ला सकते, लेकिन राष्ट्रीयता एक ऐसी चीज है जो न केवल दो व्यक्तियों को बल्कि दो राष्ट्रों को एक में मिला सकती है। इसी से देश की संस्कृति की रक्षा होती है। किसी देश का साहित्य राष्ट्रीयता से पूर्ण रहता है। देश का इतिहास उसकी राष्ट्रीयता को बताता है। सामाजिक संगठन में जो स्थान जाति का है वही संसार में राष्ट्रीयता का है। यह ठीक है कि वर्तमान राष्ट्रीयता अफीम है, लेकिन इसका असली सिद्धान्त बुरा नहीं है। यदि आज संसार

के विभिन्न देश अपनी राष्ट्रीयता खो बैठें तो न कोई संस्कृति जीवित रह सकती है और न सभ्यता। एक राष्ट्र के रहने वाले व्यक्ति अपने को भाई-भाई समझते हैं, और किसी दूसरे राष्ट्र के मुकाबले में एक स्वर से तैयार रहते हैं। जिस देश में राष्ट्रीयता की लहर है वहाँ के निवासियों में नया जीवन दिखलाई पड़ता है। जिन्हें अपने राष्ट्र को ऊँचा बनाने का थोड़ा भी अभिमान है वे जी-जान से अपनी आन्तरिक कमजोरियों को मिटाने की कोशिश करते हैं। जैसे धर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है उसी तरह राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म है। इससे देश की आन्तरिक बुराइयाँ दूर की जा सकती हैं। इसी भावना ने आज बड़े-बड़े साम्राज्यों को जन्म दिया है। इसी का परिणाम है जो मुट्ठी भर इंगलैंड के निवासियों ने पचास करोड़ व्यक्तियों पर शासन किया। इसी के प्रताप ने जापान को एशिया में सर्वप्रधान बनाया। इसी की कमी से बहुत दिनों तक भारत गुलाम रहा है। इसी के नाम पर देश की अच्छी कीर्तियाँ विश्व के सामने आती हैं।

**राष्ट्रीयता से हानि** राष्ट्रीयता से कुछ ऐसी हानियाँ हैं जो स्वाभाविक हैं। उन्हें कोई मिटा नहीं सकता। एक व्यक्ति दूसरे को इसलिये भी भिन्न समझता है कि वह किसी और राष्ट्र का निवासी है। जिस देश में राष्ट्रीयता की भावना अधिक बढ़ जाती है वह न केवल अपनी उन्नति चाहता है, बल्कि अन्य राष्ट्रों को कुचलना उसका एक उद्देश्य होता है। आजकल जितने बड़े राष्ट्र हैं वे अपनी आमदनी का सबसे ज्यादा हिस्सा अस्त्र-शस्त्र बनाने में खर्च करते हैं। इसलिये नहीं कि उससे संसार की रक्षा होगी, बल्कि इसलिये कि दूसरे राष्ट्र उससे आगे न बढ़ सकें। बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ जो उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में हुई हैं उन सबकी जड़ में राष्ट्रीयता की भावना थी। राष्ट्रीयता के अन्दर अपनी उन्नति की भावना के साथ दूसरे राष्ट्रों को दबाने का भाव छिपा रहता है। इसी के आवेश में आकर एक देश दूसरे की अच्छी-से-अच्छी बातों को बुरा ठहराता है। अपने राष्ट्र के विस्तार के लिये न्याय तक को उठाकर ताक पर रख दिया जाता है; सन्धियों की कोई परवाह नहीं की जाती और लड़ाई के नये-नये बहाने खोज निकाले जाते हैं। इसीलिये श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं कि "राष्ट्रीयता राष्ट्र के लिये सबसे घातक है।"* वर्तमान राष्ट्रीयता तलवार की शक्ति पर कायम है। कोई व्यक्ति अपने देश की सेवा और त्याग की परवाह नहीं करता, बल्कि उसकी सैनिक शक्ति पर गर्व करता है। आज योरप के छोटे और बड़े देशों में जो कशमकश चल रही है उसका कारण यह भी है कि एक की राष्ट्रीयता नष्ट हो जाय। राष्ट्रीयता आज लड़ाई का एक बहाना है। संसार में सभी व्यक्ति भाई-भाई हैं और ऊपरी फरक

---

* Nationalism is the greatest evil for the Nation.

केवल प्राकृतिक अन्तर के कारण है—इस प्रकार का विश्वबन्धुत्व तब तक स्थापित नहीं हो सकता जब तक इस गन्दी भावना का सर्वनाश न होगा। राष्ट्रीयता संगठन की एक संकुचित भावना है। जिस प्रकार किसी गाँव में केवल एक घर की उन्नति से गाँव भर की उन्नति नहीं हो सकती, उसी प्रकार संसार की उन्नति तब तक सम्भव नहीं है जब तक हर एक देश ऊँचा न उठ जाय। केवल थोड़े से राष्ट्र औरों को दबाकर विश्व का कल्याण नहीं कर सकते।

**राष्ट्रीयता के अंग**

राष्ट्रीयता कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो एक व्यक्ति कुछ वर्षों में पैदा करता है। वह एक भावना है जो सदियों में बनती है। कुछ ऐसी बातें हैं जिनके बिना इसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। उन्हीं बातों को राष्ट्रीयता का अंग कहते हैं। जैसे शरीर के अंग होते हैं उसी प्रकार राष्ट्रीयता के भी। इनमें से एक की भी अनुपस्थिति में सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं हो सकता। इन अंगों के अतिरिक्त कुछ और भी बातें हैं जो इसकी उन्नति में सहायक होती हैं। जब एक बार किसी देश में यह दृढ़ रूप से स्थापित हो जाती है तो उसका ह्रास जल्दी नहीं होता। अच्छा होगा कि इन अंगों का अलग-अलग वर्णन किया जाय, तभी हमें इसका ठीक अर्थ समझ में आ सकता है। वे अंग निम्नलिखित हैं :—मनुष्य का स्वभाव, धर्म, जाति, भौगोलिक परिस्थिति, भाषा, रस्म-रिवाज, राजनैतिक एकता, एक निश्चित देश, ऐतिहासिक एकता इत्यादि।

**मनुष्य का स्वभाव**

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेले रहना पसन्द नहीं करता। उसका यह स्वभाव है कि अधिक-से-अधिक आदमियों से परिचय प्राप्त करे। वह अपने तुल्य औरों को भी बनाने की चेष्टा करता है। वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान, इन सब में वह औरों की नकल करता है, साथ ही दूसरों पर प्रभाव डालता है। विचारों में उसे एकता की प्रबल इच्छा होती है। वह उसी को अपना मित्र बनाता है जो उसके विचारों के अनुकूल होता है। राष्ट्रीयता इन्हीं गुणों का वृहत् रूप है। मनुष्य के स्वभाव का ही फल है जो सभी देशों में एकता दिखलाई पड़ती है। अपने पूर्वजों की बहुत-सी बातें वह ग्रहण करता है। रस्म-रिवाज कितने ही पुराने क्यों न हो जायँ, वे उसके स्वाभाविक अंग बन जाते हैं। इसी से एक छोटा सा गिरोह बनता है और जब यह गिरोह देशव्यापी हो जाता है तो उसी से राष्ट्र की उत्पत्ति होती है। एक देश का निवासी अपने को विदेशियों से भिन्न परन्तु अपने देशवासियों को मित्र समझता है। देश की सभी वस्तुओं में उसे अपनापन दिखाई पड़ता है। राष्ट्रीयता में अपनापन की भावना ओत-प्रोत है। इसके अतिरिक्त मनुष्य का यह भी स्वभाव है कि वह दूसरों से थोड़ा-बहुत सहायता ले और स्वयं औरों की सहायता करे। मनुष्य उसे कहते हैं, जिसके

अन्दर त्याग, सहानुभूति का भाव, सदाचार और परोपकार हो। जिसमें यह मानुषिक गुण नहीं उसे मनुष्य कहना या मनुष्य समझना मेरे विचार में एक धोखा है। इसलिये उसे अपना नाम बदल देना चाहिये ताकि कोई दूसरा मनुष्य धोखा न खा जाय। केवल आर्थिक सहायता नहीं, बल्कि वह किसी भी प्रकार की सहायता हो सकती है। मनुष्य का यह स्वभाव राष्ट्रीयता के निर्माण में सहायक होता है।

धर्म

राष्ट्रीयता के निर्माण में धर्म सहायक और बाधक दोनों हैं। एक ही विश्वास के बहुत-से मनुष्य होते हैं। उनमें धर्म के आधार पर एकता होती है। इसी से उन्हें एक साथ मिलने-जुलने का अवसर मिलता है। सबमें भाई का-सा बर्ताव होता है। भारतीय इतिहास का पन्ना पन्ना इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रीयता में धर्म सबसे अधिक सहायक होता है। जब भारत पर मुसलमानों के हमले हुए तो हिन्दुओं ने अपने धर्म की रक्षा के लिये उनका मुकाबिला किया। धर्म की रक्षा ने राष्ट्र की रक्षा का स्वरूप धारण किया। यहूदी जाति आज भी इस बात का प्रमाण है कि धर्म का राष्ट्रीयता में कितना गहरा हाथ होता है। उसके पास न कोई देश है और न उसकी दुनिया में कोई हस्ती है। जर्मनी से वे दूध की मक्खी की तरह निकाल दिये गये। कोई ऐसा मुल्क नहीं जहाँ उन्हें रहने तक की आज्ञा हो। इससे उस कौम को आज तक नष्ट-भ्रष्ट हो जाना चाहिये। वे जिस देश में रहते, उसी के निवासी बन जाते। लेकिन धर्म की छाप उन पर इतनी अटल है कि उनकी राष्ट्रीयता अभी तक जीवित है। किसी भी देश में रहता हुआ यहूदी अपने तरीके पर रहता है और अपने धर्म पर चलता है। इटली में रहने वाला यहूदी जर्मनी के रहने वाले यहूदी को अपना भाई समझता है।

धर्म राष्ट्रीयता में बाधक भी है। मध्यकालीन योरप में सैकड़ों वर्षों तक राजा और पोप में युद्ध चलता रहा। एक ही देश में दो धर्म के अनुयायी एक दूसरे को अपना शत्रु समझते हैं। इंगलैंड के इतिहास में कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट का युद्ध धर्म के नाम पर चलता रहा। इससे उस देश की राष्ट्रीयता में रुकावट हुई। वह तभी एक सुसंगठित राष्ट्र बन सका जब धार्मिक झगड़े दूर हो गये। भारत अब तक अपने को राष्ट्र कहलाने का पूर्ण अधिकारी नहीं था। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिख आदि अपने को अलग समझते थे। वे भारत को अपना घर वहीं तक मानते थे जहाँ तक उनके धर्म की रक्षा होती थी। यह सभी जानते हैं कि धार्मिक भेदभाव के कारण हमारा देश राष्ट्रीयता में पीछे है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इनमें धर्म के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है। पैलेस्टाइन में अरबों और यहूदियों की जो लड़ाई है उसका एक कारण धर्म भी है। कुछ और भी कारण हैं लेकिन धर्म का स्थान कम नहीं है। हर देश में विदेशी जातियाँ अधिक संख्या में रह रही हैं। लेकिन वहाँ के मूल निवासियों से उन्हें छोटा समझा जाता है। विदेशियों

को वे अधिकार प्राप्त नहीं होते जो नागरिकों को। इनकी जड़ में धर्म भी एक कारण होता है। जहाँ धर्म भाई चारे की वृद्धि करके राष्ट्रीयता में सहायक होता है वहाँ उससे बाधा भी पड़ती है।

**जाति**

जाति और धर्म में गहरा सम्बन्ध है। एक जाति के लोग आपस में कई प्रकार का संगठन रखते हैं। उनके रस्म-रिवाज एक से होते हैं। उनकी सामाजिक व्यवस्था में समानता होती है। जिस देश में एक जाति के लोग रहते हैं वहाँ राष्ट्रीयता अधिक होती है। वे अपनी जाति के नाते एक दूसरे को मित्र समझते हैं। जब तक भारत में आर्य जाति निवास करती थी और दूसरी जातियाँ नहीं आई थीं, तब तक यह देश एक राष्ट्र था। लेकिन मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि के आने पर यहाँ विभिन्न जातियाँ हुईं। परिणाम यह हुआ कि इसकी राष्ट्रीयता जाती रही। जब तक जाति का प्रश्न गौण रहता है तब तक राष्ट्रीयता में बाधा नहीं पड़ती। मुसलमानी ज़माने में हिन्दुस्तान एक सुसंगठित राष्ट्र था। हिन्दू मुसलमान अपने आपको इस देश के निवासी समझते थे। मुसलमानों ने हिन्दुस्तान को अपना घर मान लिया। लेकिन जब जातीय प्रश्न उठा और उनमें साम्प्रदायिकता के भाव आने लगे, तो इस देश की राष्ट्रीयता जाती रही। यदि बहुत-सी जातियाँ किसी देश में निवास करें और देश-भक्ति के सामने और प्रश्नों को तरह देती रहें तो राष्ट्रीयता में बाधा नहीं पड़ सकती। दुनिया में कितने ही ऐसे देश हैं जिनमें कई जातियाँ निवास करती हैं, फिर भी उनकी राष्ट्रीयता नष्ट नहीं हुई है। स्विटज़रलैंड में तीन जातियाँ रहती हैं। स्वयं ब्रिटेन में दो जातियों के लोग निवास करते हैं। इतने पर भी इन देशों की राष्ट्रीयता बनी हुई है।

**भौगोलिक परिस्थिति**

राष्ट्रीयता के निर्माण में प्रकृति भी सहायता देती है। नदी, पहाड़, जंगल, रेगिस्तान, समुद्र इनसे राष्ट्रीयता में सहायता और बाधा दोनों पड़ती है। यदि एक जाति अथवा एक राजनैतिक सूत्र में बँधे हुए कितनी ही जातियों के लोग दूर-दूर फैले हुए हों तो नदी और समुद्र के आवागमन से वे एक समझे जाते हैं। इसके विपरीत यदि बहुत-सी जातियाँ चारों ओर से किसी पहाड़ अथवा घने जंगल से घिरी हुई हों तो उन्हें विवश होकर, एक सुसंगठित राष्ट्र बनाना पड़ता है। भारत को ही ले लीजिये। उत्तर में गगनचुम्बी हिमालय पर्वत और तीन ओर अगाध समुद्र है। यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति राष्ट्रीयता के बहुत ही अनुकूल है। यह देश लोहे के सन्दूक की तरह सुरक्षित है। बीच में विन्ध्याचल पर्वत के कारण उत्तरी और दक्षिणी भारत के टुकड़े हो जाते हैं। हिन्दू काल में इन दोनों हिस्सों का दो इतिहास माना जाता था। आर्यावर्त केवल उत्तरी भारत को कहते थे। इसके निवासी अधिक सभ्य

और पवित्र माने जाते थे। दक्षिणी भारत उतना सभ्य नहीं समझा जाता था। लेकिन वर्तमान काल में इस प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाता। दक्षिणी भारत आज भी भारतीय संस्कृति की भूमि है। यह प्राकृतिक-सौन्दर्य का एक गढ़ है। इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राकृतिक वस्तुएँ राष्ट्रीयता में रुकावट होती हैं।

योरप में स्पेन और पुर्तगाल पास-ही-पास बसे हुए हैं। उनकी भाषा भी एक है। लगभग ६० वर्ष तक दोनों एक ही शासन के अन्तर्गत रहे हैं। दोनों देशों के निवासियों का धर्म भी एक हैं। फिर भी इनकी राष्ट्रीयता अलग-अलग है। इसका मुख्य कारण भौगोलिक परिस्थिति है। प्राकृतिक रुकावट के कारण उनकी राष्ट्रीयता एक नहीं हो पाती। यह एक कहावत सी है कि स्पेन और पुर्तगाल अपनी-अपनी पीठ फेरे हुए हैं। ठीक यही दशा नार्वे और स्वीडन की है। फिनलैंड और रूस की भी यही दशा है। झीलों और जंगलों का जाल उन्हें अलग किये हुए है। इससे स्पष्ट है कि भौगोलिक परिस्थिति राष्ट्रीयता में बाधक होती है। इसकी वजह यह है कि जब कोई देश किसी प्राकृतिक दीवार से बँट जाता है तो वहाँ के निवासियों में सहवास नहीं हो पाता। इससे उनकी संस्कृति, रहन-सहन तथा इतिहास भिन्न हो जाते हैं। ऐसी दशा में उनकी राष्ट्रीयता एक नहीं रह सकती। जिस भूमि में हम निवास करते हैं, जहाँ का अन्न खाते हैं और वायु तथा जल पीते हैं उसका प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है। उसी से हमारा जीवन बनता है। एक प्रकार की जलवायु में रहने के कारण हमारी आवश्यकतायें समान हो जाती हैं। जब हमारे स्वार्थ और साधन में कोई भेद नहीं रह जाता तो यह स्वाभाविक है कि कौटुम्बिक जनों के समान हम अपने देशवासियों को अपने समाज का एक अंग समझें। जब देशवासियों का हित एक हो जाता है तो उनमें राष्ट्रीयता की वृद्धि होती है।

**भाषा**

भाषा और जाति साथ-साथ चलते हैं। 'आर्य' शब्द से आर्य भाषा और आर्य जाति दोनों का बोध होता है। जब हम किसी को फारसी कहते हैं तो इसके कई अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि वह फारस का रहने वाला है। दूसरा यह कि उसकी जबान फारसी है; अरबी और हिन्दी नहीं। भाषा से जातियों का विभेद होता है। एक जाति के लोग प्रायः एक ही भाषा बोलते हैं। अमेरिका और इंगलैंड के निवासी अंग्रेज हैं। दो देशों में रहते हुए भी उनकी भाषा एक है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि एक भाषा के कारण राष्ट्रीयता भी एक होगी। अमेरिका और इंगलैंड इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। दोनों देशों में एक ही जाति निवास करती है। उनकी भाषा भी एक है। फिर भी दोनों दो राष्ट्र हैं। दोनों की सरकार भिन्न-भिन्न है। राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रीयता के लिए भाषा की एकता पर सबसे अधिक जोर दिया है। उनका कहना

है कि जिस देश की भाषा एक नहीं है वह राष्ट्र नहीं बन सकता। प्रान्तीय भाषायें अलग-अलग हों, लेकिन उसकी कोई राष्ट्रभाषा अवश्य होनी चाहिये। भाषा से विचारों में आदान-प्रदान होता है। किसी देश के सभी निवासी एक दूसरे को तब तक नहीं समझ सकते जब तक उनकी भाषा एक न हो। भारत इसका जीता-जागता उदाहरण है। इस देश में अनेक भाषायें बोली जाती हैं।

भारत के विभिन्न प्रदेशों में बोली जाने वाली अनेक भाषाओं में हिंदी ही ऐसी भाषा थी जो सबसे अधिक क्षेत्र में समझी जा सकती थी। हिंदी ही राष्ट्रभाषा निर्धारित की गई है। जिन प्रदेशों में हिन्दी का चलन नहीं है वहाँ भी उसकी शिक्षा और प्रचार की व्यवस्था हो रही है। भाषा की एकता राष्ट्र निर्माण के लिये बहुत आवश्यक है।

हम विचार करें तो पता चलेगा कि राष्ट्रीयता भाषा पर निर्भर करती है। हर देश की अपनी राष्ट्रभाषा है। वहाँ के लोग उस पर गर्व करते हैं। एक देश का निवासी कोई विदेशी भाषा तब तक नहीं सीखता जब तक वह अपनी मातृभाषा में कुशल न हो जाय। उसे यह भय रहता है कि मातृभाषा के कमजोर होने से उसकी राष्ट्रीयता नष्ट हो जायगी। भाषा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम किसी व्यक्ति पर अपना संस्कार डालते हैं। अपने अन्तःकरण की भावना मातृभाषा में ही स्पष्ट की जा सकती है। देश में साहित्य की उन्नति मातृभाषा से होती है। जर्मन विद्वान् फिक्टे ( Fichte ) लिखता है, राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक वस्तु है और इसका सम्बन्ध भाषा से है। यदि भारत की राष्ट्रीयता थोड़ी बहुत कायम है तो इसकी वजह यह है कि सभी प्रादेशिक भाषाओं में संस्कृत की पुट है।

**राजनैतिक एकता**

राजनैतिक एकता राष्ट्रीयता का आवश्यक अंग है। इसके बिना सभी साधन व्यर्थ हैं। इसकी अनुपस्थिति में कभी-कभार राष्ट्रीयता जीवित नहीं रह सकती। एक राष्ट्र के लिये यह आवश्यक है कि उसकी एक ही सरकार हो। यदि किसी देश में दो सरकार कायम हो जायँ तो दोनों की राष्ट्रीयता एक नहीं रह सकती। जब तक कोई देश बिखरा हुआ है और सभी प्रान्त व रियासतें किसी केन्द्रीय सत्ता को नहीं मानतीं तब तक उस देश में राष्ट्रीयता का जन्म नहीं हो सकता। एक कहावत है कि "एक राष्ट्रीयता एक ही राज्य के अन्दर रह सकती है।" राजनैतिक एकता से देश के सभी व्यक्ति एकसूत्र में बँधे होते हैं। उनका व्यक्तिगत हानि लाभ देश की हानि और लाभ से जुट जाता है। देश की रक्षा और उन्नति का भार सब पर समान पड़ता है। उनके झगड़े एक ही न्यायालय में एक कानून द्वारा निपटाये जाते हैं। उनके राजनैतिक अधिकार और कर्त्तव्य एक हो जाते हैं। सरकार सबको एक दृष्टि से देखती

है। राजनैतिक एकता से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक शान्ति रहती है। यदि किसी देश के आधे हिस्से में शान्ति हो और शेष भाग लूट-मार के घर हों, तो वह देश राष्ट्र बनने का दावा नहीं कर सकता। भारत की राष्ट्रीयता अकबर से औरंगजेब तक अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। लेकिन औरंगजेब की मृत्यु के बाद राजनैतिक एकता छिन्न-भिन्न होने के कारण सूबों के नवाब मनमानी करने लगे। बहुत समय तक यह देश लड़ाई-झगड़े का घर बना रहा। जब शान्ति स्थापित हुई और केन्द्रीय शासन दृढ़ हो गया तो फिर राष्ट्रीयता के भाव जाग्रत हुए। थोड़ी बहुत राष्ट्रीयता जो इस देश में दिखाई पड़ती है वह इसी राजनैतिक एकता का परिणाम है। जिस देश के निवासी मिलजुल कर अपना काम करना नहीं जानते और निश्चित शासन स्वीकार नहीं कर सकते, वे अपने देश को एक राष्ट्र में परिणत नहीं कर सकते। एक शासन-पद्धति से विचारों में एकता उत्पन्न होती है।

जब बहुत से लोग एकत्र होते हैं तो स्वाभाविक है कि उनके विचारों में अन्तर हो। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र विचार रखता है। उसकी इच्छा होती है कि वह औरों को अपने विचार में ढाले। ऐसी दशा में वैर-विरोध होने की शंका अधिक रहती है। जहाँ कहीं सभा-समाज हुआ और बहुत-से लोग अपनी-अपनी राय देने के लिए एकत्र हुये तो उनके विचारों में अन्तर पड़ेगा। सभी लोग अपनी राय को ऊँचा समझते हैं। अपना कुत्ता औरों के शेर से प्यारा होता है। पार्टीबन्दी में अच्छी-से-अच्छी बातों को ठुकरा कर लोग अपनी बातों को ठहराते हैं। यह भेदभाव कभी-कभी भयंकर रूप धारण कर लेता है और न केवल एकता में बल्कि शान्ति में भी बाधा पड़ने की आशंका होती है। ऐसी दशा में सरकार का कर्त्तव्य है कि वह इन गन्दी बातों को दबाये ताकि व्यर्थ का मनोमालिन्य बढ़ने न पाये। सरकार को व्यक्ति के लाभ की उतनी चिन्ता नहीं होती जितनी देश की उन्नति की। सरकारी व्यवस्था जहाँ ढीली हुई कि लोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये समाज की परवाह नहीं करते। राजसत्ता छोटी-छोटी बातों को दबाकर शान्ति स्थापित करने के अतिरिक्त लोगों का ध्यान बड़ी बड़ी बातों की ओर आकर्षित करती है। इसी के प्रताप से लोग अपने आपको सुरक्षित समझते हैं। तभी उनका ध्यान एकता के बड़े-बड़े पहलुओं की ओर जाता है। राष्ट्रीयता इन्हीं एकताओं के लिये यौगिक शब्द है।

**इतिहास**

इतिहास को लोग मरे हुए आदमियों की कहानी बतलाते हैं। कुछ लोग इसे घटनाओं का चक्र कहते हैं। लेकिन यह व्याख्या गलत और हानिकारक है। जो देश अपना इतिहास नहीं रखता वह असभ्य और जंगली है। यही एक ऐसा विषय है जो हमारे भूतकाल का सच्चा चित्र खींचकर हमारे सामने रखता है। इसी के सहारे हम अपना वर्तमान कार्यक्रम

निश्चित करते हैं। हमारा भविष्य हमारे पिछले इतिहास पर निर्भर है। इतिहास की जड़ इतनी दृढ़ होती है और इसका सम्बन्ध अपने देशवासियों से इतना घनिष्ट होता है कि न तो इसे कोई हिला सकता है और न तोड़ सकता है। प्रत्येक राष्ट्र का एक इतिहास है जिससे उसके पूर्वजों की उज्ज्वल कीर्ति स्वर्णाक्षरों में अंकित रहती है। इतिहास किसी जाति विशेष की एकता का सही-सही कारनामा है। हजारों आदमी भिन्न-भिन्न देशों से आकर किसी मैदान में बस जायँ तो वे एक राष्ट्र नहीं बना सकते। न तो उनकी रहन-सहन एक हो सकती है और न वे अपने आपको भाई-भाई समझ सकते हैं। उनका इतिहास अलग अलग होने से वे एक दूसरे को विदेशी समझेंगे। इतिहास कोई ऐसी चीज नहीं है जो वर्ष दो वर्ष में बनता है। इसके लिये सदियों की आवश्यकता है। जब हजारों वर्ष तक किसी देश के निवासी एक साथ रहते हैं तब उनका एक इतिहास बनता है और फिर उनमें अनेक एकतायें पैदा होती हैं। अधिक काल तक एक साथ निवास करने से भाई चारे का बर्ताव होता है जिससे उनकी उन्नति-अवनति एक दूसरे पर प्रकट होती है। किसी देश का इतिहास यह प्रकट करता है कि उसमें आरम्भ से अब तक कितने महापुरुष पैदा हुए और किस सीमा तक उन्होंने देश को आगे बढ़ाया। वह यह भी बतलाता है कि देश पर कितनी विपत्तियाँ आईं और उनका क्या प्रतिकार किया गया। इस प्रकार हर देश का इतिहास सेवा और त्याग से ओतप्रोत रहता है। जिसमें इनकी कमी है वह एक ऊँचा राष्ट्र कहलाने का अधिकारी नहीं है। इन कारनामों से न केवल भूतकाल की एकता का ज्ञान होता है, बल्कि वर्तमान परिस्थिति को समझने में सुविधा होती है। वह देश अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिये व्याकुल होता है। उसे फिर वहीं पहुँचने की अभिलाषा होती है जहाँ उसका देश अपने स्वर्ण युग में पहुँचा रहता है। यही अभिलाषा राष्ट्रीयता कहलाती है। भूतकाल का दिग्दर्शन वर्तमान में कैसे करें यह शिक्षा हमें इतिहास से मिलती है। उत्थान की भावना राष्ट्रीयता की द्योतक है।

**निश्चित देश**

राष्ट्रीयता के लिये एक निश्चित स्थान की आवश्यकता है। यह किसी देश का नहीं बल्कि वहाँ के निवासियों का गुण है। इसलिये यह आवश्यक है कि कुछ लोग अधिक काल तक एक ही स्थान पर निवास करें। जंगली जातियाँ इधर-से उधर घूमती रहती हैं। उनका न कोई घर है और न देश। परिणाम यह होता है कि अधिक संख्या में रहने पर भी वे एक राष्ट्र नहीं बना सकते। अधिक काल तक एक जगह रहने से उनका एक इतिहास होता है। रस्म रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा इन सब में एकता उत्पन्न होती है। एक की भलाई-बुराई का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। सबका सुख-दुःख एकसा होता है। वहाँ का प्राकृतिक वायुमंडल सबको एक ढाँचे में ढालता है। सबके ऊपर एक ही संस्कार पड़ता है। इससे उनकी संस्कृति भी एक होती है। इन सब एकताओं से

राष्ट्रीयता की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी एकता का भाव इस सीमा तक पहुँच जाता है कि देश की हस्ती भले ही मिट जाये लेकिन वहाँ के निवासियों की राष्ट्रीयता बनी रहती है। उनकी राजनैतिक एकता टुकड़े-टुकड़े हो जाय, वहाँ के निवासी विदेशों में उठाकर फेंक दिये जायँ, उन्हें लोग तुच्छ और दुर्बल समझने लगें, फिर भी उनकी राष्ट्रीयता नष्ट नहीं होती। यहूदी जाति इसका एक उदाहरण है। न तो इसके पास अपना देश है और न इसका कोई राजनैतिक संगठन है, फिर भी इसकी राष्ट्रीयता जीवित है। इनके ऊपर काफी तकलीफें आईं और यदि वे चाहते तो अपने को किसी दूसरी राष्ट्रीयता में बदल लिये होते लेकिन पिछला संस्कार इस दृढ़ता से इन्हें पकड़े हुए है कि इनकी एकता अब तक नष्ट नहीं हुई। इस उदाहरण से यही नतीजा निकलता है कि राष्ट्रीयता के लिये एक निश्चित देश का होना कोई आवश्यक नहीं है। लेकिन यहूदियों का यह उदाहरण केवल अपवाद है। इसे हम कोई नियम नहीं मान सकते। एक निश्चित देश के बिना जैसे राज्य की उत्पत्ति नहीं होती उसी तरह राष्ट्रीयता भी इसके बिना पैदा नहीं हो सकती। एक निश्चित स्थान पर बहुत से लोगों में पहले सामाजिक संगठन उत्पन्न होता है फिर राजनैतिक एकता होती है और तब उसमें राष्ट्रीयता का जन्म होता है।

**सम्मिलित स्वार्थ**

सम्मिलित स्वार्थ राष्ट्रीयता की उत्पत्ति में और विशेषकर इसे आगे बढ़ाने में सहायक होता है। किसी देश के अधिकतर लोग आपस में आर्थिक लाभ की दृष्टि से मिले-जुले रहते हैं। लेकिन इसके अतिरिक्त उनके और भी स्वार्थ हो सकते हैं। ये लाभ उन्हें इतने अमूल्य और आवश्यक मालूम पड़ते हैं कि वे इन्हें बनाये रखने के लिये देश की बड़ी-से-बड़ी विरोधी शक्ति का मुकाबला करने को तैयार रहते हैं। इसी सम्मिलित स्वार्थ के लिये देश के सारे व्यक्ति अपने आपको एक समझते हैं। इसी के लिये वे सरकार की आज्ञा का पालन करते हैं और हर प्रकार से शान्ति बनाये रखने में उसकी सहायता करते हैं। साधारण लोग अपने आपको एकसूत्र में बाँधते सन्देह करते हैं कि उन्हें एक दूसरे से लाभ पहुँचता है या नहीं। इसमें कोई शक नहीं कि राष्ट्रीयता के अन्दर सम्मिलित स्वार्थ का एक बहुत बड़ा अंश होता है। देश-भक्ति में अपनी भलाई छिपी होती है। जब समूचे देश का कल्याण होगा तो व्यक्ति भी उससे लाभ उठायेगा। देश की उन्नति के अर्थ हैं कि हर व्यक्ति उसमें उन्नतिशील है। देश की मर्यादा का श्रेय वहाँ के एक-एक व्यक्ति पर निर्भर है। मनुष्य यह जानता है कि यदि राष्ट्र की शान्ति में बाधा पड़ेगी तो उसका घर सुरक्षित नहीं रह सकता। सन् १७०७ ई० में इंगलैंड और स्काटलैंड दोनों एक राष्ट्र बन गये। उनकी सरकार एक हो गई और वहाँ के निवासियों ने अपनी पिछली हरकतों को भुला दिया। इसका एकमात्र कारण यह था कि दोनों ... का इसमें सम्मिलित स्वार्थ था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में योरप के राष्ट्रों

की यह इच्छा थी कि जापान उनकी राष्ट्रीयता को कुचल दे। वे ऐसा क्यों चाहते थे? इसलिये कि उनका सम्मिलित स्वार्थ था। योरप के विभिन्न देशों की राष्ट्रीयता आज खतरे में है। उनके सम्मिलित स्वार्थ पर धक्का पहुँचने का भय है। इसी की रक्षा के लिये अन्तर्राष्ट्रीयता का जन्म हुआ है। संयुक्त राष्ट्रसंघ इस सम्मिलित स्वार्थ की रक्षा का प्रयत्न करता है।

**क्या राष्ट्रीयता धर्म है?**

धर्म और राष्ट्रीयता दोनों दो चीजें हैं। एक का दूसरे से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। उन्नीसवीं सदी के पहले लोग राष्ट्रीयता पर उतना जोर नहीं देते थे जितना धर्म पर। धर्म के लिये वे सब कुछ न्योछावर करने पर तैयार रहते थे। इसी की रक्षा के लिये वे विदेशियों के आक्रमण का मुकाबला करते थे। इसके प्रचार के लिये बड़े समारोह के साथ विदेशों पर चढ़ाइयाँ की जाती थीं। मध्ययुग में योरप में धर्म के लिये कई सौ वर्षों तक घमासान युद्ध होते रहे। यही है धर्म युद्ध (Crusade) संसार के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। शायद ही कोई देश ऐसा था जिसमें इसके लिये युद्ध न हुआ हो। स्वयं इंगलैंड इसका शिकार हुए बिना न रह सका। मेरी ट्यूडर के समय में ४०० आदमी जिन्दे इसलिये जला दिये गये कि वे एक धर्म को मानने के लिये तैयार न थे। लोगों को अपने धर्म की इतनी चिन्ता रहती थी कि वे देश की अन्य बातों से उसे बड़ा समझते थे। इसके सामने राजनीति का महत्त्व कम था। राष्ट्रीयता का तो कोई नाम भी नहीं जानता था। शिक्षा के प्रचार और विज्ञान की उन्नति से लोगों का विचार बदला। भौतिकवाद के कारण लोग धर्म से उदासीन होने लगे। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि जब तक धर्म का चक्कर उनका पीछा न छोड़ेगा तब तक उनका देश उन्नति नहीं कर सकता। इसलिये उन्नीसवीं सदी में धर्म एक गौण वस्तु रह गया। लोग इसे व्यक्तिगत विश्वास की चीज समझने लगे। धर्म का स्थान राष्ट्रीयता ने लिया। हर देश की एक राष्ट्र बनने की इच्छा हुई। बीसवीं सदी के आरम्भ तक लगभग सभी देश राष्ट्र बन गये और धर्म का दौरदौरा भारत को छोड़ लगभग सभी देशों में लोप हो गया। पहले लोगों का विश्वास था कि धार्मिक एकता देश की उन्नति के लिये अनिवार्य है, लेकिन बाद में उन्हें मालूम हुआ कि राष्ट्रीयता धर्म से अलग चीज है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों एक ही चीजें हैं। धर्म एक विश्वास की वस्तु है, लेकिन राष्ट्रीयता एक भावना है। धर्म में ऊपरी आचार-विचार की आवश्यकता होती है, किन्तु राष्ट्रीयता इन सबसे वंचित है। इसमें एकता अवश्य है कि विभिन्न धर्मावलम्बी एक राष्ट्र के अन्तर्गत रह सकते हैं। उन्नीसवीं सदी के पहले जहाँ धर्म के नाम पर एकता स्थापित की जाती थी वहाँ अब राष्ट्रीयता को स्थान दिया गया है। इसीलिये कहा जाता है

* Solidarity is the essence of Nationality.

कि राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म है। हमारे देश में धर्म के लिये हिन्दू और मुसलमान कभी-कभी आपस में लड़ बैठते थे। इसकी वजह यही है कि वे राष्ट्रीयता को नहीं समझते थे।

**राष्ट्रीयता की कसौटी**

यह सीधा सा प्रश्न है कि हम राष्ट्रीयता को कैसे पहचानें। कौन-सी ऐसी विशेषता है जिससे हम यह कह सकें कि अमुक देश में राष्ट्रीयता है और अमुक में नहीं। ऊपर जिन अंगों का वर्णन किया गया है वे किसी भी राष्ट्र के लिये आवश्यक हैं। लेकिन यह भी देखा गया है कि उनकी अनुपस्थिति में भी राष्ट्रीयता बनी रह सकती है। एकता राष्ट्रीयता की कसौटी है। जिस देश के लोगों की एक राष्ट्रभाषा है, जिनका एक इतिहास है और जो एक ही राजनैतिक सूत्र में बँधे हुये हैं वे अपने देश को राष्ट्र कहते हैं। जहाँ एक-एक पग पर एकता दिखलाई पड़े वहीं राष्ट्रीयता का निवास होता है। विषमता और राष्ट्रीयता इन दोनों में शत्रुता है। जिस देश में अधिक-से-अधिक एकता की भावना है और जहाँ के लोग देश के लिए सब कुछ करने पर तैयार हैं वहीं राष्ट्रीयता रह सकती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वहाँ किसी प्रकार की विषमता रहती ही नहीं। विषमता रहती है लेकिन लोगों का ध्यान उसकी ओर न जाकर एकता की ओर अधिक रहता है। स्वतन्त्रता राष्ट्रीयता की दूसरी कसौटी है। परतन्त्र देश राष्ट्र नहीं बन सकता। जब तक देश का प्रत्येक निवासी अपने अन्दर स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं करता तब तक वहाँ राष्ट्रीयता नहीं आ सकती। जिस देश के निवासियों में इतनी भी शक्ति नहीं है कि वे अपना शासन स्वयं करें, वे राष्ट्रीयता ऐसी बड़ी चीज को प्राप्त नहीं कर सकते। इसकी परीक्षा वैसे तो प्राय: होती रहती है लेकिन सबसे बड़ी परीक्षा उस समय होती है जब देश पर कोई हमला होता है। जब उसका बच्चा-बच्चा उसका मुकाबला करने पर तैयार है तो वहाँ की राष्ट्रीयता सराहनीय समझी जाती है। राष्ट्रीयता की तीसरी कसौटी देशवासियों का त्याग और उनकी आन्तरिक सेवा की भावना है। जिस देश में अधिक-से-अधिक सेवक और त्यागी होते हैं वहाँ की राष्ट्रीयता दृढ़ होती है। राष्ट्रीयता और देश-भक्ति दोनों एक ही अर्थ रखते हैं। देश-भक्ति राष्ट्रीयता का वाह्य स्वरूप है। यह बात असम्भव है कि किसी देश में राष्ट्रीयता हो किन्तु वहाँ के लोगों में देश के प्रति प्रेम न हो।

**राष्ट्रीयता का विनाश**

जब राष्ट्रीयता एक भावना है तो इसका अन्त कभी-न-कभी हो सकता है। मनुष्य के विचार बदलते रहते हैं। इसी के साथ उसकी स्थापित संस्थायें भी बदलती हैं। थोड़े-बहुत परिवर्तन से राष्ट्रीयता ढीली पड़ सकती है, लेकिन इसका सर्वनाश नहीं हो सकता। इसके नाश का मूल कारण आपस का अविश्वास होता है। जब किसी देश के लोगों में आपस में अविश्वास उत्पन्न हो जाता है तो उनके अन्दर स्वार्थ की मात्रा बढ़ जाती

है और लड़ाई-झगड़े आरम्भ हो जाते हैं। लोग एक दूसरे को अपना शत्रु समझने लगते हैं। छोटी-छोटी बातों में मतभेद के बीज उत्पन्न हो जाते हैं। प्रान्तीयता के भाव इतने बढ़ जाते हैं कि केन्द्रीय शासन कमजोर और लोगों के दृष्टिकोण संकुचित हो जाते हैं। उन्हें अपने ही काम से काम रहता है। उस देश में सेवकों और त्यागियों का अभाव हो जाता है। किसी भी सामाजिक झगड़े अथवा राजनैतिक उथल-पुथल के कारण उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाने की सम्भावना रहती है। देश में सरस जीवन की कमी हो जाती है। सार्वजनिक कामों की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता। उनके अन्दर उदासीनता के भाव इतने बढ़ जाते हैं कि देशोन्नति के बड़े-बड़े काम की वे अवहेलना करते हैं। उन्हें अपनी संस्कृति आकर्षित नहीं करती। वे विदेशी रहन-सहन के शिकार हो जाते हैं। उनके अन्दर आत्म-विश्वास की कमी हो जाती है। राजनैतिक संगठन होते हुए भी वहाँ सामाजिक असमानता रहती है। लोग न्याय-अन्याय की परवाह न कर अपना ही स्वार्थ साधन करते हैं। सभी प्रकार के अधिकारों का दुरुपयोग होता है और लोग अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं। जहाँ इस प्रकार की अव्यवस्था होगी वहाँ राष्ट्रीयता जीवित नहीं रह सकती। इससे वह राष्ट्र पतन के गड्ढे में गिर जाता है। आपस की फूट राष्ट्रीयता को समूल नष्ट कर देती है। राजनैतिक शक्ति की कमजोरी के कारण भी राष्ट्रीयता नष्ट हो जाती है। शासन की बागडोर ढीली होते ही, सामाजिक बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और विषयों से हटकर लोगों का ध्यान देश रक्षा की ओर लग जाता है।

**क्या भारत एक राष्ट्र है?**

भारत के स्वतंत्र होने तक की परिस्थिति से स्पष्ट है कि यहां राष्ट्रीयता की कमी रही है। यह राष्ट्र कहलाने के योग्य अवश्य था लेकिन यहां राष्ट्रीयता का अभाव रहा। इसके कई कारण थे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि यह देश परतन्त्र था। जबकि दुनिया का छोटा-से-छोटा देश स्वतन्त्र है और अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखता है; वहाँ भारत की ४० करोड़ जनता परतन्त्रता के पाश में जकड़ी रही। यहाँ के निवासियों में उस शक्ति का अभाव रहा जिससे वे विदेशी शासन को दूर कर स्वतंत्र राज्य कर सकें। विदेशी राज्य से भयंकर विदेशीपन है जो भारतवासियों पर लादा गया। उन्हें यहाँ की रहन सहन से उदासीनता होती गई।

यही कारण है कि कुछ व्यक्ति भारत में रहते हुए भी अपने को भारतीय कहने में हिचकते रहे हैं। अपने देशवासियों के साथ मिलने-जुलने में उन्हें संकोच होता रहा है।० जो देश इस प्रकार के ऊँच-नीच भावों से भरा होता वहाँ राष्ट्रीयता एक स्वप्न है। भारत में कई जातियाँ और सम्प्रदाय हैं। हिन्दू,

० स्वतन्त्रता के पश्चात् लोगों की इस मनोवृत्ति में परिवर्तन हो रहा है।

मुसलमान, पारसी, ईसाई—ये अपने को एक दूसरे से अलग समझते हैं। हिन्दुओं में कुछ ऐसे लोग हैं जिन्हें हिन्दू स्वयं अछूत समझते हैं। ये जातियाँ अज्ञानवश एक दूसरे को अपना भाई नहीं समझतीं। उन्हें यह ध्यान नहीं है कि जब तक सारे देश की उन्नति न होगी तब तक उनकी भी उन्नति नहीं हो सकती। जब तक इनके अन्दर भारतीय होने का गर्व न होगा तब तक आपस का मनमुटाव दूर नहीं हो सकता। कोई कारण नहीं है कि एक जाति दूसरे को छोटा समझे और उसे दबाने की कोशिश करे। हर विषय जातीय नहीं होना चाहिए। अधिकतर बात देश की भलाई के लिए होती है। ऐसे अवसरों पर प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने को एक देश का निवासी समझ कर देश की उन्नति सोचे। भारत एक सोने की चिड़िया है। लेकिन यह बात तभी ठीक हो सकती है जब हर सम्प्रदाय अपने को भारतीय कहे। बड़े आश्चर्य की बात है कि हमें इतना भी ढंग नहीं रहा कि आपस में मिल-जुल कर कैसे रहना चाहिये। स्वतंत्रता प्राप्त होने के पश्चात् से पारस्परिक एकता की भावना में बहुत-कुछ वृद्धि हुई है और वे लक्षण दिखलाई पड़ने लगे हैं जो एक राष्ट्र के नागरिकों में विद्यमान रहते हैं।

भारत में अनेक भाषायें हैं। भाषा द्वारा हम अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। इससे हमारी संस्कृति की रक्षा होती है। हिंदी के राष्ट्रीभाषा हो जाने पर और प्रत्येक प्रदेश में उसका प्रचार और प्रचलन हो जाने पर आशा है कि प्रान्तीयता की भावना दूर करने में सहायता मिल सकेगी। इस क्षेत्र में कार्य हो रहा है। एक बात और भी विचारणीय है कि यह देश अपनी कोई राष्ट्रीय वेश-भूषा नहीं रखता। हमारा खान-पान तक विदेशीपन से वंचित नहीं है। वेश-भूषा में न तो हम अंग्रेज हैं और न भारतीय। कभी हमारी पोशाक फारसी होती है, कभी अंग्रेजी और कभी अमेरिकन। इस अनुकरण को भी हमें दूर करना होगा। मैं यह मानता हूँ कि खाने-पीने और पहनने में लोगों को पूरी स्वतन्त्रता रहनी चाहिये, फिर भी उन्हें एक ऐसी पोशाक अवश्य अपनानी चाहिये जिसे अधिकतर लोग हर समय पहन सकें। योरप के लोगों में पोशाक की राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी हुई है। कड़ी-से-कड़ी गर्मी में वे भारतीय सरलता की नकल नहीं करते। वे भूलकर भी सामाजिक नियमों की अवहेलना करना बुरा समझते हैं। भारतीयों में इसकी कमी है। हमारा ध्यान पहले दूसरों की नकल पर जाता है, फिर अपनी ओर, काँग्रेस ने इस पर काफी जोर दिया है और खद्दर को राष्ट्रीय वस्त्र माना है। उसने अपने एक प्रस्ताव में यह स्पष्ट किया है कि जो भारतीय अपने को भारतीय राष्ट्र का सदस्य समझता है उसका कर्त्तव्य है कि वह खद्दर की पोशाक पहने। इसमें कोई सन्देह नहीं कि खद्दर से हमारी राष्ट्रीयता बढ़ रही है। इससे हमारे करोड़ों भूखे और नंगे पड़ोसियों की आवश्यकतायें पूरी होती हैं और घरेलू काम-धन्धों की वृद्धि होती है।

भारत में पेशे भी नीच और ऊँच समझे जाते हैं। जो मजदूर है और मजदूरी करके अपनी गुजर करता है वह एक आफिस में काम करने वाले बाबू से छोटा समझा जाता है। जो बाजार में जूते की दूकान करता है उसका दर्जा मिठाई बेचने वाले से छोटा गिना जाता है। भंगी, जो समाज में सबसे बड़ा सेवक होने का दावा रखता है, भारतीयों के लिये अछूत है। उसे छूना लोग पाप समझते हैं। इसी तरह और भी बहुत-से पेशे हैं जिन्हें लोग नीच पद कर पुकारते हैं। लेकिन ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि इन पेशों के बिना हमारा काम एक दिन भी नहीं चल सकता। अगर इन्हीं को हम छोटा समझते हैं तो यह हमारी बेवकूफी है। योरप के देशों में पेशे के कारण कोई व्यक्ति समाज में छोटा या बड़ा नहीं गिना जाता। सभी स्वतन्त्रतापूर्वक एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। इससे समानता और राष्ट्रीय गौरव की रक्षा होती है। जो काम हमारे लिये आवश्यक हैं उन्हीं के करने वालों से हम प्रेम के बदले घृणा करें तो यह हमारी कमजोरी नहीं तो और क्या है? इसीलिये संसार के सबसे बड़े महापुरुष महात्मा गाँधी अपना शौच और कमरा स्वयं साफ करते रहे थे। उनका कहना था कि जब तक भारतीयों में हर एक को अपना भाई कहने का अभिमान न होगा तब तक इस देश का कल्याण नहीं हो सकता। इसी तरह की और भी सामाजिक कमजोरियाँ देश की उन्नति को रोके हुए हैं। इधर कुछ वर्षों से राष्ट्रीयता की लहर बड़े जोरों से बह रही है। सामाजिक कुरीतियों को दूर किया जा रहा है और एकता तथा समानता के भाव लाये जा रहे हैं। इस देश की राष्ट्रीयता में आवागमन के साधन भी रुकावट डालते हैं। कितने ही ऐसे गाँव हैं जहाँ न कोई सड़क है और न पास में स्टेशन। इससे वहाँ के लोग नये विचारों के सम्पर्क में नहीं आने पाते। सुधारकों को वहाँ पहुँचने में कठिनाई होती है। धीरे-धीरे यह कमी भी दूर हो रही है। कृषि-प्रधान देश होने से इस देश की राष्ट्रीयता योरप से भिन्न होगी। खेती इस देश का राष्ट्रीय पेशा है। यदि इसे भुलाकर केवल नौकरी के चक्कर में हम पड़े रहें तो हमारे आर्थिक और नैतिक विकास रुके रहेंगे। हमारी राष्ट्रीयता का आधार शोषण नहीं है। हमारी सभ्यता हमें दूसरे किस्म की सिखाती है। वह हर दिशा में न्याय और नेकी का ही प्रचार करती है। इसीलिये हमारी राष्ट्रीयता योरप से भिन्न होगी। महात्मा गाँधी ने इस राष्ट्रीयता का आधार अहिंसा और सत्य बतलाया है। यदि लोगों ने इसे समझा और इन्हीं दोनों पर भारतीय राष्ट्र की दीवार खड़ी की गई तो इसमें तो सन्देह नहीं कि यह एक आदर्श राष्ट्र होगा। दुनिया के और राष्ट्र इसकी नकल करेंगे। किसी समय में यह देश सभ्यता की प्रयोग-शाला रह चुका है।*

---

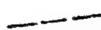
* India is a university of culture.

**राष्ट्रीयता का भविष्य**

ऊपर कहा गया है कि वर्तमान युग में राष्ट्रीयता एक धर्म है। जो अत्याचार धर्म के नाम पर किये जाते थे वे सब राष्ट्रीयता के हवाले कर दिये गये हैं। हर देश में यह हवा बह रही है कि वही दुनिया में सबसे बढ़कर हो, उसी के पास सबसे बड़ी फौज, सबसे ज्यादे जंगी जहाज, और भयंकर-से-भयंकर हथियार हों। संसार के बड़े-बड़े राष्ट्र इसी ओर प्रयत्न कर रहे हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि राष्ट्रीयता का भविष्य क्या होगा। जब आसमान लाल होता है और हवा बन्द हो जाती है तो यह अनुमान लगाया जाता है कि आँधी आयेगी और यह अनुमान बहुत कुछ ठीक निकलता है। इसी तरह संसार की प्रगति को देखते हुए हम अनुमान कर सकते हैं कि इन राष्ट्रों का भविष्य कैसा है। यह सभी स्वीकार करेंगे कि वर्तमान राष्ट्रीयता एक भयंकर बीमारी है। हर राष्ट्र अपनी सैन्य शक्ति बढ़ा रहा है। गत विश्वव्यापी युद्ध इसी का परिणाम था। उसने प्रत्येक देश-वासियों को साम्राज्य-पिपासा से पागल बना दिया है। सभ्यता के नाम पर वह जिन्दा है, वरना कभी का उसका अन्त हो गया होता। वर्तमान राष्ट्रीयता अर्थलोलुपता की खान है। वह किसी प्रकार से शक्ति का संचय करना चाहती है और वह शक्ति कोई आध्यात्मिक वा मानसिक नहीं बल्कि पैशाचिक है। उसका बल तलवार और तोप पर है। फिर हम क्यों न कहें कि आधुनिक युग की राष्ट्रीयता राक्षस से भी भयंकर है। यदि हम अपने देश में इसलिये एकता चाहते हैं कि औरों को दबाया जाय; यदि हमारी शक्ति-संचय का उद्देश्य दूसरों को गुलाम बनाना है; यदि हमें अच्छी-से-अच्छी सभ्यता को दबा कर अपनी पैशाचिक प्रवृत्ति का प्रचार करना है; तो हम दावे के साथ कह सकते हैं कि वर्तमान राष्ट्रीयता का विनाश होगा और इसकी जगह एकता और सहयोग का कोई दूसरा साधन होगा। बहुत सम्भव है, इसका रूप बदलकर इसे प्रेम और शान्ति का जामा पहना दिया जाय।

राष्ट्रीयता की वर्तमान प्रगति को देखते हुए राजनीतिज्ञों का कहना है कि इसके बदले कोई दूसरी चीज लानी चाहिये। इसलिये बीसवीं सदी में अन्तर्राष्ट्रीयता का सूत्रपात हुआ है। इसका उद्देश्य यह है कि लोगों में विश्व-बन्धुत्व का भाव पैदा हो। वे अपने देश की उन्नति वहीं तक चाहें जहाँ तक दूसरे देश की उन्नति में बाधा न पड़े। सम्पूर्ण समाज एक इकाई है इसीलिये दुनिया को टुकड़े-टुकड़े करके और फिर उनके आपस में टकराने से काम नहीं चल सकता। जैसे बड़े-से-बड़े राष्ट्र के अन्दर प्रान्तीयता की भावना हानिकर होती है उसी तरह वर्तमान राष्ट्रीयता विश्व-शान्ति बाधक है। इसलिये राष्ट्रीयता का भविष्य अन्धकारमय है। बहुत सम्भव है इसका स्थान अन्तर्राष्ट्रीयता को प्राप्त हो। विश्व-संघ का स्वप्न बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ अभी से

देख रहे हैं।* संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये की गई है। संसार के प्रमुख राष्ट्र अभी राष्ट्रीयता के नशे में चूर हैं और उन्हें इसके सिद्धान्त मान्य नहीं हैं, लेकिन अन्त में वे पश्चात्ताप करेंगे और इसी प्रकार की कोई नीति बनाकर शान्ति और कल्याण का अनुभव करेंगे। जब तक हर देश अपनी-अपनी खँजड़ी बजाता रहेगा और वह अपने सरीखे दूसरे देशों की उन्नति पसन्द नहीं करेगा तब तक न तो संसार में शान्ति होगी और न कोई सभ्यता जीवित रहेगी। इस स्वदेश और विदेश का भाव धीरे-धीरे मिटाना चाहिये। हर मनुष्य चाहे वह दुनिया के उत्तर में रहता है या दक्खिन में, भाई भाई है। एक के सुख दुःख का असर दूसरे पर अनिवार्य रूप से पड़ेगा। वर्तमान राष्ट्रीयता इन गुणों से वंचित है। इसीलिये वह स्थायी नहीं रह सकती। कुछ समय व्यतीत होने पर मानव-समाज को यह अनुभव होगा कि शान्ति का बीज विश्व-कल्याण में है। प्रत्येक देश शरीर के अंग की भाँति है जिसकी पीड़ा पूरे शरीर को कष्ट देती है।



# अध्याय १६

## व्यक्तिवाद और समाजवाद

( Individualism and Socialism )

कोई भी संस्था उद्देश्यहीन नहीं होती। उद्देश्य से ही इसकी प्रतिष्ठा होती है।

**राज्य का उद्देश्य**

राज्य अनादि काल से संचालित एक ऐसा संगठन है जिसके महान् उद्देश्य के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों में बड़ा मतभेद है। राजनीति दर्शन का यह एक गूढ़ विषय है। जैसे मनुष्य के हर काम का कोई उद्देश्य होता है वैसे ही राज्य का भी उद्देश्य है— एक महान् उद्देश्य है। हर संगठन, हर गिरोह और हर व्यक्ति कोई लक्ष्य सामने रख कर कदम बढ़ाता है। किसी व्यक्ति से पूछा जाय की उसका अन्तिम उद्देश्य क्या है, वह यही कहेगा कि 'सुख'। यह पूर्ण स्वतन्त्रता के बिना नहीं मिल सकता। व्यक्ति का सतत प्रयत्न इसीलिये है कि वह पूरी स्वतन्त्रता के साथ जीवन व्यतीत करे। न तो उसकी जीवन-यात्रा में कोई बाधा पड़े और न किसी वस्तु की उसे कमी हो। यही उद्देश्य राज्य का भी है। कारण यह है कि वह व्यक्ति से कोई अलग वस्तु नहीं है। उसके मस्तिष्क का बाह्य रूप राज्य कहलाता है। राज्य व्यक्ति की ही रचना है। मनुष्य किसी ऐसी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकता जिसका उद्देश्य उसके उद्देश्य से भिन्न हो। ऐसा करना उसके स्वभाव के विरुद्ध है। वह सब कार्य आत्मसुख और सन्तोष के लिये करता है। स्वतन्त्रता में उसे निश्चिन्त जीवन की आभा दिखलाई पड़ती है। राज्य की उत्पत्ति इसी की पूर्ति का एक साधन है। प्रश्न यह है कि क्या इस स्वतन्त्रता के बाद राज्य की आवश्यकता नहीं रह जायगी? इसका उत्तर स्पष्ट है कि उसका रहना और न रहना दोनों बराबर होगा। वह स्वतन्त्रता प्राप्य है अथवा नहीं, यह कोई नहीं कह सकता। समाज का कोई नियम स्थिर नहीं है। किस समय यह समाज कौन सा स्वरूप धारण करेगा यह कोई नहीं जान सकता। आज ही कोई छोटी सी ऐसी घटना हो सकती है जो हमारे लिये तुच्छ बात है, लेकिन आज से ५० वर्ष बाद उसका प्रभाव समाज पर इतना गहरा पड़ सकता है कि उससे संसार की कायापलट हो सकती है। जिस समय १२ मील प्रति घंटा चलने वाले एक छोटे

से इंजन का आविष्कार हुआ उस समय किसी को भी ज्ञात न था कि आगे चलकर यही विश्व के इतिहास में क्रान्ति पैदा करेगा। लेकिन हम स्पष्ट देखते हैं कि मशीनों के समय से इतिहास में एक नया युग आरम्भ होता है। कुछ राजनीतिज्ञों का कहना है कि पूर्ण स्वतन्त्रता मनुष्य के लिये मृगतृष्णा है। यह कभी प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है, परन्तु कुछ लोग इसकी आशा करते हैं।

**दो मार्ग**

यह बात सर्वसम्मति से निश्चित है कि पूर्ण स्वतन्त्रता राज्य का अन्तिम उद्देश्य है। अर्थात् जिस दिन व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक सुखमय जीवन व्यतीत करने लगेगा उसी समय राज्य की अन्तिम क्रिया पूरी हो जायगी। मनुष्य उसी दिशा में बढ़ता जा रहा है; किन्तु इस ध्येय पर पहुँचने के लिये कई मार्ग हो सकते हैं। व्यक्ति की स्वतन्त्रता तक पहुँचाने में मालूम नहीं कितने रास्ते निकाले गये और भविष्य में कितने निकाले जायेंगे। मानव शास्त्र का जितना गहराई के साथ अध्ययन किया जा रहा है उतने ही नये मार्ग निकलते जा रहे हैं। अब तक जितने मार्ग निकाले गये हैं उन सब में दो सर्वप्रधान हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि शेष मार्ग इन्हीं में मिले-जुले हैं। इन्हीं को दो सिद्धांत कहा गया है। मार्ग और सिद्धांत में यहाँ अन्तर इसलिये नहीं है कि हम एक ही बात को दो प्रकार से पूछ सकते हैं। एक तो यह कि व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये किन किन रास्तों से जाना होगा? इसके उत्तर में यह कह सकते हैं कि एक मार्ग व्यक्तिवादियों का ( Individualistic ) है और दूसरा समाजवादियों का ( Socialistic )। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पूर्ण स्वतन्त्रता के मुख्य सिद्धान्त कौन-कौन से हैं? इसका भी उत्तर यही होगा कि व्यक्तिवाद और समाजवाद ( Individualism and Socialism )।

उद्देश्य में नहीं। अन्त दोनों का एक है। अन्तर केवल मार्ग का है। जैसे भारत के रहने वाले को लंदन जाना है तो वह कलकत्ते से जहाज से अथवा बम्बई तक रेल से जाकर फिर उधर से भी जहाज द्वारा जा सकता है। किसी भी तरह उसे लंदन पहुँचना है। इसी तरह दोनों सिद्धांतों का उद्देश्य व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्र और सुखी करना है। अन्तर इतना ही है कि व्यक्तिवाद किसी और तरह से इस स्वतन्त्रता को दिलाना चाहता है और समाजवाद किसी दूसरे प्रकार से। इनमें कौन अच्छा है और कौन बुरा, यह कहना कठिन है। कारण यह है कि दोनों के अच्छे बुरे होने की पहिचान कुछ शर्तों के साथ हो सकती है। इसके अतिरिक्त दोनों समाज की दो अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। यह हो सकता है कि किसी देश में समाजवाद सफल हो, वहाँ का समाज उसके अनुकूल और परिस्थिति उपयुक्त हो। यह भी सम्भव है कि वह असफल हो जाय और उसके स्थान पर व्यक्तिवाद सफल हो। इसलिये अच्छे या बुरे का कोई प्रश्न नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम पहले दोनों सिद्धांतों को अलग-अलग समझें। इससे हमें उनके विभिन्न वातावरण की आवश्यकता का ज्ञान होगा। इसके बाद हम दोनों की त्रुटियों का अध्ययन करें। तभी हम यह निर्णय कर सकते हैं कि कौन-सा सिद्धांत अधिक सुलझा हुआ अथवा सुलभ है।

**व्यक्तिवाद**

जैसा कि शब्द से स्पष्ट है, व्यक्तिवाद इस बात का समर्थन करता है कि राज्य के सारे संगठनों का आधार व्यक्ति है। उसी पर मानव समाज की नींव है। जैसे व्यक्ति में व्यक्तित्व सर्वप्रधान होता है उसी तरह राज्य में व्यक्ति सर्वप्रधान है। उसी की भलाई और उन्नति के लिये सामाजिक अथवा राजनैतिक विधान बनाया गया है। व्यक्ति एक केन्द्र है और अन्य वस्तुयें उसके चारों ओर घूम रही हैं। उससे अलग किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। उसी से सबको शक्ति पहुँचती है। वही सब का जन्मदाता है। उसी की क्रिया से विश्व में परिवर्तन होते हैं। इस सिद्धांत से पता चलता है कि सरकार का एकमात्र कर्त्तव्य व्यक्ति की रक्षा और उन्नति करना है। यह बात असम्भव है कि राज्य और समाज की उन्नति हो, परंतु व्यक्ति एक स्थिति में पड़ा रहे। व्यक्ति की उन्नति-अवनति उसी के हाथ की वस्तु है। वस्तुओं को वही बनाता और बिगाड़ता है। उसी की बुद्धि का फल है कि मनुष्य बन्दर से उन्नति करते-करते वर्तमान सभ्यता को प्राप्त हुआ है। झोपड़ियों को महलों में उसी ने परिवर्तित किया है। उसी की अनोखी बुद्धि ने पाताल से लोहे को निकाल कर मशीनों का रूप दिया है। व्यक्ति से अलग संसार निरर्थक है। जैसे प्राण रहित शरीर मिट्टी है, उसी तरह व्यक्ति से अलग समाज एक कार भ्रम है। इस सिद्धांत के अन्दर इस बात का वर्णन किया गया है कि रकार कहाँ तक व्यक्ति के कामों में हाथ डाले, किस सीमा तक व्यक्ति कानूनों के वशीभूत हैं और सेना, पुलीस आदि का संगठन क्योंकर उचित ठहराया जाय। मोटे

तौर से हम कह सकते हैं कि व्यक्तिवाद के अन्दर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दर्शन किया जाता है। इसी 'वाद' के अन्तर्गत स्वतन्त्रता को दर्शनशास्त्र का रूप दिया गया है। इसकी कसौटी पर किसी राज्य का अध्ययन करके बताया जाता है कि इसमें नागरिक को किस सीमा तक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। व्यक्तिवाद राजनीति का वह सिद्धान्त है जो राज्य की परख व्यक्ति से करता है।

**व्यक्तिवाद का आधार**

यह सभी जानते हैं कि व्यक्तिवाद का आधार व्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यक्तिवाद के मुख्य दो आधार हैं—भौतिक और मानसिक। भौतिक आधार का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को इस बात की स्वतंत्रता है कि वह संसार में जो चाहे करे। परन्तु अपनी शक्ति और अपने हित के साथ औरों का भी ध्यान रखे। इसी से सामाजिक व्यवस्था संतुलित रहेगी। राज्य इससे परे नहीं है। मानसिक आधार का तात्पर्य व्यक्ति के मस्तिष्क से है। विचार स्वतन्त्र है। व्यक्ति जो चाहे सोच सकता है। लेकिन अच्छा होगा कि वह बुरी बातों का चिन्तन न करे। उसके सारे काम मानसिक चिन्तन पर निर्भर करते हैं। वह जैसा सोचता है वैसा ही करता है। इसलिये भौतिक और मानसिक आधार अलग-अलग नहीं हैं। ये दोनों मिलकर व्यक्तिवाद के पाये को ठोस बनाते हैं। समाज में सभी व्यक्ति एक मार्ग पर विचार करें तो इतनी विषमता न होगी। यदि व्यक्ति सोचने और कार्य करने में स्वतन्त्र है तो उसे और किसी स्वतन्त्रता की आवश्यकता नहीं है। इसीलिये इन दोनों को व्यक्तिवाद का आधार ठहराया गया है। कुछ विद्वानों ने भौतिक आधार को आर्थिक और नैतिक दो भागों में बाँटा है। ऐसा करना कोई भूल नहीं है, लेकिन हमें इसकी कोई आवश्यकता नहीं दिखाई पड़ती।

निकम्मे हैं। थोड़े से कर्मचारियों की त्रुटियों के कारण पूरी सरकार को दोषी ठहराना उचित नहीं है। इतने कड़े शब्दों में उसकी टीका-टिप्पणी करने से राजनैतिक संगठन की अवहेलना होती है। सरकार और व्यक्ति दोनों की शक्तियों में अन्तर है। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों की आवश्यकता है। नियन्त्रण के बिना व्यक्ति को अनुचित कार्य करने का अवसर मिलता है। वह प्रत्येक दशा में अपने स्वार्थ को पहले देखता है। इसके पश्चात् ही वह औरों की भलाई-बुराई पर विचार करता है। उसके अन्दर यह स्वाभाविक दुर्बलता है कि वह अपने आपको दोषी नहीं मानता। अपनी भूलों को छिपाना उसका स्वभाव है। बहुत थोड़े से महापुरुष अपने अपराधों को मानकर प्रायश्चित करते हैं। सरकारी न्यायालय न हों तो इनकी संख्या और भी बढ़ जाय। सरकार किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करती। उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता। वह जिस प्रकार एक साधारण व्यक्ति को दंड देती है उसी तरह सरकारी पदाधिकारियों को भी दंड देने के लिये तैयार रहती है। वह सबको समान दृष्टि से देखती है। यह कहना कि सभी व्यक्ति बराबर सोच सकते हैं, उनकी बुद्धि समान है और सबको एक प्रकार की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये, नितान्त अनुचित है। सब लोग समान बुद्धि वाले नहीं होते।* अधिकारों का कोई सदुपयोग और कोई दुरुपयोग करता है। फिर दोनों को समान स्वतन्त्रता कैसे दी जा सकती है। एक व्यक्ति अपने समय का उपयोग पढ़ने-लिखने में करता है, दूसरा उसी को मार-झगड़े तथा चोरी आदि दुष्कर्मों में लगाता है। गणित के प्रश्न की तरह मनुष्य के स्वभाव का हिसाब नहीं लगाया जा सकता।

व्यक्तिवादियों की सबसे बड़ी दुर्बलता सरकार की अवहेलना करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्तिवाद के सिद्धान्त ने उन्नीसवीं सदी में व्यक्ति को काफी लाभ पहुँचाया और कितने ही कड़े कानूनों को रद्द किया; लेकिन सरकार की महत्ता को कम नहीं किया जा सकता। व्यक्ति कितना भी पूर्ण समाज बना ले, फिर भी आपस के भेदभाव लोप नहीं हो सकते। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह उनकी देखभाल करती रहे। बीसवीं सदी में अनेक नये नये संगठन बनते हैं। उनका आपस में टकराना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में सरकार की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। वही इनकी देखभाल और इनके अधिकारों का बटवारा करती है।

वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। आवागमन की सुविधा के कारण राष्ट्रों का सम्बन्ध बढ़ रहा। व्यापार, संस्कृति, साहित्य तथा अन्य साधन मानवता के भेदभाव को दूर कर रहे हैं। प्रत्येक देश विदेशियों के सुख-दुख को सोचने के लिये बाध्य है। चूँकि उनकी परिस्थिति का प्रभाव उसके लिये अनिवार्य है, इसलिये पड़ोसी

---

* मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना।

राष्ट्रों की ओर से आँख नहीं चुराई जा सकती। ये कार्य व्यक्ति की शक्ति से बाहर
है। जो शक्ति सरकार को प्राप्त है वह व्यक्ति को नहीं। कितने ही कार्यों को व्यक्ति
नहीं कर सकता, लेकिन सरकार उन्हें करती है। राजनैतिक व्यवस्था के बिना व्यक्ति
कोई संगठन नहीं बना सकता। उसकी उन्नति के लिये शान्तिमय वातावरण सरकार
ही तैयार करती है। फिर यह बात समझ में नहीं आती कि व्यक्तिवादी सरकार को
इतनी तुच्छ दृष्टि से क्यों देखते हैं।

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य और व्यक्ति का भेदभाव अस्वाभाविक है। एक ओर
राज्य और दूसरी ओर व्यक्ति को रखकर सामाजिक व्यवस्था की बातें करना हवाई
किले बनाना है क्योंकि समाज से अलग नहीं है। उसके विचारों तथा कार्यों का
प्रभाव औरों पर पड़ता है। समाज को दूषित करने के लिये वह स्वतन्त्र नहीं है।
कुछ तो उसके अच्छे विचार और कुछ सरकारी नियम उसे कुमार्ग पर चलने से
रोकते हैं। इसलिये उस स्वतन्त्रता से क्या लाभ जो व्यक्ति को पतन की ओर ले जाती
है। राजनैतिक वा सामाजिक व्यवस्था मनुष्य के कल्याण के लिये है। इनका [illegible]
पण किया जाय तो पता चलेगा कि आत्मोन्नति के लिये इनकी आवश्यकता [illegible]
है। मनुष्य परिस्थिति एवं दुर्बलताओं का दास है। सद्विचारों के [illegible] भी वह
बुरे मार्ग पर चला जाता है।[1] ऐसे अवसरों पर सरकार उसकी सहायता करती है। वह
उसे दंड देकर आगे के लिये सचेत करती है कि ऐसा नहीं करना चाहिये। [illegible]
सरकार और सद्विचार दोनों के कार्य एक हैं। सरकार सद्विचारों का एक [illegible]
रूप है और व्यक्ति को उसे विरोधी समझना एक झूठी कल्पना है। सरकार [illegible]
के लिये वही करती है जिसकी उसे आवश्यकता है। यह बात [illegible] [illegible]
वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा डालती है। दो चार घटनाओं से [illegible] [illegible]
नहीं बनता। यदि व्यक्ति को समाज में रहना है तो उसे औरों [illegible] [illegible]
होगा। वह किसी के अधिकारों को कुचल नहीं सकता। इसलिए [illegible] [illegible]
से भी व्यक्तिवादियों का तर्क गलत है कि व्यक्ति और सरकार में विरोध है। सरकार
व्यक्ति के मस्तिष्क से निकली हुई एक सुन्दर [illegible] है। यदि वह [illegible] [illegible]
पास करती है जो व्यक्ति के लिये हानिकारक है तो इसमें कोई भी [illegible] नहीं [illegible]
सकता। इस प्रकार के कानून व्यक्ति की उन्नति में बाधक होते हैं। [illegible] [illegible]
कर्तव्य है कि वह इनका विरोध करे। राज्य के [illegible] [illegible] [illegible]
करना नागरिक का कर्तव्य है।

---

१—काल सुभाव करम बरिआई।
भलेउ प्रकृतिबस चुकइ भलाई॥

**व्यक्तिवाद और प्रजातन्त्र**

प्रजातन्त्र में व्यक्ति के अधिकार का ध्यान रक्खा गया है। इसका उद्देश्य व्यक्ति के राजनैतिक अधिकारों की वृद्धि करना है। केन्द्रीय शासन केवल इस बात की देख-रेख करे कि राज्यों में शासन व्यवस्था ठीक-ठीक चलती रहे। सबको स्थानीय स्वराज्य प्राप्त हो। किसी की इच्छा के विरुद्ध न कोई कानून पास किया जाय और न टैक्स लगाया जाय। राजकीय विषय जनता की राय से हल किये जायँ। वास्तविक प्रजातन्त्र वह है जहाँ व्यक्ति को यह मालूम न हो कि उसका शासक कोई और है। इससे स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र के अन्दर व्यक्तिवाद की वृद्धि के लिये काफी स्थान दिया गया है। लेकिन इसमें एक कठिनाई है। प्राचीन काल के यूनान और रोम के प्रजातन्त्र का युग अब जाता रहा। उस समय छोटे-छोटे राज्य थे। प्रत्येक नागरिक की राय से काम किया जाता था, जिनकी संख्या बहुत थोड़ी होती थी, क्योंकि बहुसंख्यक व्यक्ति दास होते थे और उन्हें राजनीतिक अधिकार प्राप्त न था। व्यक्ति राज्य का स्थूल अंग था। ऐसी व्यवस्था आज नहीं चल सकती। राज्य की सीमा इतनी बड़ी है कि सबसे राय लेकर काम करना असम्भव है। किसी कानून पर दो चार वर्ष में भी एक-एक की राय नहीं ली जा सकती। इस कठिनाई को दूर करने के लिये प्रतिनिधि शासन की व्यवस्था की गई है। नागरिक का अधिकार है कि वह अपना मत जिसे चाहे दे। उसी के चुने हुए प्रतिनिधि उसका शासन करते हैं। इस प्रतिनिधित्व के अन्दर व्यक्तिवाद की रक्षा नहीं होती। व्यक्ति की राय वही होती है जो उसके पक्ष की है। इसीलिये कहा जाता है कि प्रजातन्त्र की उन्नति के साथ व्यक्तिवाद का लोप हो जाता है। वैसे तो व्यक्तिवाद तब तक जीवित रहेगा जब तक व्यक्ति का अस्तित्व कायम है, लेकिन उसका रूप बदलता रहेगा। व्यक्ति के अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता में कमी हो सकती है, लेकिन कड़े-से-कड़े शासन के अन्तर्गत उसकी उपयोगिता कम नहीं की जा सकती।

**वर्तमान दृष्टिकोण**

आज संसार की दृष्टि व्यक्तिवाद की ओर नहीं है। इस युग में तीन वादों का बोलबाला है। अभी यह कहा नहीं जा सकता कि इन तीनों में किसकी विजय होगी। हमारा तात्पर्य प्रजातन्त्र, समाजवाद और तानाशाही से है। इन तीनों का संघर्ष जोरों के साथ हो रहा है। एक वाद का प्रयत्न दूसरे वाद को कुचल डालने का है। प्रश्न यह है कि इन तीनों में व्यक्तिवाद का क्या स्थान है। प्रजातन्त्र का वर्णन अगले अध्याय में किया गया है। उससे स्पष्ट है कि व्यक्ति धीरे-धीरे पार्टियों के अन्दर बँधता जा रहा है। उसकी निजी राय का तब तक कोई मूल्य नहीं है जब तक वह किसी पार्टी की राय न हो। उसे विवश होकर किसी-न-किसी पार्टी का सदस्य बनना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि आधुनिक प्रजातन्त्र व्यक्तिवाद के अनुकूल नहीं है।

वर्तमान युग समाजवाद का युग है। जहाँ देखिये वहीं इसकी चर्चा होती है। कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ समाजवाद का आन्दोलन न हो। वैसे तो समाजवाद का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय में किया गया है, किन्तु यहाँ यह वर्णन करना कोई अनुचित न होगा कि उसके अन्दर व्यक्ति के लिये कितना स्थान है। समाजवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सुख की चिन्ता व्यक्तिवादियों से कम नहीं करते। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है। समाजवाद के अन्दर व्यक्ति सरकार के हाथ की कठपुतली है। वही उसके लिये सब कुछ करती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति अथवा उद्योग समाजवाद के अन्दर अपराध ठहराया गया है। व्यक्ति मशीन का एक पुर्जा है जिसे चलाने का अधिकार केवल सरकार को है। वह छोटे-बड़े सभी कामों के करने का दावा रखती है। व्यक्ति की आवश्यकताओं को समझने अथवा पूरा करने की शक्ति उसमें अधिक है। इससे स्पष्ट है कि समाजवाद के अन्दर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये कोई स्थान नहीं है। लोगों की यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि उनकी सरकार दृढ़ हो और वही सब कुछ करे। व्यक्ति अपना न्याय स्वयं नहीं कर सकता इसलिए सरकार उसके प्रत्येक काम की देख-रेख रक्खे। समाजवादियों के कथनानुसार हर मनुष्य ईमानदार और चतुर नहीं होता। इसलिए सरकार उसके प्रत्येक काम की देख-रेख रक्खे। दूसरे लोग उससे अनुचित लाभ उठाते हैं। व्यक्तिवाद इस विषमता पर ध्यान नहीं देता। यदि सभी व्यक्ति समान होते तो अपने समान औरों को भी देखते। उस दशा में व्यक्तिवाद चल सकता है। लेकिन मनुष्य का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने पर पता चलता है कि वह स्वभाव से स्वार्थी होता है। अपने स्वार्थ के सामने औरों की चिन्ता नहीं करता। यही कारण है कि समाजवादी व्यक्तिवाद को भयानक समझते हैं।

नहीं की जाती। तानाशाह की इच्छानुसार किसी भी देश से लड़ाई छिड़ सकती। इससे प्रजा को कितना कष्ट होगा, इसकी कोई चिन्ता नहीं की जाती। यद्यपि तानाशाही का सिद्धान्त एक है, परन्तु विभिन्न देशों में इसके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। हिंसा के सभी पक्षपाती हैं। तलवार का बल उनके लिए आवश्यक है। अपने विपक्षी को समूल नष्ट करना तानाशाही की विशेषता समझी जाती है। तानाशाहों के लिए राष्ट्रीयता इतनी प्रिय है कि उसके लिए वे सब कुछ कर सकते हैं। फाँसी देना, तलवार के घाट उतारना, देश निकाला देना, उनके लिये साधारण बात है। सरकारी बातों का विरोध वहाँ सहन नहीं किया जाता। व्यक्ति को यह आज्ञा है कि सरकारी आज्ञा को वह प्रसन्नतापूर्वक मान ले। उसे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी राय व्यक्त करने की आज्ञा नहीं है। प्रेस भी मनमानी खबरें नहीं छाप सकता। तानाशाही के अन्दर नागरिकता का वह व्यापक रूप नहीं है जो प्रजातन्त्र के अन्दर पाया जाता है। वहाँ पर नागरिकता एक विशेष वर्ग से सम्बन्ध रखती है। इससे स्पष्ट है कि यह वाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को महत्व नहीं देता और उसे राष्ट्रोन्नति का एक साधन मात्र समझता है। इन तीनों वादों से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि आधुनिक युग व्यक्तिवाद का पक्षपाती नहीं है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। यदि यह आन्दोलन बढ़ता गया तो इसको रोकने के लिये व्यक्तिवाद का पुनः प्रचार होगा। यह सामाजिक नियम है कि जब कोई वाद अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है तो उसका विरोधी वाद धीरे-धीरे उसका स्थान ग्रहण कर लेता है।

**समाजवाद**

समाजवाद एक ऐसा विषय है जिसमें प्रवेश करने के कई मार्ग हैं। विद्वानों ने इस पर इतने प्रकार से विचार किया है कि सबका वर्णन करना एक पुस्तक लिखना है। इस वाद के विषय में अभी तक लोगों को यह पता नहीं है कि इसकी ठीक-ठीक परिभाषा क्या है और इसकी कौन-सी शाखा अच्छी है। कुछ विद्वानों का मत है कि समाजवाद की ५७ किस्में हैं। सन् १८९२ ई० में 'ली फिगारो' (Le Figaro) नामक एक फ्रांसीसी पत्र में समाजवाद की ६०० परिभाषायें प्रकाशित हुई थीं। इस शब्द का प्रयोग इतने अर्थों में किया गया है कि सबका यहाँ वर्णन सम्भव नहीं है। सर विलियम हरकोर्ट ( Sir William Harcourt ) लिखता है, "हम सभी समाजवादी हैं क्योंकि हम लोग समाज में ही रहते हैं।"* कालेज के विद्यार्थी से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों तक हर एक अपने आपको समाजवाद का पंडित समझता है। एक सज्जन तो यहाँ तक लिखते हैं कि जितने समाजवादी हैं उतने ही प्रकार के समाजवाद हैं। इसकी उपमा एक ऐसे हैट से दी गई है जिसे कोई भी पहन सकता है। एक फ्रांसीसी

* We are all socialists because we live in society.

विद्वान् लिखता है, "समाजवाद एक ऐसा धर्म है जिसकी अनेक शाखाएँ और उपशाखाएँ हैं।" जर्मनी में इसकी जो गति थी वह फ्रांस में नहीं। ब्रिटेन का समाजवाद रूस से भिन्न है। यह कहना अनुचित न होगा कि हर देश का समाजवाद भिन्न-भिन्न है। लार्ड वेमिस ( Lord Wemyss ) ने समाजवादियों को ६ वर्गों में विभाजित किया है :—

पुस्तक* में लिखते हैं, "मनुष्य की यह हार्दिक इच्छा है कि दुनिया की सम्पत्ति का बटवारा उसके परिश्रम के अनुसार किया जाय। इसी इच्छा को समाजवाद कहते हैं।" वे प्रजातन्त्रवाद की उन्नति को समाज की उन्नति कहते हैं। एफ० एस० मार्विन† लिखता है, "गरीबों की आह और न्याय की आवश्यकता इन दोनों से प्रेरित होकर समाजवाद की उत्पत्ति हुई।" यह बात निर्विवाद है कि समाजवाद आर्थिक विधान का सबसे बड़ा सिद्धांत है। आगे चलकर जब इस पर और प्रकाश डाला जायगा तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

**वैज्ञानिक समाजवाद**

वैज्ञानिक समाजवाद की नींव पहले-पहल कार्ल मार्क्स ने १८४८ ई० में डाली थी। आमतौर से जब 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो इसका तात्पर्य मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद से होता है। मार्क्स समाजवाद का पिता कहा जाता है। यह एक यहूदी था। इसका जन्म ५ मई सन् १८१८ ई० को जर्मनी में हुआ था। इसके विचार इतने उग्र थे कि वहाँ से उसे देशनिकाला दे दिया गया। कई देशों में घूमता हुआ १८४८ ई० में वह लन्दन पहुँचा। वहीं १४ मार्च सन् १८८३ ई० को उसकी मृत्यु हो गई। मार्क्स ने अपने सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन अपनी 'दी कैपिटल' (The Capital) नामक पुस्तक में किया है। यह समाजवादियों का धर्मग्रन्थ माना जाता है। मार्क्स पक्का क्रान्तिकारी था। वह अपने समय से सैकड़ों वर्ष पहले पैदा हुआ था। जो कुछ वह कहता उसे स्पष्ट और खुले दिल से कहता था। मार्क्स के एक-एक शब्द समाजवाद के अन्दर पत्थर की लकीरें हैं। वह लिखता है कि संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं, जाहिल, मूर्ख और समाजवादी। जो मार्क्स को नहीं जानता वह मूर्ख है। जो उसे जानता है किन्तु उसमें विश्वास नहीं करता वह जाहिल है। जो उसे जानता और उसमें विश्वास करता है वह समाजवादी है।

मार्क्स का कहना है कि समाजवाद इतनी तेजी के साथ आ रहा है कि इसे कोई रोक नहीं सकता। जिस प्रकार हम सत्य को नहीं दबा सकते, उसी तरह यह वाद भी नहीं दबाया जा सकता। अपने समाजवाद के अन्दर मार्क्स तीन सिद्धान्तों का वर्णन करता है। इन्हीं के ऊपर समाजवाद का दारोमदार है। इसे समझने के लिए इनकी जानकारी आवश्यक है। ये तीनों सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

१—इतिहास का आर्थिक पहलू।

२—वर्गवाद।

३—शारीरिक परिश्रम का मूल्य।

---

* Fabian Essays in Socialism.

† F. S. Marvin in his Century of Hope.

आर्थिक साधन में जब उन्नति हुई और लोगों की आवश्यकतायें बढ़ीं तो इतिहास का नया युग आरम्भ हुआ। मनुष्य के जीवन में अनेक परिवर्तन दिखलाई देने लगे। लोगों के सुख में वृद्धि हुई। आवागमन की वृद्धि से ज्ञान का भंडार बढ़ने लगा। कुछ समय बाद जब मशीनों का युग आया तो मनुष्य की सभ्यता में महान् क्रान्ति हुई। कोई इसका कारण मानसिक बतलाता है, कोई वैज्ञानिक और कोई दिमागी। लेकिन मार्क्स लिखता है कि नई सभ्यता का जन्म नये आर्थिक साधनों के कारण है। इतिहास में जो काल-विभाजन किये जाते हैं उनका एकमात्र कारण आर्थिक है। इतिहास गरीब-दुखियों की कहानी वर्णन नहीं करता। उसके अन्दर राजाओं का ही जिक्र किया जाता है। यह सारा संसार अर्थ पर चलायमान है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जिसे धन की आवश्यकता न हो। इतिहास में जितनी भी लड़ाइयाँ हुई हैं उनकी जड़ में आर्थिक लाभ है। धन की उत्पत्ति की जैसी व्यवस्था होती है उसी प्रकार लोगों का रहन-सहन बनता है। यही राजनैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, मानसिक तथा नैतिक सिद्धान्तों को निश्चित करती है।

**वर्गवाद (Class Struggle theory)**

प्राय: लोग मनुष्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं—एक धनी वर्ग, दूसरा मध्यम वर्ग, और तीसरा गरीब वर्ग। मार्क्स इस विभाजन से सहमत नहीं है। वह लिखता है कि समाज केवल दो वर्गों में बँटा हुआ है। एक को 'पूँजीपति' (Capitalists) और दूसरे को 'मजदूर' (Proletariat) वर्ग कहते हैं। मशीनों से पहले इन दोनों में कोई विशेष अन्तर न था, लेकिन मशीनों की वृद्धि के कारण यह अन्तर धीरे-धीरे बढ़ने लगा। पूँजीपति बड़ी मिलों के स्वामी बन गये और मजदूरों को विवश होकर उनमें काम करना पड़ा। वे हर प्रकार से धनियों के दास होते गये। समाज में पूँजीपतियों का बोलबाला बढ़ता गया। राजनीति में उन्हीं की बात महत्वपूर्ण गिनी जाने लगी। एक प्रकार से वे ही शासक बन बैठे। इसके विपरीत, मजदूर वर्ग उनके हाथ की कठपुतली होता गया। उसकी गरीबी प्रतिदिन बढ़ती गई। लेकिन जब इन्हें होश हुआ तो ये अपने अधिकार की चेष्टा करने लगे। परिणाम यह हुआ कि पूँजीपति और मजदूर इन दोनों वर्गों में लड़ाई आरम्भ हुई। मार्क्स लिखता है कि यह युद्ध इतिहास के आरम्भिक युग से चल रहा है, परन्तु किसी को इसका पता न था। धर्म और अध्यात्मवाद के कारण लोगों का ध्यान आर्थिक महत्व की ओर जाता ही न था। आधुनिक भौतिकवाद के कारण यह लड़ाई स्पष्ट दिखाई पड़ रही है। जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था है तब तक यह लड़ाई जारी रहेगी। गरीब वर्ग अपने अधिकार के लिये लड़ता रहेगा और पूँजीपति अपने स्वार्थ की रक्षा करते रहेंगे। इस युद्ध को दूर करने का उपाय यही है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था दूर कर दी जाय। सम्पत्ति पर सरकार का

आठ आने रोज पर एक बढ़ई रक्खा। उसने ६ दिन में एक मेज तैयार किया। अर्थात् हमें बढ़ई को तीन रुपये देने पड़े। हमने उसे बाजार में पाँच रुपये को बेंचा। मार्क्स इस दो रुपये को, जो हमने अधिक लिया, अनुचित मूल्य कहता है। हमें उस मेज को तीन रुपये में ही बेंचना चाहिये था। हमने बढ़ई के परिश्रम से अनुचित लाभ उठाया। इसी तरह पूँजीपति कम पैसे देकर मजदूरों से चीजें तैयार कराते हैं और उन्हें अधिक-से-अधिक लाभ पर बेचते हैं। यही कारण है कि बेचारे मजदूरों के पास झोपड़ो तक नहीं है और पूँजीपतियों की आलीशान इमारतें खड़ी हैं। मार्क्स लिखता है कि परिश्रम का मूल्य उचित लगाया जाय तो हर आदमी अपनी कमाई से लाभ उठा सकता है। उसे दूसरे के परिश्रम पर जीवित रहने की आवश्यकता न होगी। वस्तुओं का मूल्य परिश्रम के अनुसार लगाया जाय तो धनियों को यह अवसर नहीं मिल सकता कि वे गरीबों से अनुचित लाभ उठायें। परिश्रम एक वस्तु है जिसे पूँजीपति सस्ते-से-सस्ते दाम में खरीद लेता है। बिचारे मजदूरों को विवश होकर इसे वेच देना पड़ता है।

समाजवाद के ये तीनों सिद्धांत इसके तीन पाये हैं। मार्क्स को समझने के लिये यह आवश्यक है कि ये तीनों सिद्धांत समझ लिये जायँ, तभी वैज्ञानिक समाजवाद समझ में आ सकता है। वर्तमान युग में समाजवाद अन्तर्राष्ट्रीय है। इसका क्षेत्र क्रमशः बढ़ रहा है। रूस में यह सिद्धांत कार्य रूप में परिणत किया गया है। वहाँ इसे सफलता भी मिल रही है। दुनिया की दृष्टि रूस की ओर लगी हुई है। कुछ देश तो उसे हर प्रकार से बदनाम करने की कोशिश करते हैं। लेकिन वह उनकी परवाह न कर अपने रास्ते पर लगा हुआ है। कुछ लोग रूसी समाजवाद को कलकत्ते की काल कोठरी से भयंकर कहते हैं, लेकिन कुछ इसे संसार का स्वर्ग समझते हैं।

**समाजवाद के गुण और दोष**

धन मनुष्य के जीवन में बहुत बड़ा हाथ रखता है। समाजवाद इस पर काफी प्रकाश डालता है। कोई व्यक्ति, चाहे वह विद्वान हो या धार्मिक इसकी उपयोगिता से मुँह नहीं मोड़ सकता। समाजवाद का यह सिद्धांत सभी को प्रिय है कि समाज में पूर्ण समानता होनी चाहिये। धनी और गरीब का अंतर सचमुच एक पाप है। एक ओर तो लोग भूखों मरें, और दूसरी ओर मंडियाँ गल्ले से भरी हुई हों, इस अधःपतन की दूसरी मिसाल शायद ही कहीं मिलेगी। समाजवादी धन की समानता पर सबसे अधिक जोर देते हैं। वर्तमान भौतिकवाद के युग में धन की महत्ता को देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि इसकी समानता आवश्यक है। मनुष्य की सारी उन्नति का दारोमदार आज धन पर निर्भर है। ऐसी दशा में एक वर्ग को इससे वंचित रखना सर्वथा अन्याय है। समाजवादी धर्म को ढोंग समझते हैं। हम काफी अंश में उनसे सहमत हैं। बीसवीं सदी में धर्म के नाम पर जो अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें

देखते हुए अच्छे-से-अच्छे लोगों को इसके प्रति घृणा होती है। मध्ययुग में यूरोप में धर्म के नाम पर सैकड़ों वर्ष तक लड़ाई चलती रही। इसी के कारण रानी मेरी ने ४०० जीवित आदमियों को आग में झोंक दिया। इसी के नाम पर हमारे देश में छुआछूत का रिवाज है। ईश्वर और अल्लाह के नाम पर हिन्दू और मुसलमान आपस में उलझ पड़ते हैं। अगर सचमुच धर्म इसी का नाम है तो प्रत्येक मनुष्य धर्म छोड़कर विधर्मी बन जावे। समाजवादी जिस धर्म को तिलांजलि देना चाहते हैं, उसके अन्दर इसी बनावटी धर्म की गंध है।

समाजवाद के अंदर एक विचित्र बात और है। गरीबों के प्रति जितनी सहानुभूति इस वाद के अंदर है उतनी शायद ही किसी वाद में हो। व्यक्तिगत सम्पत्ति को हटाकर समाजवाद एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें सभी प्रकार की समानता और एकता होगी; मनुष्य अपने परिश्रम का उपभोग करेगा; गरीबी और बेकारी इस पृथ्वी से जाती रहेगी। सभी प्रकार के संघर्ष सदा के लिये दूर हो जायेंगे; स्वार्थ परमार्थ में परिणत हो जायगा; नीच-ऊँच, छोटे-बड़े, धनी-गरीब का अंतर जाता रहेगा। यदि सचमुच समाजवाद सच्चे दिल से इसकी स्थापना करना चाहता है तो हम हृदय से इसका स्वागत करते हैं। जहाँ समाजवाद में इतने गुण हैं वहाँ इसकी कुछ बुराइयाँ भी हैं। लोगों का कहना है कि विषमता प्रकृति का नियम है। पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं हैं। इसलिये आर्थिक समानता निरा स्वप्न है। जब मनुष्य में शारीरिक समानता नहीं है और उसकी बुद्धि में भी अंतर है तो और चीजों में भी विषमता रहेगी। समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के कट्टर शत्रु हैं। एक विद्वान का कहना है, "सबसे ऊँची सभ्यता में व्यक्तिगत सम्पत्ति का ही नियम लागू किया जायगा।"*

प्रयोग करना पड़े तब भी इसे कोई हिचक नहीं है। सामाजिक इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि विकास के सिद्धान्त मनुष्य के लिये अधिक लाभप्रद होते हैं। सहसा परिवर्तन समाज को चकाचौंध कर देता है। क्रान्ति के द्वारा समाजवाद इस नियम का उल्लंघन करता है। धर्म की गन्दी बातें दूर करने के लिए सभी तैयार हैं, लेकिन इसके विनाश के लिए बहुत थोड़े से लोग राजी होंगे। सच्चे दिल से देखा जाय तो धर्म ने मनुष्य जाति का काफी कल्याण किया है। भारत के मस्तक को दुनिया के सामने ऊँचा रखने का श्रेय इसी को है।

**भारत और समाजवाद**

समाजवाद की चर्चा भारत में भी काफी हो रही है। कांग्रेस से पृथक् एक समाजवादी दल अपना स्थान रखता है। इसका उद्देश्य भारत में समाजवाद की स्थापना करना है। परन्तु कांग्रेस के सामने अभी जनता में इसकी लोकप्रियता कम है। इस दल ने कोई रचनात्मक कार्यक्रम जनता के सामने अभी तक नहीं रक्खा है। इतने पर भी इसका भविष्य उज्ज्वल है। इसीलिये यह दल अभी पीछे है। जो लोग इस देश में समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं वे इसका मुकाबला रूस से करते हैं। उनका कहना है कि रूस और भारत दोनों कृषि-प्रधान देश हैं, दोनों की जन-संख्या काफी बड़ी है, लम्बाई-चौड़ाई में दोनों ही विशाल हैं, इसलिये इस देश में समाजवाद का अच्छा प्रचार हो सकता है। एक सज्जन तो यहाँ तक लिखते हैं कि यह वाद उसी देश में प्रचलित हो सकता है जहाँ की अधिकतर जनता खेती पर जीवन-निर्वाह करती हो और जिसका रहन-सहन साधारण हो। इसे देखते हुए भारत समाजवाद के लिए सर्वथा उपयुक्त है। जिस तरह रूस में पचास भाषायें हैं और लगभग आधे दर्जन धार्मिक सम्प्रदाय हैं उसी तरह भारत में भी अनेक धर्म और भाषायें हैं। समाजवाद की स्थापना से पहले जो दशा रूस की थी वही आज भारत की है। रूस में निरंकुश शासन था। यहाँ भी प्रजातन्त्रवाद का सच्चा स्वरूप नहीं है। ग्राम पंचायतों की प्रथा दोनों देशों में थी। जैसी विकट गरीबी रूस में थी उसी तरह आज भारत में भी है। इतनी समानता होते हुए भी इस देश में समाजवाद का आन्दोलन अपनी शैशव अवस्था से आगे नहीं है।

पं० जवाहरलाल नेहरू अपने एक व्याख्यान में कहते हैं, "भारत की गरीबी और बेकारी की कठिन समस्या तभी सुलझ सकती है जब इस देश का संगठन समाजवाद के आधार पर किया जाय।"* लेकिन वे यह भी कहते हैं कि पहले इस

---

* The tremendous problem of poverty and unemployment in India can only be solved by a vast system of planning on socialistic basis.

देश को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा की चिन्ता होनी चाहिये, इसलिए वह समाजवाद को। वास्तव में इस देश में धर्म को हटाकर समाजवाद की स्थापना करना कठिन है। भारत सब कुछ खो सकता है, लेकिन अन्त समय तक अपने धर्म को नहीं छोड़ सकता। जो लोग समाजवाद की ऊपरी बातों पर मुग्ध हैं, उन्हें धर्म के गूढ़ रहस्य मालूम नहीं है। धर्म से विरुद्ध इस देश में [illegible] सिद्धान्त उठाकर फेंक दिया जायगा। यहाँ का दर्शनशास्त्र रूस के समाजवाद से कहीं ऊँचा और तर्कपूर्ण है। समाजवाद की स्थापना उन्हीं देशों में हो सकती है जो मशीनों के वश में हैं। स्वतन्त्रता संग्राम के समय में भारत में यह आन्दोलन [illegible] था कि घरेलू उद्योग-धन्धे बढ़ाये जायँ और मशीनों का बहिष्कार हो। यह आन्दोलन गाँधीवाद के नाम से पुकारा जाता था। महात्मा गाँधी की मृत्यु के बाद [illegible] सरकार की नीति में काफ़ी परिवर्तन हुआ है। मशीनों की उपयोगिता का अनुभव किया जा रहा है और सरकार इस बात के पक्ष में है कि उद्योग धन्धों को बढ़ाने के लिये मशीनों का उपयोग आवश्यक है। ऐसी स्थिति में समाजवाद को प्रोत्साहन मिल सकता है। कुछ लोग भारतीय समाजवाद को नेहरूवाद भी कहते हैं। यदि सचमुच यह बात ठीक है तो हमारा विश्वास है कि गाँधीवाद नेहरूवाद से कहीं ऊँचा है। इसे पण्डित जी भी स्वीकार करते हैं। इस देश का प्राचीन इतिहास प्रजातन्त्रवाद का पोषक है। ग्राम-पंचायतें शासन की प्रधान कड़ियाँ थीं। स्थानीय जनता को टैक्स के अतिरिक्त यह अनुभव नहीं होता था कि राजनीतिक सत्ता किसी और के हाथ में है। आज भी ग्रामीण जनता अपने दैनिक जीवन में [illegible] का प्रयोग सरकारी कानूनों से अधिक करती है। यहाँ के निवासी सरकारी [illegible] से घबड़ाते हैं। इसीलिये प्रजातन्त्रवाद उन्हें अधिक प्रिय है। जो समाजवाद यहाँ प्रचलित होगा वह बहुत कुछ रूस से भिन्न होगा। समाजवादी दल भी इस बात से भारतीयकरण पर विचार कर रहा है।

———

# अध्याय १७

## कानून ( Law )

कानून की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है। कुछ लोग इसे स्वतन्त्रता की कुंजी और कुछ बन्धन कहकर पुकारते हैं। रोम का प्रसिद्ध विद्वान् सिसरो (Cicero) लिखता है, "हम स्वतन्त्र होने के लिये कानून के बन्धन में पड़े हुए हैं।"* सिसरो के इस कथन में एक आश्चर्य की बात यह है कि कानून बन्धन और स्वतन्त्रता दोनों की कुंजी है।

**कानून का तात्पर्य**

यह सभी जानते हैं कि कानून सरकार द्वारा बनते हैं। धारा सभायें इन्हें बनाती हैं। इनका मुख्य उद्देश्य यह है कि एक व्यक्ति किसी दूसरे को किसी प्रकार से हानि न पहुँचाये और हर आदमी अपने अधिकार की सीमा को पहचाने। इसीलिये कानून को "अधिकार का दर्शनशास्त्र" कहते हैं। अधिकार की लड़ाई न हो तो कानून की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका कार्य अधिकारों की व्याख्या करना है। अधिकारों की परिभाषा ही कानून है। लेकिन डूगिट (Duguit) के कथनानुसार अधिकार नाम की कोई चीज ही नहीं है। इसीलिये वह लिखता है कि कानून अधिकारों की व्याख्या न कर कर्त्तव्यों की परिभाषा करते हैं। जो कुछ भी हो हमें मानना होगा कि अधिकार और कर्त्तव्य दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक के बिना दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव हम इस नतीजे पर पहुँचे कि कानून का सम्बन्ध अधिकार और कर्त्तव्य दोनों से है। जो किसी के अधिकार में हस्तक्षेप करता है वह कानून द्वारा दोषी ठहराया जाता है। अथवा जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता उसे कानून द्वारा दण्ड दिया जाता है। 'कानून' शब्द इतना व्यापक है कि हर आदमी इसके नाम से परिचित है। लोग प्रायः कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़ा कानून-दाँ है। यहाँ पर कानून का तात्पर्य दाँव-पेच से है। जो आदमी अधिक-से-अधिक तिकड़म-बाज होता है उसे लोग कानून-दाँ कहते हैं। कानून दाँव-पेच की वस्तु अवश्य है, लेकिन यह केवल दाँव-पेच नहीं है। इसी का प्रभाव है जो हम समाज में संगठित रूप से रह रहे हैं। जब कभी हम अपने कर्त्तव्यों को भूल कर गलत मार्ग ग्रहण कर लेते हैं, तो कानून

---

* We are the slaves of the law in order that we may be free.

तक सीमित नहीं रहते, इनके लिये एक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। किसी देश में एक ही व्यक्ति रहता हो तो हम उसे राज्य नहीं कह सकते। कानून एक ऐसा साधन है जो व्यक्ति को समाज से जोड़ती है। जिस समाज में इसका पालन नहीं होता वह निकम्मा समझा जाता है। वे इस बात के द्योतक हैं कि कोई समाज अपने आपको कितना संगठित कर सकता है। कानून की अच्छाई-बुराई राज्य को बना और बिगाड़ सकती है। इससे जनता के विचार प्रकट होते हैं। इतिहास के प्रारम्भिक युग से अब तक मनुष्य का अध्ययन करने के लिये कानून आवश्यक हैं। सभ्य और असभ्य जाति की पहचान उनके कानूनों से भी की जाती है। यदि हम मनुष्य की सभ्यता का इतिहास उठाकर देखें तो पता चलेगा कि प्राचीन और नवीन कानूनों में महान् अन्तर है। कानून एक शक्ति है जिसके अन्दर इतना बल है कि वह बड़ी-से-बड़ी हस्ती को झुका सकता है। सरकार की सभी शक्तियाँ इसे प्राप्त हैं। सेना और पुलीस कानून के हाथ और पैर हैं। बड़ा-से-बड़ा व्यक्ति इस बात का साहस नहीं कर सकता कि वह इन्हें तोड़े।

मोटे तौर पर कानून के सात जरिये माने जाते हैं।

**रस्म-रिवाज**

१—रस्म-रिवाज कानून का सबसे पुराना और प्रसिद्ध जरिया है। जब सरकारी कानूनों का नाम भी न था उस समय ये समाज में प्रचलित थे और लोग उन्हें आदरपूर्वक मानते थे। हर देश के प्राचीन इतिहास में उनका वर्णन किया गया है। आज भी, जब कि सरकारी कानूनों की कमी नहीं है, रस्म-रिवाज प्रचलित हैं और कानून से कम महत्व नहीं रखते। जब सरकारी व्यवस्था बनने लगी तो इन्हीं के आधार पर कानूनों की रचना हुई। रोम, यूनान, इंगलैंड, भारत आदि देशों में प्राचीन काल से रस्म-रिवाज का विशेष प्रचार है। इंगलैंड में कुछ ऐसे कानून हैं जिन्हें 'रस्म-रिवाजी कानून' ( Customary Law ) कहा जाता है। यहाँ पर दो प्रश्न किये जा सकते हैं :—

अ—रीति-रिवाज कानून कैसे बनते हैं?

ब—रीति-रिवाज कानून कब बनते हैं?

कुछ जर्मन विद्वानों का मत है कि कानून और रस्म-रिवाज में कोई भेद नहीं है। एक से राजा की इच्छा प्रकट होती है और दूसरे से प्रजा की। चूँकि दोनों की शक्ति बराबर है इसलिये कानून और रस्म-रिवाज एक ही चीज हैं। धारा सभाओं ने रस्म-रिवाजों को कानून का रूप दे दिया। आस्टिन का कहना है कि रिवाज और कानून एक ही चीज है तो एक को दूसरे का रूप देने की क्या आवश्यकता है। वर्तमान अँग्रेज राजनीतिज्ञों का मत है कि जब कोई रिवाज सरकार द्वारा मान लिया जाता है तो वह कानून कहलाता है। इसकी स्वीकृति या तो धारा सभायें देती हैं

**न्यायानुकरण**

६—ऊपर कहा गया है कि कचहरियों के फैसले भी कानून के स्रोत हैं। आवश्यकतानुसार न्यायाधीश कानूनों का निर्माण कर सकते हैं। बड़ी कचहरियों के फैसले का अनुकरण छोटी कचहरियाँ करती हैं। यद्यपि वे इसके लिए बाध्य नहीं हैं; फिर भी आवश्यकता पड़ने पर उन्हें ऐसा करना पड़ता है। इस अनुकरण से कितने ही कानून बनते रहते हैं। अँग्रेजी में इस प्रकार के कानूनों को प्रीसीडेन्ट्स (Precedents) कहते हैं।

**न्याय संशोधन**

७—कानून तब तक काम करते हैं जब तक सामाजिक व्यवस्था उनके अनुकूल रहती है। दो हजार वर्ष का पुराना कानून आज काम नहीं कर सकता। जिन कानूनों का हम पालन कर रहे हैं वे एक या दो शताब्दी बाद बेकार हो जाते हैं। मनुष्यों के विचार में अन्तर पड़ने के कारण उनके सम्बन्ध बदलते रहते हैं। चूँकि कानून व्यक्तियों के सम्बन्ध को निश्चित करने के लिए बनाए जाते हैं इसलिए यह स्वाभाविक है कि इसके साथ कानून बदलते रहें। इसलिए कानूनों में संशोधन की आवश्यकता पड़ती है। पुराने कानूनों को नया रूप देना पड़ता है, कभी-कभी तो इसके लिए एक अलग न्यायालय बनाना पड़ता है, जिसका काम पुराने कानूनों की उपयोगिता पर विचार करना है। रोम साम्राज्य में प्रोटर ( Praetor ) की स्थापना इसी के लिए हुई थी। यह किसी व्यक्ति का नाम नहीं है बल्कि एक पद है। इंगलैंड में चान्सलर (Chancellor ) इसलिए नियुक्त किये जाते थे कि पुराने कानूनों में संशोधन करें। इससे भी कितने ही नये कानून बनते रहते हैं। अंग्रेजी में इस प्रकार के कानून को इक्यूटी ( Equity ) कहते हैं।

**कानून का पालन**

"कानून और स्वतन्त्रता एक दूसरे के विरुद्ध हैं।"* यदि हम इस कथन को सत्य मान लें तो यह प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में हम कानून का पालन क्यों करते हैं। जिन कानूनों से हमारी स्वतन्त्रता नष्ट होती है उन्हें हम क्यों मानते हैं ? इसके विपरीत कुछ विद्वानों का कहना है कि कानून और स्वतन्त्रता में कोई विरोध नहीं है। कानून का पालन स्वतन्त्रता की सीढ़ी है। इस कथन के अनुसार एक दूसरे का पूरक है। स्वतन्त्रता के अर्थ को न जानते हुए भी आम जनता कानूनों का पालन करती है। इसका भी हमें कारण जानना होगा। यह प्रश्न कानून तक ही सीमित नहीं है। आज्ञा पालन एक गुण है। यदि समाज में इसकी व्यवस्था न हो तो मनुष्य संगठित नहीं रह सकता। कुटुम्ब से राज्य तक में आज्ञा

* Law and Liberty are Poles asunder.

पालन का भाव पाया जाता है। यह प्रश्न विचारणीय है कि कानून का पालन क्यों होता है।

**भय**

कुछ लोगों का मत है कि कानून का पालन भय के कारण होता है। लोग डरते हैं कि यदि वे कानून को तोड़ेंगे तो सरकार उन्हें दण्ड देगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि अधिकतर लोग कानून का पालन इसीलिए करते हैं। जो मूर्ख और अज्ञानी हैं, जिन्हें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है, वे औरों को हानि पहुँचाते हैं। कानून के भय से उनकी अनुचित कार्रवाइयाँ काफी अंश तक रोक दी जाती हैं। यद्यपि वे कानूनों को पसन्द नहीं करते और इनके दुबके उन्हें तोड़ते रहते हैं, फिर भी बाह्य रूप में उन्हें इनका पालन करना ही पड़ता है। इसका एकमात्र कारण भय है। लगभग ६० प्रतिशत लोग दण्ड के भय से कानूनों का पालन करते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं है कि इनके तोड़ने से दूसरों के अधिकार में बाधा पड़ती है। व्यक्तिगत लाभ के सामने वे नीति की परवाह नहीं करते। बहुसंख्यक प्राणी व्यक्तिगत लाभ को नीति, धर्म, न्याय और कर्त्तव्य से बढ़कर समझते हैं।

**तर्क**

कानून के पालन का तीसरा कारण तर्क है। कुछ व्यक्ति, जिनकी संख्या कम नहीं है, तर्क-पूर्वक यह विचार करते हैं कि कानूनों से उन्हें हानि है अथवा लाभ। अपने समान वे औरों के हित पर भी विचार करते हैं। इस विषय में वे एकमत हैं कि कानूनों की अनुपस्थिति में व्यक्तिगत और सामाजिक सुखों का अन्त हो जायगा। देश में अराजकता फैलेगी। शान्तिपूर्वक कार्य करने का अवसर जाता रहेगा। मनुष्य को अपनी पुरानी जंगली अवस्था में रहना होगा। इसलिए बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है कि कानूनों का आदर करें।

**काहिली**

समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो सोचने-विचारने की तकलीफ नहीं उठाना चाहते। उन्हें सभी बातों में हामी भरना अच्छा लगता है। 'नहीं' करने की तकलीफ उन्हें पसन्द नहीं है। दूसरों की बनी-बनाई चीज को वे इसलिए पसन्द कर लेते हैं कि स्वयं बनाने में तकलीफ होगी। औरों की राय को बिना किसी तर्क-वितर्क के वे चुपचाप मान लेते हैं। अधिकतर लोग तकलीफ उठाने से डरते हैं। कानून बनाना और उसे तोड़ना दोनों ही कठिन हैं। दोनों में बुद्धि और साहस की आवश्यकता है। काहिल आदमी इनमें से एक भी नहीं कर सकता। जेम्स ब्राइस ( James Bryce ) ने कहीं पर लिखा है कि हर ६ आदमी में ५ आदमी काहिली के कारण कानूनों का पालन करते हैं।

सहानुभूति

कानून पालन का दूसरा कारण सहानुभूति है। अधिकतर लोगों में यह गुण पाया जाता है कि वे औरों के प्रति दयालु होते हैं। दूसरों से प्रेम करना उनका स्वाभाविक गुण होता है। कानून के कारण उन्हें शान्त वातावरण मिलता है। लोग मर्यादा के अन्दर अपना काम करते हैं। ऐसे वातावरण में उन्हें अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलने का अवसर मिलता है। उनकी अभिलाषा होती है कि लोगों में अधिक-से-अधिक सद्भाव हो। कानूनों में समानता का भाव सबसे अधिक है। इन्हीं सब कारणों से वे कानून का पालन करते हैं। उनकी सहानुभूति जैसे मनुष्यों के प्रति होती है वैसे कानूनों के प्रति। सहानुभूति के अन्दर मर्यादा का भाव होता है। हम अपने बड़ों की बातें इसलिए मानते हैं कि हम उनकी इज्जत करते हैं। उनकी आज्ञा हमें शिरोधार्य होती है। साधु-सन्तों की बातें सबको भली लगती हैं। कानून बनाने वालों को हम अपने से बुद्धिमान और देश-हितैषी समझते हैं। इसी सहानुभूति और मर्यादा के कारण हम कानूनों का पालन करते हैं।

स्वभाव

नियम पालन मनुष्य का स्वभाव है। अनियमित जीवन किसी को अच्छा नहीं लगता। समाज की रचना अनादि काल से होने के कारण मनुष्य नियमों को अपना स्वभाव समझता है। ईश्वर में अधिकतर लोगों के विश्वास का कारण सामाजिक परम्परा है। हम समाज की बहुत-सी बातों को इसलिए मानते हैं कि हमें उनकी आदत पड़ गई है। इन्हें सिखलाने के लिए स्कूल और पाठशालाएँ नहीं हैं, फिर भी सारा समाज इनका शिक्षक है। स्वभाव के अन्तर्गत कुछ और भी ऐसी बातें हैं जिन्हें हम कानून-पालन का कारण कह सकते हैं। आज्ञा-पालन का भाव कुटुम्ब से आरम्भ होता है, इसीलिए लोग कानून-पालन के आदी होते हैं। धार्मिक उपदेशों में आज्ञा-पालन का भाव अधिक है।

कानून के अन्तिम उद्देश्य

कानून का अन्तिम उद्देश्य क्या है? इस पर पाउण्ड के विचार सबसे सुलझे हुए हैं। उसने कानून के मुख्य चार उद्देश्य निर्धारित किये हैं।

१—कानून का प्रथम उद्देश्य राज्य में शान्ति रखना है। जब तक राज्य में शान्ति नहीं है तब तक व्यक्ति स्वतन्त्रता-पूर्वक अपना कार्य नहीं कर सकता।

२—कानून का दूसरा उद्देश्य राज्य में समता उत्पन्न करना है। धनी-गरीब का अन्तर सरकार की दृष्टि में तभी तक है जब तक दोनों शांतिपूर्वक एक दूसरे का ध्यान रखते हुए अपना कार्य करें। चूँकि यह बात स्वाभाविक नहीं है, इसलिए सरकार अपनी संस्थाओं में इनमें कोई भेद-भाव नहीं करती। कचहरियों में दोनों समान समझे जाते

है। टैक्स की यह नीति है कि धनियों से अधिक और गरीबों से कम लिया जाय, ताकि आर्थिक विषमता दूर हो। कानून दण्ड देने में किसी तरह का पक्षपात नहीं करते। इसी के भय से बलवान कमजोरों को और बुद्धिमान मूर्खों को दबा नहीं सकता। सरकार अपनी ओर से सबको समान अवसर देती है, [illegible] कानून न [illegible] के अभाव के कारण मनुष्य का जीवन दुःखी और निर्बल हो जाय।

२—व्यक्तित्व की रक्षा और उसका विकास कानून का दूसरा उद्देश्य माना गया है। रक्षा तभी हो सकती है जब व्यक्ति को अपने कार्यों में अधिक [illegible] हो। आंतरिक शक्तियों की वृद्धि व्यक्तित्व का विकास कहलाता है। कानून मनुष्य को [illegible] मनुष्य बनाने के लिये है। यह तभी सम्भव है जब उसको अनुचित कार्यों से रोका [illegible] दी जाय और बुरे कामों के लिए उसे दण्ड दिया जाय। कानून में [illegible] के संगठन का भाव अधिक होना चाहिए जिससे सेवा आदि कार्यों [illegible] अपने व्यक्तित्व को बढ़ा सकें।

१—दंड उतना ही मिलना चाहिये जितना अपराधी सहन कर सके। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अपराध और दंड दोनों का अनुपात बराबर हो। जैसा छोटा-बड़ा अपराध हो उतना ही कम-वेश दंड दिया जाय। किसी की जेब से चार पैसे निकालने वाले को फाँसी की सजा नहीं मिलनी चाहिए। दंड न्याय के लिये दिया जाता है। इसका उद्देश्य समाज की भलाई करना है।

२—जब दो व्यक्तियों अथवा गिरोह में झगड़ा होता है तो उस व्यक्ति वा गिरोह को दंड दिया जाता है जिसने हानि पहुँचाई है। इसके अन्दर एक मनोवैज्ञानिक भाव है। यद्यपि अपराधी को दंड देने से उसके विपक्षी को कुछ मिलता नहीं, फिर भी उसे संतोष होता है।

३—दंड से अपराध करने वाले को इस बात की चेतावनी दी जाती है कि आगे ऐसा नहीं करना चाहिये। दण्ड देते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि अपराधी इससे यह शिक्षा ग्रहण करे कि भविष्य में ऐसा नहीं करेगा।

४—दंड के पीछे समाज-हित का भाव रहता है। जब किसी को कुछ दण्ड दिया जाता है तो उसकी चेतावनी के साथ औरों को इस बात की शिक्षा मिलती है कि उन्हें भी ऐसा नहीं करना चाहिये। अपराधी के कष्ट से औरों को भी लाभ पहुँचता है। वे अपराध करने से डरते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अपराध कम होने से दंड की आवश्यकता कम पड़ती है। फाँसी की सजा से अपराधी को अपने सुधार का अवसर नहीं दिया जाता, परन्तु इससे दूसरों को एक बहुत बड़ी शिक्षा मिलती है।

**स्वाभाविक क़ानून (Natural Law)**

स्वाभाविक क़ानून के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों का विचार है कि प्राकृतिक नियमों को कानून समझना मूर्खता है। प्रकृति प्राणीमात्र की चिन्ता स्वयं करती है, हमें उससे सतर्क होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्राकृतिक जगत की गति जिन नियमों के अनुसार होती है वे अटल और दुरूह हैं। भौतिक जगत उनका अनुकरण नहीं कर सकता। सूर्योदय, दिन, रात, सर्दी, गर्मी, भूचाल, विपत्तियाँ इन सब के पीछे एक प्राकृतिक नियम है, जिसे समझना कोई खेल नहीं है। यद्यपि इनके लिये कोई न्यायालय अथवा सरकारी विधान नहीं है, फिर भी इन्हें तोड़ने वालों को प्रकृति स्वयं दण्ड देती है। आवश्यकता से अधिक भोजन करने वाला बीमार पड़ जाता है। समय के अनुसार जो काम नहीं करता वह रोगी और दुर्बल होता है। भूख और प्यास की अवहेलना करने वाला मृत्यु का भागी होता है। अर्थात् प्राकृतिक नियम सरकारी कानूनों से बड़े होते हैं।

स्वाभाविक नियम के इस अर्थ से कुछ लोग सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि ये नियम दो प्रकार के हैं। एक मनुष्य के मस्तिष्क में काम करता है और दूसरा बाह्य

जगत में। जो बाह्य जगत में काम करता है उसे प्राकृतिक नियम और जो मनुष्य के मस्तिष्क में काम करता है उसे स्वाभाविक कानून कहते हैं। प्रश्न यह है कि ये स्वाभाविक कानून क्या हैं? तर्क का दूसरा नाम स्वाभाविक कानून है। मनुष्य किसी बुरे मार्ग पर चलता है तो उसकी शुद्ध बुद्धि उसे रोकती है। चोरी, व्यभिचार, बेईमानी—इन्हें करने में लोग आरम्भ में हिचकते हैं। जो शक्ति मनुष्य को इन बुराइयों से रोकती है वह स्वाभाविक कानून कहलाती है। उसी को कोई बुद्धि, कोई तर्क और कोई अन्तरात्मा कहता है। यह आम कहावत है कि जो अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर चलता है वह अपना और समाज दोनों का हित करता है। अर्थात् स्वाभाविक कानून इतने अच्छे हैं कि प्रत्येक मनुष्य को इनका पालन करना चाहिये। इस सिद्धान्त के मानने में एक बहुत बड़ी कठिनाई है। मनुष्य अपने तर्क और बुद्धि से सब कुछ करता है। फिर एक ही स्वाभाविक कानून किसी को अच्छे और किसी को बुरे मार्ग पर क्यों ले जाते हैं? जब प्राकृतिक नियम दृढ़ हैं तो इन्हें कोई कैसे तोड़ता है। रोम के विद्वानों ने प्राचीन काल में स्वाभाविक कानूनों के पालन पर जोर दिया है और इस पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख डाले हैं।

सरकारी कानूनों के अन्तर्गत स्वाभाविक कानून का वर्णन असगत है। प्राकृतिक नियमों को कानून कहना ही गलत है। स्वभाव और कानून में सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु स्वभाव अच्छे और बुरे दोनों होते हैं, लेकिन कानून बुरे नहीं होते। यदि वे बुरे हैं तो उन्हें कानून कहना ही गलत है। प्राचीन तथा मध्य काल में लोग प्रकृति के उपासक थे। सामाजिक संगठनों में प्राकृतिक अथवा दैवी नियमों को अधिक महत्व दिया जाता था। जो व्यक्ति सरल जीवन व्यतीत करता और ईश्वर के सहारे रहता, वह समाज में आदर का पात्र गिना जाता था। अब भी यह भावना कम नहीं है। चूँकि आधुनिक युग भौतिकवाद का युग है इसलिये प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक नियम 'कानून' के अन्तर्गत नहीं गिने जाते। 'कानून' शब्द कोई गोल-माल की चीज नहीं है। इसका सीधा अर्थ यह है कि समाज को चलाने के लिये सरकार की ओर से जो नियम चालू किये गये हैं वे कानून कहलाते हैं। इसके पीछे सरकार और समाज दोनों की संगठित शक्ति होती है।

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law)**

जब दो या दो से अधिक देश एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो उन्हें कुछ ऐसे नियम बनाने पड़ते हैं जिनसे आपस में कोई मतभेद न हो। व्यापार, युद्ध, सन्धि, आवागमन आदि विषयों में नियमों की आवश्यकता पड़ती है। कुछ देशों की सरकारें आपस के सहयोग से यह निश्चित करती हैं कि यदि कभी उनमें वैर-विरोध हो तो उसका निपटारा अमुक प्रकार से किया जाय। इससे भी काम न चले और युद्ध अवश्यम्भावी हो तो उस दशा में भी चन्द

नियमों का पालन किया जाय। जैसे लड़ाई के समय निर्दोष और निष्पक्ष व्यक्तियों पर प्रहार न किया जाय। स्त्री, बालक, वृद्ध, तपस्वी—इनको किसी तरह की हानि न पहुँचाई जाय। जहरीली गैस, आग, तथा अन्य विध्वंसक साधनों का प्रयोग न किया जाय। अस्पताल, स्कूल, मन्दिर, पंचायत घर, तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं पर शत्रु का कोई वर्ग आक्रमण न करे। इसी तरह के कुछ नियम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी बनाये गये हैं।

कुछ राजनीतिज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून की श्रेणी में नहीं गिनते। सरकारी कानूनों के पीछे फौज, पुलीस, कचहरी आदि शक्तियाँ व्यक्ति को उनके पालन के लिये बाध्य करती हैं। राज्य के अन्तर्गत बड़े-से-बड़े व्यक्ति वा गिरोह को बिना किसी परिवर्तन के उनका पालन करना पड़ता है। धारा सभाओं में प्रजा के प्रतिनिधि कानूनों पर हर पहलू से विचार करते हैं और जब लोकमत उनके विरुद्ध नहीं होता, तब उन्हें कार्यान्वित किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों पर विचार करने के लिए न कोई धारा सभा है और न उनके पीछे कोई शक्ति है। बड़े-बड़े राष्ट्र जब उनका उल्लंघन करते हैं तो कमजोर राष्ट्रों को उन्हें सहन करना पड़ता है। इन्हें तोड़ने वालों को दण्ड देने के लिये किसी न्यायालय की व्यवस्था नहीं है। जिस प्रकार धार्मिक वा सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने पर किसी को दण्ड देने की व्यवस्था नहीं है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन राष्ट्रों की सद्भावना (Good will) पर छोड़ दिया गया है। जब तक वे नियम उनके हित में बाधक नहीं हैं तब तक वे उन्हें मानते हैं, परन्तु प्रत्येक दशा में उनका पालन करने के लिये वे बाध्य नहीं हैं। किसी देश पर विजय प्राप्ति की अभिलाषा से आक्रमण करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध है। लेकिन पिछले ५० वर्षों के इतिहास से स्पष्ट है कि बहुत थोड़े राष्ट्र इसका पालन करते हैं। यदि इन्हें पालन करने के लिये किसी शक्ति की व्यवस्था होती तो इतना अधिक इनका दुरुपयोग न होता।

१९१४ की बड़ी लड़ाई के बाद राष्ट्रसंघ को यह भार सौंपा गया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संकलन करे और उनके पालन का कोई उपाय सोचे। राष्ट्रसंघ ने किसी हद तक इस कार्य को किया परन्तु स्वयं असफल होने के कारण इसकी पूर्ति न कर सका। अभी तक कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जो इन नियमों को कानून का रूप देकर राष्ट्रों को इनके पालन के लिये बाध्य करे। गत महायुद्ध की व्यापकता और भयंकरता को देखते हुए विद्वानों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था जब तक दृढ़ न होगी तब तक संसार में शान्ति का राज्य स्थापित नहीं हो सकता। संसार की राजनैतिक व्यवस्था एक हो, अथवा सबका एक संघ हो—इस प्रकार की आवाज योरप और अमेरिका से आने लगी है। बड़े-से-बड़े नेता और राष्ट्रों के कर्णधार यह एलान

कर रहे हैं कि नवीन व्यवस्था ( New World Order ) अमुक प्रकार की होगी। भविष्य में न केवल कानून बल्कि अन्तर्राष्ट्रीयता के सभी पहलुओं पर विशेष रूप से अमल करना होगा।

**कानून और स्वतन्त्रता (Law and Liberty)**

कानून का पालन सबके लिये अनिवार्य है। और कामों को हम मनमाना कर सकते हैं, परन्तु कानूनों में उलटफेर करने की स्वतन्त्रता किसी को नहीं है। बीमार-से-बीमार अपराधी को जेल-यातनायें भोगनी पड़ती हैं; गरीब, दुखी, मजदूर, इन सबको सरकारी टैक्स देना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि कानून एक ऐसा बन्धन है जिससे कोई मुक्त नहीं है। अपराधी को यह कहने का अधिकार नहीं है कि उसे अमुक कानून की जानकारी न थी। कानून किसी को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं देते कि वह दूसरों की सम्पत्ति का मालिक बन बैठे अथवा उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचाये। वे सबको इस बात के लिये बाध्य करते हैं कि अपने स्वार्थ के साथ लोग दूसरों के अधिकारों का ध्यान रक्खें। अपने कर्त्तव्य से आँख चुराने वाला दण्ड का भागी समझा जाता है। मनुष्य अपनी गलतियों को छिपाने में कुशल होता है। वह नहीं चाहता कि उसके घृणित कार्य दूसरों की दृष्टि में आवें। लज्जा और दंड के भय से वह एक गलती को छिपाने के लिये सैकड़ों गलतियाँ करता है। लेकिन जब कभी वह कानून के चंगुल में फँस जाता है तो उसके कार्य का भंडाफोड़ समाज में बुरी तरह होता है। इन्हीं सब कारणों से कानून को स्वतन्त्रता का शत्रु कहा गया है।

'स्वतन्त्रता' नामक अध्याय में इस बात पर विचार किया गया है कि समाज में पूर्ण स्वतन्त्रता हानिकारक है। जिन कार्यों से एक दूसरे को बाधा पहुँचे उन्हें रोकना समाज का धर्म है। पैशाचिक स्वतन्त्रता व्यक्ति और समाज दोनों के लिये घातक है। चोरी, व्यभिचार, लूट-मार आदि कार्यों के लिये व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो उसकी दशा पशु से भी बुरी होगी। न केवल औरों को बल्कि अपने आपको भी वह ऊँचा नहीं उठा सकता। कानून की व्यवस्था इसीलिये की गई है कि मनुष्य अपनी कमजोरियों का समाज में अमल न करे। वह धार्मिक या दैशानिक उपायों से अपने आपको इस योग्य बनाये कि उसके जीवन से किसी की हानि न हो। जब तक मनुष्य इस सतह पर नहीं आ जाता तब तक उसे शुभ होने का अवसर नहीं मिल सकता। कानून उसे इस बात की शिक्षा देते हैं कि वह अपने को दूसरों से अलग न समझे। जिस प्रकार एकान्त में ईश्वर और आत्मा के भय से एक तपस्वी कोई बुरा विचार मन में नहीं लाता, उसी तरह कानून और दण्ड के भय से मनुष्य समाज में कुत्सित कर्म करने के लिये स्वतन्त्र नहीं है।

कानून और स्वतन्त्रता में कोई विरोध नहीं है। जिस स्वतन्त्रता का कानून विरोध करते हैं वह जंगली और पैशाचिक है। कोई सभ्य और सुशिक्षित मनुष्य उसका समर्थन नहीं कर सकता। समाज में शान्ति, सुख और सौजन्य का भाव पैदा करने का श्रेय कानूनों को है। जो लोग इनका विरोध करते हैं वे अपना विचार थोड़े से सरकारी कर्मचारियों के अनुचित कार्यों पर अथवा अपनी स्वार्थ-पिपासा पर बनाते हैं। साधु-संन्यासियों को फौज, पुलीस, जेल तथा अन्य व्यक्तियों वा संस्थाओं का भय नहीं होता। वे अपनी इच्छानुसार सर्वत्र विचरण करने के लिए स्वतन्त्र हैं। समाज में सब लोग उनका आदर करते हैं लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं होता। वे अपने क्रिया-कर्म द्वारा इन्द्रियों का इतना दमन करते हैं कि लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ आदि कमजोरियाँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं। तभी समाज में उन्हें स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है। साधारण व्यक्तियों में आत्मबल की कमी है इसलिये कानून के दबाव की उन्हें आवश्यकता पड़ती है।

# अध्याय १८

## लोकमत

## ( Public Opinion )

भरत विनय सादर सुनिय, करिअ विचारु बहोरि ।
करब साधुमत लोकमत, नृपनय निगम निचोरि ॥

**लोकमत की व्याख्या**

एक या दो व्यक्तियों का किसी विषय पर क्या मत है यह जानना सरल है । किन्तु उसी विषय पर दो चार हजार आदमियों का मत जानना एक कठिन समस्या है । उससे पहले इसके लिये उपयुक्त साधन की आवश्यकता है, दूसरे उन मतों को एकत्र करने में बड़ी ही सच्चाई और सावधानी की आवश्यकता है । यह प्रायः देखा जाता है कि एक मनुष्य दूसरे की कही हुई बात को कुछ घटा-बढ़ा कर कहता है । जैसा का तैसा कहना मनुष्य स्वभाव के विपरीत मालूम पड़ता है । ऐसी स्थिति में किसी विषय पर सम्पूर्ण देशवासियों का मत जानना कुछ असम्भव सा जान पड़ता है । सिद्धान्त रूप में इसकी पुष्टि भले ही की जाय परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह सर्वथा असम्भव है । यद्यपि वर्तमान वैज्ञानिक युग में आवागमन-लेखन, तथा नवीन आविष्कारों की सुविधा के कारण लोकमत का संग्रह एक साधारण सी बात है, परन्तु यह मानना होगा कि सच्चा लोकमत बहुत कम विषयों पर जाना जाता है । जिसे पत्र-पत्रिकाओं में अथवा सरकारी आज्ञा से लोकमत घोषित कर दिया जाय वही लोकमत है--ऐसी बात नहीं है । छल-कपट से भी एक व्यक्ति अपनी राय को सैकड़ों व्यक्तियों पर लाद देता है । ऐसा भी देखा जाता है कि किसी बात को लेकर देश के अधिकांश व्यक्ति असन्तुष्ट एवं क्रुद्ध होते हैं, परन्तु उनकी इच्छा के विरुद्ध वह लोकमत के अनुकूल मानी जाती है । जब लोग उसे नहीं चाहते हैं तो लोकमत कैसे हो सकता है ?

लोकमत से तात्पर्य 'लोगों की राय' से है । मान लीजिये किसी विषय पर ५ आदमियों की राय ली जाती है । जो राय कम से कम ३ व्यक्तियों की है वही उस विषय पर लोकमत कहलायेगा । ऐसी स्थिति में यदि लोकमत को 'बहुमत' कहा जाय तो अनुचित नहीं है । जो बहुमत है वह लोकमत अवश्य है । विधान-मण्डलों में

जो मत आधे से अधिक सदस्यों का होता है वही लोकमत माना जाता है, कारण यह है कि विधान-मण्डलों के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं। एक सदस्य की राय हजारों मताधिकारियों की राय मानी जाती है। प्रजातन्त्र राज्यों में विधान-मण्डलों में सभी कार्य बहुमत से ही किये जाते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से इसका आशय यही है कि उनमें लोकमत का आदर किया जाता है। फिर भी जनता सरकार के कितने ही कार्यों से असन्तुष्ट रहती है। यदि सरकार उन कार्यों में जनमत संग्रह करे तो सम्भव है कि उसे अपनी नीति बदल देनी पड़े। ऐसा इसलिये होता है कि लोकमत बड़ी तीव्र गति से बदलता रहता है। विधान-मण्डल के प्रतिनिधियों के निर्वाचन के समय जो लोकमत होता है वही उसके पश्चात् नहीं रह जाता। समय के प्रवाह में परिस्थिति बदल जाती है और उसी के साथ लोकमत भी बदल जाता है। इसीलिये निर्वाचन के पश्चात् लोकमत विधान-मडल के सदस्यों के मन से मेल नहीं खाता। जनता के प्रतिनिधि विधान-मण्डलों में जाकर लोकमत को पहचानने में असमर्थ हो जाते हैं।

मनुष्य के विचार प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। सवेरे से सन्ध्या तक एक ही विषय पर हमारे विचार एक से नहीं रहते। दो चार महीने अथवा एक दो वर्ष की अवधि बीत जाने पर विचारों में कितना परिवर्तन हो जाता है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि अमुक विषय पर कल उसकी यही राय होगी। मनुष्य स्वभाव से ही परिस्थिति का दास है। प्रत्येक बात पर वह अपनी स्थिति के अनुसार विचार करता है। एक ही बात किसी के लिये भली है और दूसरे के लिये बुरी। किसी मनुष्य को आज हम बुरा कहते हैं और कल वही हमारा मित्र बन जाता है। किसी विषय पर लोकमत का भी यही हाल है। विधान मण्डलों के निर्वाचन में लोकमत एक संगठित रूप धारण कर लेता है। निर्वाचन के पश्चात् उसका संगठित रूप छिन्न-भिन्न हो जाता है दलबन्दी का आवरण उसके ऊपर से हट जाता है। इसीलिये जनता अपने ही प्रतिनिधियों की कार्यपद्धति से सहमत नहीं होती। निर्वाचन के पश्चात् ही असन्तोष आरम्भ हो जाता है और उसकी समाप्ति अगले निर्वाचन में होती है। इसीलिये प्रजातन्त्र के अन्तर्गत जनता कभी सन्तुष्ट नहीं रहती। लोकमत जितना ही स्वतन्त्र होगा, असन्तोष की ज्वाला उतनी ही अधिक होगी।

साधारण जनता लोकमत उसी को मानती है जो महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। उसे यह विश्वास है कि वही वास्तविक मत है और उसी को मानने में सब का कल्याण है। शिक्षित समाज पत्रों द्वारा लोकमत का निर्धारण करता है। जो मत पत्र-पत्रिकाओं के होते हैं उसी को शिक्षित लोग लोकमत कहते हैं। यह

आवश्यक नहीं है कि लोकमत एक ही हो। समाज का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। उसी के अनुसार लोकमत भी कई प्रकार के होते हैं। भारतीय गाँवों में लोकमत का आशय उसी मत से होता है जो आसपास के दो चार गाँवों में प्रचलित होता है। लोकमत को 'साधुमत' भी कहा गया है। जिस विचार-धारा से अधिकांश व्यक्ति सहमत हैं और जिसके प्रति सबकी सद्भावना है वही लोकमत है। यदि वास्तव में देखा जाय तो लोकमत नागरिकों की संख्या से उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना उनके हित से सम्बन्ध रखता है। किसी सभ्य समाज में दो चार भद्र पुरुषों का मत लोकमत का स्थान ग्रहण कर सकता है। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गाँधी के व्यक्तिगत विचार लोकमत का स्थान ग्रहण कर चुके हैं। जब-जब उन्होंने कोई घोषणा की तो देशवासियों ने उसे अपना ही मत समझा। उसकी पुष्टि के लिये वे सब प्रकार का त्याग करने के लिये तैयार हो गये। यदि वही बात एक साधारण व्यक्ति कहता तो उसे जनता का समर्थन कदापि नहीं मिलता। लोकमत पर व्यक्तित्व का अधिक प्रभाव पड़ता है। सैकड़ों आदमियों की सम्मिलित राय का उतना समर्थन नहीं हो सकता जितना किसी महापुरुष की व्यक्तिगत राय का होता है।

**लोकमत का निर्माण**

केवल दो चार व्यक्तियों की राय को लोकमत नहीं कहते। लोकमत के निर्माण के लिये विस्तृत साधन की आवश्यकता है। ये साधन इतने व्यापक होने चाहिए जो सर्वसाधारण तक देश के प्रत्येक भाग में पहुँचाए जा सकें। उन्हीं का आश्रय लेकर जब कोई राय संगठित रूप धारण करेगी तभी उसे लोकमत का स्थान मिलेगा। अच्छा-से-अच्छा मत संगठन के अभाव में सर्वसाधारण का हित नहीं कर सकता। इसीलिये वह लोकमत भी नहीं कहलाता। तात्पर्य यह है कि लोकमत के निर्माण के लिये संगठन की आवश्यकता सर्वोपरि है। इस संगठन के रूप समया-नुसार बदलते रहते हैं। प्राचीन काल में किसी बात की सूचना के लिए ढोल बजाए जाते थे। गाँवों में डुग्गी बजाई जाती थी। आज भी इस प्रथा का सर्वथा लोप नहीं हुआ है। गाँवों में किसी सभा-सोसाइटी की सूचना के लिए डुग्गी का प्रयोग अब भी किया जाता है। परन्तु नगरों में लाउडस्पीकर, मोटर आदि वैज्ञानिक साधनों का उपयोग किया जाता है। वर्तमान समय में लोकमत के निर्माण में कितने ही साधन कार्य में लाये जा रहे हैं।

लोकमत का निर्माण प्रचार द्वारा किया जाता है। यह प्रचार दो प्रकार से आरम्भ होता है। कभी-कभी देश में एक महापुरुष जन्म लेता है। उसकी प्रतिभा और कार्य-शक्ति से आरम्भ में कुछ व्यक्ति प्रभावित होते हैं। कुछ समय में उसका प्रभाव एक बड़े क्षेत्र में फैल जाता है। उसके विचार और मत इतने लोकप्रिय हो

जाते हैं कि उसी का संगठन किया जाता है। उसी का मत लोकमत कहलाता है। ऐसा भी देखा गया है कि जनसाधारण किसी विषय पर अपना मत प्रकट करता है। वह मत क्रमशः संगठित रूप धारण करते हुए उच्च श्रेणी तक मान्य हो जाता है। वह भी लोकमत कहलाता है। लोकमत के निर्माण के साधनों में पत्र-पत्रिकाओं का प्रमुख हाथ होता है। जिस मत का वे समर्थन करते हैं उसका भली भाँति प्रचार होता है। उस पर ऐसे-ऐसे तर्क दिये जाते हैं कि लोगों को उसके मानने में ही अपना कल्याण दिखाई पड़ता है। पत्र-पत्रिकायें कभी-कभी जनसाधारण के मत को बदल देती हैं। पत्रों के सम्पादक स्वभावतः बुद्धिवादी होते हैं। उन्हें किसी बात को सही और गलत सिद्ध करने में कोई विलम्ब नहीं होता। जिस देश में पत्र-पत्रिकाएँ सही बातों का समर्थन और झूठी बातों का बहिष्कार करती हैं वहाँ लोकमत का आधार सत्य होता है। आधुनिक युग में इन पत्रों का बहुत बड़ा महत्त्व है। जो व्यक्ति अपना कोई विशेष विचार रखता है वह या तो स्वयं किसी पत्र का सम्पादक होता है अथवा कुछ पत्र उसी के विचारों का गीत गाते हैं। जिस प्रकार भक्त लोग साधु-महात्माओं के गुण का गान करते हैं उसी तरह पत्र भी अपने संरक्षकों का गुण-गान करते हैं। दो विरोधी पत्रों के पढ़ने से विचारों में उलझन पैदा हो जाती है। इसीलिये सरकार विदेशी पत्रों के आगमन पर कड़ी दृष्टि रखती है और देशी पत्रों पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाती है। ऐसा न हो तो कितने ही पत्र लोकमत को बनाने के बजाय और बिगाड़ सकते हैं।

पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त साहित्य के दूसरे अंग भी लोकमत का निर्माण करते हैं। कुछ विद्वान् जनसाधारण की आवश्यकताओं को समझने का प्रयत्न करते हैं और नाटक, उपन्यास तथा साहित्य के अन्य क्षेत्रों द्वारा उनका प्रचार करते हैं। उनकी लेखनी हजारों व्यक्तियों के विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। देश की परम्परा, उसका प्राचीन इतिहास तथा उसकी संस्कृति भी लोकमत के निर्माण में सहायक होती है। अधिकांश जनता रूढ़िवादी होती है। वह अपनी प्राचीन शैली के अनुकूल ही अपना विचार बनाती है। वह उन्हीं विचारों का समर्थन करती है जो उसकी प्राचीन संस्कृति से मिलते-जुलते हैं। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गाँधी को लोकमत के निर्माण में सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई थी। उन्होंने हर प्रकार से यह सिद्ध किया कि स्वतन्त्रता के बिना देशवासियों का भी कल्याण नहीं हो सकता। उनका जीवन भारतीय संस्कृति के इतने निकट था कि जनता उनकी बातों का सबसे अधिक आदर करती थी। यह कहना अनुचित नहीं है कि महात्मा गाँधी की सफलता का कारण अन्य बातों के साथ एक यह भी है कि उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को भारतीय वातावरण में संचालित किया। उनकी व्यक्तिगत बात लोकमत का रूप धारण कर लेती थी।

विभिन्न संगठन और समुदाय भी लोकमत का निर्माण करते हैं। संस्थाएँ भी इसका निर्माण करती हैं। जब कोई युद्ध छिड़ता है तो सरकार देश में तरह-तरह की संस्थाएँ स्थापित करती है। कुछ तो सेना में सिपाहियों की भर्ती के लिये कार्य करती हैं और कुछ लोगों में राष्ट्रीय भावनाएँ उत्पन्न करती हैं। कुछ संस्थाएँ आर्थिक लाभ के कारण जनता के एक वर्ग को आने के लिए उत्साहित करती हैं। इसीलिए कहा जाता है कि संस्थाओं द्वारा लोकमत का निर्माण बहुत ही ठोस ढंग से होता है। महात्मा गाँधी ने भारतीयों में राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने के लिए खादी-भंडार, हरिजन-सेवकसंघ, गुरुकुल आश्रम तथा अनेक राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना की थी। उन्होंने अपने राष्ट्रीय कार्य का आरम्भ साबरमती आश्रम से किया था। जिस विचार-धारा को लोकमत का स्थान प्राप्त करना हो उसके संचार और परिचालन के लिए संस्थाएँ आवश्यक हैं। बड़े-बड़े व्यापारी जब अपनी वस्तुओं का प्रचार जनता में करना चाहते हैं तो इसके लिए एक स्वतन्त्र विभाग की स्थापना करते हैं। यह विभाग खेल-कूद, नाटक, नृत्य, तस्वीरें तथा नाना प्रकार के विज्ञापनों द्वारा वस्तुओं का प्रचार करता है। लाखों रुपये इस कार्य में व्यय किये जाते हैं। यह प्रचार इतने संगठित रूप से होता है कि इसमें कार्य करने के लिये लोगों को वर्षों ट्रेनिंग दी जाती है तभी लोकमत उनकी वस्तुओं का समर्थन करता है। चाय के गुण और अवगुण को संभवतः बहुत थोड़े लोग जानते हैं फिर भी इसका देश में काफी प्रचार है। इसका श्रेय बहुत कुछ उसके प्रचार विभाग को ही है। एक व्यापक संगठन रात-दिन इसी कार्य में लगा हुआ है।

लोकमत के निर्माण में प्रचार और संगठन का विशेष हाथ होता है। शिक्षा प्रचार कार्य में काफी सहायक होती है। शिक्षित व्यक्ति साहित्य निर्माण एवं पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन में लगते हैं। अपने विचारों के अनुकूल वे जनमत तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य के विचारों पर उसकी परिस्थिति का पूरा प्रभाव पड़ता है। जिस वातावरण में वह निवास करता है वैसे ही उसके विचार बनते हैं। इसीलिये शिक्षित और अशिक्षित दोनों के विचारों में बहुत कुछ साम्य होता है। एक अशिक्षित व्यक्ति साधनहीन होने के कारण अपने विचारों का स्पष्टीकरण नहीं कर पाता, परन्तु शिक्षित व्यक्ति अपने विचारों को व्यक्त करता है। यदि वह स्वाभाविक रीति से परिस्थिति के अनुकूल अपने विचारों को रखता है तो वही विचार प्रायः सम्पूर्ण समाज के होते हैं। सामाजिक स्थिति बहुत कुछ मनुष्यों में एकता और साम्य स्थापित करती है। एक बहुदय व्यक्ति के जो विचार हैं वही उसके समाज के भी विचार होते हैं।

**शिक्षा और लोकमत**

यदि शिक्षित व्यक्ति सामाजिक कर्तव्यों का ध्यान रक्खें तो वे लोकमत का निर्माण

बहुत ही सही मार्ग पर कर सकते हैं। समाज में किसी गलत बात का प्रचार करना अथवा किसी सही बात की उपेक्षा करना—दोनों ही हानिकर हैं। शिक्षित व्यक्तियों को इसी सिद्धांत से काम करना चाहिये। जनता को भ्रम में डाल कर अथवा उसे बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलाकर जिस लोकमत का निर्माण किया जाता है उससे सामाजिक उन्नति में बाधा पड़ती है। थोड़े से स्वार्थी व्यक्ति कोई तात्कालिक लाभ भले ही उठा लें, परन्तु इससे समाज को कोई लाभ नहीं होता। जनता शिक्षित व्यक्तियों में अपना विश्वास खो बैठती है और कभी-कभी किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है। इस दृष्टि से विभिन्न राजनीतिक दल लाभ के बदले जनता को भ्रम में डाल देते हैं। वे अपने सिद्धांतों की पुष्टि के लिये नाना प्रकार के तर्क उपस्थित करते हैं, जिन्हें समझने की शक्ति जन-साधारण में नहीं होती। इसीलिये कहा जाता कि वही शिक्षा सही लोकमत का निर्माण कर सकती है जिसका आधार मस्तिष्क के साथ हृदय भी है। बुद्धिवादी जिस लोकमत का निर्माण करते हैं उसमें जनता की सही भावना व्यक्त नहीं होती। शिक्षा के द्वारा मनुष्य की सामाजिक अनुभूतियों की वृद्धि होती है। समाज की सभी समस्यायें शिक्षित व्यक्तियों को अवगत कराई जाती हैं। उनके सामाजिक विचारों में वही ध्वनि होती है जो किसी भी व्यक्ति के अन्दर हो सकती है।

**निर्वाचन और लोकमत**

मनुष्य के विचार स्थायी नहीं होते। वे इतनी तेजी से बदलते हैं कि कोई उसकी गति को रोक नहीं सकता। लोकमत भी स्थायी नहीं होता। जैसे व्यक्ति के विचार बदलते हैं उसी तरह लोकमत में भी परिवर्तन होते हैं। इस परिवर्तन के अनेक कारण हैं जिनका वर्णन करना विषयान्तर होगा। लोकमत की परीक्षा अथवा इसका मूल्यांकन निर्वाचन के समय होता है। जनता अपनी इच्छानुसार विधान मंडल के सदस्यों का निर्वाचन करती है। परन्तु उसकी इच्छा को प्रभावित करने के लिये नाना प्रकार के साधन उपयोग में लाए जाते हैं। उल्टी सीधी इतनी बातें फैलाई जाती हैं कि जनता भ्रम में पड़ जाती है। यह कहना अनुचित न होगा कि निर्वाचन के समय लोकमत सबसे अधिक विकृत हो जाता है। जनता की स्वतन्त्र इच्छा का लोप हो जाता है। कुछ लोग स्वार्थ के कारण, कुछ भ्रमवश और कुछ सम्बन्ध के कारण अपने स्वाभाविक विचारों को दबाकर बनावटी बातें करते हैं। उन्हीं से लोकमत का निर्माण होता है जिनका निर्वाचन में उपयोग किया जाता है। जिस देश की जनता अशिक्षित है और शासन की महत्ता को नहीं समझती वहाँ लोकमत की और भी छीछालेदर होती है। निर्वाचन के पश्चात् स्वार्थी और अयोग्य व्यक्ति जब शासन का संचालन भली भाँति नहीं करते तो जनता सरकार को दोषी ठहराती है परन्तु विचार करे तो यह सारा दोष जनता का ही है। निर्वाचन के समय वह अपने उत्तरदायित्व को भूल जाती है और क्षणिक प्रलोभनों में पड़कर अपने अधिकार का दुरुपयोग करती है। प्रजातन्त्र

देशों में शासन की जो दुर्बलतायें दिखाई पड़ती हैं उसका बहुत कुछ कारण सही लोकमत का अभाव है। जनता को यह अनुभव करना चाहिए कि जब तक वह अपना मत योग्य प्रतिनिधियों को न देगी तब तक शासन सम्बन्धी शिकायतें बनी रहेंगी।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय शासन में अनेक त्रुटियाँ दिखाई पड़ने लगी हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो जनता शासन संबंधी त्रुटियों को समझने लगी है। दूसरा कारण यह है कि इस देश में लोकमत का अभाव है। शिक्षा की कमी के कारण नागरिक अपने मत का मूल्य नहीं समझते। निर्वाचन के समय वे इस बात का ध्यान नहीं रखते कि लोगों के झूठे आश्वासन और व्यर्थ की प्रशंसा से उनका थोड़ा भी कल्याण नहीं हो सकता। इससे भारतीय राजनीति में पदलोलुप लोगों की संख्या बढ़ती है और भले तथा योग्य व्यक्ति राजनीति से उदासीन हो जाते हैं। दो चार निर्वाचनों के पश्चात् लोगों को स्वयं आभास होगा कि लोकमत का संगठन सही मार्ग पर होना चाहिए। उस पर धार्मिक अथवा जातीय वर्ग का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। कुछ लोग निर्वाचन में इसलिए भी सफल हो जाते हैं कि वे जातीय समर्थन प्राप्त कर लेते हैं। यदि सही लोकमत जागृत किया जाय तो उन्हीं व्यक्तियों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा जिनके कुछ सिद्धान्त हैं और जो किसी विशेष कार्यक्रम की पूर्ति के लिये विधान-मंडलों में जाना चाहते हैं। यहाँ तो नागरिक इतना भी प्रश्न नहीं करते कि अमुक व्यक्ति क्यों विधान-मंडल में जा रहा है; उसका क्या कार्य-क्रम है और उसकी पूर्ति के लिए वह कहाँ तक सामर्थ्य रखता है। जब तक नागरिकों को इनका संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता और वे प्रतिनिधियों की शक्ति में पूरा विश्वास नहीं कर लेते तब तक उन्हें अपना मत कदापि नहीं देना चाहिए। लोकमत तभी सगठित माना जाता है जब उसमें प्रतिनिधियों की इतनी परीक्षा करने की शक्ति होती है। योरोपीय देशों में लोकमत का संगठन इसी सिद्धान्त पर किया जाता है। इसका कारण अन्य बातों के अतिरिक्त जनता का शासन में अनुभव भी है।

**सरकार और लोकमत**

देशहित का ध्यान सरकार को सबसे अधिक होता है। वह नाना प्रकार से अपने देशवासियों की दशा सुधारने का प्रयत्न करती है। इसीलिए लोकमत का भी उसे आदर करना पड़ता है। निर्वाचन के समय जो नियम लागू किए जाते हैं उनमें लोकमत का विशेष ध्यान रखा जाता है। निर्वाचन अधिकारियों को सरकारी आदेश दिए जाते हैं कि मत देने में किसी नागरिक पर कोई अनुचित दबाव न डाला जाय। इच्छा के विरुद्ध कोई अपना मत देने के लिये बाध्य न किया जाय। सरकार यह जानती है कि यदि शासन-सूत्र गलत आदमियों के हाथ में चला जायगा तो वह अपने कर्तव्य-पथ से भ्रष्ट हो जायगी। जब कोई कानून पास किया जाता है तो उस पर लोगों

की सम्मति प्राप्त कर ली जाती है। यदि लोकमत उसके विरुद्ध होता है तो वह कानून पास नहीं किया जाता। भारत सरकार हिन्दू कोड बिल को पास करने के लिए हर प्रकार से प्रयत्नशील थी। परन्तु लोकमत उसके विरुद्ध इतना हुआ कि वह अभी तक कानून का रूप धारण नहीं कर सका। यदि इसी तरह की शक्ति जन-साधारण में काम करने लगे तो कोई भी सरकार लोकमत के विरुद्ध कार्य करने का साहस नहीं कर सकती। इसमें सरकार की कोई मानहानि नहीं है। लोकमत के विरुद्ध जो कानून पास होगा उसे लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। न तो जनता उसका पालन करेगी और न सरकार की लोकप्रियता ही बढ़ेगी।

प्रजातन्त्र देशों में सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि लोकमत की शक्ति कम न हो। उस पर न तो कोई कुठाराघात करे और न उसे विकृत करे। पत्र-पत्रिकाओं पर देखरेख रखी जाती है कि वे किसी ऐसी बात का प्रचार न करें जो भ्रामक हों अथवा लोगों को गलत रास्ते पर जाने के लिए आकर्षित करें। सरकार किसी ऐसी संस्था का भी निर्माण नहीं होने देती जो लोगों में झूठी बातों का प्रचार करे। ऐसे संगठनों की भी स्थिति उसे सह्य नहीं है जो लोगों की विचार-धारा में क्रान्ति उत्पन्न करे। लोकमत की जागृति क्रमशः होती है। महापुरुषों के त्याग और परिश्रम से इसका निर्माण होता है। क्षणिक आवेश में आकर समाज में जो कार्य किये जाते हैं वे हानिकर होते हैं। क्रान्तिकारी परिवर्तन इसीलिये वर्जित किए गए हैं। सरकार स्वयं एक विकसित संगठन है। वह जानती है कि लोकमत बिगड़ने से उसकी स्थिति गम्भीर हो जायगी। शिक्षा, उद्योग धन्धे अथवा कला-कौशल आदि लोकमत को ठोस बनाने के साधन हैं। जब लोकमत सरकारी नीति के विरुद्ध हो जाता है तो उसकी स्थिति डाँवाडोल हो जाती है। कभी-कभी सरकार को इस प्रकार की कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं। इसीलिए वह लोकमत को सदैव ही अपने पक्ष में रखना चाहती है। उसके जितने भी कार्य हैं सब में ऐसी नीति बर्ती जाती है जिससे जनमत उसके पक्ष में रहे। इतना सतर्क रहने पर भी लोकमत सरकार के विरुद्ध हो जाता है। जब जनता में असन्तोष की भावना बढ़ जाती है तब सरकार की टीका-टिप्पणी अधिक होती है। इसी चर्चा के संगठित रूप धारण कर लेने पर लोकमत सरकार के विरुद्ध हो जाता है।

**भारत में लोकमत**

कोई विश्वास भले ही न करे परन्तु भारत में लोकमत का अभाव है। इसके कई कारण हैं। अधिक समय से परतन्त्र रहने के कारण भारतीय नागरिकों की राजनीतिक चेतना मृतप्राय हो गई है। इस दिशा में जब कभी थोड़ा प्रयत्न किया जाता है तो उसमें व्यक्तिगत भावनाओं की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। सामाजिक कार्यों में जब तक व्यक्ति अपने से परे राष्ट्रहित की दृष्टि से विचार नहीं करता तब तक उसे

सफलता नहीं मिलती। हम भारतीयों में इस प्रकार की राष्ट्रीय भावनाओं का अभाव है। यदि दो चार व्यक्ति आदर्श के रूप में दिखाई पड़ते हैं तो उन्हीं से सम्पूर्ण समाज का कल्याण कैसे हो सकता है। जब तक राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझता और सुयोग्य व्यक्तियों को शासन कार्य चलाने का अवसर नहीं देता तब तक उसका व्यक्तिगत और सामाजिक हित कैसे हो सकता है। प्रजातन्त्र के अनुसार शासन के संचालन का अधिकार जनता को प्रदान किया गया है। वही अपने प्रतिनिधियों द्वारा इसका सचालन करती है। उसमें जितनी योग्यता होगी उसी मात्रा में वह योग्य शासकों को निर्वाचित करेगी। जब तक उसमें शिक्षा का अभाव है और वह छोटे छोटे प्रलोभनों में पड़ी हुई है तब तक स्वार्थी तथा पदलोलुप लोगों को उनसे लाभ उठाने का अवसर मिलता रहेगा। स्वतन्त्र भारत के प्रारम्भिक जीवन में आज यही कठिनाई राष्ट्र के सामने उपस्थित है।

राष्ट्र-निर्माण का कार्य उतावलेपन से नहीं होता। किसी भी देश के इतिहास में इस तरह की उन्नति नहीं दिखलाई पड़ती। थोड़े समय में विशेष उन्नति के उदाहरण तो पाए जाते हैं, परन्तु जहाँ ठोस कार्यों का प्रश्न है उनमें विलम्ब होना स्वाभाविक है। भारत में शिक्षा तथा आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के अभाव के कारण अधिकांश जनता पिछड़ी हुई है। उसे न तो दूसरे देशों की उन्नति का ज्ञान है और न अपनी ही उन्नति की रूप-रेखा दिखाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में बड़ी बड़ी योजनाओं में उनके सहयोग की आशा करना एक बहुत बड़ी भूल है। यह सभी जानते हैं कि भारत सरकार अथवा प्रादेशिक सरकारों की अनेक योजनाएँ सफल नहीं हो रही हैं। कहीं-कहीं पर तो लाखों रुपये व्यय करने पर भी सरकार को उन्हें छोड़ देना पड़ता है। धन का अभाव अथवा वैज्ञानिक साधनों की कमी के अतिरिक्त जनता की विचार-शक्ति भी इसका एक कारण है। वह स्वयं यह अनुभव नहीं कर पाती कि इन योजनाओं से उसे क्या लाभ होगा। तात्कालिक लाभ को ही वह सब कुछ समझती है और भविष्य की लम्बी योजनाओं में उसका विश्वास नहीं है। यदि यह शिक्षित होती तो लोकमत इन योजनाओं के पक्ष में सरलतापूर्वक जागृत किया जा सकता था। कितने ही आदमी सरकार की झूठी टीका टिप्पणी में अपना समय नष्ट करते हैं। सरकार के सामने वे कोई ठोस सुझाव नहीं रखते। उन्हें इतना भी ज्ञान नहीं है कि यह सरकार उन्हीं की बनाई हुई है और अवसर आने पर वे इसे पुनः बदल सकते हैं। फिर भी उन्हें याद रखना चाहिए कि जब तक वे विवेक से काम न लेंगे तब तक आदमियों के बदलने से काम नहीं चल सकता।

पिछले चुनाव में मताधिकारियों की संख्या १७ करोड़ ५० लाख निर्धारित की गई थी। इतने अधिक मताधिकारी संसार के किसी भी देश में नहीं हैं। इन्हें ४१०४ प्रतिनिधियों को निर्वाचित करना था। यदि मताधिकारी राजनीतिक सङ्गठन

को समझते हैं और उनमें सुयोग्य व्यक्तियों को पहचानने की शक्ति है तो अपने देश में आदर्श राज्य की स्थापना कर सकते हैं। अपने प्रतिनिधियों के सामने वे ऐसा कार्य-क्रम रख सकते हैं जिससे देश में धन-धान्य की वृद्धि हो और सब लोग सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करें। मताधिकारी देश की जनसंख्या के आधे के बराबर हैं। देश की उन्नति की ठोस योजनाएँ लेकर वे लोकमत का ऐसा संगठन कर सकते हैं जिनसे स्वार्थी और पदलोलुप व्यक्तियों को सरकारी कार्यों में हाथ बटाने का कोई अवसर न मिले। परन्तु यहाँ तो कुछ और ही दिखाई पड़ता है। निर्वाचन के समय जो सबसे अधिक प्रचार करता है, अधिक रुपया खर्च करता है, जनता को झूठे-झूठे आश्वासन देता है अथवा अपने एजन्टों द्वारा मताधिकारियों को अपने पक्ष में करता है वही प्रतिनिधि चुन लिया जाता है। यहाँ तक कि पैसे से वोट मोल लिये जाते हैं। जब मताधिकारी इतने छोटे विचारों से अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करेंगे तो वे सरकारी कार्यों से कभी सन्तुष्ट नहीं रह सकते। जब वे योग्य व्यक्तियों की उपेक्षा करते हैं तो एक अच्छी सरकार स्थापित नहीं कर सकते।

भारतीय सरकारी संगठन में जो भी त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं उसके मूल में इस देश में लोकमत का अभाव है। जनता में कोई ऐसी संगठित विचार-धारा नहीं दिखाई पड़ती जो किसी अच्छे उद्देश्य को लेकर सरकार का निर्माण करने की शक्ति रखती हो। लोगों के विचारों में अनेक उलझनें हैं। कांग्रेस, समाजवादी पार्टी, कृषक-मजदूर-प्रजा-पार्टी, कम्युनिस्ट, हिन्दू महासभा, जनता पार्टी इत्यादि पार्टियों के ध्येय को बहुसंख्यक जनता बिलकुल नहीं समझती। कांग्रेस एक ऐसी पार्टी है जिससे अधिकांश लोग परिचित हैं, परन्तु अपने आन्तरिक मतभेदों के कारण इसकी भी लोकप्रियता कम हो रही है। जनता केवल व्यक्तियों से यह निश्चित कर लेती है कि उसकी पार्टी कैसी है। भारतीय परम्परा के अनुसार देश आज भी संगठन का पुजारी न होकर व्यक्ति का ही पुजारी है। कितने ही लोग महात्मा गाँधी और पं० जवाहर-लाल नेहरू को कांग्रेस समझते हैं। इतना अनभिज्ञ रहकर जनता शासन के उत्तर-दायित्व को कैसे वहन कर सकती है। इसीलिए अफलातून प्रजातन्त्र के पक्ष में नहीं था। रूसो का भी यही विचार था कि, "पूर्ण प्रजातन्त्र मनुष्य के लिये नहीं है।" बर्नार्ड शा ने प्रजातन्त्र को "विचित्र मूर्खता" कहा है। तात्पर्य यह है कि जब तक एक शिक्षित समाज में लोकमत का संगठन नहीं है तब तक प्रजातन्त्र का कोई मूल्य नहीं है। यदि भारत में कोई संगठित लोकमत होता तो सरकार स्वयं उससे भय करती। बड़ा से बड़ा व्यक्ति लोकमत की उपेक्षा करने का साहस नहीं करता, परन्तु यहाँ तो कितने ही व्यक्ति राजनीतिक मंच पर भाषण करते हुए सुने गए हैं कि वे अपने रवैये के सामने जनता की कोई परवाह नहीं कर सकते। उन्हें विश्वास है कि निर्वाचन के समय लोकमत को अपने अनुकूल बना लेंगे।

जो संकुचित अथवा असंगठित लोकमत पाया जाता है उसमें भी कोई स्थायित्व नहीं है। दो चार व्याख्यानों को सुनकर लोगों के विचार बदल जाते हैं। जब कोई नेता किसी क्षेत्र में भ्रमण करता है तो जनता उसके भाषणों पर लट्टू हो जाती है। पार्टियों के नाम भले ही न हों परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जितने ही नेता हैं उतनी ही पार्टियाँ हैं। जनता में कुछ लोग अमुक व्यक्ति के विचारों का समर्थन करते हैं और कुछ लोग दूसरों के विचारों को सही मानते हैं। इसी तरह भारतीय लोकमत छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँटा हुआ है। सब पर व्यक्तियों का ही आवरण है। किसी के सामने कोई सिद्धान्त की बात नहीं है। लोगों में इतनी क्षमता नहीं है कि जिस बात को सही समझें उसी के पक्ष में लोकमत को संगठित करें और उसके सामने किसी व्यक्ति को प्रधानता न दें। शासन की सफलता व्यक्तियों से बढ़कर सिद्धान्त पर निर्भर करती है। कम जानकारी रखते हुए भी लोग शासन को किसी सिद्धान्त पर चलावें तो अधिक सफल हो सकते हैं। जब व्यक्ति अपनी ही इच्छानुसार चलने का प्रयत्न करता है तो सरकारी मशीन में वह मेल नहीं खाता। लोकमत एक ऐसा साधन है जो लोगों को और विशेषकर शासन-कर्ताओं को किसी सिद्धान्त पर चलने के लिये प्रेरित करता है। वह किसी व्यक्तिगत विचार-धारा को वहीं तक महत्व देता है जहाँ तक किसी सामाजिक विचारधारा से उसका साम्य है। प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिये भारत में लोकमत की नितान्त आवश्यकता है।



# अध्याय १९

## सर्वोदय समाज

हमारे देश को स्वतन्त्रता के लिए कितना बलिदान करना पड़ा है और इस सात्विक संघर्ष में महात्मा गाँधी का कितना अधिक हाथ रहा है–इसका विस्तृत वर्णन राष्ट्रीय इतिहास का प्रमुख विषय है। १५ अगस्त १९४७ का दिन भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जायगा, क्योंकि इसी दिन देश को स्वतन्त्रता हस्तान्तरित की गई है। यह तिथि देश-वासियों के लिए महान् गौरव एवं आह्लाद की स्मृति स्वरूप होगी। परन्तु दुख और विषाद का सम्मिलन स्वाभाविक है। यही इस संसार की विशेषता है, जिसने बड़े-बड़े विद्वानों और विचारकों को उदासीन कर संसार से विमुख कर दिया। ३० जनवरी को सायंकाल महात्मा गाँधी की हत्या अपने ही देश के एक भाई द्वारा की गई जिसे हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने 'पागल' बतलाया है। सो भी हो, यह तिथि भारतवासियों के लिए इतने शोक की तिथि है, जिसकी छाया में १५ अगस्त की हमारी सम्पूर्ण खुशी विलीन हो जाती है। जिस महान् पुरुष ने अपना सर्वस्व त्याग कर कठिनाइयों का समुद्र पार कर सदियों की दासता से देश-वासियों का उद्धार किया उसी की हत्या हमारे ही किसी भाई द्वारा की जाय—इससे बढ़कर चिन्ता और अपमान का विषय दूसरा क्या होगा? यद्यपि महात्मा जी अब नहीं रहे, परन्तु उनकी विचार-धारा आज भी हमारे राष्ट्रीय निर्माण में सहायता कर रही है। समाज-निर्माण की जो कल्पना उनके मस्तिष्क में कार्य कर रही थी उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न हमारे नेतागण कर रहे हैं। इसी की रूप-रेखा तैयार करने के लिए अप्रैल १९४८ में वर्धा में कुछ प्रमुख गाँधीवादियों का एक सम्मेलन हुआ था।

किसी देश की उन्नति का प्रमाण उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं है। जब तक समाज में अनेक स्वतंत्रताओं की व्यवस्था न होगी तब उन्नति का स्वप्न निर्मूल है। क्योंकि अपनी जीविका का साधन निकालने, पढ़ने-लिखने, आने-जाने, रहन-सहन, भाषण, संगठन, निर्माण आदि कार्यों में स्वतन्त्र नहीं है, तो उसकी राजनीतिक स्वतंत्रता का महत्व कम है। इन सम्पूर्ण स्वतन्त्रताओं की जड़ उसकी आर्थिक व्यवस्था है जिसके सहारे वह कार्य करने में समर्थ होता है। एक भूखा मनुष्य आधुनिक उन्नतिशील

साधनों तथा आश्चर्य-जनक वायुयान तक का सेवन नहीं करना चाहता। भूख की शान्ति के पश्चात् वह इनका उपभोग कर सकता है। सुव्यवस्थित समाज में जहाँ वैज्ञानिक अनुसन्धान, आवागमन के साधन, उच्च शिक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि बड़ी-बड़ी बातों की आवश्यकता है वहाँ स्वावलम्बन, आध्यात्मिक जीवन, अहिंसा-प्रवृत्ति, सेवा की भावना, निष्कपट भाव आदि बातों की भी आवश्यकता है। छल-कपट द्वारा एक स्वतन्त्र राष्ट्र अन्य पड़ोसी राष्ट्रों का शोषण कर समृद्धशाली हो, यह उसकी वास्तविक उन्नति का स्थायी रूप नहीं है। समय आने पर ऐसे राष्ट्र निन्दा और अपमान की मूर्ति समझे जाते हैं। सभ्य-समाज उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता है। वर्तमान युग में इसी प्रकार के राष्ट्रों को प्रमुख गिना जाता है। यही कारण है कि जिस मात्रा में उनकी उन्नति अधिक होती है उससे अधिक संसार की सुख-शान्ति में बाधा पड़ती है। वह उन्नति किस काम की है जिसमें व्यक्ति का जीवन सुरक्षित न हो। विपुल सम्पत्ति के रहते हुए मनुष्य साधारण वस्तुओं के लिए तरसता रहे—ऐसी उन्नति का क्या मूल्य है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान सामाजिक जीवन में एक विश्व-व्यापी रोग का संचार हुआ है जिसका प्रत्येक राष्ट्र शिकार है। वह कैसे दूर किया जाय और इसके स्थान पर किस प्रकार का समाज संगठित किया जाय—यह वर्तमान जीवन की सबसे बड़ी समस्या है।

जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए ही महापुरुषों का जन्म होता है। महात्मा गाँधी को सबसे महान् पुरुष इसलिये स्वीकार किया कि उन्होंने एक 'सर्वोदय समाज' की कल्पना की, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम का पूर्ण उपभोग करे और श्रम-निर्धारण में उसी की इच्छा अंतिम निर्णायक हो। किसी मिल या कार्यालय का बड़ा से बड़ा अधिकारी कितना भी अधिकार पाये उसकी आत्मा दासवृत्ति से संकुचित है। वह विशाल और सुसज्जित भवन में निवास करता है, कितने ही कर्मचारी उसकी सेवा में संलग्न रहते हैं, सुख के सम्पूर्ण साधन उसे उपलब्ध हैं, दूसरों की दृष्टि में उसका जीवन स्वर्ग-सुख का रूपान्तर है—फिर भी वह अपने मालिक का एक दास है; उसकी प्रवृत्तियों को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का साधन नहीं है; वह कितने ही अवसरों पर अपनी स्वतन्त्र इच्छा के विरुद्ध कार्य करने के लिए बाध्य होता है। यह देखा गया है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश कुछ अपराधियों के विषय में निर्णय देते समय लिखते हैं, "यद्यपि अपराधी निर्दोष है, परन्तु वकीलों ने उचित रीति से इसका समर्थन नहीं किया और कोई कागजी प्रमाण इसके निरपराधी होने का उपलब्ध नहीं है, ऐसी दशा में हम इसे इतने वर्षों का कारावास दे रहे हैं।" जब इतना बड़ा अधिकारी अपनेको स्वतन्त्र नहीं कहता तो साधारण कर्मचारियों की बात ही क्या है। आधुनिक युग में सेवावृत्ति का रूप विकृत है। आज पैसे लेकर सेवा करने की भावना इतनी अधिक है कि राष्ट्र के बहुसंख्यक प्राणी नौकरी को स्वतन्त्र जीवन से बढ़-

कर समझते हैं। वे आन्तरिक विकास पर उतना ध्यान नहीं देते जितना बाह्य आकर्षण की सामग्रियों पर। पद-लोलुपता, अधिकार चेष्टा, कुवासना, संघर्ष आदि बुराइयों की वृद्धि का कारण यही उल्टी सेवावृत्ति है। महात्मा गाँधी ने इस प्रवृत्ति को बदलने का प्रयत्न किया और एक 'सर्वोदय समाज' की कल्पना की जिसमें दासवृत्ति न होकर स्वावलम्बन का ही भाव हो। कष्ट उठाकर भी मनुष्य अपनी जीवन-सरणी अपने आप निकाले। ऐसी स्थिति में उसे जो सुविधा और सुख प्राप्त होगा वह ठोस, व्यापक और आत्मप्रिय होगा। उसकी मानसिक प्रवृत्तियाँ सही मार्ग पर तभी अग्रसर होंगी जब वह अपने जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकता अपने श्रम के अन्दर समेट लेगा।

जिस 'सर्वोदय समाज' की कल्पना की गई है उसका आधार आध्यात्मिक विकास है। वर्तमान युग भौतिकवाद का युग है। मनुष्य धन के पीछे इतना उन्मत्त है कि उसके लिये अनेक प्रकार के दूषित कर्म करने में उसे कोई हिचक नहीं होती। इस अमानुषिक व्यवहार से हमारा सम्पूर्ण समाज इतना दूषित और अव्यवस्थित है कि इसमें वास्तविक सुख और शान्ति का कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता। हमारी आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ बाह्य आडम्बर एवं कृत्रिम कार्यों के कारण क्रमशः विलीन होती जाती हैं। ऐसे वातावरण में पूर्ण मानवता की कल्पना सर्वथा दुर्लभ है। 'सर्वोदय समाज' इन त्रुटियों से परे है। इसके अनुसार समाज की सम्पूर्ण रूपरेखा उस आधार पर अवलम्बित है जिसमें मनुष्य स्वतन्त्र-रूपेण अपने कार्य का सम्पादन करेगा। उसकी आकांक्षायें आन्तरिक विकास की ओर होंगी। वह अपने सुख का आधार अपने ही श्रम को बनायेगा।

समाज में धर्म, व्यवसाय, संगठन तथा सेवा-कार्य—इन्हीं के आधार पर उन्नति की कल्पना की जाती है। सभ्यता की उन्नति-अवनति का मापदण्ड भी यही है। सर्वोदय समाज में इन चारों की क्या स्थिति होगी—इसका संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है। वर्तमान विज्ञान के युग में धर्म एक गौण विषय है। हमारा देश प्राचीन काल से धर्म-परायणता में अग्रणी था; इसका आश्रय लेकर हमारा प्राचीन दर्शन देश-देशान्तर में पूर्ण ख्याति प्राप्त कर चुका है। कहा जाता है कि हमारे देशवासी सम्पूर्ण त्याग कर सकते हैं, परन्तु अपने धर्म पर आघात नहीं सहन कर सकते। परन्तु आज यह प्रवृत्ति बहुत कुछ बदल गई है। धार्मिक संस्थायें समाज में उस दृष्टि से नहीं देखी जातीं जैसे हमारे पूर्वज उन्हें देखते थे। स्थान-स्थान पर बने हुए मठ और मन्दिर निर्जन रूप में पड़े हुए हैं। उनकी साधारण देख-रेख का भी कोई प्रबन्ध नहीं है। समाज उनकी ओर से उदासीन है। अपनी प्राचीन सभ्यता के गौरव गान में इन्हीं का सहारा लेते हुए हम भी इन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। इस विरोधाभास का कारण कुछ तो इनकी आन्तरिक दुर्बलतायें हैं और कुछ हमारे बदले हुए मनोभाव हैं। महात्मा गाँधी ने भारतीय समाज की इस दुर्बलता को दूर करने का

यही साधन निकाला कि आज जातीय धर्म के स्थान पर मानव धर्म की आवश्यकता है, जिसका कुछ आशय निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट होता है :—

"जात आदमी, प्रेम धर्म है, हिन्दुस्तानी बोली"

भारतीय समाज अपने को जिस धार्मिक सूत्र में बँधा हुआ समझता है वह प्रेम का सूत्र है। उसमें किसी सम्प्रदाय या देशी-विदेशी का भेदभाव नहीं है। मनुष्य होने के नाते हम सब को उस दृष्टि से देखें जिससे सब का कल्याण हो। धर्म व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु है। जातीय रूढ़ियां को विजातीय लोगों पर लादने के लिये धर्म की दुहाई देना समाज में कटुता फैलाना है। हमारा हृदय इतना विशाल हो कि हम अन्य धर्मों को आदर की दृष्टि से देखें। भारतीय सभ्यता के इतिहास में मानव धर्म के उद्धरण अनेक स्थलों पर पाये जाते हैं।

व्यवसाय की व्यवस्था सामाजिक निर्माण में अनिवार्य है। हमारे विचार कितने भी उन्नत क्यों न हों, यदि हमारा व्यवसाय ऊँचा और शुद्ध नहीं है तो हमारी क्रियायें विचारों के विरुद्ध होंगी। प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य करे—यह व्यवस्था सब से ऊँची और दुर्लभ है। किसी दूसरे की इच्छानुसार कार्य करते हुए हमें जितने भी सुख के साधन उपलब्ध होते हैं, उनसे हमारे आध्यात्मिक विकास में कोई सहायता नहीं मिलती। इस मापदण्ड से एक साधारण किसान का जीवन फैक्ट्री के किसी बड़े मैनेजर से कहीं ऊँचा है। एक का व्यवसाय स्वनिर्मित है और दूसरे का परावलम्बी। सर्वोदय समाज में प्रत्येक व्यक्ति और कुटुम्ब स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करेगा। आवश्यकता की सभी सामग्री वह स्वयं उपार्जन करेगा। दूसरों के आश्रित रह कर सुख-भोग की कामना उसके स्वभाव के विरुद्ध होगी। अपने स्थान पर रहकर, कुटुम्बी जनों के साथ वह ऐसे व्यवसाय में संलग्न होगा जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति में साधक होंगे। दूसरों की सुन्दर आकर्षक वस्तुओं के स्थान पर वह स्वनिर्मित भद्दी तथा मोटी वस्तुओं के प्रयोग को उत्तम समझेगा। देश-देशान्तरों में व्यवसाय के लिये भ्रमण करने की लालसा उसकी इच्छा के विरुद्ध होगी। उसकी उत्पादन शक्ति का ध्येय पूर्ति होगा—शोषण नहीं।

प्रत्येक समाज नाना प्रकार के संगठन का समूह होता है। समुदाय के योग को ही समाज कहते हैं। ये समुदाय विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बनाये जाते हैं, और पूर्ति हो जाने के पश्चात् उनकी आवश्यकता जाती रहती है। इसीलिये समाज में अनेक समुदाय उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। इन्हीं समुदायों से समाज की उन्नति-अवनति का पता चलता है। जब देश में पुस्तकालय, स्कूल, स्वास्थ्यगृह, कलानिकेतन, अन्वेषण-गृह आदि बढ़ते हैं तो इससे समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। इसके विपरीत राजनीतिक दलबन्दी, छल-छद्म की वृद्धि, व्यावसायिक होड़ तथा अन्य शोषक समुदाय समाज को अवनति के गर्त में गिराते हैं।

हमारे समुदाय शान्ति और सभ्यता के विकास के लिये बनने चाहिये। अधिकार चेष्टा के स्थान पर कर्तव्यपरायणता का भाव संगठन को आगे बढ़ाता है दुष्ट और आततायी जिस ध्येय से संगठित होते हैं वह समाज के लिये वर्जित है। सेवा, त्याग, विचारों की वृद्धि—इनके आधार पर संगठन बनाना सर्वोदय समाज की कल्पना है।

सर्वोदय समाज का चौथा पाया सेवा-कार्य है। आज सेवा के नाम पर स्वार्थ-पूर्ति का बोलबाला है। नाम और यश के लिए सेवा की दुहाई दी जाती है। इसी-लिये ढोंगी सेवक समाज में अशान्ति का प्रचार करते हैं। जिसे सेवा करनी है उसे कलह और ईर्ष्या की क्या आवश्यकता है। सेवा कठिन कार्य है। इसमें जिस त्याग और कष्ट सहन की आवश्यकता है वह वर्तमान समाज में इने-गिने लोगों में पाई जाती है। तुलसीदास जी लिखते हैं :—

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना।
सेवा धरम कठिन जग जाना॥

सेवा किस भावना से करनी चाहिये—इसकी व्याख्या गीता में विस्तृत रूप से की गई है। जब हम अपने स्वार्थ को भूल कर दूसरों की आवश्यकता का अनुभव करते हैं तो हमारे कार्य का भाव बदल जाता है। दूसरों की कठिनाइयाँ और असु-विधायें कैसे दूर हों—इस समस्या को सुलझाने में हम तत्पर होते हैं। शत्रुता और कलह का भाव समाज से दूर हो जाता है, सब में एक दूसरे के प्रति प्रेम और सद्भाव की वृद्धि होती है। अर्थात् सेवा से प्रेम की वृद्धि और कटुता का विनाश होता है। कार्य-सम्पादन में मनुष्य अपनी त्रुटियों का निवारण करता है। दूसरों को दोषी ठहराने की भावना नहीं रखता। सेवा की आड़ में किसी गुप्त स्वार्थ की सिद्धि नहीं चाहता। इसी सेवा-भाव से प्रेरित होकर महात्मा गाँधी ने भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष में अहिंसा और शान्ति के साथ एक ऐसे संगठन का निर्माण किया जिसके सदस्य हर प्रकार के कष्ट सहन करते रहे। उन्हीं की त्याग-भावना का परिणाम है जो देश को स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई। परन्तु आज अनेक स्वार्थी व्यक्ति उस संगठन के सदस्य होने का दावा करते हैं, जो उनकी पद-लोलुपता और बक-वृत्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। यदि महात्मा गाँधी आज जीवित होते तो सर्वोदय समाज से सेवा की भावना अपने वास्तविक मार्ग से विचलित न होती। उनके अनुयायी कहाँ तक उनके पद-चिह्नों का अनुसरण करेंगे—यह भविष्य का विषय है।

९८।

———

## U. P. BOARD

# INTERMEDIATE EXAMINATION

## Civics Theory Paper

### १९४८

१—नागरिक-शास्त्र का विषय और विस्तार वर्णन कीजिए।

२—"कुटुम्ब और सम्पत्ति—इन दो संस्थाओं पर सभ्य समाज की नींव आधारित है।" इसकी व्याख्या कीजिए।

३—राज्य की परिभाषा कीजिए। राज्य और सरकार में क्या भेद है ?

४—नागरिक का प्रधान कर्तव्य क्या है ?

५—"जो सरकार सबसे कम नियन्त्रण रखती है वह सबसे अच्छी है" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

६—लोकमत से क्या तात्पर्य है ? वर्तमान समय में लोकमत के निर्माण के लिए कौन-कौन से साधन हैं ?

७—अल्पमत के प्रतिनिधित्व से क्या तात्पर्य है ? भारत में सम्मिलित निर्वाचन को आप क्यों पसन्द करते हैं ?

८—सरकार का वर्गीकरण कैसे किया गया है ? एकात्मक और संघात्मक सरकार की तुलना कीजिए।

९—वे कौन-कौन से नागरिक आदर्श हैं जिनका भारतीय नागरिक को ध्यान रखना चाहिये। उनकी पूर्ति कैसे हो सकती है ?

१०—निम्नलिखित विषयों में किन्हीं तीन पर टिप्पणी लिखिए :—

( अ ) स्वतन्त्र निर्णय का सिद्धान्त।

( ब ) कानून का राज्य।

( स ) स्वायत्त-शासन।

( द ) भाषण की स्वतन्त्रता।

( य ) राष्ट्रीयता।

( र ) लिखित मत।

( ल ) पुनर्निर्वाचन।

## १९४९

१—नागरिक शास्त्र के अध्ययन की क्या महत्ता है ? उसका इतिहास और अर्थशास्त्र से क्या सम्बन्ध है ?

२—"समाज साहचर्य से बना है" इस वाक्य पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालिए। इन साहचर्यों के नागरिक भावों का वर्णन कीजिए।

३—"अधिकारों" को समझाइए। लोकतन्त्र राज्य में नागरिक के प्रधान अधिकार बतलाइए।

४—किन गुणों के कारण आप किसी क्रिकेट टीम के कप्तान को अथवा म्यूनिसिपल बोर्ड ( पौर सभा ) के सभापति को चुनेंगे ?

५—आपकी सम्मति में राज्यकार्य का समुचित क्षेत्र क्या है ?

६—"राजनैतिक दल" की परिभाषा करिए। नागरिकों की शिक्षा में उसका क्या भाग है ?

७—आधुनिक लोकतन्त्र राज्य में धारासभा के क्या कर्त्तव्य हैं ?

८—संघात्मक राज्य के प्रधान लक्षण क्या हैं ? उसके गुण और अवगुण बताइए।

९—स्थानीय स्वराज्य की आवश्यकता और उपयोगिता बताइए।

१०—निम्नलिखित में से किन्हीं तीन पर छोटी टिप्पणियाँ लिखिए :—

( अ ) सार्वभौमता।

( आ ) द्वितीय धारा सभाएँ।

( इ ) वयस्क ( प्रौढ़ ) निर्वाचन।

( ई ) प्रतिनिधियों के चुनाव।

( उ ) स्वाधीन न्यायाध्यक्ष श्रेणी।

( ऊ ) विदेशी।

## १९५०

१—"नागरिक शास्त्र सामाजिक दिग्दर्शन ( माप ) का सामाजिक सेवा में प्रयोग है" इस कथन के सत्य की व्याख्या करके समझाइये।

२—सामाजिक संस्थाओं के आप क्या और कैसे भेद करेंगे ? उदाहरण दीजिये।

३—राज्य शिक्षा क्यों दे और जनता के स्वास्थ्य की क्यों रक्षा और उन्नति करे ? क्या आपके विचार में राज्य को विज्ञान, साहित्य, ललित कलाओं आदि को बढ़ावा देना चाहिये ?

४—नागरिक के प्रधान कर्त्तव्य क्या हैं ? इनकी परिपूर्ति पर राज्य कहाँ तक जोर दे सकता है ?

५—"न्याय स्वतन्त्रता का सहचर है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए। राजनैतिक और नागरिक स्वतन्त्रता में विश्लेषण कीजिए।

६—"एक ही पुरुष के हाथों में व्यवस्थापक, कार्यकारिणी और न्यायालय संबंधी शक्तियों का एकीकरण निरंकुश शासन की पूरी पूरी परिभाषा है" क्या इस सम्मति से आप सहमत हैं ?

७—मताधिकार पाने के लिये क्या लक्षण होने चाहिये ? क्या आपकी सम्मति में किसी अज्ञ और निरक्षर मनुष्य को चुनाव का अधिकार मिलना चाहिये ? अपने उत्तर के कारण लिखिये।

८—राजनैतिक दलों से शासन प्रणाली के गुण और दोष दिखलाइये।

९—यदि आप किसी दिन किसी नगर की स्थानिक स्वराज्य सभा के सभासद चुन लिये गये तो आप किन सुधारों की सूचना देना चाहेंगे ?

१०—स्वाधीन सृजनशील चैतन्य नागरिकता का आपके अनुसार क्या आदर्श है ?

११—निम्नलिखित किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—
(अ) व्यक्तिवाद, (आ) अन्तरंग सभा द्वारा शासन, (इ) सार्वजनिक सम्मति, (ई) लचीला विधान, (उ) साम्यवाद, (ऊ) केंद्रीभूत राज्य।

## १९५१

१—नागरिक शास्त्र का अर्थ बतलाइये और उसका क्षेत्र समझाइये।

२—"नागरिक गुणों का प्रारम्भिक शिक्षालय अपना घर है" इस कथन को उदाहरणों सहित समझाइए।

३—देश को नागरिकों के चैतन्यशील समूह से क्या लाभ है ? शासन की कार्यवाहियों पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है ?

४—'राज्य' क्या है ? उसके आवश्यक तत्व क्या होते हैं ? दूसरी संस्थाओं में और उसमें क्या भेद है ?

५—किन तत्वों से राज्य के कर्त्तव्य निर्धारित होने चाहिये ? क्या राज्य मनुष्यों को सच्चा, शिक्षित और संयत बना सकता है ?

६—सरकार हमारी स्वतन्त्रता की किस प्रकार रक्षा करती है ? यदि सरकारी स्वतन्त्रता न हो तो क्या कुछ सच्ची स्वतन्त्रता हो सकती है ?

७—एकात्मक शासन प्रणाली का क्या अर्थ है ? संघ शासन प्रणाली से यह किस प्रकार भिन्न है ?

८—'अशिक्षित लोकसत्ता निकृष्ट प्रकार की शासन संस्था है' इस कथन की विवेचना कीजिये।

९—सार्वजनिक सम्पत्ति क्या है ? किन प्रधान साधनों से वह आजकल संगठित होती है ?

१०—स्वाधीन भारत के नागरिक आदर्श क्या होने चाहिये ?

११—निम्नलिखित में से किन्हीं तीन पर छोटी टिप्पणियाँ लिखिये :—
( अ ) समानता; ( आ ) विश्वनागरिकता; ( इ ) राजा द्वारा शासन; ( ई ) अचल संविधान; ( उ ) वयस्क ( प्रौढ़ ) मताधिकार; ( ऊ ) नागरिक के सार्वजनिक कर्त्तव्य।

## १९५२

१—"नागरिक शास्त्र कला (art) और विज्ञान (science) दोनों है।" इस कथन का विवेचन ( discuss ) कीजिये और यह समझाइये कि इस शास्त्र के अध्ययन से क्या लाभ होता है।

२—मनुष्य संघ ( associations ) क्यों बना लेते हैं ? आप जिन संघों से परिचित हों उनका वर्गीकरण कीजिये।

३—नागरिक को राज्य की आज्ञाओं का पालन क्यों करना चाहिये ? क्या किसी दशा में किसी आज्ञा का पालन न करना न्यायसंगत है ?

४—"समानता" शब्द को समझाइये और सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में उसके उपयोग की जाँच कीजिये।

५—लोकतंत्र ( Democracy ) से आप क्या समझते हैं ? उसकी सफलता के लिये किन दशाओं की आवश्यकता है ?

६—वर्तमान राज्य में न्याय-विभाग ( Judiciary ) का महत्व समझाइये। न्यायाधीश के लिये आप किन योग्यताओं ( qualifications ) की आवश्यकता समझते हैं ?

७—"अल्पसंख्यक वर्ग का प्रतिनिधित्व" का क्या अर्थ है ? उसको प्राप्त करने के लिये किन तरीकों का उपयोग किया जाता है ?

८—धर्म का नागरिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? भारतीय दशाओं को विशेष रूप से ध्यान में रखकर इस विषय पर विवेचन कीजिये।

९—विद्यार्थियों में, अनुशासनहीनता ( indiscipline ) बढ़ने का क्या कारण है ? उसे दूर करने के उपाय बताइये।

१०—राजनीतिक दल किसे कहते हैं ? उसके द्वारा ( क ) जनमत बनाने में और (ख) सरकारी कार्यों को चलाने में किस प्रकार सहायता मिलती है ?

११—निम्नलिखित विषयों में से किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :—

( क ) मंत्रिमंडल सरकार।
( ख ) समाचारपत्रों की स्वतंत्रता।
( ग ) जनमत।
( घ ) तानाशाही ( Dictatorship )।
( ङ ) वैतिक शिक्षा।
( च ) विश्व सरकार।

## अन्य आवश्यक प्रश्न

१—नागरिक शास्त्र की व्याख्या कीजिये और इतिहास, अर्थशास्त्र तथा आचार शास्त्र से इसका सम्बन्ध वर्णन कीजिये।

२—"कुटुम्ब सामाजिक गुणों की प्रारम्भिक पाठशाला है" उदाहरण देकर इस कथन की पुष्टि कीजिए।

३—यदि भविष्य के नागरिक अपने को दृढ़ करना चाहते हैं तो उन्हें चार बातों का ध्यान रखना होगा—शारीरिक व्यायाम, हस्तकला, शिल्प-कला और संगीत। इन विषयों का मनुष्य के विकास पर कैसे प्रभाव पड़ता है ?

४—राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई ? हमें उसकी आज्ञाओं का पालन क्यों करना चाहिये ?

५—प्रभुता से क्या तात्पर्य है ? नागरिक के अधिकारों में वह कहाँ तक हस्तक्षेप करती है ?

६—एकात्मक और संघात्मक शासन-विधान की विशेषताओं का वर्णन कीजिए। संघ-शासन किन देशों के लिए उपयुक्त माना गया है।

७—स्वायत्त-शासन के समर्थन में आपके क्या प्रमाण हैं ? प्रजातन्त्र में यह क्यों आवश्यक ठहराया गया है ?

८—"नागरिकता अनुशासन को व्यवस्थित रूप देने का नाम है" उदाहरण देकर समझाइये।

९—राज्य में सामाजिक व्यवस्था का क्या महत्व है ? भारत में इसकी वृद्धि कैसे की जा सकती है ?

१०—सामाजिक जीवन में कुटुम्ब का क्या स्थान है ? एक उन्नतिशील पारिवारिक जीवन के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता है ?

११—भाषण और प्रेस की स्वतन्त्रता किन कारणों से आवश्यक है ? किन अवस्थाओं में सरकार को इन पर नियन्त्रण रखना चाहिये ?

१२—वर्तमान राज्यों का क्या कर्तव्य है ? क्या इन कर्तव्यों की कोई सीमा है ?

१३—प्रजातन्त्र के मुख्य तत्व क्या हैं ? इसकी सफलता के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता है ?

१४—पार्लियामेंट्री और प्रेसीडेंसियल सरकार में क्या भेद है ? इनकी अच्छाइयों और बुराइयों का वर्णन कीजिये ।

१५—"कुटुम्ब समाज का अंग है, व्यक्ति नहीं" इसकी पुष्टि कीजिए ।

१६—राज्य के प्रति नागरिक के कौन-कौन से कर्तव्य हैं ? उनके बदले में उसे क्या-क्या अधिकार प्राप्त हैं ?

१७—राज्य तथा अन्य समुदायों में क्या अन्तर है ?

१८—भारत में एकात्मक सरकार उपयुक्त होगी या संघात्मक ? उदाहरण देकर समझाइये ।

१९—प्रजातन्त्र राज्य की विशेषतायें क्या हैं ?

२०—प्रेस की स्वतन्त्रता क्यों आवश्यक है ? इसके दुरुपयोग को रोकने का क्या साधन है ?

२१—प्रजातन्त्र किसे कहते हैं ? किन अवस्थाओं में यह सफल हो सकता है ?

२२—राज्य की कौन-कौन सी विशेषतायें हैं ? क्या राष्ट्रीयता इसका एक संतोषजनक आधार है ?

२३—राज्य को व्यक्ति के कार्यों में क्यों हस्तक्षेप करना चाहिये ? यह किस सीमा तक होना चाहिए ?

२४—शरणार्थियों की कौन-कौन सी समस्यायें हैं ? उन्हें कैसे हल किया जा सकता है ?

२५—वर्तमान स्थिति में सरकार को दृढ़ बनाना भारतवासियों के लिये क्योंकर आवश्यक है ?

---

है। दो से अधिक दलबन्दियाँ बाल की खाल निकालने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करतीं। व्यर्थ की दलबन्दियों से देश को लाभ के बदले हानि होती है। छोटी-छोटी बातों पर वादविवाद की झड़ी लग जाती है और सरकार को काम करने में कठिनाई होती है। उसके अच्छे-से-अच्छे कामों की आलोचना की जाती है। विपक्षी दल का यह हौसला होता है कि वह सरकार की किसी भी बात को चुपचाप नहीं मान सकता। स्वयं महात्मा गाँधी का कहना है कि "काँग्रेस की टीका-टिप्पणी करना एक फैशन हो गया है।"* आधुनिक काल में दलबन्दियों की इतनी भरमार है कि कोई भी मुल्क इससे वंचित नहीं है। इस आधार पर यह कह सकते हैं कि तानाशाही (Dictatorship) इन्हीं को रोकने का एक उपाय है। तानाशाह अपने देश में एक राजनैतिक दल के अतिरिक्त किसी और को रहने की आज्ञा नहीं देता। इसके विपरीत प्रजातन्त्र राज्य इनकी वृद्धि का अधिक-से-अधिक अवसर देते हैं। पाश्चात्य देशों के कुछ प्रजातन्त्र राज्यों में ६, ७ दल तक पाये जाते हैं। इनके अलग अलग उद्देश्य और नियम हैं।

ऊपर कहा गया है कि अधिक-से-अधिक चार राजनैतिक दल होने चाहिये। एक तो वह जो पूरा रूढ़िवादी हो और तरह-तरह की तब्दीलों का पक्षपाती न हो। दूसरा वह जो रूढ़ियों को तोड़कर आगे बढ़ना चाहता हो। तीसरा वह जो इन दोनों के बीच में हो। कुछ बातों में रूढ़िवादियों का समर्थन करे और कुछ में अग्रगामी दल वालों का। इनके अतिरिक्त एक चौथा दल भी हो सकता है जो इन तीनों में किसी से भी सहमत नहीं रह सकता। कभी एक का साथ देगा और कभी दूसरे का। उसका उद्देश्य यह होगा कि प्रत्येक दल की अनुचित कार्रवाइयों को रोके। संघ राज्यों में दलबन्दियों का स्वरूप कुछ और होता है। वहाँ प्रायः दो दल हुआ करते हैं। एक केन्द्रीय शासन को अधिक मजबूत बनाना चाहता है। उसका उद्देश्य यह है कि सम्पूर्ण प्रभुता केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत हो। दूसरा दल इसका विरोधी और प्रान्तीयता का पक्षपाती होता है। केन्द्रीय सरकार को वह आवश्यकता से अधिक शक्तिशाली नहीं बनाना चाहता। शक्ति के वितरण में उसका पूरा विश्वास होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दलबन्दियों का अन्त नहीं।

**दलबन्दी से लाभ और हानि**

प्रजातन्त्र की सफलता के लिये दलबन्दी आवश्यक है। कहा जाता है कि इसके बिना प्रजातन्त्र का अन्त हो जायगा। यह देखना है कि इन दलबन्दियों से क्या लाभ और हानि है। वर्तमान राज्यों की सीमा काफी बड़ी है। हर आदमी एक दूसरे को नहीं जान सकता। लेकिन दलबन्दियों के कारण वह काफी लोगों के सहयोग में आ जाता है। और संगठनों से कोई अपने को अलग भले ही रक्खे लेकिन सरकारी

* It has become a fashion of the day to criticise the congress.

संगठन इतना आवश्यक है कि विवश होकर सबको इसमें आना पड़ता है। राज्य के संगठन और उसके कार्यों का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है। विभिन्न दलबन्दियाँ इस राजनैतिक संगठन को शिक्षा देती हैं। वे अधिक से-अधिक व्यक्तियों को इस बात के लिये तैयार करती हैं कि वे सरकार के सामने अपनी जरूरतें रक्खें। दलबन्दियों से सरकार के कार्यों की टीका-टिप्पणी होती है। इसलिये वह डरती रहती है कि कोई सरकारी कर्मचारी ऐसा काम न करे, जो प्रजा के हित के विरुद्ध हो। वर्तमान राजनैतिक आवश्यकताओं को विभिन्न दल आम जनता को समझाने की कोशिश करते हैं। बहुत से व्यक्ति, जिन्हें राजनैतिक विषयों के अध्ययन का अवसर नहीं मिलता, विभिन्न दलों के सहयोग से अपने देश की सारी बातें जानते रहते हैं। पार्टियाँ स्वतन्त्र विचारों की प्रतीक हैं। उनके कार्यों से देश में जीवन का संचार होता है और राजनैतिक विषयों में चहल-पहल रहती है। व्यक्ति का राजनैतिक व्यक्तित्व अपने दल में विकसित होता है देश के प्रमुख राजनीतिज्ञों को विभिन्न दल पहचानते हैं और उन्हें अपना नेता बनाकर देश की भलाई करने का अवसर देते हैं। दलबन्दियाँ और नेतृत्व दोनों में घनिष्ठ सम्बंध है। राजनैतिक दल हर नागरिक को इस बात की शिक्षा देते हैं कि वह अपने राजनैतिक अधिकारों का अधिक-से-अधिक उपयोग कैसे करे। वे नागरिक की शक्ति को बढ़ाकर रचनात्मक कार्य-क्रम द्वारा इस शक्ति का उपयोग करते हैं।

जहाँ दलबन्दियों से इतने लाभ हैं, वहाँ कुछ हानियाँ भी हैं। इनसे हम यह न समझ बैठें कि सभी दल राजनैतिक सिद्धान्तों पर बनाये हैं। कितने तो व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण संगठित कर लिये जाते हैं। एक पार्टी दूसरी पार्टी के अच्छे-से-अच्छे कामों को बुरा ठहराने के लिये तैयार रहती है। प्रत्येक दल अपने कार्य-क्रम की इतनी डींग मारता है कि जनता को यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इनमें से किसे अच्छा और किसे बुरा कहें। अमेरिका में पार्टीबन्दी का रोग इतना भयंकर है कि योग्य-से-योग्य व्यक्ति सरकारी नौकरियों से निकाल बाहर कर दिये जाते हैं, और उनकी जगह निकम्मे आदमी भरती कर लिये जाते हैं। ये दलबन्दियाँ कभी-कभी इतनी विकट हो जाती हैं कि खून खराबी तक की नौबत आ जाती है। उद्देश्य को भुलाकर लोग गन्दे झगड़ों में पड़ जाया करते हैं। दल की शक्ति जब अधिक बढ़ जाती है तो योग्य-से योग्य व्यक्ति को भीगी बिल्ली की तरह उसमें काम करना पड़ता है। एक दल का सदस्य अपने सहकारी सदस्यों की गन्दी-से-गन्दी बातों का समर्थन करता है। सभी दल अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये जनता में गलत बातों का प्रचार करते हैं। पार्टी में हाँ में हाँ मिलाने की प्रथा इतनी अधिक होती है कि अच्छे-से-अच्छे व्यक्तियों को अपने स्वतन्त्र विचारों को स्पष्ट करने का अवसर नहीं मिलता। उन्हें पार्टी के इशारे पर चलना पड़ता है। राजनैतिक दल गलत बातों को सही साबित करने के लिये इसलिये तैयार रहते हैं कि उनका नाम और यश हो। दलबन्दी में

सबसे बड़ा दुर्गुण यह है कि पार्टी का सदस्य अपने दल के सामने देशभक्ति को कोई चीज नहीं समझता।

**दलबन्दी और प्रजातन्त्र**

प्रजातन्त्र के अन्दर जनता को पूरी स्वतन्त्रता है कि वह निर्भयतापूर्वक अपने विचारों को स्पष्ट करे। प्रेस को स्वतन्त्रता रहती है कि वह सभी प्रकार के विचारों को स्थान दे। जनता जब चाहे सभायें कर सकती है और उसमें कोई भी उचित प्रस्ताव पास कर सकती है। हर व्याख्यानदाता को अपनी राय प्रकट करने का अधिकार है। लेखक स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं। सरकार के बुरे कामों की कोई भी आलोचना कर सकता है। सभी कामों में जनता की राय ली जाती है। किसी-किसी देश में यह प्रजातन्त्र उस सीमा तक पहुँच गया है कि जनता के बहुमत के बिना कोई कार्य नहीं किया जाता। स्विटजरलैंड इसका जीता जागता उदाहरण है। वहाँ कानून बनने के बाद भी प्रजा की राय उस पर ली जाती है। प्रजातन्त्र नागरिक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का पक्षपाती है। यदि हम ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि इसके सभी सिद्धान्त दलबन्दी में पाये जाते हैं। जिस स्वतन्त्रता को प्रजातन्त्र एक-एक व्यक्ति को देना चाहता है, उसी का संगठित रूप दल कहलाता है। इसके कार्यक्रम उस मार्ग पर बनाये जाते हैं जिस पर व्यक्ति को चलना चाहिये। पार्टियाँ प्रजातन्त्र के अन्दर इस बात का प्रमाण हैं कि नागरिक को किस हद तक स्वतन्त्रता दी गई है। पार्टियों के धुआँधार प्रचार से प्रजातन्त्र की पुष्टि होती है। उसे इस बात का भय होता है कि कहीं व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का अनुचित लाभ न उठाये। इतने पर भी दलबन्दी रोकी नहीं जाती। जब तक सरकार इस बात का प्रमाण न दे कि अमुक दल नागरिक स्वतन्त्रता में बाधक है तब तक वह उसे रोक नहीं सकती। यदि प्रजातन्त्र के अन्दर नागरिक सचमुच स्वतन्त्र है तो वह सभी दलों को स्वतन्त्रता के साथ अपनी आवाज लोगों को सुनाने दे। लेखक को सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त है तो इसकी परीक्षा दलबन्दियों द्वारा हो सकती है। अगर किसी दल द्वारा प्रकाशित छोटी-छोटी पुस्तिकायें जब्त कर ली जाती हैं तो नागरिक स्वतन्त्रता एक झूठा बहाना है। जनता अपनी इच्छानुसार दल बनाकर अपनी आवाज को मजबूत बना सकती। एक व्यक्ति सरकार को अच्छे से अच्छे मामले में दबा नहीं सकता, लेकिन दल उसके सामने यह साबित कर सकते हैं कि या तो वह जनता की राय को सुने अथवा अपना प्रजातन्त्रवादी ढकोसला छोड़ दे। किसी राष्ट्र के अन्दर कोई राजनैतिक दल नहीं है तो इसके मानी हैं कि वहाँ सच्चे प्रजातन्त्र का अभाव है। राजनीति में अधिक भाग लेने का सबसे बड़ा साधन राजनैतिक दल है।

तानाशाही प्रजातन्त्र का विरोधी है। इसके अन्दर व्यक्ति वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह तानाशाह की इच्छा के अनुकूल चलता है। नागरिकों को वहाँ

**दलबन्दी और तानाशाही**

मनमाने संगठन बनाने की आज्ञा नहीं है। तानाशाही के अन्दर एक ही दल होता है। तानाशाह स्वयं इसका प्रधान होता है। वहाँ की सरकार और दल इन दोनों के उद्देश्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। सरकार उस दल के हाथों में होती है। उसके सभी कर्मचारी उस दल के सदस्य होते हैं। उसके सदस्यों की मर्यादा देश में सबसे अधिक की जाती है। अन्य पार्टियों का चिन्ह भी बाकी नहीं रहता। शासन की व्यवस्था इस ढंग से बनाई जाती है कि इसी दल के हाथों में राज्य की बागडोर बनी रहे। यदि कोई दूसरा दल सर उठाता है तो वह निर्दयतापूर्वक दबा दिया जाता है। इटली में फासिस्ट पार्टी के अतिरिक्त कोई दूसरी पार्टी सर नहीं उठा सकती थी। जर्मनी में नाजी पार्टी का दौर-दौरा था। हिटलर स्वयं उसका प्रधान था। रूस में बोलशेविक पार्टी राज्य करती है। स्टैलिन उसका सर्वेसर्वा है। यह प्रायः देखा गया है कि स्टैलिन ने सैकड़ों आदमियों को इसी गुनाह पर तलवार के घाट उतार दिया कि वे अलग पार्टी बनाना चाहते थे। तानाशाही के अन्दर दल का सारा कार्यक्रम प्रजातन्त्रवादी देशों से भिन्न होता है। तानाशाह तलवार की शक्ति में विश्वास करता है और अपनी पार्टी को इसी रास्ते पर तैयार करता है। उसकी पार्टी अन्य देशों से लोहा लेने के लिये सदैव तैयार रहती है। तानाशाही के अन्दर राजनैतिक दल उस भरी बन्दूक की तरह है जो किसी भी समय आग लगा सकती है। प्रजातन्त्र के अन्दर पार्टियाँ अपना-अपना राग अलापती हैं लेकिन तानाशाही के अन्दर दल का एक-मात्र उद्देश्य देश की उन्नति होता है। प्रजातन्त्र के अन्दर पार्टियाँ आपस में ही लड़ती हैं लेकिन तानाशाह का दल और देशों पर अपनी दृष्टि रखता है।

**आधुनिक दलबन्दी की प्रथा**

आधुनिक युग स्वतन्त्रता का युग कहलाता है। सभी प्रजातन्त्र देशों में पार्टी मार्ग पर राजनैतिक कार्य किये जाते हैं। निर्वाचन से लेकर कानून बनाने तक सब काम राजनैतिक दल करते हैं। वे सरकारी नीति का प्रचार तथा निर्वाचन का संगठन करते हैं। उन्हीं की सहायता से मताधिकारी निर्वाचन केन्द्र पर लाये जाते हैं। वर्तमान पार्टी प्रथा को समझने के लिये अच्छा होगा कि प्रमुख देशों के दलों का अध्ययन किया जाय। भारत भी उन्हीं मार्गों पर दलों का संगठन करना चाहता है। जिस प्रकार और मामलों में हम योरप की नकल कर रहे हैं, उसी तरह राजनैतिक मामलों में भी हमारी दृष्टि उसी ओर है। इस दृष्टि से इन पार्टियों का अध्ययन हमारे लिये उपयोगी सिद्ध होगा। हमें यह भी मालूम होगा कि किस तरह धार्मिक और साम्प्रदायिक प्रश्नों के ऊपर राजनीति में पार्टियाँ बनाई जाती हैं।

एलिजाबेथ के समय तक इंगलैंड में पार्टी प्रथा का नाम न था। लेकिन धार्मिक प्रश्न धीरे-धीरे बढ़ रहे थे। लिपमैन लिखता है "जिसे इंगलैंड की पार्टी प्रथा का

इंगलैंड अध्ययन करना हो वह चार्ल्स प्रथम के समय के घरेलू युद्ध (Civil War 1642-45) का इतिहास पढ़े।" चार्ल्स प्रथम के समय धार्मिक प्रश्नों पर दो पार्टियाँ हो गईं। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक दल राजा का पक्षपाती था और दूसरा पार्लियामेंट का। घरेलू युद्ध में एक का नाम राउन्ड हेड पड़ा और दूसरे का कवेलियर। इसके बाद इन्हीं का नाम ह्विग और टोरी पड़ा। जार्ज प्रथम के समय में कैबिनेट की प्रथा चली। पार्टी के बिना इसका चलना असम्भव था। जो पार्टी पार्लियामेंट में सबसे मजबूत होती उसी के सदस्य कैबिनेट के मेम्बर होते थे। १८वीं सदी तक इंगलैंड की राजनीति केवल धनिकों के हाथ की कठपुतली थी, परन्तु इसके अंत में स्वतन्त्रता का बादल मड़राने लगा। उन्नीसवीं सदी के मध्य में फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने योरप में स्वतन्त्रता की भावना को जागृत किया। औद्योगिक क्रान्ति से यह भावना और भी बढ़ने लगी। लोगों में शिक्षा और व्यवसाय की वृद्धि से नागरिक जीवन का संचार हुआ। उनका ध्यान धर्म से हटकर राजनीति की ओर पलटा। ह्विग लोग उदार दल (Liberal) कहलाये और टोरी अनुदार दल (Conservative)। उदार दल वाले जनता को अधिक अधिकार देना चाहते थे और सामाजिक सुधारों के पक्षपाती थे। इनके विपरीत अनुदार दल वाले केवल धनिकों के हाथों में शासन की बागडोर देना चाहते थे। वे धनिकों के पक्षपाती और सामाजिक सुधारों के विरोधी थे।

मशीनों की वृद्धि के कारण सामाजिक व्यवस्था बदलती गई और मजदूरों की संख्या बढ़ने लगी। इसलिये यह आवश्यक था कि उनके अधिकारों की नई व्यवस्था बनाई जाय। इसके अतिरिक्त उनकी दशा आम जनता से बुरी थी। वे सभी प्रकार से मिल मालिकों के हाथों में थे। पूँजीपति जितना चाहता उनसे काम कराता और अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें मजदूरी देता। स्वतन्त्रता की भावना मजदूरों में भी बढ़ रही थी। उदार दल उनके अन्दर सुधार करना चाहता था, लेकिन अनुदार दल-वाले विरोध करते थे। उदार दल में एक गिरोह मजदूरों के पूरे पक्ष में था। वह इस बात पर तुला हुआ था कि चाहे जैसे हो मजदूरों को अधिकार मिलने चाहिये। सम्पूर्ण उदार दल इतना उत्सुक न था। इसलिये बीसवीं सदी के आरम्भ में यह दल दो भागों में बँट गया। जो मजदूरों के पक्के सहायक थे उन्होंने अपना नाम मजदूर दल (Labour Party) रख लिया। इस प्रकार इंगलैंड में तीन पार्टियाँ हुईं, उदार, अनुदार और मजदूर दल (Liberal, Conservative and Labour party)। १९२३ ई० में रेम्जे मैकडानल्ड मजदूर दल के नेता हुए। उनके अन्दर इस पार्टी ने इतनी उन्नति की कि १९२४ ई० में शासन की बागडोर इसी मजदूर दल के हाथ में आई। १९२९ ई० में फिर यही दल इंगलैंड का शासक बना। किसी कारण वश १९३१ ई० में रेम्जे मैकडानल्ड ने मन्त्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया और मजदूर

दल की सरकार का अन्त हो गया। आज इंगलैंड में ये तीनों दल हैं। हर दल का सम्पूर्ण देश में संगठन है, उसके कई दफ़्तर हैं और लाखों रुपये प्रतिवर्ष चन्दे के रूप में आते हैं। अनुदार दल इन सबमें धनी है। हर दल का एक सिद्धान्त है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये हर 'पार्टी स्कूल खोलती है, अस्पताल बनवाती है तथा तरह-तरह के सामाजिक सुधार करती है। इन पार्टियों के कार्य-क्रम से देश को विशेष लाभ पहुँचता है।

**अमेरिका (U. S. A.)**

१७७५ ई० तक अमेरिका परतन्त्र देश था। जो पार्टी इंगलैंड में थी उसी की नकल वहाँ भी थी। लेकिन १७८२ ई० में जब वह देश स्वतन्त्र हुआ तो वहाँ नई-नई पार्टियाँ बनीं। स्वतन्त्रता के बाद जब वहाँ संघ-शासन की व्यवस्था हुई तो यह स्वाभाविक था कि दो दल उठ खड़े होते। एक संघ शासन को अधिक अधिकार देना चाहता था। वह केन्द्रीय शासन को मजबूत बनाने के पक्ष में था। इसके विपरीत दूसरा दल प्रान्तीयता का पक्षपाती था। वह चाहता था कि रियासतों को सारे अधिकारी बाँट दिये जायँ। स्थानीय अधिकार उसे केन्द्रीय अधिकारों से कहीं आवश्यक थे। जब केन्द्रीय शासन अच्छी तरह दृढ़ हो गया तो संघ का विरोधी दल समाप्त हो गया। उसका स्थान एक नई पार्टी ने लिया। इसका नाम स्वतन्त्र दल (Republican Party) था। इस दल ने स्वतन्त्रता में दूसरे दल को भी मात कर दिया। १८०१ ई० में इसकी शक्ति सबसे अधिक हो गई। १८१६ से १८३० ई० तक इसके अतिरिक्त अमेरिका में कोई दूसरी पार्टी न थी। इसलिये वहाँ के इतिहास में इस १४ वर्ष के समय को "सद्भावना का युग" कहते हैं। १८३० के बाद फिर दो पार्टियाँ उठ खड़ी हुईं। अभी इनका सगठन बन ही रहा था कि गुलामों की रिहाई का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। हमें ध्यान रखना चाहिये कि पार्टियाँ सदैव किसी बड़े प्रश्न पर बना करती हैं। जब कभी कोई बड़ा प्रश्न देश के सामने उपस्थित होता है तो पिछली दलबन्दी समाप्त हो जाती है और नये दल उठ खड़े होते हैं। इसी प्रश्न पर घरेलू युद्ध आरम्भ हुआ और गुलामी प्रथा जाती रही। जब गुलामी का प्रश्न दूर हो गया तो कोई समस्या ऐसी न रही जिस पर दलबन्दी होती। परिणाम यह हुआ कि वही पुरानी दोनों पार्टियां (Republican and Democrat) बनी रहीं। उनके सामने कोई विशेष उद्देश्य न था। तब से आज तक अमेरिका में कोई ऐसा प्रश्न पैदा नहीं हुआ जिस पर नई पार्टियाँ बनें। छोटी-छोटी बातों पर पार्टियाँ बनती-बिगड़ती रहती हैं। यदि ठीक-ठीक शब्दों में अमेरिकन पार्टी का वर्णन किया जाय तो कहना पड़ेगा कि अमेरिका में कोई पार्टी नहीं है। नाम मात्र को उनका सगठन अवश्य है, लेकिन उनके सामने कोई विशेष कार्यक्रम (Programme) नहीं है। समाजवाद की लहर वहाँ भी पहुँच गई है। इस पर

वहाँ दो समाजवादी दल भी ( Socialist and Socialist Labour ) उत्पन्न हुए हैं। इसके अतिरिक्त १९१२ ई० से एक 'अग्रगामी दल' ( Progressive Party ) का भी जन्म हुआ है। इतनी पार्टियाँ होते हुए भी अमेरिका को 'पार्टी रहित देश' ( Non-party Country ) कहा जाय तो अनुचित न होगा।

कहने को अमेरिका में कोई पार्टी नहीं है लेकिन दलबन्दी की भावना जितनी वहाँ है उतनी बहुत कम देशों में पाई जाती है। इसकी वजह यह है कि वहाँ चुनाव बार-बार होते रहते हैं। और देशों में केवल धारा सभा के प्रतिनिधियों का चुनाव होता है, लेकिन अमेरिका में प्रेसीडेन्ट, सहायक प्रेसीडेन्ट तथा कुछ बड़े-बड़े अफसरों तक का चुनाव होता है। इसलिये राजनैतिक भावना की चहल-पहल रहती है। एक सबसे विचित्र बात जो दुनिया के किसी भी हिस्से में प्रचलित नहीं है, अमेरिका की "विनाशी नीति" ( Spoil System ) है। इसका अर्थ यह है कि जब प्रेसीडेन्ट का चुनाव हो जाता है तो वह अपनी पार्टी को प्रसन्न करने के लिये सभी सरकारी कर्मचारियों को निकाल बाहर कर देता है और उनकी जगह अपनी पार्टी के लोगों को भर्ती कर लेता है। इससे यह हानि होती है कि सरकारी कर्मचारी अपने को स्थायी नहीं समझते। चपरासी तक डरता है कि कहीं वह निकाल न दिया जाय। सरकारी विभागों में अनुभवशाली व्यक्तियों का अभाव रहता है। पार्टी प्रथा का इतना प्रभाव किसी और देश में शायद ही पड़ता हो। अब इसे रोकने का किसी हद तक प्रयत्न किया गया है। कुछ जगहें स्थायी बना दी गई हैं। सिविल सर्विस की परीक्षा का नियम बनाया गया है। इसमें सफलीभूत व्यक्ति राज्य के स्थायी कर्मचारी समझे जाते हैं। अमेरिका में बड़े-बड़े सेठ-साहूकार पार्टी के लीडरों को लम्बी-लम्बी राशि देकर अपने मन के अनुकूल कानून पास करवा लेते हैं।

**भारत**

ऊपर कहा गया है कि पार्टियाँ किसी जटिल प्रश्न पर बनती हैं। वैसे तो निर्वाचन प्रथा के अभाव में पार्टी बनने का कोई प्रश्न पैदा नहीं होता। मुगल राज्य में न कोई पार्टी और न व्यवस्थापिका सभा थी। कोई प्रश्न छिड़ जाता तो बादशाह का फैसला अन्तिम माना जाता था। फिर उस पर किसी तरह का वादविवाद नहीं हो सकता था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में राजनैतिक दशा काफी बुरी थी। कम्पनी के कर्मचारी मनमानी करते थे। मेकाले लिखता है, "कम्पनी के नौकर अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये देश के सभी आन्तरिक व्यापार पर अपना अधिकार किये हुए थे। वे यहाँ के निवासियों को महँगा खरीदने और सस्ता बेचने पर बाध्य करते थे। फैक्टरी का एक-एक नौकर अपने को डाइरेक्टर समझता और उसके मालिक कम्पनी को अपनी बपौती समझते थे। कलकत्ता शहर में कम्पनी के पास कुबेर का खजाना इकट्ठा था। इस पैशाचिक नीति के फलस्वरूप ३० लाख आदमी दाने-दाने को मुहाल थे। यद्यपि अत्याचार को सहन

करने की उनमें काफी शक्ति थी, परन्तु ऐसा अत्याचार उनसे सहन नहीं हुआ।"* कम्पनी के ढाई सौ वर्षों के काम का नतीजा यह हुआ कि देश एक सिरे से दूसरे सिरे तक उसका कट्टर शत्रु हो गया। सन् १८५७ ई० के गदर के बाद कम्पनी का राज्य समाप्त हो गया और भारत के शासन का भार पार्लियामेंट ने अपने हाथों में लिया। शासन प्रबन्ध का ढाँचा इंगलैंड के आधार पर बनाया गया। इसी बीच में सन् १८८५ ई० में काँग्रेस का जन्म हुआ। देश के कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञों ने इसकी नींव इसलिये डाली कि यह संस्था ब्रिटेन और भारत दोनों में सहयोग उत्पन्न करेगी। साथ ही भारतीय सामाजिक सुधार में हाथ बँटायेगी।

सुधार के प्रश्न पर दो दल उत्पन्न हुए। एक इसका पक्षपाती और दूसरा विरोधी था। धारा सभाओं में भी इस आशय के दो दल हो गये। फिर भारतीयों के अधिकार का प्रश्न उठा। यह एक जटिल प्रश्न था। इस पर न केवल धारा सभाओं में बल्कि देश में दो दल उठ खड़े हुए। एक ब्रिटेन से मिल कर अपने अधिकारों की माँग करना चाहता था, लेकिन दूसरा दल इसे पसन्द न करता था। वह ब्रिटेन का विरोध करते हुये आगे बढ़ना चाहता था। एक का नाम 'नरम' दल था और दूसरे का 'गरम' दल। इन दोनों दलों का संगठन बढ़ने लगा। धारा सभाओं, काँग्रेस सारे देश में इन्हीं दलों का जोर था। इसके बाद जब देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न उठा तो भारत के हर सम्प्रदाय ने अपना दल बनाकर इसका समर्थन किया। साम्प्रदायिक संगठनों को राजनैतिक संगठन में मिलाना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है, लेकिन भारत एक ऐसा मुल्क है जहाँ विभिन्न सम्प्रदाय अपना अलग-अलग संगठन बनाकर सरकार के सामने अपनी माँगें पेश करते हैं। मुसलिम लीग अपने आपको एक राजनैतिक पार्टी कहती रही है, परन्तु इसका स्थान वही रहा है जो हिन्दू सभा का। दोनों दल साम्प्रदायिक रहे हैं। इतना अवश्य है कि दोनों दल अपने-अपने सम्प्रदाय की उन्नति चाहते रहे हैं।

---

* "The servants of the Company" writes Macaulay, "obtained— not for their employers but for themselves a monopoly of almost the whole internal trade. They forced the natives to buy dear and sell cheap......Every servant of a British factory was armed with all the power of his master, and master was armed with all the power of the Company. Enormous fortunes were thus rapidly accumulated at Calcutta, while thirty millions of human beings were reduced to the last extremity of wretchedness. They had been accustomed to live under tyranny, but never under tyranny like this" [ Essay on Clive ].

भारत में राजनैतिक मामले धार्मिक दृष्टि से देखे जाते हैं। यही कारण है कि मुस्लिम लीग और हिन्दू सभा दोनों अपने आपको किसी राजनैतिक पार्टी से कम नहीं समझती थीं। लेकिन यह बात वास्तविकता से कोसों दूर है। परतन्त्र होने से हमारे देश में स्वतन्त्रता की वह लहर नहीं रही है जो अन्य प्रजातन्त्र देशों में है। बिना स्वतन्त्रता की लहर के जनता में दलबन्दी की भावना नहीं हो सकती। लोग यही सोचते हैं कि टुकड़े के लिये क्या लड़ा जाय जब वास्तविक शक्ति विदेशियों के हाथ में है। राजनैतिक मामलों से अधिकतर लोग उदासीन रहे हैं। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों के मार्ग पर अभी यहाँ पार्टियाँ नहीं हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत में कोई राजनैतिक दल है ही नहीं। यहाँ कहने-सुनने को कम-से-कम चार या पाँच पार्टियाँ हैं। कृषक पार्टी, कांग्रेस पार्टी, मजदूर पार्टी, स्वतन्त्र पार्टी, लिबरल पार्टी, समाजवादी पार्टी, किसान मजदूर प्रजा पार्टी तथा कुछ और भी ऐसी ही छोटी-छोटी पार्टियाँ हैं। इनमें से कुछ तो ऐसी हैं जो केवल प्रादेशिक धारा सभाओं तक सीमित हैं। समाजवादी, किसान मजदूर प्रजा पार्टी, लिबरल और कांग्रेस पार्टियाँ ऐसी हैं जो समूचे देश में अपना प्रभुत्व रखती हैं। इन सब में कांग्रेस पार्टी का संगठन सुदृढ़ और व्यापक है।

लिबरल पार्टी पुरानी पार्टी है। जब काँग्रेस का जाल इतना अधिक नहीं फैला था उस समय यह काफी बढ़ी-चढ़ी थी। इसके अन्दर देश के अच्छे अच्छे व्यक्ति रह चुके हैं। गोखले इसी पार्टी के एक नेता थे। आरम्भ से अब तक इसका एक ही उद्देश्य रहा है। वह यह कि अँग्रेजी सरकार से सहयोग प्राप्त करते हुए देश की सामाजिक और राजनैतिक उन्नति करना। इस दल का विश्वास रहा है कि भारत की भलाई इसी में है कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर बना रहे। जिस समय वह ब्रिटिश साम्राज्य से निकल जायगा उस समय कोई और देश इस पर हावी हो जायगा। सामाजिक सुधारों के लिये यह दल स्कूल खोलता है, कालेज चलाता है, व्यवसायों की उन्नति करता है, अछूतों में काम करता है तथा गाँवों में कृषि आदि की उन्नति करता है। राजनैतिक उन्नति के लिये दल के सदस्य धारा सभाओं में जाते हैं और जनता के राजनैतिक अधिकारों की माँग करते हैं। प्रतिवर्ष इसका सालाना जलसा होता है, जिसमें देश के प्रतिनिधि अपना अगला कार्यक्रम बनाते हैं। इस पार्टी की ओर से पत्र-पत्रिकायें भी निकलती हैं जो अपने उद्देश्य का प्रचार करती हैं। 'भारत सेवक मण्डल' ( Servants of India Society ) नाम की संस्था इसी पार्टी की संस्था है, जिसकी नींव गोखले ने डाली थी। इसके सदस्य सेवा का व्रत लेकर लिबरल पार्टी का काम करते हैं।

भारत की सबसे बड़ी राजनैतिक पार्टी काँग्रेस है। इसका मुख्य उद्देश्य देश को आजाद करना रहा है। यह पार्टी इतनी सुसंगठित है कि देश का बच्चा बच्चा

इसके नाम से परिचित है। कोई गाँव ऐसा न होगा जिसमें इस पार्टी का संगठन न हो। हर जिले में इसका दफ्तर है, इसके बाद सूबों में और फिर सम्पूर्ण भारत के लिये इसका सब से बड़ा कार्यालय दिल्ली में स्थापित किया गया है। इस पार्टी का कोई सदस्य विदेशी वस्त्र इस्तेमाल नहीं कर सकता। पार्टी के हर सदस्य को हाथ से चर्खे पर सूत कातना आवश्यक है। जो व्यक्ति इसका सदस्य होना चाहता है उसे ।) प्रतिवर्ष शुल्क देने पड़ते हैं और अहिंसा तथा सत्य का व्रत लेना पड़ता है। प्रतिवर्ष इसका सालाना जलसा होता है जिसमें लाखों रुपये खर्च किये जाते हैं। इस पार्टी के अन्दर छोटी-मोटी और भी गिरोहें हैं, लेकिन वे सब एक ही उद्देश्य रखती हैं और अपने कामों से काँग्रेस को पूरा-पूरा सहयोग देती हैं। जिस प्रकार जर्मनी में नाजी पार्टी का सदस्य बनना एक गौरव समझा जाता था उसी तरह भारत में काँग्रेस का सदस्य काफी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इसका उद्देश्य देश को पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी बनाकर 'पंचायती राज्य' कायम करना है। यह पार्टी हथियार की लड़ाई से घृणा करती है। इसका सब से बड़ा हथियार प्रेम और सत्य है जिसके बल पर यह अपने देशवासियों को आकर्षित करती है। इस पार्टी का अनुशासन ( Discipline ) इतना कड़ा है कि कोई सदस्य इसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता के पश्चात् महात्मा गाँधी की मृत्यु तथा कुछ आन्तरिक कारणों से इस पार्टी की लोक-प्रियता कम हो रही है।

यह कहना अनुचित नहीं है कि काँग्रेस में नाना प्रकार की दुर्बलतायें उत्पन्न हो गई हैं। थोड़े से उच्च कोटि के नेताओं को छोड़कर सम्पूर्ण संगठन अपने उद्देश्य से विचलित हो गया है। काँग्रेस कार्यकर्ताओं में पद और अधिकार की भावना इतनी अधिक है कि आपस में संघर्ष और द्वेष पैदा हो गया है। सेवा और कष्ट-सहन की भावना का लोप होता जा रहा है। समाज में अपनी प्रतिष्ठा और अपने ऐश्वर्य की वृद्धि करना उनका प्रमुख ध्येय है।* गरीबी का व्रत लेकर देश की समस्याओं को हल करने की इच्छा उनमें नहीं पाई जाती। संगठन के नियमों में भी ढिलाई और उपेक्षा का भाव पाया जाता है। गत निर्वाचन में काँग्रेस को सफलता अवश्य मिली है, परन्तु उसके अनुशासन और कर्त्तव्यहीनता से प्रत्येक विचारवान व्यक्ति क्षुब्ध है। स्वयं काँग्रेसी नेतागण इस दल को सुसंगठित और

* विनोबा भावे का १४ दिसम्बर १६४८ ई० को गाँधीनगर ( जयपुर ) में सर्वोदय प्रदर्शिनी के उद्घाटन में भाषण :—

" काँग्रेस मैन आज अपने पुराने बलिदानों को बेंच रहे हैं। अब उनमें त्याग करने की कोई भावना या प्रेरणा नहीं है। आज काँग्रेस में सत्य के लिये कोई स्थान नहीं है। आज उसमें अधिकार पाने के लिये संघर्ष और ईर्ष्या ही दृष्टिगोचर होती है।"

शक्तिशाली बनाने पर विचार कर रहे हैं। इसी की सफलता पर इसका भविष्य निर्भर है।

भारत के राजनीतिक दलों में किसान मजदूर प्रजा पार्टी तथा समाजवादी पार्टी का स्थान कम नहीं है। ये दोनों पार्टियाँ काँग्रेस से ही उत्पन्न हुई हैं किन्तु इनका अस्तित्व स्वतन्त्र है। इनमें समाजवादी पार्टी प्राचीन है। इसका आरम्भिक नाम काँग्रेस समाजवादी पार्टी था, जिसका पहला अधिवेशन आचार्य नरेन्द्र देव के सभापतित्व में पटना में हुआ था। इसका उद्देश्य वही है जो काँग्रेस का है। थोड़े से मतभेद को छोड़कर वह काँग्रेस के बहुत कुछ निकट है। इसका विचार काँग्रेस से उग्र है। किसान और मजदूरों की उन्नति पर यह विशेष बल देता है। उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण और बिना मुआवजे के ज़मींदारी उन्मूलन इसका ध्येय है। इसकी प्रगति बहुत ही ठोस है। गत निर्वाचन ने यह सिद्ध कर दिया है कि काँग्रेस के बाद समाजवादी पार्टी का ही स्थान है। किसान मजदूर प्रजा पार्टी की लोकप्रियता आरम्भ में अधिक थी, परन्तु धीरे-धीरे इसका महत्व कम होता गया। इसका कारण यह है कि वह दल काँग्रेस की आलोचना के अतिरिक्त कोई ठोस कार्य नहीं करता था। गत निर्वाचन में इसे इतनी असफलता मिली कि इसका अस्तित्व हिल उठा है। इसीलिये समाजवादी पार्टी के साथ इसके मिलने की बात सुनाई पड़ रही है।

कम्यूनिस्ट पार्टी, हिन्दू महासभा, मुसलिम लीग तथा छोटे-छोटे और भी दो चार दल पाये जाते हैं। भारत विभाजन के पश्चात् मुसलिम लीग का अस्तित्व समाप्त हो गया। हिन्दू महासभा तथा कुछ और दल साम्प्रदायिक रूप में कार्य करते हैं इसीलिये राष्ट्रीय दृष्टि से ये लोकप्रिय नहीं हैं। कम्यूनिस्ट पार्टी एक उग्र तथा प्राचीन दल है। पिछले निर्वाचन में मदरास में इसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। तभी से इसकी चर्चा अधिक होने लगी है। इस दल के क्रान्तिकारी विचार लोकप्रिय नहीं है। भारतवासी तथा किसी भी देश के निवासी, जिनकी एक स्थायी सभ्यता है, स्वभावतः विकासवाद के पोषक है। उन्हें क्रान्तिकारी परिवर्तन रुचिकर नहीं है। कम्यूनिस्ट पार्टी को बहुत कुछ प्रेरणा रूस से मिलती है। इसके भविष्य के विषय में कुछ कहना बहुत ही कठिन है। यह दल आरम्भ से ही श्रम संस्थाओं पर अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करता रहा है। पूँजीपतियों के विरुद्ध मोर्चा बनाकर शोषित वर्ग का संगठन और उत्थान इसका प्रमुख कार्यक्रम है। इस दल के कार्यकर्ताओं में गुप्त रीति से षड्यन्त्र तथा अविश्रांत परिश्रम करना अधिक पाया जाता है। आर्थिक समानता का सिद्धान्त नवयुवकों को बहुत ही आकर्षित करता है।

---

## अध्याय १५

# राष्ट्रीयता

## ( Nationalism )

राष्ट्रीयता की परिभाषा—राष्ट्रीयता की उत्पत्ति—राष्ट्रीयता से लाभ—राष्ट्रीयता से हानि—राष्ट्रीयता के अंग—मनुष्य का स्वभाव—धर्म—जाति भौगोलिक परिस्थिति - भाषा— राजनैतिक एकता—इतिहास- निश्चित देश—सम्मिलित स्वार्थ—क्या राष्ट्रीयता धर्म है—राष्ट्रीयता की कसौटी—राष्ट्रीयता का विनाश—क्या भारत एक राष्ट्र है—राष्ट्रीयता का भविष्य।

**राष्ट्रीयता की परिभाषा**

नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता का समावेश कदापि नहीं होता। किन्तु समाज शास्त्र के नाते हम इसे अलग नहीं कर सकते। राष्ट्रीयता प्रत्येक नागरिक का धर्म है। इस दृष्टि से हमें इसका ज्ञान आवश्यक है। "राष्ट्रीयता" शब्द इतना व्यापक है कि इसकी परिभाषा करना कोई खेल नहीं है। प्रजातन्त्रवाद का पुजारी लार्ड ब्राइस स्वीकार करता है कि वह इसकी परिभाषा नहीं कर सकता। वह लिखता है, "हम इसे देख कर केवल पहचान सकते हैं।" हेज़ ( Hayes ), जिसने राष्ट्रीयता के ऊपर कई ग्रन्थ लिखे हैं, स्पष्ट कहता है कि, "राष्ट्र शब्द अत्यन्त जटिल है।" वह लिखता है कि राष्ट्रीयता शब्द का जन्म उन्नीसवीं सदी में हुआ है। स्थूल पदार्थों की परिभाषा सरल होती है, क्योंकि उनका कोई रूप-रंग होता है, लेकिन जिसके शकल का ही पता नहीं उसका वर्णन सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। कुछ राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रीयता की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है, लेकिन इनमें से एक भी पूर्ण नहीं है। ए० टैनबर ( A. Taynber ) लिखते हैं, "राष्ट्रीयता एक इच्छा है जो बहुत से लोगों को किसी राजनीतिक क्षेत्र में रहने के लिये बाध्य करती है।" डाक्टर हालैंड रेज लिखते हैं, "राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना है।" प्रोफ़ेसर ए० ई० ज़िमरिन का कहना है, "राष्ट्रीयता न केवल आध्यात्मिक बल्कि एक शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न है।" अभी हाल के एक फ्रांसीसी विद्वान् का कथन है कि, "राष्ट्रीयता एक सामाजिक शक्ति है।" आईजय नामक एक अंग्रेज लिखता है, "राष्ट्रीयता उन

विचारों का एक जंगल है जिनसे राजनीति और लेखन कला की वृद्धि होती है।" इसी तरह अनेक परिभाषायें राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में मिलती हैं। इनमें कुछ तो ऐसी हैं जिनका अर्थ ही समझ में नहीं आता। दो एक परिभाषायें इस तरह की हैं जिनसे इसका कुछ आभास होता है। प्रोफेसर जिमरिन ने लिखा है, "राष्ट्रीयता का सम्बन्ध एक निश्चित देश के साथ होता है और इसका आकार वहाँ की जनता के घनिष्ठ जीवन से बनता है।"

इस प्रकार की परिभाषाओं का कोई अन्त नहीं है। अब यह देखना चाहिये कि वास्तव में राष्ट्रीयता कौन सी वस्तु है। आमतौर से लोग समझते हैं कि राष्ट्र और देश में कोई अन्तर नहीं है। जो जिस देश में निवास करता है वह उसी राष्ट्र का व्यक्ति कहलाता है। जो अमेरिका में रहता है वह अमेरिकन राष्ट्र का है, जो फ्रांस में रहता है वह फ्रेंच राष्ट्र का। लेकिन आगे चलकर हम देखेंगे कि राष्ट्रीयता और देश में कोई अटूट सम्बन्ध नहीं है। संसार में कुछ ऐसे भी व्यक्ति देखने में आते हैं जो किसी देश से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखते और दुनिया में फैले हुए हैं, फिर भी वे एक राष्ट्र के कहे जाते हैं। वास्तव में राष्ट्रीयता एक भावना [illegible] जो एक देश को दूसरे से अलग करती है। इसे [illegible] ना है अ[illegible] कुछ हानियाँ भी, जिनका वर्णन इसी अध्याय में उचित स्थान पर किया जायगा। कुछ ऐसे भी देश हैं जो राष्ट्र कहलाने के योग्य नहीं हैं। राष्ट्रीयता एक आदमी के वश की चीज नहीं है जो किसी देश में पैदा करे। यह आम जनता का एक सम्मिलित गुण है। बीसवीं सदी में हर देश का यह हौसला है कि वह जैसे हो अपने को राष्ट्र बनावे। जो देश इसमें पीछे हैं, और किसी कारणवश राष्ट्र बनने में असमर्थ हैं, वे आज या तो परतन्त्र हैं या अपने पड़ोसी राष्ट्रों की आँखों की किरकिरी बने हुए हैं।

**राष्ट्रीयता की उत्पत्ति**

राष्ट्रीयता की उत्पत्ति योरप में उन्नीसवीं सदी में हुई है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद दुनिया में स्वतन्त्रता की लहर पैदा हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों के विचारों में अन्तर पड़ने लगा। फिर औद्योगिक क्रान्ति हुई। इससे योरप में मशीनों का जन्म हुआ। हाथ के कारोबार का महत्व कम होने लगा और उसका स्थान मशीनों ने ग्रहण किया। पहले हर देश अपने आपको वहीं तक दृढ़ समझता था जहाँ तक उसके अन्दर शारीरिक शक्ति थी। जो देश जितना ही अधिक आबाद था वह उतना ही दृढ़ समझा जाता था। लेकिन मशीनों ने इसे बदल दिया। जिसके पास जितनी अधिक मशीनें थीं और जो जितना ही अधिक माल तैयार करके विदेशों में भेजता था वह उतना ही शक्तिशाली समझा जाता था। प्रत्येक देश की यह इच्छा हुई कि वह अपने देश के माल से दुनिया के बाजारों को अधिक-से-अधिक पाट दे। यह मुकाबिला इतना जोर पकड़ता गया कि हर एक देश अपने पड़ोसी तक को

अपना शत्रु समझने लगा। इसी होड़ का नाम राष्ट्रीयता है। बीसवीं सदी की राष्ट्रीयता इसी आपस के गलातोड़ मुकाबिले का परिणाम है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वर्तमान राष्ट्रीयता वह पागलपन है जो अपने देश के लिये सब कुछ करा सकता है। बड़े बड़े देश इसीलिये लड़ रहे हैं कि संसार में वे सर्वप्रधान राष्ट्र बन जायँ। राष्ट्रीयता यहीं पर रुक नहीं गई। जब शक्ति का मुकाबिला बढ़ने लगा तो बड़े-बड़े देशों को यह चिन्ता हुई कि कहीं अमुक देश का बाजार औरों के हाथ न चला जाय। इसलिये उन्हें एक साम्राज्य बनाने की इच्छा हुई। इसी प्रकार शक्ति का भूत बढ़ता गया। इसके साथ ही बड़े-बड़े साम्राज्यों की उत्पत्ति हुई। अभी जो विश्वव्यापी युद्ध समाप्त हुआ है उसकी जड़ में साम्राज्य पिपासा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साम्राज्य भी इसीलिये चाहिये कि अधिक-से-अधिक बाजार उनके हाथों में रह सकें। इसलिये राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के साथ वैमनस्य की उत्पत्ति हुई, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज योरप में दिखलाई पड़ रहा है। योरप एक बारूद की खान है जिसमें थोड़ी सी चिनगारी लगते ही आग भभक उठती है। वर्तमान काल में राष्ट्रीयता ने अन्तर्राष्ट्रीयता का रूप धारण कर लिया है। दूसरे में वे सारी बुराइयाँ मौजूद हैं जो पहले में हैं। सिद्धान्त में राष्ट्रीयता अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता अच्छी चीजें हैं, लेकिन इसका वर्तमान रूप विकृत है। प्रत्येक देश के अन्दर स्वार्थ और शक्ति की भावना इस कदर जाग्रत है कि लोग सच्ची राष्ट्रीयता को भूल गये हैं।

**राष्ट्रीयता से लाभ**

राष्ट्रीयता कोई बुरी चीज नहीं है। इससे स्वदेश-प्रेम का भाव प्रकट होता है। जब कोई व्यक्ति अपने को किसी राष्ट्र का अंग मानता है तो उसके अन्दर एक शक्ति मालूम पड़ती है जो व्यक्तिगत बल से कहीं अधिक होती है। इससे उसके दिल में एक प्रकार का गौरव होता है। यह बात निर्विवाद है कि उन्नतिशील देश का निवासी अपने आपको बड़ा समझता है। उसे अपने देश पर गर्व होता है। राष्ट्रीयता एक प्रकार की एकता है। केवल राजनैतिक एकता से यह उत्पन्न नहीं होती, बल्कि कई क्षेत्रों में एकता की आवश्यकता पड़ती है। धर्म, भौगोलिक परिस्थिति, भाषा, व्यवसाय, विचार इन सब की एकता की आवश्यकता है। जो देश अपने को राष्ट्र कहने का दावा रखते हैं उन्हें बहुत ही संगठित और सभ्य होने की आवश्यकता है। कई बातों के एक होते हुए भी हम दो देशों को एक मंच पर नहीं ला सकते, लेकिन राष्ट्रीयता एक ऐसी चीज है जो न केवल दो व्यक्तियों को बल्कि दो राष्ट्रों को एक में मिला सकती है। इसी से देश की संस्कृति की रक्षा होती है। किसी देश का अस्तित्व राष्ट्रीयता से दृढ़ रहता है। देश का इतिहास उसकी राष्ट्रीयता की कहानी है। सामाजिक संगठन में जो स्थान जाति का है वही संसार में राष्ट्रीयता का है। यह ठीक है कि वर्तमान राष्ट्रीयता अफीम है, लेकिन इसका असली सिद्धान्त बुरा नहीं है। यदि आज संसार

के विभिन्न देश अपनी राष्ट्रीयता खो बैठें तो न कोई संस्कृति जीवित रह सकती है और न सभ्यता। एक राष्ट्र के रहने वाले व्यक्ति अपने को भाई-भाई समझते हैं, और किसी दूसरे राष्ट्र के मुकाबले में एक स्वर से तैयार रहते हैं। जिस देश में राष्ट्रीयता की लहर है वहाँ के निवासियों में नया जीवन दिखलाई पड़ता है। जिन्हें अपने राष्ट्र को ऊँचा बनाने का थोड़ा भी अभिमान है वे जी-जान से अपनी आन्तरिक कमजोरियों को मिटाने की कोशिश करते हैं। जैसे धर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है उसी तरह राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म है। इससे देश की आन्तरिक बुराइयाँ दूर की जा सकती हैं। इसी भावना ने आज बड़े-बड़े साम्राज्यों को जन्म दिया है। इसी का परिणाम है जो मुट्ठी भर इंगलैंड के निवासियों ने पचास करोड़ व्यक्तियों पर शासन किया। इसी के प्रताप ने जापान को एशिया में सर्वप्रधान बनाया। इसी की कमी से बहुत दिनों तक भारत गुलाम रहा है। इसी के नाम पर देश की अच्छी कीर्तियाँ विश्व के सामने आती हैं।

**राष्ट्रीयता से हानि**

राष्ट्रीयता से कुछ ऐसी हानियाँ हैं जो स्वाभाविक हैं। उन्हें कोई मिटा नहीं सकता। एक व्यक्ति दूसरे को इसलिये भी भिन्न समझता है कि वह किसी और राष्ट्र का निवासी है। जिस देश में राष्ट्रीयता की भावना अधिक बढ़ जाती है वह न केवल अपनी उन्नति चाहता है, बल्कि अन्य राष्ट्रों को कुचलना उसका एक उद्देश्य होता है। आजकल जितने बड़े राष्ट्र हैं वे अपनी आमदनी का सबसे ज्यादा हिस्सा अस्त्र-शस्त्र बनाने में खर्च करते हैं। इसलिये नहीं कि उससे संसार की रक्षा होगी, बल्कि इसलिये कि दूसरे राष्ट्र उससे आगे न बढ़ सकें। बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ जो उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में हुई हैं उन सबकी जड़ में राष्ट्रीयता की भावना थी। राष्ट्रीयता के अन्दर अपनी उन्नति की भावना के साथ दूसरे राष्ट्रों को दबाने का भाव छिपा रहता है। इसी के आवेश में आकर एक देश दूसरे की अच्छी-से-अच्छी बातों को बुरा ठहराता है। अपने राष्ट्र के विस्तार के लिये न्याय तक को उठाकर ताक पर रख दिया जाता है; सन्धियों की कोई परवाह नहीं की जाती और लड़ाई के नये-नये बहाने खोज निकाले जाते हैं। इसीलिये श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं कि "राष्ट्रीयता राष्ट्र के लिये सबसे घातक है।"* वर्तमान राष्ट्रीयता तलवार की शक्ति पर कायम है। कोई व्यक्ति अपने देश की सेवा और त्याग की परवाह नहीं करता, बल्कि उसकी सैनिक शक्ति पर गर्व करता है। आज योरप के छोटे और बड़े देशों में जो कशमकश चल रही है उसका कारण यह भी है कि एक की राष्ट्रीयता नष्ट हो जाय। राष्ट्रीयता आज लड़ाई का एक बहाना है। संसार में सभी व्यक्ति भाई-भाई हैं और ऊपरी फरक

* Nationalism is the greatest evil for the Nation.

केवल प्राकृतिक अन्तर के कारण है—इस प्रकार का विश्वबन्धुत्व तब तक स्थापित नहीं हो सकता जब तक इस गन्दी भावना का सर्वनाश न होगा। राष्ट्रीयता संगठन की एक संकुचित भावना है। जिस प्रकार किसी गाँव में केवल एक घर की उन्नति से गाँव भर की उन्नति नहीं हो सकती, उसी प्रकार संसार की उन्नति तब तक सम्भव नहीं है जब तक हर एक देश ऊँचा न उठ जाय। केवल थोड़े से राष्ट्र औरों को दबाकर विश्व का कल्याण नहीं कर सकते।

राष्ट्रीयता कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो एक व्यक्ति कुछ वर्षों में पैदा करता है। यह एक भावना है जो सदियों में बनती है। कुछ ऐसी शर्तें हैं

**राष्ट्रीयता के अंग** जिनके बिना इसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। उन्हीं शर्तों को राष्ट्रीयता का अंग कहते हैं। जैसे राज्य के अंग होते हैं उसी प्रकार राष्ट्रीयता के भी। इनमें से एक की भी अनुपस्थिति में सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं हो सकता। इन अंगों के अतिरिक्त कुछ और भी शर्तें हैं जो इसकी उन्नति में सहायक होती हैं। जब एक बार किसी देश में यह दृढ़ रूप से स्थापित हो जाती है तो उसका ह्रास जल्दी नहीं होता। अच्छा होगा कि इन अंगों का अलग-अलग वर्णन किया जाय, तभी हमें इसका ठीक अर्थ समझ में आ सकता है। ये अंग निम्नलिखित हैं :—मनुष्य का स्वभाव, धर्म, जाति, भौगोलिक परिस्थिति, भाषा, रस्म-रिवाज, राजनैतिक एकता, एक निश्चित देश, ऐतिहासिक एकता इत्यादि।

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेले रहना पसन्द नहीं करता। उसका यह स्वभाव है कि अधिक-से-अधिक आदमियों से

**मनुष्य का स्वभाव** परिचय प्राप्त करे। वह अपने तुल्य औरों को भी बनाने की चेष्टा करता है। वेश भूषा, रहन सहन, खान-पान, इन सब में वह औरों की नकल करता है, साथ ही दूसरों पर प्रभाव डालता है। विचारों में उसे एकता की प्रबल इच्छा होती है। वह उसी को अपना मित्र बनाता है जो उसके विचारों के अनुकूल होता है। राष्ट्रीयता इन्हीं गुणों का बृहत् रूप है। मनुष्य के स्वभाव का ही फल है जो सभी क्षेत्रों में एकता दिखलाई पड़ती है। अपने पूर्वजों की बहुत-सी बातें वह ग्रहण करता है। रस्म-रिवाज कितने ही पुराने क्यों न हो जायँ, वे उसके स्वाभाविक अंग बन जाते हैं। इसी से एक छोटा-सा गिरोह बनता है और जब यह गिरोह देशव्यापी हो जाता है तो उसी से राष्ट्र की उत्पत्ति होती है। एक देश का निवासी अपने को विदेशियों से भिन्न परन्तु अपने देशवासियों को मित्र समझता है। देश की सभी वस्तुओं में उसे अपनापन दिखाई पड़ता है। राष्ट्रीयता में अपनापन की भावना ओत-प्रोत है। इसके अतिरिक्त मनुष्य का यह भी स्वभाव है कि वह दूसरों से थोड़ी-बहुत सहायता ले और स्वयं औरों की सहायता करे। मनुष्य उसे करते हैं, जिसके

अन्दर त्याग, सहानुभूति का भाव, सदाचार और परोपकार हो। जिसमें यह मानुषिक गुण नहीं उसे मनुष्य कहना या मनुष्य समझना मेरे विचार में एक धोखा है। इसलिये उसे अपना नाम बदल देना चाहिये ताकि कोई दूसरा मनुष्य धोखा न खा जाय। केवल आर्थिक सहायता नहीं, बल्कि वह किसी भी प्रकार की सहायता हो सकती है। मनुष्य का यह स्वभाव राष्ट्रीयता के निर्माण में सहायक होता है।

धर्म

राष्ट्रीयता के निर्माण में धर्म सहायक और बाधक दोनों है। एक ही विश्वास के बहुत-से मनुष्य होते हैं। उनमें धर्म के आधार पर एकता होती है। इसी से उन्हें एक साथ मिलने-जुलने का अवसर मिलता है। सबमें भाई का-सा बर्ताव होता है। भारतीय इतिहास का पन्ना पन्ना इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रीयता में धर्म सबसे अधिक सहायक होता है। जब भारत पर मुसलमानों के हमले हुए तो हिन्दुओं ने अपने धर्म की रक्षा के लिये उनका मुकाबिला किया। धर्म की रक्षा ने राष्ट्र की रक्षा का स्वरूप धारण किया। यहूदी जाति आज भी इस बात का प्रमाण है कि धर्म का राष्ट्रीयता में कितना गहरा हाथ होता है। उसके पास न कोई देश है और न उसकी दुनिया में कोई हस्ती है। जर्मनी से वे दूध की मक्खी की तरह निकाल दिये गये। कोई ऐसा मुल्क नहीं जहाँ उन्हें रहने तक की आज्ञा हो। इससे उस कौम को आज तक नष्ट-भ्रष्ट हो जाना चाहिये। वे जिस देश में रहते, उसी के निवासी बन जाते। लेकिन धर्म की छाप उन पर इतनी अटल है कि उनकी राष्ट्रीयता अभी तक जीवित है। किसी भी देश में रहता हुआ यहूदी अपने तरीके पर रहता है और अपने धर्म पर चलता है। इटली में रहने वाला यहूदी जर्मनी के रहने वाले यहूदी को अपना भाई समझता है।

धर्म राष्ट्रीयता में बाधक भी है। मध्यकालीन योरप में सैकड़ों वर्षों तक राजा और पोप में युद्ध चलता रहा। एक ही देश में दो धर्म के अनुयायी एक दूसरे को अपना शत्रु समझते हैं। इंगलैंड के इतिहास में कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट का युद्ध धर्म के नाम पर चलता रहा। इससे उस देश की राष्ट्रीयता में रुकावट हुई। वह तभी एक सुसंगठित राष्ट्र बन सका जब धार्मिक झगड़े दूर हो गये। भारत अब तक अपने को राष्ट्र कहलाने का पूर्ण अधिकारी नहीं था। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिख आदि अपने को अलग समझते थे। वे भारत को अपना घर वहीं तक मानते थे जहाँ तक उनके धर्म की रक्षा होती थी। यह सभी जानते हैं कि धार्मिक भेदभाव के कारण हमारा देश राष्ट्रीयता में पीछे है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इनमें धर्म के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है। पैलेस्टाइन में अरबों और यहूदियों की जो लड़ाई है उसका एक कारण धर्म भी है। कुछ और भी कारण हैं लेकिन धर्म का स्थान कम नहीं है। हर देश में विदेशी जातियाँ अधिक संख्या में रह रही हैं। लेकिन वहाँ के मूल निवासियों से उन्हें छोटा समझा जाता है। विदेशियों

को वे अधिकार प्राप्त नहीं होते जो नागरिकों को। इनकी जड़ में धर्म भी एक कारण होता है। जहाँ धर्म भाई चारे की वृद्धि करके राष्ट्रीयता में सहायक होता है वहाँ उससे बाधा भी पड़ती है।

**जाति**

जाति और धर्म में गहरा सम्बन्ध है। एक जाति के लोग आपस में कई प्रकार का संगठन रखते हैं। उनके रस्म-रिवाज एक से होते हैं। उनकी सामाजिक व्यवस्था में समानता होती है। जिस देश में एक जाति के लोग रहते हैं वहाँ राष्ट्रीयता अधिक होती है। वे अपनी जाति के नाते एक दूसरे को मित्र समझते हैं। जब तक भारत में आर्य जाति निवास करती थी और दूसरी जातियाँ नहीं आई थीं, तब तक यह देश एक राष्ट्र था। लेकिन मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि के आने पर यहाँ विभिन्न जातियाँ हुईं। परिणाम यह हुआ कि इसकी राष्ट्रीयता जाती रही। जब तक जाति का प्रश्न गौण रहता है तब तक राष्ट्रीयता में बाधा नहीं पड़ती। मुसलमानी ज़माने में हिन्दुस्तान एक सुसंगठित राष्ट्र था। हिन्दू मुसलमान अपने आपको इस देश के निवासी समझते थे। मुसलमानों ने हिन्दुस्तान को अपना घर मान लिया। लेकिन जब जातीय प्रश्न उठा और उनमें साम्प्रदायिकता के भाव आने लगे, तो इस देश की राष्ट्रीयता जाती रही। यदि बहुत-सी जातियाँ किसी देश में निवास करें और देश-भक्ति के सामने और प्रश्नों को तरह देती रहें तो राष्ट्रीयता में बाधा नहीं पड़ सकती। दुनिया में कितने ही ऐसे देश हैं जिनमें कई जातियाँ निवास करती हैं, फिर भी उनकी राष्ट्रीयता नष्ट नहीं हुई है। स्विटजरलैंड में तीन जातियाँ रहती हैं। स्वयं ब्रिटेन में दो जातियों के लोग निवास करते हैं। इतने पर भी इन देशों की राष्ट्रीयता बनी हुई है।

**भौगोलिक परिस्थिति**

राष्ट्रीयता के निर्माण में प्रकृति भी सहायता देती है। नदी, पहाड़, जंगल, रेगिस्तान, समुद्र इनसे राष्ट्रीयता में सहायता और बाधा दोनों पड़ती हैं। यदि एक जाति अथवा एक राजनैतिक सूत्र में बँधे हुए कितनी ही जातियों के लोग दूर-दूर फैले हुए हों तो नदी और समुद्रों के आवागमन से वे एक समझे जाते हैं। इसके विपरीत यदि बहुत-सी जातियाँ चारों ओर से किसी पहाड़ अथवा घने जंगल से घिरी हुई हों तो उन्हें विवश होकर, एक सुसंगठित राष्ट्र बनाना पड़ता है। भारत को ही ले लीजिये। उत्तर में गगनचुम्बी हिमालय पर्वत और तीन ओर अथाह समुद्र है। यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति राष्ट्रीयता के बहुत ही अनुकूल है। यह देश लोहे की सन्दूक की तरह सुरक्षित है। बीच में विन्ध्याचल पर्वत के कारण उत्तरी और दक्षिणी भारत के टुकड़े हो जाते हैं। हिन्दू काल में इन दोनों हिस्सों का दो इतिहास माना जाता था। आर्यावर्त केवल उत्तरी भारत को कहते थे। इसके निवासी अधिक सभ्य

है कि जिस देश की भाषा एक नहीं है वह राष्ट्र नहीं बन सकता। प्रान्तीय भाषायें अलग-अलग हों, लेकिन उसकी कोई राष्ट्रभाषा अवश्य होनी चाहिये। भाषा से विचारों में आदान-प्रदान होता है। किसी देश के सभी निवासी एक दूसरे को तब तक नहीं समझ सकते जब तक उनकी भाषा एक न हो। भारत इसका जीता-जागता उदाहरण है। इस देश में अनेक भाषायें बोली जाती हैं।

भारत के विभिन्न प्रदेशों में बोली जाने वाली अनेक भाषाओं में हिंदी ही ऐसी भाषा थी जो सबसे अधिक क्षेत्र में समझी जा सकती थी। हिंदी ही राष्ट्रभाषा निर्धारित की गई है। जिन प्रदेशों में हिन्दी का चलन नहीं है वहाँ भी उसकी शिक्षा और प्रचार की व्यवस्था हो रही है। भाषा की एकता राष्ट्र निर्माण के लिये बहुत आवश्यक है।

हम विचार करें तो पता चलेगा कि राष्ट्रीयता भाषा पर निर्भर करती है। हर देश की अपनी राष्ट्रभाषा है। वहाँ के लोग उस पर गर्व करते हैं। एक देश का निवासी कोई विदेशी भाषा तब तक नहीं सीखता जब तक वह अपनी मातृभाषा में कुशल न हो जाय। उसे यह भय रहता है कि मातृभाषा के कमजोर होते ही उसकी राष्ट्रीयता नष्ट हो जायगी। भाषा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम किसी व्यक्ति पर अपना संस्कार डालते हैं। अपने अन्तःकरण की भावना मातृभाषा में ही स्पष्ट की जा सकती है। देश में साहित्य की उन्नति मातृभाषा से होती है। जर्मन विद्वान् फिकटे ( Fichte ) लिखता है, राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक वस्तु है और इसका सम्बन्ध भाषा से है। यदि भारत की राष्ट्रीयता थोड़ी बहुत कायम है तो इसकी वजह यह है कि सभी प्रादेशिक भाषाओं में संस्कृत की पुट है।

**राजनैतिक एकता**

राजनैतिक एकता राष्ट्रीयता का आवश्यक अंग है। इसके बिना सभी साधन व्यर्थ हैं। इसकी अनुपस्थिति में बनी-बनाई राष्ट्रीयता जीवित नहीं रह सकती। एक राष्ट्र के लिये यह आवश्यक है कि उसकी एक ही सरकार हो। यदि किसी देश में दो सरकार कायम हो जायँ तो दोनों की राष्ट्रीयता एक नहीं रह सकती। जब तक कोई देश बिखरा हुआ है और सभी प्रान्त व रियासतें किसी केन्द्रीय सत्ता को नहीं मानतीं तब तक उस देश में राष्ट्रीयता का जन्म नहीं हो सकता। एक कहावत है कि "एक राष्ट्रीयता एक ही राज्य के अन्दर रह सकती है।" राजनैतिक एकता से देश के सभी व्यक्ति एकसूत्र में बँधे होते हैं। उनका व्यक्तिगत हानि लाभ देश की हानि और लाभ से जुट जाता है। देश की रक्षा और उन्नति का भार सब पर समान पड़ता है। उनके झगड़े एक ही न्यायालय में एक कानून द्वारा निपटाये जाते हैं। उनके राजनैतिक अधिकार और कर्त्तव्य एक हो जाते हैं। सरकार सबको एक दृष्टि से देखती

है। राजनैतिक एकता से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक शान्ति रहती है। यदि किसी देश के आधे हिस्से में शान्ति हो और शेष भाग लूट-मार के घर हों, तो वह देश राष्ट्र बनने का दावा नहीं कर सकता। भारत की राष्ट्रीयता अकबर से औरंगजेब तक अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। लेकिन औरंगजेब की मृत्यु के बाद राजनैतिक एकता छिन्न-भिन्न होने के कारण सूबों के नवाब मनमानी करने लगे। बहुत समय तक यह देश लड़ाई-झगड़े का घर बना रहा। जब शान्ति स्थापित हुई और केन्द्रीय शासन दृढ़ हो गया तो फिर राष्ट्रीयता के भाव जाग्रत हुए। थोड़ी बहुत राष्ट्रीयता जो इस देश में दिखाई पड़ती है वह इसी राजनैतिक एकता का परिणाम है। जिस देश के निवासी मिलजुल कर अपना काम करना नहीं जानते और निश्चित शासन स्वीकार नहीं कर सकते, वे अपने देश को एक राष्ट्र में परिणत नहीं कर सकते। एक शासन-पद्धति से विचारों में एकता उत्पन्न होती है।

जब बहुत से लोग एकत्र होते हैं तो स्वाभाविक है कि उनके विचारों में अन्तर हो। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र विचार रखता है। उसकी इच्छा होती है कि वह औरों को अपने विचार में ढाले। ऐसी दशा में वैर-विरोध होने की शंका अधिक रहती है। जहाँ कहीं सभा-समाज हुआ और बहुत-से लोग अपनी-अपनी राय देने के लिए एकत्र हुये तो उनके विचारों में अन्तर पड़ेगा। सभी लोग अपनी राय को ऊँचा समझते हैं। अपना कुत्ता औरों के शेर से प्यारा होता है। पार्टीबन्दी में अच्छी-से-अच्छी बातों को ठुकरा कर लोग अपनी बातों को ठहराते हैं। यह भेदभाव कभी-कभी भयंकर रूप धारण कर लेता है और न केवल एकता में बल्कि शान्ति में भी बाधा पड़ने की आशंका होती है। ऐसी दशा में सरकार का कर्त्तव्य है कि वह इन गन्दी बातों को दबाये ताकि व्यर्थ का मनोमालिन्य बढ़ने न पावे। सरकार को व्यक्ति के लाभ की उतनी चिन्ता नहीं होती जितनी देश की उन्नति की। सरकारी व्यवस्था जहाँ ढीली हुई कि लोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये समाज की परवाह नहीं करते। राजसत्ता छोटी-छोटी बातों को दबाकर शान्ति स्थापित करने के अतिरिक्त लोगों का ध्यान बड़ी बड़ी बातों की ओर आकर्षित करती है। इसी के प्रताप से लोग अपने आपको सुरक्षित समझते हैं। तभी उनका ध्यान एकता के बड़े-बड़े पहलुओं की ओर जाता है। राष्ट्रीयता इन्हीं एकताओं के लिये यौगिक शब्द है।

**इतिहास**

इतिहास को लोग मरे हुए आदमियों की कहानी बतलाते हैं। कुछ लोग इसे घटनाओं का चक्र कहते हैं। लेकिन यह व्याख्या गलत और हानिकारक है। जो देश अपना इतिहास नहीं रखता वह असभ्य और जंगली है। यही एक ऐसा विषय है जो हमारे भूतकाल का सच्चा चित्र खींचकर हमारे सामने रखता है। इसी के सहारे हम अपना वर्तमान कार्यक्रम

निश्चित करते हैं। हमारा भविष्य हमारे पिछले इतिहास पर निर्भर है। इतिहास की जड़ इतनी दृढ़ होती है और इसका सम्बन्ध अपने देशवासियों से इतना घनिष्ठ होता है कि न तो इसे कोई हिला सकता है और न तोड़ सकता है। प्रत्येक राष्ट्र का एक इतिहास है जिससे उसके पूर्वजों की उज्ज्वल कीर्ति स्वर्णाक्षरों में अंकित रहती है। इतिहास किसी जाति विशेष की एकता का सही-सही कारनामा है। हजारों आदमी भिन्न-भिन्न देशों से आकर किसी मैदान में बस जायँ तो वे एक राष्ट्र नहीं बना सकते। न तो उनकी रहन-सहन एक हो सकती है और न वे अपने आपको भाई-भाई समझ सकते हैं। उनका इतिहास अलग अलग होने से वे एक दूसरे को विदेशी समझेंगे। इतिहास कोई ऐसी चीज नहीं है जो वर्ष दो वर्ष में बनता है। इसके लिये सदियों की आवश्यकता है। जब हजारों वर्ष तक किसी देश के निवासी एक साथ रहते हैं तब उनका एक इतिहास बनता है और फिर उनमें अनेक एकतायें पैदा होती हैं। अधिक काल तक एक साथ निवास करने से भाई चारे का बर्ताव होता है जिससे उनकी उन्नति-अवनति एक दूसरे पर प्रकट होती है। किसी देश का इतिहास यह प्रकट करता है कि उसमें आरम्भ से अब तक कितने महापुरुष पैदा हुए और किस सीमा तक उन्होंने देश को आगे बढ़ाया। वह यह भी बतलाता है कि देश पर कितनी विपत्तियाँ आईं और उनका क्या प्रतिकार किया गया। इस प्रकार हर देश का इतिहास सेवा और त्याग से ओतप्रोत रहता है। जिसमें इनकी कमी है वह एक ऊँचा राष्ट्र कहलाने का अधिकारी नहीं है। इन कारनामों से न केवल भूतकाल की एकता का ज्ञान होता है, बल्कि वर्तमान परिस्थिति को समझने में सुविधा होती है। वह देश अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिये व्याकुल होता है। उसे फिर वहीं पहुँचने की अभिलाषा होती है जहाँ उसका देश अपने स्वर्ण युग में पहुँचा रहता है। यही अभिलाषा राष्ट्रीयता कहलाती है। भूतकाल का दिग्दर्शन वर्तमान में कैसे करें यह शिक्षा हमें इतिहास से मिलती है। उत्थान की भावना राष्ट्रीयता की द्योतक है।

**निश्चित देश**

राष्ट्रीयता के लिये एक निश्चित स्थान की आवश्यकता है। यह किसी देश का नहीं बल्कि वहाँ के निवासियों का गुण है। इसलिये यह आवश्यक है कि कुछ लोग अधिक काल तक एक ही स्थान पर निवास करें। जंगली जातियाँ इधर-से उधर घूमती रहती हैं। उनका न कोई घर है और न देश। परिणाम यह होता है कि अधिक संख्या में रहते हुए भी वे एक राष्ट्र नहीं बना सकते। अधिक काल तक एक जगह रहने से उनका एक इतिहास होता है। रस्म रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा इन सब में एकता उत्पन्न होती है। एक की भलाई-बुराई का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। सबका कोई-न-कोई सम्बन्ध होता है। वहाँ का प्राकृतिक वायुमंडल सबको एक ढाँचे में ढालता है। सबके ऊपर एक ही संस्कार पड़ता है। इससे उनकी संस्कृति भी एक होती है। इन सब एकताओं से

राष्ट्रीयता की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी एकता का भाव इस सीमा तक पहुँच जाता है कि देश की हस्ती भले ही मिट जाये लेकिन वहाँ के निवासियों की राष्ट्रीयता बनी रहती है। उनकी राजनैतिक एकता टुकड़े-टुकड़े हो जाय, वहाँ के निवासी विदेशों में उठाकर फेंक दिये जायँ, उन्हें लोग तुच्छ और दुर्बल समझने लगें, फिर भी उनकी राष्ट्रीयता नष्ट नहीं होती। यहूदी जाति इसका एक उदाहरण है। न तो इसके पास अपना देश है और न इसका कोई राजनैतिक संगठन है, फिर भी इसकी राष्ट्रीयता जीवित है। इनके ऊपर काफी तकलीफें आईं और यदि वे चाहते तो अपने को किसी दूसरी राष्ट्रीयता में बदल लिये होते लेकिन पिछला संस्कार इस दृढ़ता से इन्हें पकड़े हुए है कि इनकी एकता अब तक नष्ट नहीं हुई। इस उदाहरण से यही नतीजा निकलता है कि राष्ट्रीयता के लिये एक निश्चित देश का होना कोई आवश्यक नहीं है। लेकिन यहूदियों का यह उदाहरण केवल अपवाद है। इसे हम कोई नियम नहीं मान सकते। एक निश्चित देश के बिना जैसे राज्य की उत्पत्ति नहीं होती उसी तरह राष्ट्रीयता भी इसके बिना पैदा नहीं हो सकती। एक निश्चित स्थान पर बहुत से लोगों में पहले सामाजिक संगठन उत्पन्न होता है फिर राजनैतिक एकता होती है और तब उसमें राष्ट्रीयता का जन्म होता है।

**सम्मिलित स्वार्थ**

सम्मिलित स्वार्थ राष्ट्रीयता की उत्पत्ति में और विशेषकर इसे आगे बढ़ाने में सहायक होता है। किसी देश के अधिकतर लोग आपस में आर्थिक लाभ की दृष्टि से मिले-जुले रहते हैं। लेकिन इसके अतिरिक्त उनके और भी स्वार्थ हो सकते हैं। ये लाभ उन्हें इतने अमूल्य और आवश्यक मालूम पड़ते हैं कि वे इन्हें बनाये रखने के लिये देश की बड़ी-से-बड़ी विरोधी शक्ति का मुकाबला करने को तैयार रहते हैं। इसी सम्मिलित स्वार्थ के लिये देश के सारे व्यक्ति अपने आपको एक समझते हैं। इसी के लिये वे सरकार की आज्ञा का पालन करते हैं और हर प्रकार से शान्ति बनाये रखने में उसकी सहायता करते हैं। साधारण लोग अपने आपको एकसूत्र में बाँधते सन्देह करते हैं कि उन्हें एक दूसरे से लाभ पहुँचता है या नहीं। इसमें कोई शक नहीं कि राष्ट्रीयता के अन्दर सम्मिलित स्वार्थ का एक बहुत बड़ा अंश होता है। देश-भक्ति में अपनी भलाई छिपी होती है। जब समूचे देश का कल्याण होगा तो व्यक्ति भी इससे लाभ उठायेगा। देश की उन्नति के अर्थ हैं कि हर व्यक्ति उसमें उन्नतिशील है। देश की मर्यादा का श्रेय वहाँ के एक-एक व्यक्ति पर निर्भर है। मनुष्य यह जानता है कि यदि राष्ट्र की शान्ति में बाधा पड़ेगी तो उसका घर सुरक्षित नहीं रह सकता। सन् १७०७ ई० में इंगलैंड और स्काटलैंड दोनों एक राष्ट्र बन गये। उनकी सरकार एक हो गई और वहाँ के निवासियों ने अपनी पिछली हरकतों को भुला दिया। इसका एकमात्र कारण यह था कि दोनों देशों का इसमें सम्मिलित स्वार्थ था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में योरप के राष्ट्रों

की यह इच्छा थी कि जापान उनकी राष्ट्रीयता को अपना ले। वे ऐसा क्यों चाहते थे? इसलिये कि उनका सम्मिलित स्वार्थ था। योरप के विभिन्न देशों की राष्ट्रीयता आज खतरे में है। उनके सम्मिलित स्वार्थ पर धक्का पहुँचने का भय है। इसी की रक्षा के लिये अन्तर्राष्ट्रीयता का जन्म हुआ है। संयुक्त राष्ट्रसंघ इस सम्मिलित स्वार्थ की रक्षा का प्रयत्न करता है।

**क्या राष्ट्रीयता धर्म है?**

धर्म और राष्ट्रीयता दोनों दो चीजें हैं। एक का दूसरे से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। उन्नीसवीं सदी के पहले लोग राष्ट्रीयता पर इतना जोर नहीं देते थे जितना धर्म पर। धर्म के लिये वे सब कुछ न्योछावर करने पर तैयार रहते थे। इसी की रक्षा के लिये वे विदेशियों के आक्रमण का मुकाबला करते थे। इसके प्रचार के लिये बड़े समारोह के साथ विदेशों पर चढ़ाइयाँ की जाती थीं। मध्ययुग में योरप में धर्म के लिये कई सौ वर्षों तक घमासान युद्ध होते रहे। वहाँ के धर्म युद्ध (Crusade) संसार के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। शायद ही कोई देश ऐसा था जिसमें इसके लिये युद्ध न हुआ हो। स्वयं इंगलैंड इसका शिकार हुए बिना न रह सका। मेरी ट्यूडर के समय में ४०० आदमी जिन्दे इसलिये जला दिये गये कि वे एक धर्म को मानने के लिये तैयार न थे। लोगों को अपने धर्म की इतनी चिन्ता रहती थी कि वे देश की अन्य बातों से उसे बड़ा समझते थे। इसके सामने राजनीति का महत्व कम था। राष्ट्रीयता का तो कोई नाम भी नहीं जानता था। शिक्षा के प्रचार और विज्ञान की उन्नति से लोगों का विचार बदला। भौतिकवाद के कारण लोग धर्म से उदासीन होने लगे। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि जब तक धर्म का चक्कर उनका पीछा न छोड़ेगा तब तक उनका देश उन्नति नहीं कर सकता। इसलिये उन्नीसवीं सदी में धर्म एक गौण वस्तु रह गया। लोग इसे व्यक्तिगत विश्वास की चीज समझने लगे। धर्म का स्थान राष्ट्रीयता ने लिया। हर देश को एक दृढ़ राष्ट्र बनने की इच्छा हुई। बीसवीं सदी के आरम्भ तक लगभग सभी देश राष्ट्र बन गये और धर्म का दौरदौरा भारत को छोड़ लगभग सभी देशों से लोप हो गया। पहले लोगों का विश्वास था कि धार्मिक एकता देश की उन्नति के लिये अनिवार्य है, लेकिन बाद में उन्हें मालूम हुआ कि राष्ट्रीयता धर्म से अच्छी चीज है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों एक ही चीजें हैं। धर्म एक विश्वास की वस्तु है, लेकिन राष्ट्रीयता एक भावना है। धर्म में ऊपरी आचार-विचार की आवश्यकता होती है, किन्तु राष्ट्रीयता इन सबसे वंचित है। इतनी एकता अवश्य है कि विभिन्न धर्मावलम्बी एक राष्ट्र के अन्तर्गत रह सकते हैं। उन्नीसवीं सदी के पहले जहाँ धर्म के नाम पर एकता स्थापित की जाती थी वहाँ अब राष्ट्रीयता को स्थान दिया गया है। इसीलिये कहा जाता है

---

* Solidarity is the essence of Nationality.

कि राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म है। हमारे देश में धर्म के लिये हिन्दू और मुसलमान कभी-कभी आपस में लड़ बैठते थे। इसकी वजह यही है कि वे राष्ट्रीयता को नहीं समझते थे।

**राष्ट्रीयता की कसौटी**

यह सीधा सा प्रश्न है कि हम राष्ट्रीयता को कैसे पहचानें। कौन-सी ऐसी विशेषता है जिससे हम यह कह सकें कि अमुक देश में राष्ट्रीयता है और अमुक में नहीं। ऊपर जिन अंगों का वर्णन किया गया है वे किसी भी राष्ट्र के लिये आवश्यक हैं। लेकिन यह भी देखा गया है कि उनकी अनुपस्थिति में भी राष्ट्रीयता बनी रह सकती है। एकता राष्ट्रीयता की कसौटी है। जिस देश के लोगों की एक राष्ट्रभाषा है, जिनका एक इतिहास है और जो एक ही राजनैतिक सूत्र में बँधे हुये हैं वे अपने देश को राष्ट्र कहते हैं। जहाँ एक-एक पग पर एकता दिखलाई पड़े वहीं राष्ट्रीयता का निवास होता है। विषमता और राष्ट्रीयता इन दोनों में शत्रुता है। जिस देश में अधिक-से-अधिक एकता की भावना है और जहाँ के लोग देश के लिए सब कुछ करने पर तैयार हैं वहीं राष्ट्रीयता रह सकती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वहाँ किसी प्रकार की विषमता रहती ही नहीं। विषमता रहती है लेकिन लोगों का ध्यान उसकी ओर न जाकर एकता की ओर अधिक रहता है। स्वतन्त्रता राष्ट्रीयता की दूसरी कसौटी है। परतन्त्र देश राष्ट्र नहीं बन सकता। जब तक देश का प्रत्येक निवासी अपने अन्दर स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं करता तब तक वहाँ राष्ट्रीयता नहीं आ सकती। जिस देश के निवासियों में इतनी भी शक्ति नहीं है कि वे अपना शासन स्वयं करें, वे राष्ट्रीयता ऐसी बड़ी चीज को प्राप्त नहीं कर सकते। इसकी परीक्षा वैसे तो प्रायः होती रहती है लेकिन सबसे बड़ी परीक्षा उस समय होती है जब देश पर कोई हमला होता है। जब उसका बच्चा-बच्चा उसका मुकाबला करने पर तैयार है तो वहाँ की राष्ट्रीयता सराहनीय समझी जाती है। राष्ट्रीयता की तीसरी कसौटी देशवासियों का त्याग और उनकी आन्तरिक सेवा की भावना है। जिस देश में अधिक-से-अधिक सेवक और त्यागी होते हैं वहाँ की राष्ट्रीयता दृढ़ होती है। राष्ट्रीयता और देश-भक्ति दोनों एक ही अर्थ रखते हैं। देश-भक्ति राष्ट्रीयता का वाह्य स्वरूप है। यह बात असम्भव है कि किसी देश में राष्ट्रीयता हो किन्तु वहाँ के लोगों में देश के प्रति प्रेम न हो।

**राष्ट्रीयता का विनाश**

जब राष्ट्रीयता एक भावना है तो इसका अन्त कभी-न-कभी हो सकता है। मनुष्य के विचार बदलते रहते हैं। इसी के साथ उसकी स्थापित संस्थायें भी बदलती हैं। थोड़े-बहुत परिवर्तन से राष्ट्रीयता ढीली पड़ सकती है, लेकिन इसका सर्वनाश नहीं हो सकता। इसके नाश का मूल कारण आपस का अविश्वास होता है। जब किसी देश के लोगों में आपस में अविश्वास उत्पन्न हो जाता है तो उनके अन्दर स्वार्थ की मात्रा बढ़ जाती

है और लड़ाई-झगड़े आरम्भ हो जाते हैं। लोग एक दूसरे को अपना शत्रु समझने लगते हैं। छोटी-छोटी बातों में मतभेद के बीज उत्पन्न हो जाते हैं। प्रान्तीयता के भाव इतने बढ़ जाते हैं कि केन्द्रीय शासन कमजोर और लोगों के दृष्टिकोण संकुचित हो जाते हैं। उन्हें अपने ही काम से काम रहता है। उस देश में सेवकों और त्यागियों का अभाव हो जाता है। किसी भी सामाजिक झगड़े अथवा राजनैतिक उथल-पुथल के कारण उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाने की सम्भावना रहती है। देश में सरस जीवन की कमी हो जाती है। सार्वजनिक कामों की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता। उनके अन्दर उदासीनता के भाव इतने बढ़ जाते हैं कि देशोन्नति के बड़े-बड़े काम की वे अवहेलना करते हैं। उन्हें अपनी संस्कृति आकर्षित नहीं करती। वे विदेशी रहन-सहन के शिकार हो जाते हैं। उनके अन्दर आत्म-विश्वास की कमी हो जाती है। राजनैतिक संगठन होते हुए भी वहाँ सामाजिक अराजकता रहती है। लोग न्याय-अन्याय की परवाह न कर अपना ही स्वार्थ साधन करते हैं। सभी प्रकार के अधिकारों का दुरुपयोग होता है और लोग अपने कर्त्तव्य को भूल जाते हैं। जहाँ इस प्रकार की अव्यवस्था होगी वहाँ राष्ट्रीयता जीवित नहीं रह सकती। बड़ा-से बड़ा राष्ट्र पतन के गड्ढे में गिर जाता है। आपस की फूट राष्ट्रीयता को समूल नष्ट कर देती है। राजनैतिक शक्ति की कमजोरी के कारण भी राष्ट्रीयता नष्ट हो जाती है। शासन की बागडोर ढीली होते ही, सामाजिक बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और विषयों से हटकर लोगों का ध्यान देश रक्षा की ओर लग जाता है।

**क्या भारत एक राष्ट्र है ?**

भारत के स्वतंत्र होने तक की परिस्थिति से स्पष्ट है कि यहाँ राष्ट्रीयता की कमी रही हैं। यह राष्ट्र कहलाने के योग्य अवश्य था लेकिन यहाँ राष्ट्रीयता का अभाव रहा। इसके कई कारण थे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि यह देश परतन्त्र था। जबकि दुनिया का छोटा-से-छोटा देश स्वतन्त्र है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है; वहाँ भारत की ४० करोड़ जनता परतन्त्रता के जाल में जकड़ी रही। यहाँ के निवासियों में उस शक्ति का अभाव रहा जिससे वे विदेशी राज्य को दूर कर स्वतंत्र राज्य कर सकें। विदेशी राज्य से भयंकर विदेशीपन है जो भारतवासियों पर चढ़ता गया। उन्हें यहाँ की रहन-सहन से उदासीनता होती गई।

यही कारण है कि कुछ व्यक्ति भारत में रहते हुए भी अपने को भारतीय कहने में हिचकते रहे हैं। अपने देशवासियों के साथ मिलने-जुलने में उन्हें संकोच होता रहा है।* जो देश इस प्रकार के ऊँच-नीच भावों से भरा होगा वहाँ राष्ट्रीयता एक स्वप्न है। भारत में कई जातियाँ और सम्प्रदाय हैं। हिन्दू,

* स्वतन्त्रता के पश्चात् लोगों की इस मनोवृत्ति में परिवर्तन हो रहा है।

मुसलमान, पारसी, ईसाई—ये अपने को एक दूसरे से अलग समझते हैं। हिन्दुओं में कुछ ऐसे लोग हैं जिन्हें हिन्दू स्वयं अछूत समझते हैं। ये जातियाँ अज्ञानवश एक दूसरे को अपना भाई नहीं समझतीं। उन्हें यह ध्यान नहीं है कि जब तक सारे देश की उन्नति न होगी तब तक उनकी भी उन्नति नहीं हो सकती। जब तक इनके अन्दर भारतीय होने का गर्व न होगा तब तक आपस का मनमुटाव दूर नहीं हो सकता। कोई कारण नहीं है कि एक जाति दूसरे को छोटा समझे और उसे दबाने की कोशिश करे। हर विषय जातीय नहीं होना चाहिए। अधिकतर बात देश की भलाई के लिए होती है। ऐसे अवसरों पर प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने को एक देश का निवासी समझ कर देश की उन्नति सोचे। भारत एक सोने की चिड़िया है। लेकिन यह बात तभी ठीक हो सकती है जब हर सम्प्रदाय अपने को भारतीय कहे। बड़े आश्चर्य की बात है कि हमें इतना भी ढंग नहीं रहा कि आपस में मिल-जुल कर कैसे रहना चाहिये। स्वतंत्रता प्राप्त होने के पश्चात् से पारस्परिक एकता की भावना में बहुत-कुछ वृद्धि हुई है और वे लक्षण दिखलाई पड़ने लगे हैं जो एक राष्ट्र के नागरिकों में विद्यमान रहते हैं।

भारत में अनेक भाषायें हैं। भाषा द्वारा हम अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। इससे हमारी संस्कृति की रक्षा होती है। हिंदी के राष्ट्रभाषा हो जाने पर और प्रत्येक प्रदेश में उसका प्रचार और प्रचलन हो जाने पर आशा है कि प्रान्तीयता की भावना दूर करने में सहायता मिल सकेगी। इस क्षेत्र में कार्य हो रहा है। एक बात और भी विचारणीय है कि यह देश अपनी कोई राष्ट्रीय वेश-भूषा नहीं रखता। हमारा खान-पान तक विदेशीपन से वंचित नहीं है। वेश-भूषा में न तो हम अंग्रेज हैं और न भारतीय। कभी हमारी पोशाक फारसी होती है, कभी अंग्रेजी और कभी अमेरिकन। इस अनुकरण को भी हमें दूर करना होगा। मैं यह मानता हूँ कि खाने-पीने और पहनने में लोगों को पूरी स्वतन्त्रता रहनी चाहिये, फिर भी उन्हें एक ऐसी पोशाक अवश्य अपनानी चाहिये जिसे अधिकतर लोग हर समय पहन सकें। योरप के लोगों में पोशाक की राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी हुई है। कड़ी-से-कड़ी गर्मी में वे भारतीय सरलता की नकल नहीं करते। वे भूलकर भी सामाजिक नियमों की अवहेलना करना बुरा समझते हैं। भारतीयों में इसकी कमी है। हमारा ध्यान पहले दूसरों की नकल पर जाता है, फिर अपनी ओर, कॉंग्रेस ने इस पर काफी जोर दिया है और खद्दर को राष्ट्रीय वस्त्र माना है। उसने अपने एक प्रस्ताव में यह स्पष्ट किया है कि जो भारतीय अपने को भारतीय राष्ट्र का सदस्य समझता है उसका कर्त्तव्य है कि वह खद्दर की पोशाक पहने। इसमें कोई सन्देह नहीं कि खद्दर से हमारी राष्ट्रीयता बढ़ रही है। इससे हमारे करोड़ों भूखे और नंगे पड़ोसियों की आवश्यकतायें पूरी होती हैं और घरेलू काम-धन्धों की वृद्धि होती है।

भारत में पेशे भी नीच और ऊँच समझे जाते हैं। जो मजदूर है और मजदूरी करके अपनी गुजर करता है वह एक आफिस में काम करने वाले बाबू से छोटा समझा जाता है। जो बाजार में जूते की दूकान करता है उसका दर्जा मिठाई बेचने वाले से छोटा गिना जाता है। भंगी, जो समाज में सबसे बड़ा सेवक होने का दावा रखता है, भारतीयों के लिये अछूत है। उसे छूना लोग पाप समझते हैं। इसी तरह और भी बहुत-से पेशे हैं जिन्हें लोग नीच कह कर पुकारते हैं। लेकिन ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि इन पेशों के बिना हमारा काम एक दिन भी नहीं चल सकता। अगर इन्हीं को हम छोटा समझते हैं तो यह हमारी बेवकूफी है। योरप के देशों में पेशे के कारण कोई व्यक्ति समाज में छोटा या बड़ा नहीं गिना जाता। सभी स्वतन्त्रतापूर्वक एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। इससे समानता और राष्ट्रीय गौरव की रक्षा होती है। जो काम हमारे लिये आवश्यक है उन्हीं के करने वालों से हम प्रेम के बदले घृणा करें तो यह हमारी कमजोरी नहीं तो और क्या है। इसीलिये संसार के सबसे बड़े महापुरुष महात्मा गाँधी अपना शौच और दस्त स्वयं साफ करते रहे थे। उनका कहना था कि जब तक भारतीयों में हर एक को अपना भाई कहने का अभिमान न होगा तब तक इस देश का कल्याण नहीं हो सकता। इसी तरह को और भी सामाजिक कमजोरियाँ देश की उन्नति को रोके हुए हैं। इधर कुछ वर्षों से राष्ट्रीयता की लहर बड़े जोरों से बह रही है। सामाजिक कुरीतियों को दूर किया जा रहा है और एकता तथा समानता के भाव लाये जा रहे हैं। इस देश की राष्ट्रीयता में आवागमन के साधन भी रुकावट डालते हैं। कितने ही ऐसे गाँव हैं जहाँ न कोई सड़क है और न पास में स्टेशन। इससे वहाँ के लोग नये विचारों के सम्पर्क में नहीं आने पाते। सुधारकों को वहाँ पहुँचने में कठिनाई होती है। धीरे-धीरे यह कमी भी दूर हो रही है। कृषि-प्रधान देश होने से इस देश की राष्ट्रीयता योरप से भिन्न होगी। खेती इस देश का राष्ट्रीय पेशा है। यदि इसे भुलाकर केवल नौकरी के चक्कर में हम पड़े रहें तो हमारे आर्थिक और नैतिक विकास रुके रहेंगे। हमारी राष्ट्रीयता का आधार शोषण नहीं है। हमारी सभ्यता हमें इसके लिये रोकती है। वह हर दिशा में न्याय और नेकी का ही प्रचार करती है। इसीलिये हमारी राष्ट्रीयता योरप से भिन्न होगी। महात्मा गाँधी ने इस राष्ट्रीयता का आधार अहिंसा और सत्य बतलाया है। यदि लोगों ने इसे समझा और इन्हीं दोनों पर भारतीय राष्ट्र की दीवार खड़ी की गई तो इसमें तो सन्देह नहीं कि यह एक आदर्श राष्ट्र होगा। दुनिया के और राष्ट्र इसकी नकल करेंगे। किसी समय में यह देश सभ्यता की प्रयोग-शाला रह चुका है।*

---

* India is a university of culture.

राष्ट्रीयता का भविष्य

ऊपर कहा गया है कि वर्तमान युग में राष्ट्रीयता एक धर्म है। जो अत्याचार धर्म के नाम पर किये जाते थे वे सब राष्ट्रीयता के हवाले कर दिये गये हैं। हर देश में यह हवा बह रही है कि वही दुनिया में सबसे बढ़कर हो, उसी के पास सबसे बड़ी फौज, सबसे ज्यादे जंगी जहाज, और भयंकर-से-भयंकर हथियार हों। संसार के बड़े-बड़े राष्ट्र इसी ओर प्रयत्न कर रहे हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि राष्ट्रीयता का भविष्य क्या होगा। जब आसमान लाल होता है और हवा बन्द हो जाती है तो यह अनुमान लगाया जाता है कि आँधी आयेगी और यह अनुमान बहुत कुछ ठीक निकलता है। इसी तरह संसार की प्रगति को देखते हुए हम अनुमान कर सकते हैं कि इन राष्ट्रों का भविष्य कैसा है। यह सभी स्वीकार करेंगे कि वर्तमान राष्ट्रीयता एक भयंकर बीमारी है। हर राष्ट्र अपनी सैन्य शक्ति बढ़ा रहा है। गत विश्वव्यापी युद्ध इसी का परिणाम था। उसने प्रत्येक देश-वासियों को साम्राज्य-पिपासा से पागल बना दिया है। सभ्यता के नाम पर वह जिन्दा है, वरना कभी का उसका अन्त हो गया होता। वर्तमान राष्ट्रीयता अर्थलोलुपता की खान है। वह किसी प्रकार से शक्ति का संचय करना चाहती है और वह शक्ति कोई आध्यात्मिक वा मानसिक नहीं बल्कि पैशाचिक है। उसका बल तलवार और तोप पर है। फिर हम क्यों न कहें कि आधुनिक युग की राष्ट्रीयता राक्षस से भी भयंकर है। यदि हम अपने देश में इसलिये एकता चाहते हैं कि औरों को दबाया जाय; यदि हमारी शक्ति-संचय का उद्देश्य दूसरों को गुलाम बनाना है; यदि हमें अच्छी-से-अच्छी सभ्यता को दबा कर अपनी पैशाचिक प्रवृत्ति का प्रचार करना है; तो हम दावे के साथ कह सकते हैं कि वर्तमान राष्ट्रीयता का विनाश होगा और इसकी जगह एकता और सहयोग का कोई दूसरा साधन होगा। बहुत सम्भव है, इसका रूप बदलकर इसे प्रेम और शान्ति का जामा पहना दिया जाय।

राष्ट्रीयता की वर्तमान प्रगति को देखते हुए राजनीतिज्ञों का कहना है कि इसके बदले कोई दूसरी चीज लानी चाहिये। इसलिये बीसवीं सदी में अन्तर्राष्ट्रीयता का सूत्रपात हुआ है। इसका उद्देश्य यह है कि लोगों में विश्व-बन्धुत्व का भाव पैदा हो। वे अपने देश की उन्नति वहीं तक चाहें जहाँ तक दूसरे देश की उन्नति में बाधा न पड़े। सम्पूर्ण समाज एक इकाई है इसीलिये दुनिया को टुकड़े-टुकड़े करके और फिर उनके आपस में टकराने से काम नहीं चल सकता। जैसे बड़े-से-बड़े राष्ट्र के अन्दर ·िषत की भावना हानिकर होती है उसी तरह वर्तमान राष्ट्रीयता विश्व-शान्ति . बाधक है। इसलिये राष्ट्रीयता का भविष्य अन्धकारमय है। बहुत सम्भव है इसका स्थान अन्तर्राष्ट्रीयता को प्राप्त हो। विश्व-संघ का स्वप्न बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ अभी से

देख रहे हैं।* संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये की गई है। संसार के प्रमुख राष्ट्र अभी राष्ट्रीयता के नशे में चूर हैं और उन्हें इसके सिद्धांत मान्य नहीं हैं, लेकिन अन्त में वे पश्चात्ताप करेंगे और इसी प्रकार की कोई चीज बनाकर शान्ति और कल्याण का अनुभव करेंगे। जब तक हर देश अपनी-अपनी खँजड़ी बजाता रहेगा और वह अपने सरीखे दूसरे देशों की उन्नति पसन्द नहीं करेगा तब तक न तो संसार में शान्ति होगी और न कोई सभ्यता जीवित रहेगी। हमें स्वदेश और विदेश का भाव धीरे-धीरे मिटाना चाहिये। हर मनुष्य चाहे वह दुनिया के उत्तर में रहता है या दक्खिन में, भाई भाई है। एक के सुख दुख का असर दूसरे पर अनिवार्य रूप से पड़ेगा। वर्तमान राष्ट्रीयता इन गुणों से वंचित है। इसीलिये वह स्थायी नहीं रह सकती। कुछ समय व्यतीत होने पर मानव-समाज को यह अनुभव होगा कि शान्ति का बीज विश्व-कल्याण में है। प्रत्येक देश शरीर के अंग की भाँति है जिसकी पीड़ा पूरे शरीर को कष्ट देती है।

---

* ..ld Federation—H. G. Wells.
One World—Willki.

## अध्याय १६

# व्यक्तिवाद और समाजवाद

## ( Individualism and Socialism )

कोई भी संस्था उद्देश्यहीन नहीं होती। उद्देश्य से ही इसकी प्रतिष्ठा होती है।

**राज्य का उद्देश्य**

राज्य अनादि काल से संचालित एक ऐसा संगठन है जिसके महान् उद्देश्य के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों में बड़ा मतभेद है। राजनीति दर्शन का यह एक गूढ़ विषय है। जैसे मनुष्य के हर काम का कोई उद्देश्य होता है वैसे ही राज्य का भी उद्देश्य है—एक महान् उद्देश्य है। हर संगठन, हर गिरोह और हर व्यक्ति कोई लक्ष्य सामने रख कर कदम बढ़ाता है। किसी व्यक्ति से पूछा जाय की उसका अन्तिम उद्देश्य क्या है, वह यही कहेगा कि 'सुख'। यह पूर्ण स्वतन्त्रता के बिना नहीं मिल सकता। व्यक्ति का सतत प्रयत्न इसीलिये है कि वह पूरी स्वतन्त्रता के साथ जीवन व्यतीत करे। न तो उसकी जीवन-यात्रा में कोई बाधा पड़े और न किसी वस्तु की उसे कमी हो। यही उद्देश्य राज्य का भी है। कारण यह है कि वह व्यक्ति से कोई अलग वस्तु नहीं है। उसके मस्तिष्क का बाह्य रूप राज्य कहलाता है। राज्य व्यक्ति की ही रचना है। मनुष्य किसी ऐसी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकता जिसका उद्देश्य उसके उद्देश्य से भिन्न हो। ऐसा करना उसके स्वभाव के विरुद्ध है। वह सब कार्य आत्मसुख और सन्तोष के लिये करता है। स्वतन्त्रता में उसे निश्चिन्त जीवन की आभा दिखलाई पड़ती है। राज्य की उत्पत्ति इसी की पूर्ति का एक साधन है। प्रश्न यह है कि क्या इस स्वतन्त्रता के बाद राज्य की आवश्यकता नहीं रह जायगी ! इसका उत्तर स्पष्ट है कि उसका रहना और न रहना दोनों बराबर होगा। वह स्वतन्त्रता प्राप्य है अथवा नहीं, यह कोई नहीं कह सकता। समाज का कोई नियम स्थिर नहीं है। किस समय यह समाज कौन सा स्वरूप धारण करेगा यह कोई नहीं जान सकता। आज ही कोई छोटी सी ऐसी घटना हो सकती है जो हमारे लिये तुच्छ बात है, लेकिन आज से ५० वर्ष बाद उसका प्रभाव समाज पर इतना गहरा पड़ सकता है कि उससे संसार की कायापलट हो सकती है। जिस समय १२ मील प्रति घंटा चलने वाले एक छोटे

से इंजन का आविष्कार हुआ उस समय किसी को भी ज्ञात न था कि आगे चलकर यही विश्व के इतिहास में क्रान्ति पैदा करेगा। लेकिन हम स्पष्ट देखते हैं कि मशीनों के समय से इतिहास में एक नया युग आरम्भ होता है। कुछ राजनीतिज्ञों का कहना है कि पूर्ण स्वतन्त्रता मनुष्य के लिये मृगतृष्णा है। वह कभी प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है, परन्तु कुछ लोग इसकी आशा करते हैं।

**दो मार्ग**

यह बात सर्वसम्मति से निश्चित है कि पूर्ण स्वतन्त्रता राज्य का अन्तिम उद्देश्य है। अर्थात् जिस दिन व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक सुखमय जीवन व्यतीत करने लगेगा उसी समय राज्य की अन्तिम क्रिया पूरी हो जायगी। मनुष्य उसी दिशा में बढ़ता जा रहा है; किसी भी लक्ष्य पर पहुँचने के लिये कई मार्ग हो सकते हैं। व्यक्ति को स्वतन्त्रता तक पहुँचाने में मालूम नहीं कितने रास्ते निकाले गये और भविष्य में कितने निकाले जायँगे। मानव शास्त्र का जितना गहराई के साथ अध्ययन किया जा रहा है उतने ही नये रास्ते निकलते जा रहे हैं। अब तक जितने मार्ग निकाले गये हैं उन सब में दो उल्लेखनीय हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि शेष मार्ग इन्हीं से मिलते-जुलते हैं। इन्हीं को दो सिद्धांत कहा गया है। मार्ग और सिद्धांत में यहाँ अन्तर इसलिये नहीं है कि हम एक ही बात को दो प्रकार से पूछ सकते हैं। एक तो यह कि व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये किन-किन रास्तों से जाना होगा? इसके उत्तर में यह कह सकते हैं कि एक मार्ग व्यक्तिवादियों का ( Individualistic ) है और दूसरा समाजवादियों का ( Socialistic )। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पूर्ण स्वतन्त्रता के मुख्य सिद्धांत कौन-कौन से हैं? इसका भी उत्तर यही होगा कि व्यक्तिवाद और समाजवाद ( Individualism and Socialism )।

**एक भ्रम**

कुछ लोग समझते हैं कि व्यक्तिवाद ( Individualism ) और समाजवाद ( Socialism ) एक दूसरे के विरोधी सिद्धांत हैं। एक समाज को पूरब की ओर ले जाता है और दूसरा पच्छिम को। एक दाहिने खींचता है और दूसरा बायें। इसलिये वे उन्हें दाहिना और बाँया पक्ष कहकर सूचित करते हैं। इतना ही नहीं। प्रायः इन्हें एक दूसरे का विरोधी मान कर कितने ही भ्रमपूर्ण प्रमाण दे दिये जाते हैं। दोनों सिद्धांत एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। दोनों का उद्देश्य एक है। दोनों व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करने के साधन हैं। दोनों का लक्ष्य उसे अधिक-से-अधिक सुखी और प्रसन्न रखना है। ये दोनों मिलकर एक पूर्ण सिद्धांत बनाते हैं। एक के बिना दूसरा नग्न है। अपने-अपने क्षेत्र में भी दोनों पूर्ण हैं। इसीलिए समाजवाद और व्यक्तिवाद में विरोध का कोई प्रश्न नहीं उठता। इन दोनों सिद्धांतों में अंतर अवश्य है, लेकिन

उद्देश्य में नहीं। अन्त दोनों का एक है। अन्तर केवल मार्ग का है। जैसे भारत के रहने वाले को लंदन जाना है तो वह कलकत्ते से जहाज से अथवा बम्बई तक रेल से जाकर फिर उधर से भी जहाज द्वारा जा सकता है। किसी भी तरह उसे लंदन पहुँचना है। इसी तरह दोनों सिद्धांतों का उद्देश्य व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्र और सुखी करना है। अन्तर इतना ही है कि व्यक्तिवाद किसी और तरह से इस स्वतन्त्रता को दिलाना चाहता है और समाजवाद किसी दूसरे प्रकार से। इनमें कौन अच्छा है और कौन बुरा, यह कहना कठिन है। कारण यह है कि दोनों के अच्छे बुरे होने की पहिचान कुछ शर्तों के साथ हो सकती है। इसके अतिरिक्त दोनों समाज की दो अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। यह हो सकता है कि किसी देश में समाजवाद सफल हो, वहाँ का समाज उसके अनुकूल और परिस्थिति उपयुक्त हो। यह भी सम्भव है कि वह असफल हो जाय और उसके स्थान पर व्यक्तिवाद सफल हो। इसलिये अच्छे या बुरे का कोई प्रश्न नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम पहले दोनों सिद्धांतों को अलग-अलग समझें। इससे हमें उनके विभिन्न वातावरण का आवश्यकता का ज्ञान होगा। इसके बाद इन दोनों की त्रुटियों का अध्ययन करें। तभी हम यह निर्णय कर सकते हैं कि कौन-सा सिद्धांत अधिक सुलझा हुआ अथवा सुलभ है।

**व्यक्तिवाद**

जैसा कि शब्द से स्पष्ट है, व्यक्तिवाद इस बात का समर्थन करता है कि राज्य के सारे संगठनों का आधार व्यक्ति है। उसी पर मानव समाज की नींव है। जैसे व्यक्ति में व्यक्तित्व सर्वप्रधान होता है उसी तरह राज्य में व्यक्ति सर्वप्रधान है। उसी की भलाई और उन्नति के लिये सामाजिक अथवा राजनैतिक विधान बनाया गया है। व्यक्ति एक केन्द्र है और अन्य वस्तुएँ उसके चारों ओर घूम रही हैं। उससे अलग किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। उसी से सबको शक्ति पहुँचती है। वही सब का जन्मदाता है। उसी की क्रिया से विश्व में परिवर्तन होते हैं। इस सिद्धांत से पता चलता है कि सरकार का एकमात्र कर्त्तव्य व्यक्ति की रक्षा और उन्नति करना है। यह बात असम्भव है कि राज्य और समाज की उन्नति हो, परंतु व्यक्ति एक स्थिति में पड़ा रहे। व्यक्ति की उन्नति-अवनति उसी के हाथ की वस्तु है। वस्तुओं को वही बनाता और बिगाड़ता है। उसी की बुद्धि का फल है कि मनुष्य बन्दर से उन्नति करते-करते वर्तमान सभ्यता को प्राप्त हुआ है। झोंपड़ियों को महलों में उसी ने परिवर्तित किया है। उसी की अनोखी बुद्धि ने पाताल से लोहे को निकाल कर मशीनों का रूप दिया है। व्यक्ति से अलग संसार निरर्थक है। जैसे प्राण रहित शरीर मिट्टी है, उसी तरह व्यक्ति से अलग समाज एक निराकार भ्रम है। इस सिद्धांत के अन्दर इस बात का वर्णन किया गया है कि सरकार कहाँ तक व्यक्ति के कामों में हाथ डाले, किस सीमा तक व्यक्ति कानूनों के वशीभूत है और सेना, पुलीस आदि का संगठन क्योंकर उचित ठहराया जाय। मोटे

तौर से हम कह सकते हैं कि व्यक्तिवाद के अन्दर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का वर्णन किया जाता है। इसी 'वाद' के अन्तर्गत स्वतन्त्रता को दर्शनशास्त्र का रूप दिया गया है। इसकी कसौटी पर किसी राज्य का अध्ययन करके बतला सकते हैं कि इसमें नागरिक को किस सीमा तक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। व्यक्तिवाद राजनीति का वह सिद्धान्त है जो राज्य की परख व्यक्ति से करता है।

**व्यक्तिवाद का आधार**

यह सभी जानते हैं कि व्यक्तिवाद का आधार व्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यक्तिवाद के मुख्य दो आधार हैं—भौतिक और मानसिक। भौतिक अधार का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को इस बात की स्वतंत्रता है कि वह संसार में जो चाहे करे। परंतु अपनी शक्ति और अपने हित के साथ औरों का भी ध्यान रक्खे। इसी से सामाजिक व्यवस्था संतुलित रहेगी। राज्य इससे परे नहीं है। मानसिक आधार का तात्पर्य व्यक्ति के मस्तिष्क से है। विचार स्वतन्त्र है। व्यक्ति जो चाहे सोच सकता है। लेकिन अच्छा होगा कि वह बुरी बातों का चिन्तन न करे। उसके सारे काम मानसिक चिन्तन पर निर्भर करते हैं। वह जैसा सोचता है वैसा ही करता है। इसलिये भौतिक और मानसिक आधार अलग-अलग नहीं हैं। ये दोनों मिलकर व्यक्ति वाद के पाये को ठोस बनाते हैं। समाज में सभी व्यक्ति एक मार्ग पर विचार करें तो इतनी विषमता न होगी। यदि व्यक्ति सोचने और कार्य करने में स्वतन्त्र है तो उसे और किसी स्वतन्त्रता की आवश्यकता नहीं है। इसीलिये इन दोनों को व्यक्तिवाद का आधार ठहराया गया है। कुछ विद्वानों ने भौतिक आधार को आर्थिक और वैज्ञानिक दो भागों में बाँटा है। ऐसा करना कोई भूल नहीं है, लेकिन हमें इसकी कोई आवश्यकता नहीं दिखाई पड़ती।

**व्यक्तिवाद की दुर्बलतायें**

प्रत्येक सिद्धान्त में कुछ-न-कुछ त्रुटियाँ हैं। व्यक्तिवाद में भी कुछ ऐसी दुर्बलतायें हैं जिनका वर्णन करना आवश्यक है। इसके अन्दर छोटी से-छोटी बातें चढ़ा-चढ़ा कर कही गई हैं। कहीं-कहीं पर तो ऐसी बातें कही गई हैं जो सत्य से कोसों दूर हैं। स्पेन्सर का यह कहना कि दान और धर्म को हटा दिया जाय, तो मनुष्य को पशु से भी नीचे गिराना है। जब वह समाज में रहता है तो उसका धर्म है कि औरों की भी थोड़ी चिन्ता करे। एकमात्र स्वार्थपूर्ति में लगा हुआ व्यक्ति निकृष्ट प्राणी है। इस सिद्धान्त में राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं किया गया है। लगभग सभी व्यक्तिवादी एकस्वर से राज्य को बुरा ठहराते हैं। मिल इसे एक आवश्यक बुराई कहता है। लेकिन उन्हें मालूम होना चाहिये कि राज्य कोई बुरी वस्तु नहीं है। सरकार अच्छी-बुरी हो सकती है, वह भी इसलिये नहीं कि दो-चार सरकारी अफसर

निकम्मे हैं। थोड़े से कर्मचारियों की त्रुटियों के कारण पूरी सरकार को दोषी ठहराना उचित नहीं है। इतने कड़े शब्दों में उसकी टीका-टिप्पणी करने से राजनैतिक संगठन की अवहेलना होती है। सरकार और व्यक्ति दोनों की शक्तियों में अन्तर है। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों की आवश्यकता है। नियन्त्रण के बिना व्यक्ति को अनुचित कार्य करने का अवसर मिलता है। वह प्रत्येक दशा में अपने स्वार्थ को पहले देखता है। इसके पश्चात् ही वह औरों की भलाई-बुराई पर विचार करता है। उसके अन्दर यह स्वाभाविक दुर्बलता है कि वह अपने आपको दोषी नहीं मानता। अपनी भूलों को छिपाना उसका स्वभाव है। बहुत थोड़े से महापुरुष अपने अपराधों को मानकर प्रायश्चित करते हैं। सरकारी न्यायालय न हों तो इनकी संख्या और भी बढ़ जाय। सरकार किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करती। उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता। वह जिस प्रकार एक साधारण व्यक्ति को दंड देती है उसी तरह सरकारी पदाधिकारियों को भी दंड देने के लिये तैयार रहती है। वह सबको समान दृष्टि से देखती है। यह कहना कि सभी व्यक्ति बराबर सोच सकते हैं, उनकी बुद्धि समान है और सबको एक प्रकार की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये, नितान्त अनुचित है। सब लोग समान बुद्धि वाले नहीं होते।* अधिकारों का कोई सदुपयोग और कोई दुरुपयोग करता है। फिर दोनों को समान स्वतन्त्रता कैसे दी जा सकती है। एक व्यक्ति अपने समय का उपयोग पढ़ने-लिखने में करता है, दूसरा उसी को मार-झगड़े तथा चोरी आदि दुष्कर्मों में लगाता है। गणित के प्रश्न की तरह मनुष्य के स्वभाव का हिसाब नहीं लगाया जा सकता।

व्यक्तिवादियों की सबसे बड़ी दुर्बलता सरकार की अवहेलना करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्तिवाद के सिद्धान्त ने उन्नीसवीं सदी में व्यक्ति को काफी लाभ पहुँचाया और कितने ही कड़े कानूनों को रद्द किया; लेकिन सरकार की महत्ता को कम नहीं किया जा सकता। व्यक्ति कितना भी पूर्ण समाज बना ले, फिर भी आपस के भेदभाव लोप नहीं हो सकते। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह उनकी देखभाल करती रहे। बीसवीं सदी में अनेक नये नये संगठन बनते हैं। उनका आपस में टकराना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में सरकार की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। वही इनकी देखभाल और इनके अधिकारों का बटवारा करती है।

वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। आवागमन की सुविधा के कारण राष्ट्रों का सम्बन्ध बढ़ रहा। व्यापार, संस्कृति, साहित्य तथा अन्य साधन मानवता के भेदभाव को दूर कर रहे हैं। प्रत्येक देश विदेशियों के सुख-दुख को सोचने के लिये बाध्य है। चूँकि उनकी परिस्थिति का प्रभाव उसके लिये अनिवार्य है, इसलिये पड़ोसी

---

* मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना।

राष्ट्रों की ओर से आँख नहीं चुराई जा सकती। ये कार्य व्यक्ति की शक्ति से बाहर हैं। जो शक्ति सरकार को प्राप्त है वह व्यक्ति को नहीं। कितने ही कार्यों को व्यक्ति नहीं कर सकता, लेकिन सरकार उसे करती है। राजनैतिक व्यवस्था के बिना व्यक्ति कोई संगठन नहीं बना सकता। उसकी उन्नति के लिये शान्तिमय वातावरण सरकार ही तैयार करती है। फिर यह बात समझ में नहीं आती कि व्यक्तिवादी सरकार को इतनी तुच्छ दृष्टि से क्यों देखते हैं।

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य और व्यक्ति का भेदभाव अस्वाभाविक है। एक ओर राज्य और दूसरी ओर व्यक्ति को रखकर सामाजिक व्यवस्था की बातें करना हवाई किले बनाना है व्यक्ति समाज से अलग नहीं है। उसके विचारों तथा कार्यों का प्रभाव औरों पर पड़ता है। समाज को दूषित करने के लिये वह स्वतन्त्र नहीं है। कुछ तो उसके अच्छे विचार और कुछ सरकारी नियम उसे कुमार्ग पर चलने से रोकते हैं। इसलिये उस स्वतन्त्रता से क्या लाभ जो व्यक्ति को पतन की ओर ले जाती है। राजनैतिक वा सामाजिक व्यवस्था मनुष्य के कल्याण के लिये है। इसका विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि आत्मोन्नति के लिये इनकी आवश्यकता अनिवार्य है। मनुष्य परिस्थिति एवं दुर्बलताओं का दास है। सद्विचारों के कोसने पर भी वह बुरे मार्ग पर चला जाता है।[1] ऐसे अवसरों पर सरकार उसकी सहायता करती है। वह उसे दंड देकर आगे के लिये सचेत करती है कि ऐसा नहीं करना चाहिये। यहाँ पर सरकार और सद्विचार दोनों के कार्य एक हैं। सरकार सद्विचारों का एक सम्मिलित रूप है और व्यक्ति को उसे विरोधी समझना एक झूठी कल्पना है। सरकार व्यक्ति के लिये वही करती है जिसकी उसे आवश्यकता है। यह बात तर्क के विरुद्ध है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा डालती है। दो चार घटनाओं से कोई सिद्धान्त नहीं बनता। यदि व्यक्ति को समाज में रहना है तो उसे औरों को बचा कर चलना होगा। वह किसी के अधिकारों को कुचल नहीं सकता। इसलिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी व्यक्तिवादियों का तर्क गलत है कि व्यक्ति और सरकार में विरोध है। सरकार व्यक्ति के मस्तिष्क से निकली हुई एक सुन्दर वस्तु है। यदि वह कुछ ऐसे कानून पास करती है जो व्यक्ति के लिये हानिकारक हैं तो इन्हें कोई भी अच्छा नहीं कह सकता। इस प्रकार के कानून व्यक्ति की उन्नति में बाधक होते हैं। अतएव उसका कर्त्तव्य है कि वह इनका विरोध करे। राज्य के अमानुषिक अत्याचारों का विरोध करना नागरिक का कर्त्तव्य है।

---

१—काल सुभाव करम बरिआई।
भलेहु प्रकृतिबस चूक भलाई॥

**व्यक्तिवाद और प्रजातन्त्र**

प्रजातन्त्र में व्यक्ति के अधिकार का ध्यान रक्खा गया है। इसका उद्देश्य व्यक्ति के राजनैतिक अधिकारों की वृद्धि करना है। केन्द्रीय शासन केवल इस बात को देख-रेख करे कि राज्यों में शासन व्यवस्था ठीक-ठीक चलतः रहे। सबको स्थानीय स्वराज्य प्राप्त हो। किसी की इच्छा के विरुद्ध न कोई कानून पास किया जाय और न टैक्स लगाया जाय। राजकीय विषय जनता की राय से हल किये जायँ। वास्तविक प्रजातन्त्र वह है जहाँ व्यक्ति को यह मालूम न हो कि उसका शासक कोई और है। इससे स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र के अन्दर व्यक्तिवाद की वृद्धि के लिये काफी स्थान दिया गया है। लेकिन इसमें एक कठिनाई है। प्राचीन काल के यूनान और रोम के प्रजातन्त्र का युग अब जाता रहा। उस समय छोटे-छोटे राज्य थे। प्रत्येक नागरिक की राय से काम किया जाता था, जिनकी संख्या बहुत थोड़ी होती थी, क्योंकि बहुसंख्यक व्यक्ति दास होते थे और उन्हें राजनीतिक अधिकार प्राप्त न था। व्यक्ति राज्य का स्थूल अंग था। ऐसी व्यवस्था आज नहीं चल सकती। राज्य की सीमा इतनी बड़ी है कि सबसे राय लेकर काम करना असम्भव है। किसी कानून पर दो चार वर्ष में भी एक-एक की राय नहीं ली जा सकती। इस कठिनाई को दूर करने के लिये प्रतिनिधि शासन की व्यवस्था की गई है। नागरिक का अधिकार है कि वह अपना मत जिसे चाहे दे। उसी के चुने हुए प्रतिनिधि उसका शासन करते हैं। इस प्रतिनिधित्व के अन्दर व्यक्तिवाद की रक्षा नहीं होती। व्यक्ति की राय वही होती है जो उसके पक्ष की है। इसीलिये कहा जाता है कि प्रजातन्त्र की उन्नति के साथ व्यक्तिवाद का लोप हो जाता है। वैसे तो व्यक्तिवाद तब तक जीवित रहेगा जब तक व्यक्ति का अस्तित्व कायम है, लेकिन उसका रूप बदलता रहेगा। व्यक्ति के अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता में कमी हो सकती है, लेकिन कड़े-से-कड़े शासन के अन्तर्गत उसकी उपयोगिता कम नहीं की जा सकती।

**वर्तमान दृष्टिकोण**

आज संसार की दृष्टि व्यक्तिवाद की ओर नहीं है। इस युग में तीन वादों का बोलबाला है। अभी यह कहा नहीं जा सकता कि इन तीनों में किसकी विजय होगी। हमारा तात्पर्य प्रजातन्त्र, समाजवाद और तानाशाही से है। इन तीनों का संघर्ष जोरों के साथ हो रहा है। एक वाद का प्रयत्न दूसरे वाद को कुचल डालने का है। प्रश्न यह है कि इन तीनों में व्यक्तिवाद का क्या स्थान है। प्रजातन्त्र का वर्णन अगले अध्याय में किया गया है। उससे स्पष्ट है कि व्यक्ति धीरे-धीरे पार्टियों के अन्दर बँधता जा रहा है। उसकी निजी राय का तब तक कोई मूल्य नहीं है जब तक वह किसी पार्टी की राय न हो। उसे विवश होकर किसी-न-किसी पार्टी का सदस्य बनना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि आधुनिक प्रजातन्त्र व्यक्तिवाद के अनुकूल नहीं है।

वर्तमान युग समाजवाद का युग है। जहाँ देखिये वहीं इसकी चर्चा होती है। कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ समाजवाद का आन्दोलन न हो। वैसे तो समाजवाद का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय में किया गया है, किन्तु यहाँ यह वर्णन करना कोई अनुचित न होगा कि उसके अन्दर व्यक्ति के लिये कितना स्थान है। समाजवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सुख की चिन्ता व्यक्तिवादियों से कम नहीं करते। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है। समाजवाद के अन्दर व्यक्ति सरकार के हाथ की कठपुतली है। वही उसके लिये सब कुछ करती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति अथवा उद्योग समाजवाद के अन्दर अपराध ठहराया गया है। व्यक्ति मशीन का एक पुर्जा है जिसे चलाने का अधिकार केवल सरकार को है। वह छोटे-बड़े सभी कामों को करने की क्षमता रखती है। व्यक्ति की आवश्यकताओं को समझने अथवा पूरा करने की शक्ति उसमें अधिक है। इससे स्पष्ट है कि समाजवाद के अन्दर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये कोई स्थान नहीं है। लोगों की यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि उनकी सरकार दृढ़ हो और वही सब कुछ करे। व्यक्ति अपना न्याय स्वयं नहीं कर सकता इसलिए सरकार उसके प्रत्येक काम की देख-रेख रक्खे। समाजवादियों के कथनानुसार हर मनुष्य ईमानदार और चतुर नहीं होता। इसलिए सरकार उसके प्रत्येक काम की देख-रेख रक्खे। दूसरे लोग उससे अनुचित लाभ उठाते हैं। व्यक्तिवाद इस विषमता पर ध्यान नहीं देता। यदि सभी व्यक्ति समान होते तो अपने समान औरों को भी देखते। उस दशा में व्यक्तिवाद चल सकता है। लेकिन मनुष्य का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने पर पता चला है कि वह स्वभाव से स्वार्थी होता है। अपने लाभ के सामने औरों की चिन्ता नहीं करता। यही कारण है कि समाजवादी व्यक्तिवाद को भयानक समझते हैं।

प्रथम महायुद्ध के बाद संसार में एक नये वाद का जन्म हुआ है। वह है तानाशाही।

**तानाशाही (Dictatorship)**

कहा जाता है कि प्रजातन्त्र की असफलता का मुख्य कारण विश्वव्यापी आर्थिक संकट है। लड़ाई के बाद संसार में एक भयंकर गरीबी और बेकारी का प्रसार हुआ। प्रजातन्त्र इसे दूर न कर सका। इन्हीं को दूर करने के लिए तानाशाही का जन्म हुआ। जर्मनी, इटली आदि देशों में इसी का जोर था। इन देशों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए कहाँ तक स्थान था इसका पता वहाँ की शासन-पद्धति से चलता है। तानाशाह वहाँ सर्वेसर्वा गिना जाता था। उसके सामने किसी व्यक्ति की सुनाई नहीं होती थी। उसकी पार्टी के सदस्यों को छोड़ कर औरों का न कोई स्थान होता और न उनकी मर्यादा होती। तरह-तरह के टैक्सों से उन्हें दबाया जाता। अपनी पार्टी के अन्दर भी तानाशाह का कोई विरोध नहीं कर सकता। उसे हाँ में हाँ मिलाने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं रहता। देश की उन्नति के सामने व्यक्ति की चिन्ता

नहीं की जाती। तानाशाह की इच्छानुसार किसी भी देश से लड़ाई छिड़ सकती। इससे प्रजा को कितना कष्ट होगा, इसकी कोई चिन्ता नहीं की जाती। यद्यपि तानाशाही का सिद्धान्त एक है, परन्तु विभिन्न देशों में इसके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। हिंसा के सभी पक्षपाती हैं। तलवार का बल उनके लिए आवश्यक है। अपने विपक्षी को समूल नष्ट करना तानाशाही की विशेषता समझी जाती है। तानाशाहों के लिए राष्ट्रीयता इतनी प्रिय है कि उसके लिए वे सब कुछ कर सकते हैं। फाँसी देना, तलवार के घाट उतारना, देश निकाला देना, उनके लिये साधारण बात है। सरकारी बातों का विरोध वहाँ सहन नहीं किया जाता। व्यक्ति को यह आज्ञा है कि सरकारी आज्ञा को वह प्रसन्नतापूर्वक मान ले। उसे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी राय व्यक्त करने की आज्ञा नहीं है। प्रेस भी मनमानी खबरें नहीं छाप सकता। तानाशाही के अन्दर नागरिकता का वह व्यापक रूप नहीं है जो प्रजातन्त्र के अन्दर पाया जाता है। वहाँ पर नागरिकता एक विशेष वर्ग से सम्बन्ध रखती है। इससे स्पष्ट है कि यह वाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को महत्व नहीं देता और उसे राष्ट्रोन्नति का एक साधन मात्र समझता है। इन तीनों वादों से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि आधुनिक युग व्यक्तिवाद का पक्षपाती नहीं है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। यदि यह आन्दोलन बढ़ता गया तो इसको रोकने के लिये व्यक्तिवाद का पुनः प्रचार होगा। यह सामाजिक नियम है कि जब कोई वाद अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है तो उसका विरोधी वाद धीरे-धीरे उसका स्थान ग्रहण कर लेता है।

**समाजवाद**

समाजवाद एक ऐसा विषय है जिसमें प्रवेश करने के कई मार्ग हैं। विद्वानों ने इस पर इतने प्रकार से विचार किया है कि सबका वर्णन करना एक पुस्तक लिखना है। इस वाद के विषय में अभी तक लोगों को यह पता नहीं है कि इसकी ठीक-ठीक परिभाषा क्या है और इसकी कौन-सी शाखा अच्छी है। कुछ विद्वानों का मत है कि समाजवाद की ५७ किस्में हैं। सन् १८९२ ई० में 'ली फिगारो' (Le Figaro) नामक एक फ्रांसीसी पत्र में समाजवाद की ६०० परिभाषायें प्रकाशित हुई थीं। इस शब्द का प्रयोग इतने अर्थों में किया गया है कि सबका यहाँ वर्णन सम्भव नहीं है। सर विलियम हरकोर्ट ( Sir William Harcourt ) लिखता है, "हम सभी समाजवादी हैं क्योंकि हम लोग समाज में ही रहते हैं।"* कालेज के विद्यार्थी से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों तक हर एक अपने आपको समाजवाद का पंडित समझता है। एक सज्जन तो यहाँ तक लिखते हैं कि जितने समाजवादी हैं उतने ही प्रकार के समाजवाद हैं। इसकी उपमा एक ऐसे हैट से दी गई है जिसे कोई भी पहन सकता है। एक फ्रांसीसी

---

* *We are all socialists because we live in society.*

विद्वान् लिखता है, "समाजवाद एक ऐसा धर्म है जिसकी अनेक शाखायें और उपशाखायें हैं।" जर्मनी में इसकी जो गति थी वह फ्रांस में नहीं। ब्रिटेन का समाजवाद रूस से भिन्न है। यह कहना अनुचित न होगा कि हर देश का समाजवाद भिन्न-भिन्न है। लार्ड वेमिस ( Lord Wemyss ) ने समाजवादियों को ३ वर्गों में विभाजित किया है :—

१—राह चलते समाजवादी ( Socialists of the Street )
२—विद्यार्थी समाजवादी ( Socialists of the School )
३—कौंसिलों के समाजवादी ( Socialists of the Senate )*

### परिभाषा

समाजवाद एक ऐसा सिद्धांत है जो समाज की सत्ता को व्यक्ति से बड़ा समझता है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य में सरकार ही सब कुछ करे और व्यक्तिगत उद्योग-धन्धे बन्द कर दिये जायँ। जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा रहेगी तब तक लोग अपने ही लाभ की चिन्ता करेंगे। परिणाम यह होगा कि समाज में कोई धनी होगा और कोई निर्धन। इसी अन्तर को दूर करने वाले सिद्धांत को समाजवाद कहते हैं। इसका उद्देश्य धनी-निर्धन के अन्तर को मिटाने के साथ समाज की एक ऐसी योजना बनाना है जिसमें पूर्ण समानता की स्थापना हो। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पत्ति सभी विषमताओं की जड़ है। उन्नति-अवनति, सभ्यता-असभ्यता, सब कुछ इसी की देन है। जिसके पास समाज में धन है उसी के लड़के शिक्षित हो सकते हैं, उसी का ध्यान कला और संगीत की ओर जा सकता है, उसी की सब बात औरों को माननी पड़ती है और वही सब प्रकार से सभ्य गिना जाता है। जब सम्पत्ति के क्षेत्र में समानता होगी तो और विषमताएँ अपने आप दूर हो जावेंगी, समाज में पूर्ण शान्ति रहेगी और एक नई सभ्यता का आरम्भ होगा जो पिछली सभ्यताओं से ऊँची और सही होगी।

समाजवाद की परिभाषा करना कठिन है। समाजवाद की परिभाषा करते हुए जान स्पार्गो ( John Spargo ) लिखता है, "वर्तमान समाज की टीका-टिप्पणी का नाम समाजवाद है। सामाजिक उत्थान के एक सिद्धांत को समाजवाद कहते हैं।" एच० जी० वेल्स का कहना है कि 'आर्थिक क्षेत्र में समानता उत्पन्न करने वाले सिद्धांत को समाजवाद कहते हैं।' वह यह भी लिखते हैं कि प्रजातन्त्रवाद का युग समाजवाद का युग कहलाता है। बर्नार्ड शा ( Bernard Shaw ) अपनी एक

---

* समाजवाद की व्याख्या करते हुए लार्ड वेमिस लिखता है :—

"What is communist? One who has yearnings
For equal division of unequal earnings
An idler or bungler or both, he is willing
To fork out his penny and pocket your shilling."

पुस्तक* में लिखते हैं, "मनुष्य की यह हार्दिक इच्छा है कि दुनिया की सम्पत्ति का बटवारा उसके परिश्रम के अनुसार किया जाय। इसी इच्छा को समाजवाद कहते हैं।" वे प्रजातन्त्रवाद की उन्नति को समाज की उन्नति कहते हैं। एफ० एस० मार्विन† लिखता है, "गरीबों की आह और न्याय की आवश्यकता इन दोनों से प्रेरित होकर समाजवाद की उत्पत्ति हुई।" यह बात निर्विवाद है कि समाजवाद आर्थिक विधान का सबसे बड़ा सिद्धांत है। आगे चलकर जब इस पर और प्रकाश डाला जायगा तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

**वैज्ञानिक समाजवाद**

वैज्ञानिक समाजवाद की नींव पहले-पहल कार्ल मार्क्स ने १८४८ ई० में डाली थी। आमतौर से जब 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो इसका तात्पर्य मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद से होता है। मार्क्स समाजवाद का पिता कहा जाता है। यह एक यहूदी था। इसका जन्म ५ मई सन् १८१८ ई० को जर्मनी में हुआ था। इसके विचार इतने उग्र थे कि वहाँ से उसे देशनिकाला दे दिया गया। कई देशों में घूमता हुआ १८४८ ई० में वह लन्दन पहुँचा। वहीं १४ मार्च सन् १८८३ ई० को उसकी मृत्यु हो गई। मार्क्स ने अपने सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन अपनी 'दी कैपिटल' (The Capital) नामक पुस्तक में किया है। यह समाजवादियों का धर्मग्रन्थ माना जाता है। मार्क्स पक्का क्रान्तिकारी था। वह अपने समय से सैकड़ों वर्ष पहले पैदा हुआ था। जो कुछ वह कहता उसे स्पष्ट और खुले दिल से कहता था। मार्क्स के एक-एक शब्द समाजवाद के अन्दर पत्थर की लकीरें हैं। वह लिखता है कि संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं, जाहिल, मूर्ख और समाजवादी। जो मार्क्स को नहीं जानता वह मूर्ख है। जो उसे जानता है किन्तु उसमें विश्वास नहीं करता वह जाहिल है। जो उसे जानता और उसमें विश्वास करता है वह समाजवादी है।

मार्क्स का कहना है कि समाजवाद इतनी तेजी के साथ आ रहा है कि इसे कोई रोक नहीं सकता। जिस प्रकार हम सत्य को नहीं दबा सकते, उसी तरह यह वाद भी नहीं दबाया जा सकता। अपने समाजवाद के अन्दर मार्क्स तीन सिद्धान्तों का वर्णन करता है। इन्हीं के ऊपर समाजवाद का दारोमदार है। इसे समझने के लिए इनकी जानकारी आवश्यक है। ये तीनों सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

१—इतिहास का आर्थिक पहलू।

२—वर्गवाद।

३—शारीरिक परिश्रम का मूल्य।

---

* Fabian Essays in Socialism.

† F. S. Marvin in his Century of Hope.

प्रत्येक पर अलग-अलग विचार किया गया है। इसके पहले हम मार्क्स की कुछ बातों का वर्णन कर देना चाहते हैं जिनको हर एक समाजवादी दिल से मानता है। यद्यपि ये वाक्य एक व्यक्ति के हैं फिर भी समाजवादी इन्हें ब्रह्म वाक्य समझते हैं। मार्क्स लिखता है, 'धर्म अफीम है।' धर्म को लोगों ने ढोंग बना रखा है। पूंजीपति, जिन्हें खाने-पीने की कोई चिन्ता नहीं है, धर्म के पक्षपाती होते हैं। बेचारे गरीब, जो सुबह से शाम तक काम करते हैं, धर्म के किसी सिद्धान्त को नहीं बरतते। सबेरे से शाम तक जी तोड़ परिश्रम करने पर भी जब उन्हें पेट भर खाना नहीं मिलता तो वे पूजापाठ अथवा गंगा-स्नान के लिये कहाँ से समय निकालें। धर्म इस बात की शिक्षा देता है कि जिसके पास जो कुछ है वह उसी में संतोष करे। इसका तात्पर्य यह है कि बेचारा गरीब मजदूर सदैव गरीब बना रहे। धार्मिक संस्थाओं को मार्क्स ने ढोंगियों का संगठन बतलाया है। वह लिखता है कि संसार में मशीनें बेकारी की जड़ हैं। मार्क्स की भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य दिखाई पड़ती है। वह लिखता है कि समाजवाद की स्थापना होने के बाद संसार में शान्ति का युग आरम्भ होगा। लोगों में प्रसन्नता और संतोष की वृद्धि होगी। जब तक इस बात की स्थापना नहीं होगी तब तक व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय लाभ के लिये व्यक्ति और देश आपस में लड़ते रहेंगे। वर्तमान प्रजातन्त्रवाद में, जिसे जनता का राज्य कहा जाता है, लड़ाइयों का ताँता बँधा हुआ है। साम्राज्य-पिपासा दिन पर दिन बढ़ती जाती है। इसे देखते हुए यह शंका होती है कि मार्क्स के समाजवाद से ही कदाचित् शान्ति की स्थापना हो।

**इतिहास का आर्थिक पहलू (Economic interpretation of History)**

एक सज्जन लिखते हैं, "इतिहास मरे हुए आदमियों का जलूस है। इससे कोई लाभ नहीं है।" जो लोग इतिहास के पक्ष में हैं उनका यह कहना है कि वह हमारे पूर्वजों की कीर्तियों का संग्रह है। इससे हम भूतकाल की घटनाओं से वर्तमान युग में सुधार करते हैं। एक तीसरे वर्ग के लोग इतिहास को मनुष्य की सभ्यता का कोष समझते हैं। मार्क्स ने इसे एक नई दृष्टि से देखा है वह लिखता है कि इतिहास गरीबों की वह कहानी है जिसे पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आरम्भ से अब तक जितने भी परिवर्तन हुए हैं इतिहासों में उनके भिन्न-भिन्न कारण बताये गये हैं। लेकिन मार्क्स का कहना है कि इन सबका कारण केवल आर्थिक है। जब तक मनुष्य के पास धन की कमी थी तब तक उसकी आवश्यकतायें कम थीं। उसके अन्दर शिक्षा, कला, व्यवसाय आदि का नाम न था। इस काल को जंगली युग कहा गया है। इतिहास इस जंगलीपन का कुछ और कारण बतलाता है किन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि धन के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा कारण नहीं है।

आर्थिक साधन में जब उन्नति हुई और लोगों की आवश्यकतायें बढ़ीं तो इतिहास का नया युग आरम्भ हुआ। मनुष्य के जीवन में अनेक परिवर्तन दिखलाई देने लगे। लोगों के सुख में वृद्धि हुई। आवागमन की वृद्धि से ज्ञान का भंडार बढ़ने लगा। कुछ समय बाद जब मशीनों का युग आया तो मनुष्य की सभ्यता में महान् क्रान्ति हुई। कोई इसका कारण मानसिक बतलाता है, कोई वैज्ञानिक और कोई दिमागी। लेकिन मार्क्स लिखता है कि नई सभ्यता का जन्म नये आर्थिक साधनों के कारण है। इतिहास में जो काल-विभाजन किये जाते हैं उनका एकमात्र कारण आर्थिक है। इतिहास गरीब-दुखियों की कहानी वर्णन नहीं करता। उसके अन्दर राजाओं का ही जिक्र किया जाता है। यह सारा संसार अर्थ पर चलायमान है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जिसे धन की आवश्यकता न हो। इतिहास में जितनी भी लड़ाइयाँ हुई हैं उनकी जड़ में आर्थिक लाभ है। धन की उत्पत्ति की जैसी व्यवस्था होती है उसी प्रकार लोगों का रहन-सहन बनता है। यही राजनैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, मानसिक तथा नैतिक सिद्धान्तों को निश्चित करती है।

**वर्गवाद (Class Struggle theory)**

प्रायः लोग मनुष्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं—एक धनी वर्ग, दूसरा मध्यम वर्ग, और तीसरा गरीब वर्ग। मार्क्स इस विभाजन से सहमत नहीं है। वह लिखता है कि समाज केवल दो वर्गों में बँटा हुआ है। एक को 'पूँजीपति' (Capitalists) और दूसरे को 'मजदूर' (Proletariat) वर्ग कहते हैं। मशीनों से पहले इन दोनों में कोई विशेष अन्तर न था, लेकिन मशीनों की वृद्धि के कारण यह अन्तर धीरे-धीरे बढ़ने लगा। पूँजीपति बड़ी मिलों के स्वामी बन गये और मजदूरों को विवश होकर उनमें काम करना पड़ा। वे हर प्रकार से धनियों के दास होते गये। समाज में पूँजीपतियों का बोलबाला बढ़ता गया। राजनीति में उन्हीं की बात महत्वपूर्ण गिनी जाने लगी। एक प्रकार से वे ही शासक बन बैठे। इसके विपरीत, मजदूर वर्ग उनके हाथ की कठपुतली होता गया। उसकी गरीबी प्रतिदिन बढ़ती गई। लेकिन जब इन्हें होश हुआ तो ये अपने अधिकार की चेष्टा करने लगे। परिणाम यह हुआ कि पूँजीपति और मजदूर इन दोनों वर्गों में लड़ाई आरम्भ हुई। मार्क्स लिखता है कि यह युद्ध इतिहास के आरम्भिक युग से चल रहा है, परन्तु किसी को इसका पता न था। धर्म और अध्यात्मवाद के कारण लोगों का ध्यान आर्थिक महत्व की ओर जाता ही न था। आधुनिक भौतिकवाद के कारण यह लड़ाई स्पष्ट दिखाई पड़ रही है। जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था है तब तक यह लड़ाई जारी रहेगी। गरीब वर्ग अपने अधिकार के लिये लड़ता रहेगा और पूँजीपति अपने स्वार्थ की रक्षा करते रहेंगे। इस युद्ध को दूर करने का उपाय यही है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था दूर कर दी जाय। सम्पत्ति पर सरकार का

अधिकार हो इससे व्यक्तिगत लाभ न रहने से न कोई धनी रहेगा और न कोई गरीब।

सभ्यता के युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति एक कलंक है। कचहरियों में जितने झगड़े जाते हैं उनमें ६० प्रतिशत व्यक्तिगत स्वार्थ के मुकदमे होते हैं। सामाजिक सुधारों की आवश्यकता इसी विषमता के कारण पड़ती है। समाज में बहुत से दुर्गुण विषमता के परिणाम हैं। जब प्रकृति में एकता और समानता दिखलाई पड़ती है और बहुमूल्य-से-बहुमूल्य वस्तुयें सबको एक समान दी गई हैं, तो समाज में विषमता की कोई आवश्यकता नहीं है। हवा, पानी, प्राकृतिक सौन्दर्य, रोशनी, सर्दी और गर्मी इनका उपयोग हर व्यक्ति जितना चाहे कर सकता है। अतएव इन्हीं से उत्पन्न हुई सम्पत्ति पर केवल एक वर्ग का अधिकार समझना निरा भ्रम है। इसी विषमता का परिणाम है कि गरीबों के अन्दर तरह-तरह की बीमारियाँ और शिक्षा की कमी नज़र आती है। पूँजीवादी अपने धन का जो दुरुपयोग करते हैं उसे कोई उचित नहीं कह सकता। धार्मिक अथवा नैतिक किसी भी दृष्टि से यह व्यवस्था पतन का सबसे बड़ा कारण है।

**शारीरिक परिश्रम का मूल्य (Labour theory)**

अर्थ-शास्त्र के विद्वानों का इस विषय में मतभेद है कि किसी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निश्चित किया जाय। कुछ तो यह कहते हैं कि जितना धन किसी वस्तु के बनाने में व्यय हो उतना ही उस वस्तु का मूल्य रखा जाय। कुछ लोग वस्तु की उपयोगिता से इसका मूल्य निर्धारित करते हैं। जेम्स स्टुअर्ट मिल, अदम स्मिथ, और रिकार्डो के कथनानुसार वस्तु का मूल्य परिश्रम के अनुसार रखना चाहिये। मार्क्स कहता है कि संसार की वस्तुओं का उत्पादक शारीरिक परिश्रम है। बिना परिश्रम के कोई वस्तु तैयार नहीं होती। जितनी वस्तुयें मनुष्य के प्रयोग में आ रही हैं उन सब को उसने अपने परिश्रम से तैयार किया है। सुई से लेकर महल तक उसके परिश्रम से तैयार किये गये हैं। मशीनों के युग से पहले शारीरिक परिश्रम का मूल्य उचित लगाया जाता था। लेकिन मशीनों के बाद इसका मूल्य इतना कम हो गया कि मजदूर वर्ग भूखों मरने लगा। मस्तिष्क का मूल्य बढ़ने लगा। जो लोग दिमागी काम करते हैं उन्हें अधिक पुरस्कार दिये जाते हैं और जो मजदूर कड़ी धूप और सर्दी में नगे बदन काम करते उन्हें खाने भर को भी नहीं मिलता। लोगों ने वस्तुओं का मूल्य परिश्रम से लगाना छोड़ दिया है। उनका विश्वास है कि दिमाग से ही वस्तुयें बन रही हैं, इसलिए उनका मूल्य इसी से लगाना चाहिये।

इस सिद्धान्त को मार्क्स 'अनुचित-मूल्य-सिद्धांत' (Theory of Surplus Value) कहता है। यहाँ पर एक उदाहरण देना अच्छा होगा। मान लीजिये

आठ आने रोज पर एक बढ़ई रक्खा। उसने ६ दिन में एक मेज तैयार किया। अर्थात् हमें बढ़ई को तीन रुपये देने पड़े। हमने उसे बाजार में पाँच रुपये को बेचा। मार्क्स इस दो रुपये को, जो हमने अधिक लिया, अनुचित मूल्य कहता है। हमें उस मेज को तीन रुपये में ही बेचना चाहिये था। हमने बढ़ई के परिश्रम से अनुचित लाभ उठाया। इसी तरह पूँजीपति कम पैसे देकर मजदूरों से चीजें तैयार कराते हैं और उन्हें अधिक-से-अधिक लाभ पर बेचते हैं। यही कारण है कि बेचारे मजदूरों के पास झोपड़ी तक नहीं है और पूँजीपतियों की आलीशान इमारतें खड़ी हैं। मार्क्स लिखता है कि परिश्रम का मूल्य उचित लगाया जाय तो हर आदमी अपनी कमाई से लाभ उठा सकता है। उसे दूसरे के परिश्रम पर जीवित रहने की आवश्यकता न होगी। वस्तुओं का मूल्य परिश्रम के अनुसार लगाया जाय तो धनियों को यह अवसर नहीं मिल सकता कि वे गरीबों से अनुचित लाभ उठायें। परिश्रम एक वस्तु है जिसे पूँजीपति सस्ते-से-सस्ते दाम में खरीद लेता है। बिचारे मजदूरों को विवश होकर इसे बेच देना पड़ता है।

समाजवाद के ये तीनों सिद्धांत इसके तीन पाये हैं। मार्क्स को समझने के लिये यह आवश्यक है कि ये तीनों सिद्धांत समझ लिये जायँ, तभी वैज्ञानिक समाजवाद समझ में आ सकता है। वर्तमान युग में समाजवाद अन्तर्राष्ट्रीय है। इसका क्षेत्र क्रमशः बढ़ रहा है। रूस में यह सिद्धांत कार्य रूप में परिणत किया गया है। वहाँ इसे सफलता भी मिल रही है। दुनिया की दृष्टि रूस की ओर लगी हुई है। कुछ देश तो उसे हर प्रकार से बदनाम करने की कोशिश करते हैं। लेकिन वह उनकी परवाह न कर अपने रास्ते पर लगा हुआ है। कुछ लोग रूसी समाजवाद को कलकत्ते की काल कोठरी से भयंकर कहते हैं, लेकिन कुछ इसे संसार का स्वर्ग समझते हैं।

**समाजवाद के गुण और दोष**

धन मनुष्य के जीवन में बहुत बड़ा हाथ रखता है। समाजवाद इस पर काफी प्रकाश डालता है। कोई व्यक्ति, चाहे वह विद्वान हो या धार्मिक इसकी उपयोगिता से मुँह नहीं मोड़ सकता। समाजवाद का यह सिद्धांत सभी को प्रिय है कि समाज में पूर्ण समानता होनी चाहिये। धनी और गरीब का अंतर सचमुच एक पाप है। एक ओर तो लोग भूखों मरें, और दूसरी ओर मंडियाँ गल्ले से भरी हुई हों, इस अधःपतन की दूसरी मिसाल शायद ही कहीं मिलेगी। समाजवादी धन की समानता पर सबसे अधिक जोर देते हैं। वर्तमान भौतिकवाद के युग में धन की महत्ता को देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि इसकी समानता आवश्यक है। मनुष्य की सारी उन्नति का दारोमदार आज धन पर निर्भर है। ऐसी दशा में एक वर्ग को इससे वंचित रखना सर्वथा अन्याय है। समाजवादी धर्म को ढोंग समझते हैं। हम काफी अंश में उनसे सहमत हैं। बीसवीं सदी में धर्म के नाम पर जो अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें

देखते हुए अच्छे-से-अच्छे लोगों को इसके प्रति घृणा होती है। मध्ययुग में योरप में धर्म के नाम पर सैकड़ों वर्ष तक लड़ाई चलती रही। इसी के कारण रानी मेरी ने ४०० जीवित आदमियों को आग में झोंक दिया। इसी के नाम पर हमारे देश में छुआछूत का रिवाज है। ईश्वर और अल्लाह के नाम पर हिन्दू और मुसलमान आपस में उलझ पड़ते हैं। अगर सचमुच धर्म इसी का नाम है तो प्रत्येक मनुष्य धर्म छोड़कर विधर्मी बन जाये। समाजवादी जिस धर्म को तिलाञ्जलि देना चाहते हैं, उसके अन्दर इसी बनावटी धर्म की गंध है।

समाजवाद के अंदर एक विचित्र बात और है। गरीबों के प्रति जितनी सहानुभूति इस वाद के अंदर है उतनी शायद ही किसी वाद में हो। व्यक्तिगत सम्पत्ति को हटाकर समाजवाद एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें सभी प्रकार की समानता और एकता होगी; मनुष्य अपने परिश्रम का उपभोग करेगा; कंगाली और बेकारी इस पृथ्वी से जाती रहेगी। सभी प्रकार के संघर्ष सर्वदा के लिये दूर हो जायेंगे; स्वार्थ परमार्थ में परिणत हो जायगा; नीच-ऊँच, छोटे बड़े, धनी-गरीब का अंतर जाता रहेगा। यदि सचमुच समाजवाद सच्चे दिल से इनकी स्थापना करना चाहता है तो हम हृदय से इसका स्वागत करते हैं। जहाँ समाजवाद में इतने गुण हैं वहाँ इसकी कुछ बुराइयाँ भी हैं। लोगों का कहना है कि विषमता प्रकृति का नियम है। पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं हैं। इसलिये आर्थिक समानता निरा स्वप्न है। जब मनुष्य में शारीरिक समानता नहीं है और उसकी बुद्धि में भी अंतर है तो और चीजों में भी विषमता रहेगी। समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के कट्टर शत्रु हैं। एक विद्वान् का कहना है, "सबसे ऊँची सभ्यता में व्यक्तिगत सम्पत्ति का ही नियम चालू किया जायगा।"*

व्यक्तिगत सम्पत्ति से मनुष्य को अधिक सुख और सन्तोष होता है। उसे पूरी स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपने धन का अच्छा-से अच्छा उपयोग करे। इसके विनाश से उद्योग की अभिलाषा जाती रहेगी। सभी काम मनुष्य को भार मालूम पड़ेंगे। जब निजी लाभ की भावना लोगों के दिलों से जाती रहेगी तो उनकी उदासीनता बढ़ जायगी। उनका कौटुम्बिक जीवन होटल का सा बन जायगा। समाजवाद की सबसे बड़ी कमजोरी इसकी क्रान्ति की भावना है। यह वाद किसी भी प्रकार से, चाहे उसमें कितनी ही खून-खराबियाँ क्यों न हों, अपने ध्येय पर पहुँचना चाहता है। अपने उद्देश्य के आगे वह रास्ते की कोई परवाह नहीं करता। घृणित से घृणित नीति का प्रयोग इसे मान्य है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पैशाचिक शक्ति का

* The highest civilization will adopt the system of separate or individual ownership.

प्रयोग करना पड़े तब भी इसे कोई हिचक नहीं है। सामाजिक इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि विकास के सिद्धान्त मनुष्य के लिये अधिक लाभप्रद होते हैं। सहसा परिवर्तन समाज को चकाचौंध कर देता है। क्रान्ति के द्वारा समाजवाद इस नियम का उल्लंघन करता है। धर्म को गन्दी बातें दूर करने के लिए सभी तैयार हैं, लेकिन इसके विनाश के लिए बहुत थोड़े से लोग राजी होंगे। सच्चे दिल से देखा जाय तो धर्म ने मनुष्य जाति का काफी कल्याण किया है। भारत के मस्तक को दुनिया के सामने ऊँचा रखने का श्रेय इसी को है।

**भारत और समाजवाद**

समाजवाद की चर्चा भारत में भी काफी हो रही है। कांग्रेस से पृथक् एक समाजवादी दल अपना स्थान रखता है। इसका उद्देश्य भारत में समाजवाद की स्थापना करना है। परन्तु कांग्रेस के सामने अभी जनता में इसकी लोकप्रियता कम है। इस दल ने कोई रचनात्मक कार्यक्रम जनता के सामने अभी तक नहीं रक्खा है। इतने पर भी इसका भविष्य उज्ज्वल है। इसीलिये यह दल अभी पीछे है। जो लोग इस देश में समाजवाद को स्थापना करना चाहते हैं वे इसका मुकाबला रूस से करते हैं। उनका कहना है कि रूस और भारत दोनों कृषि-प्रधान देश हैं, दोनों की जन-संख्या काफी बड़ी है, लम्बाई-चौड़ाई में दोनों हो विशाल हैं, इसलिये इस देश में समाजवाद का अच्छा प्रचार हो सकता है। एक सज्जन तो यहाँ तक लिखते हैं कि यह वाद उसी देश में प्रचलित हो सकता है जहाँ की अधिकतर जनता खेती पर जीवन-निर्वाह करती हो और जिसका रहन-सहन साधारण हो। इसे देखते हुए भारत समाजवाद के लिए सर्वथा उपयुक्त है। जिस तरह रूस में पचास भाषायें हैं और लगभग आधे दर्जन धार्मिक सम्प्रदाय हैं उसी तरह भारत में भी अनेक धर्म और भाषायें हैं। समाजवाद की स्थापना से पहले जो दशा रूस की थी वही आज भारत की है। रूस में निरंकुश शासन था। यहाँ भी प्रजातन्त्रवाद का सच्चा स्वरूप नहीं है। ग्राम पंचायतों की प्रथा दोनों देशों में थी। जैसी विकट गरीबी रूस में थी उसी तरह आज भारत में भी है। इतनी समानता होते हुए भी इस देश में समाजवाद का आन्दोलन अपनी शैशव अवस्था से आगे नहीं है।

पं० जवाहरलाल नेहरू अपने एक व्याख्यान में कहते हैं, "भारत की गरीबी और बेकारी को कठिन समस्या तभी सुलझ सकती है जब इस देश का संगठन समाजवाद के आधार पर किया जाय।"* लेकिन वे यह भी कहते हैं कि पहले इस

* The tremendous problem of poverty and unemployment in India can only be solved by a vast system of planning on socialistic basis.

देश को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा की चिन्ता होनी चाहिये, इसके बाद समाजवाद की। वास्तव में इस देश में धर्म को हटाकर समाजवाद की स्थापना करना कठिन है। भारत सब कुछ खो सकता है, लेकिन अन्त समय तक अपने धर्म को नहीं छोड़ सकता। जो लोग समाजवाद की ऊपरी बातों पर मुग्ध हैं, उन्हें धर्म के गूढ़ रहस्य मालूम नहीं हैं। धर्म से विरुद्ध इस देश में बड़ा-से-बड़ा सिद्धान्त उठाकर फेंक दिया जायगा। यहाँ का दर्शनशास्त्र रूस के समाजवाद से कहीं ऊँचा और तर्कपूर्ण है। समाजवाद की स्थापना उन्हीं देशों में हो सकती है जो मशीनों के पक्ष में हैं। स्वतन्त्रता संग्राम के समय में भारत में यह आन्दोलन जोरों से प्रचलित था कि घरेलू उद्योग-धन्धे बढ़ाये जायँ और मशीनों का बहिष्कार हो। यह आन्दोलन गाँधीवाद के नाम से पुकारा जाता था। महात्मा गाँधी की मृत्यु के बाद राष्ट्रीय सरकार की नीति में काफ़ी परिवर्तन हुआ है। मशीनों की उपयोगिता का अनुभव किया जा रहा है और सरकार इस बात के पक्ष में है कि उद्योग धन्धों को बढ़ाने के लिये मशीनों का उपयोग आवश्यक है। ऐसी स्थिति में समाजवाद को प्रोत्साहन मिल सकता है। कुछ लोग भारतीय समाजवाद को नेहरूवाद भी कहते हैं। यदि सचमुच यह बात ठीक है तो हमारा विश्वास है कि गाँधीवाद नेहरूवाद से कहीं ऊँचा है। इसे पण्डित जी भी स्वीकार करते हैं। इस देश का प्राचीन इतिहास प्रजातन्त्रवाद का पोषक है। ग्राम-पंचायतें शासन की प्रधान कड़ियाँ थीं। स्थानीय जनता को टैक्स के अतिरिक्त यह अनुभव नहीं होता था कि राजनैतिक सत्ता किसी और के हाथ में है। आज भी ग्रामीण जनता अपने दैनिक जीवन में रस्म-रिवाजों का प्रयोग सरकारी कानूनों से अधिक करती है। यहाँ के निवासी सरकारी व्यवस्था से घबड़ाते हैं। इसीलिये प्रजातन्त्रवाद उन्हें अधिक प्रिय है। जो समाजवाद यहाँ प्रचलित होगा वह बहुत कुछ रूस से भिन्न होगा। समाजवादी दल भी इस वाद के भारतीयकरण पर विचार कर रहा है।



# अध्याय १७

## कानून ( Law )

**कानून का तात्पर्य**

कानून की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है। कुछ लोग इसे स्वतन्त्रता की कुंजी और कुछ बन्धन कहकर पुकारते हैं। रोम का प्रसिद्ध विद्वान् सिसरो (Cicero) लिखता है, "हम स्वतन्त्र होने के लिये कानून के बन्धन में पड़े हुए हैं।"* सिसरो के इस कथन में एक आश्चर्य की बात यह है कि कानून बन्धन और स्वतन्त्रता दोनों की कुंजी है। यह सभी जानते हैं कि कानून सरकार द्वारा बनते हैं। धारा सभायें इन्हें बनाती हैं। इनका मुख्य उद्देश्य यह है कि एक व्यक्ति किसी दूसरे को किसी प्रकार से हानि न पहुँचाये और हर आदमी अपने अधिकार की सीमा को पहचाने। इसीलिये कानून को "अधिकार का दर्शनशास्त्र" कहते हैं। अधिकार की लड़ाई न हो तो कानून की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका कार्य अधिकारों की व्याख्या करना है। अधिकारों की परिभाषा ही कानून है। लेकिन डूगिट (Duguit) के कथनानुसार अधिकार नाम की कोई चीज ही नहीं है। इसीलिये वह लिखता है कि कानून अधिकारों की व्याख्या न कर कर्त्तव्यों की परिभाषा करते हैं। जो कुछ भी हो हमें मानना होगा कि अधिकार और कर्त्तव्य दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक के बिना दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव हम इस नतीजे पर पहुँचे कि कानून का सम्बन्ध अधिकार और कर्त्तव्य दोनों से है। जो किसी के अधिकार में हस्तक्षेप करता है वह कानून द्वारा दोषी ठहराया जाता है। अथवा जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता उसे कानून द्वारा दण्ड दिया जाता है। 'कानून' शब्द इतना व्यापक है कि हर आदमी इसके नाम से परिचित है। लोग प्रायः कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़ा कानून-दाँ है। यहाँ पर कानून का तात्पर्य दाँव-पेच से है। जो आदमी अधिक-से-अधिक तिकड़म-बाज होता है उसे लोग कानून-दाँ कहते हैं। कानून दाँव-पेच की वस्तु अवश्य है, लेकिन यह केवल दाँव-पेच नहीं है। इसी का प्रभाव है जो हम समाज में संगठित रूप से रह रहे हैं। जब कभी हम अपने कर्त्तव्यों को भूल कर गलत मार्ग ग्रहण कर लेते हैं, तो कानून

---

* We are the slaves of the law in order that we may be free.

हमें ठीक रास्ते पर लाते हैं। ये उसी के लिये बन्धन हैं जो अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करना चाहता। जो सदाचारी हैं और अपने कर्त्तव्यों से विचलित नहीं होते, उन्हें ये हर प्रकार की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। इसलिये एक विद्वान् ने कानून को "मनुष्य के मस्तिष्क से निकली हुई सब से अमूल्य वस्तु" ठहराया है। मनुष्य का उच्च विचार कानूनों के अन्दर छिपा हुआ है सभ्यता के इतिहास पर कानून का गहरा असर पड़ता है।

कुछ लोग कानून और स्वतन्त्रता को एक दूसरे का विरोधी कहते हैं। उनका कहना है कि कानून न होते तो मनुष्य अपने आपको पूर्ण स्वतन्त्र समझता। वह जो चाहता करता और जहाँ चाहता जाता। कानून से वह इतना बाँध दिया गया है कि पग-पग पर उसे बन्धन मालूम पड़ते हैं। कानून जंगली स्वतन्त्रता को रोकते हैं। यदि स्वतन्त्रता कोई ऐसी वस्तु है जिसमें हम औरों को हानि पहुँचा सकते हैं तो समाज में इसकी आवश्यकता नहीं है। कानून ऐसी स्वतन्त्रता की आज्ञा नहीं देते। यदि कोई चोरी करता है तो कानून उसे दोषी ठहराते हैं, परन्तु यदि किसी से कुछ माँग कर लेवे तो वह अपराधी नहीं है। इसलिये तर्क की कसौटी पर जिन कामों को हम अच्छा समझते हैं कानून उनका समर्थन करते हैं, इसके विपरीत सभी काम बुरे और दोषपूर्ण हैं। इससे यह कह सकते हैं कि "तर्क का दूसरा नाम कानून है।" जो आदमी आवेश में आकर किसी काम को कर बैठता है वह तर्क और कानून दोनों का उल्लंघन करता है। मनुष्य नियमों की महत्ता को मानता है, लेकिन परिस्थिति के वशीभूत होकर उसे उनकी अवहेलना करनी पड़ती है। इसलिये कानून की रक्षा के लिये सरकार को एक संगठित विभाग बनाना पड़ता है। यदि हम ध्यान से देखें तो राज्य में सभी संगठन कानून की रक्षा के लिये हैं। इसी रक्षा से शान्ति और सुव्यवस्था रहती है। सरकार का एक विभाग ( Legislature ) कानून बनाता है; दूसरा ( Executive ) इसकी देख भाल करता है; और तीसरा ( Judiciary ) तोड़ने वालों को दण्ड देता है। अर्थात् सरकार के तीनों अंग कानून से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सरकार का काम केवल कानून बनाना और उसकी रक्षा करना है। इसके अतिरिक्त भी उसके बहुत से कर्त्तव्य हैं जिनका वर्णन पिछले अध्याय में किया गया है।

कानून का सम्बन्ध सरकार से इतना घनिष्ठ है कि दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। कुछ लोग भूल से कानून को सरकार समझ लेते हैं। इन दोनों के दर्शनशास्त्र मिले-जुले हैं। राज्य की उत्पत्ति के साथ कानून का भी जन्म हुआ। जिस प्रकार समाज से अलग राज्य और सरकार का कोई तात्पर्य नहीं है, उसी तरह कानून और सरकार मिले-जुले हैं। अधिकार और कर्त्तव्य एक व्यक्ति

तक सीमित नहीं रहते, इनके लिये एक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। किसी देश में एक ही व्यक्ति रहता हो तो हम उसे राज्य नहीं कह सकते। कानून एक ऐसा साधन है जो व्यक्ति को समाज से जोड़ती है। जिस समाज में इसका पालन नहीं होता वह निकम्मा समझा जाता है। वे इस बात के द्योतक हैं कि कोई समाज अपने आपको कितना संगठित कर सकता है। कानून की अच्छाई-बुराई राज्य को बना और बिगाड़ सकती है। इससे जनता के विचार प्रकट होते हैं। इतिहास के प्रारम्भिक युग से अब तक मनुष्य का अध्ययन करने के लिये कानून आवश्यक है। सभ्य और असभ्य जाति की पहचान उनके कानूनों से भी की जाती है। यदि हम मनुष्य की सभ्यता का इतिहास उठाकर देखें तो पता चलेगा कि प्राचीन और नवीन कानूनों में महान् अन्तर है। कानून एक शक्ति है जिसके अन्दर इतना बल है कि वह बड़ी-से-बड़ी हस्ती को झुका सकता है। सरकार की सभी शक्तियाँ इसे प्राप्त हैं। सेना और पुलीस कानून के हाथ और पैर हैं। बड़ा-से-बड़ा व्यक्ति इस बात का साहस नहीं कर सकता कि वह इन्हें तोड़े।

मोटे तौर पर कानून के सात जरिये माने जाते हैं।

**रस्म-रिवाज**

१—रस्म-रिवाज कानून का सबसे पुराना और प्रसिद्ध जरिया है। जब सरकारी कानूनों का नाम भी न था उस समय ये समाज में प्रचलित थे और लोग उन्हें आदरपूर्वक मानते थे। हर देश के प्राचीन इतिहास में उनका वर्णन किया गया है। आज भी, जब कि सरकारी कानूनों की कमी नहीं है, रस्म-रिवाज प्रचलित हैं और कानून से कम महत्व नहीं रखते। जब सरकारी व्यवस्था बनने लगी तो इन्हीं के आधार पर कानूनों की रचना हुई। रोम, यूनान, इंगलैंड, भारत आदि देशों में प्राचीन काल से रस्म-रिवाज का विशेष प्रचार है। इंगलैंड में कुछ ऐसे कानून हैं जिन्हें 'रस्म-रिवाजी कानून' ( Customary Law ) कहा जाता है। यहाँ पर दो प्रश्न किये जा सकते हैं :—

अ—रीति-रिवाज कानून कैसे बनते हैं?

ब—रीति-रिवाज कानून कब बनते हैं?

कुछ जर्मन विद्वानों का मत है कि कानून और रस्म-रिवाज में कोई भेद नहीं है। एक से राजा की इच्छा प्रकट होती है और दूसरे से प्रजा की। चूँकि दोनों की शक्ति बराबर है इसलिये कानून और रस्म-रिवाज एक ही चीज हैं। धारा सभाओं ने रस्म-रिवाजों को कानून का रूप दे दिया। आस्टिन का कहना है कि रिवाज और कानून एक ही चीज हैं तो एक को दूसरे का रूप देने की क्या आवश्यकता है। वर्तमान अँग्रेज राजनीतिज्ञों का मत है कि जब कोई रिवाज सरकार द्वारा मान लिया जाता है तो वह कानून कहलाता है। इसकी स्वीकृति या तो धारा सभायें देती हैं

अथवा सरकारी कचहरियाँ। जो कुछ भी हो, रस्म-रिवाज कानून के बनाने में भारी सहायता देते हैं।

**वैज्ञानिक वादविवाद**

२—कानून का दूसरा जरिया वैज्ञानिक वादविवाद है। विद्वान् जब सामाजिक व्यवस्था पर अपना विचार प्रकट करते हैं तो पत्र-पत्रिकाओं में उन पर टीका-टिप्पणी होती है। बड़े-बड़े वकील-बैरिस्टर उनका विरोध या समर्थन करते हैं। इसमें कुछ ऐसी बातें निकल आती हैं जिन्हें बिना किसी विरोध के कानून मान लिया जाता है। सरकार और जनता दोनों एक स्वर से उसका समर्थन करती हैं। चाणक्य ने अपने "कौटिल्य अर्थशास्त्र" में जो विचार प्रकट किया है उसका प्रभाव भारतीय कानूनों पर कम नहीं है।

**कचहरियों के फैसले**

३—सरकारी कचहरियों को अधिकार है कि वे अवसर पड़ने पर कानून बना सकती हैं। कुछ ऐसे मुकदमे कचहरियों में आ जाते हैं जिन्हें फैसला करने के लिये जजों को अपनी बुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर उन्हें नये कानून बनाने पड़ते हैं।

**धर्म**

४—धर्म सामाजिक व्यवस्था की रीढ़ है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने धार्मिक नियमों का पालन करता है। सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि धारा सभाओं के कानून इनके विरुद्ध न हों। जब कभी कोई आर्थिक कानून बनता है तो इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जाता है कि वह धर्म के विरुद्ध न हो। मनुस्मृति, कुरान तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों का उपयोग सरकारी कानूनों में कम नहीं किया जाता। ईसाई तथा हिन्दू कानून को 'ईश्वर की देन' समझते हैं। भारत की सामाजिक व्यवस्था धर्म के आधार पर बनाई गई है, इसलिये सरकारी कानूनों में उनका विशेष रूप से ध्यान रक्खा गया है। कचहरियों में आज भी गवाहों से शपथ लेने की प्रथा है। यद्यपि यह धार्मिक विश्वास है, परन्तु इसका प्रभाव कानूनी फैसलों पर कम नहीं पड़ता। हिन्दुओं में पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी धर्म और कानून दोनों से एक है। सरकारी योजना धार्मिक नियमों का ध्यान रखते हुए बनाई जाती है।

**धारा सभाओं के कानून**

५—कानून बनाने का अधिकार धारा सभाओं को दिया गया है। आरम्भ में राजा अपने मंत्रियों की सलाह से कानून बनाता था। जब जनता के अधिकारों की वृद्धि हुई तो यह अधिकार प्रजा को दे दिया गया। उसी के प्रतिनिधि इस कार्य को करते हैं। अपने बनाये हुए कानूनों की सरकार रक्षा करती है और उन्हें तोड़ने वालों को कड़ा दंड देती है।

न्यायानुकरण

६—ऊपर कहा गया है कि कचहरियों के फैसले भी कानून के जरिये हैं। आवश्यकतानुसार न्यायाधीश कानूनों का निर्माण कर सकते हैं। बड़ी कचहरियों के फैसले का अनुकरण छोटी कचहरियाँ करती हैं। यद्यपि वे इसके लिए बाध्य नहीं हैं; फिर भी आवश्यकता पड़ने पर उन्हें ऐसा करना पड़ता है। इस अनुकरण से कितने ही कानून बनते रहते हैं। अँग्रेजी में इस प्रकार के कानूनों को प्रोसीडेन्ट्स (Precedents) कहते हैं।

न्याय संशोधन

७—कानून तब तक काम करते हैं जब तक सामाजिक व्यवस्था उनके अनुकूल रहती है। दो हजार वर्ष का पुराना कानून आज काम नहीं कर सकता। जिन कानूनों का हम पालन कर रहे हैं वे एक या दो शताब्दी बाद बेकार हो जाते हैं। मनुष्यों के विचार में अन्तर पड़ने के कारण उनके सम्बन्ध बदलते रहते हैं। चूँकि कानून व्यक्तियों के सम्बन्ध को निश्चित करने के लिए बनाए जाते हैं इसलिए यह स्वाभाविक है कि इसके साथ कानून बदलते रहें। इसलिए कानूनों में संशोधन की आवश्यकता पड़ती है। पुराने कानूनों को नया रूप देना पड़ता है, कभी-कभी तो इसके लिए एक अलग न्यायालय बनाना पड़ता है, जिसका काम पुराने कानूनों की उपयोगिता पर विचार करना है। रोम साम्राज्य में प्रोटर ( Praetor ) की स्थापना इसी के लिए हुई थी। यह किसी व्यक्ति का नाम नहीं है बल्कि एक पद है। इंगलैंड में चान्सलर (Chancellor ) इसलिए नियुक्त किये जाते थे कि पुराने कानूनों में संशोधन करें। इससे भी कितने ही नये कानून बनते रहते हैं। अंग्रेजी में इस प्रकार के कानून को इक्यूटी ( Equity ) कहते हैं।

कानून का पालन

"कानून और स्वतन्त्रता एक दूसरे के विरुद्ध हैं।"* यदि हम इस कथन को सत्य मान लें तो यह प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में हम कानून का पालन क्यों करते हैं। जिन कानूनों से हमारी स्वतन्त्रता नष्ट होती है उन्हें हम क्यों मानते हैं? इसके विपरीत कुछ विद्वानों का कहना है कि कानून और स्वतन्त्रता में कोई विरोध नहीं है। कानून का पालन स्वतन्त्रता की सीढ़ी है। इस कथन के अनुसार एक दूसरे का पूरक है। स्वतन्त्रता के अर्थ को न जानते हुए भी आम जनता कानूनों का पालन करती है। इसका भी हमें कारण जानना होगा। यह प्रश्न कानून तक ही सीमित नहीं है। आज्ञा पालन एक गुण है। यदि समाज में इसकी व्यवस्था न हो तो मनुष्य संगठित नहीं रह सकता। कुटुम्ब से राज्य तक में आज्ञा

* Law and Liberty are Poles asunder.

पालन का भाव पाया जाता है। यह प्रश्न विचारणीय है कि कानून का पालन क्यों होता है।

भय

कुछ लोगों का मत है कि कानून का पालन भय के कारण होता है। लोग डरते हैं कि यदि वे कानून को तोड़ेंगे तो सरकार उन्हें दण्ड देगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि अधिकतर लोग कानून का पालन इसीलिए करते हैं। जो मूर्ख और अज्ञानी हैं, जिन्हें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है, वे औरों को हानि पहुँचाते हैं। कानून के भय से उनकी अनुचित कार्रवाइयाँ काफी अंश तक रोक दी जाती हैं। यद्यपि वे कानूनों को पसन्द नहीं करते और इक्के दुक्के उन्हें तोड़ते रहते हैं, फिर भी बाह्य रूप में उन्हें इनका पालन करना ही पड़ता है। इसका एकमात्र कारण भय है। लगभग ६० प्रतिशत लोग दण्ड के भय से कानूनों का पालन करते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं है कि इनके तोड़ने से दूसरों के अधिकार में बाधा पड़ती है। क्षणिक लाभ के सामने वे नीति की परवाह नहीं करते। बहुसंख्यक प्राणी व्यक्तिगत लाभ को नीति, धर्म, न्याय और कर्त्तव्य से बढ़कर समझते हैं।

तर्क

कानून के पालन का तीसरा कारण तर्क है। कुछ व्यक्ति, जिनकी संख्या कम नहीं है, तर्क-पूर्वक यह विचार करते हैं कि कानूनों से उन्हें हानि है अथवा लाभ। अपने समान वे औरों के हित पर भी विचार करते हैं। इस विषय में वे एकमत हैं कि कानूनों की अनुपस्थिति में व्यक्तिगत और सामाजिक सुखों का अन्त हो जायगा। देश में अराजकता फैलेगी। शान्तिपूर्वक कार्य करने का अवसर जाता रहेगा। मनुष्य को अपनी पुरानी जंगली अवस्था में रहना होगा। इसलिए बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है कि कानूनों का आदर करें।

काहिली

समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो सोचने-विचारने की तकलीफ नहीं उठाना चाहते। उन्हें सभी बातों में हामी भरना अच्छा लगता है। 'नहीं' करने की तकलीफ उन्हें पसन्द नहीं है। दूसरों की बनी-बनाई चीज को वे इसलिए पसन्द कर लेते हैं कि स्वयं बनाने में तकलीफ होगी। औरों की राय को बिना किसी तर्क-वितर्क के वे चुपचाप मान लेते हैं। अधिकतर लोग तकलीफ उठाने से डरते हैं। कानून बनाना और उसे तोड़ना दोनों ही कठिन हैं। दोनों में बुद्धि और साहस की आवश्यकता है। काहिल आदमी इनमें से एक भी नहीं कर सकता। जेम्स ब्राइस ( James Bryce ) तो यहाँ तक लिखता है कि हर ६ आदमी में ५ आदमी काहिली के कारण कानूनों का पालन करते हैं।

**सहानुभूति**

कानून पालन का दूसरा कारण सहानुभूति है। अधिकतर लोगों में यह गुण पाया जाता है कि वे औरों के प्रति दयालु होते हैं। दूसरों से प्रेम करना उनका स्वाभाविक गुण होता है। कानून के कारण उन्हें शान्त वातावरण मिलता है। लोग मर्यादा के अन्दर अपना काम करते हैं। ऐसे वातावरण में उन्हें अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलने का अवसर मिलता है। उनकी अभिलाषा होती है कि लोगों में अधिक-से-अधिक सद्भाव हो। कानूनों में समानता का भाव सबसे अधिक है। इन्हीं सब कारणों से वे कानून का पालन करते हैं। उनकी सहानुभूति जैसे मनुष्यों के प्रति होती है वैसे कानूनों के प्रति। सहानुभूति के अन्दर मर्यादा का भाव होता है। हम अपने बड़ों की बातें इसलिए मानते हैं कि हम उनकी इज्जत करते हैं। उनकी आज्ञा हमें शिरोधार्य होती है। साधु-सन्तों की बातें सबको भली लगती हैं। कानून बनाने वालों को हम अपने से बुद्धिमान और देश-हितैषी समझते हैं। इसी सहानुभूति और मर्यादा के कारण हम कानूनों का पालन करते हैं।

**स्वभाव**

नियम पालन मनुष्य का स्वभाव है। अनियमित जीवन किसी को अच्छा नहीं लगता। समाज की रचना अनादि काल से होने के कारण मनुष्य नियमों को अपना स्वभाव समझता है। ईश्वर में अधिकतर लोगों के विश्वास का कारण सामाजिक परम्परा है। हम समाज की बहुत-सी बातों को इसलिए मानते हैं कि हमें उनकी आदत पड़ गई है। इन्हें सिखलाने के लिए स्कूल और पाठशालाएँ नहीं हैं, फिर भी सारा समाज इनका शिक्षक है। स्वभाव के अन्तर्गत कुछ और भी ऐसी बातें हैं जिन्हें हम कानून-पालन का कारण कह सकते हैं। आज्ञा-पालन का भाव कुटुम्ब से आरम्भ होता है, इसीलिए लोग कानून-पालन के आदी होते हैं। धार्मिक उपदेशों में आज्ञा-पालन का भाव अधिक है।

**कानून के अन्तिम उद्देश्य**

कानून का अन्तिम उद्देश्य क्या है? इस पर पाउण्ड के विचार सबसे सुलझे हुए हैं। उसने कानून के मुख्य चार उद्देश्य निर्धारित किये हैं।

१—कानून का प्रथम उद्देश्य राज्य में शान्ति रखना है। जब तक राज्य में शान्ति नहीं है तब तक व्यक्ति स्वतन्त्रता-पूर्वक अपना कार्य नहीं कर सकता।

२—कानून का दूसरा उद्देश्य राज्य में समता उत्पन्न करना है। धनी-गरीब का अन्तर सरकार की दृष्टि में तभी तक है जब तक दोनों शांतिपूर्वक एक दूसरे का ध्यान रखते हुए अपना कार्य करें। चूँकि यह बात स्वाभाविक नहीं है, इसलिए सरकार अपनी संस्थाओं में इनमें कोई भेद-भाव नहीं करती। कचहरियों में दोनों समान समझे जाते

। टैक्स की यह नीति है कि धनियों से अधिक और गरीबों से कम लिया जाय, ताकि आर्थिक विषमता दूर हो। कानून दण्ड देने में किसी तरह का पक्षपात नहीं करते। इसी के भय से बलवान कमजोरों को और बुद्धिमान मूर्खों को दबा नहीं सकता। सरकार अपनी ओर से सबको समान अवसर देती है। यदि कानून न हो तो समता के अभाव के कारण मनुष्य का जीवन दुखी और चिन्तित हो जाय।

३—व्यक्तित्व की रक्षा और उसका विकास कानून का तीसरा उद्देश्य माना गया है। रक्षा तभी हो सकती है जब व्यक्ति को अपने कार्यों में अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता हो। आंतरिक शक्तियों की वृद्धि व्यक्तित्व का विकास कहलाता है। कानून मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिये है। यह तभी सम्भव है जब उसकी अनुचित कार्रवाइयाँ रोक दी जायँ और बुरे कामों के लिए उसे दण्ड दिया जाय। कानून के अन्दर व्यक्तियों में संगठन का भाव अधिक होना चाहिए जिससे सेवा आदि कार्यों को करते हुए वे अपने व्यक्तित्व को बढ़ा सकें।

४—भौतिकवाद के युग में सभी सिद्धांत लाभ और हानि की कसौटी पर कसे जाते हैं। जिस नियम से व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति होती है वही अच्छा समझा जाता है। व्यक्तित्व के विकास और अन्तःशक्तियों की उन्नति पर उतना बल नहीं दिया जाता जितना बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति पर। बहुतों का विश्वास है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और उद्योग-धन्धों की रक्षा कानून का उद्देश्य है।

कुछ लोगों का विचार है कि कानून केवल दण्ड देने के लिये बनाये जाते हैं।

**दण्ड के सिद्धांत**

इसमें कोई संदेह नहीं कि कानून तोड़ने वाले दण्ड के भागी होते हैं परन्तु यह कार्य साधन मात्र है। प्रश्न यह है कि दण्ड क्यों दिया जाता है? इसकी आवश्यकता क्या है? लोगों को अपराध करने पर समझा-बुझा कर छोड़ दिया जाय तो इसमें क्या हानि है? सरकार क्यों जेलों में लोगों को भर कर व्यर्थ का खर्च सहन करती है? इन प्रश्नों पर लोगों के विभिन्न मत हैं। इन्हीं को दण्ड का विभिन्न सिद्धांत कहा गया है। इनके अन्दर यह भी वर्णन किया गया है कि दण्ड का स्वरूप क्या हो और किस सीमा तक वह दिया जाय। अमानुषिक दण्ड का तात्पर्य क्या है? शारीरिक दंड तथा मानसिक दंड में क्या अन्तर है? इनका मनुष्य के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? इत्यादि बातों का वर्णन दंड सिद्धांत के अन्तर्गत किया गया है। इन सब का विस्तृत वर्णन करना अपने विषय से दूर हट जाना होगा। इसलिये केवल लॉक, रूसो, बेन्थम, ग्रीन तथा ओपेनहैम के विचारों का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। इन्हीं के अन्दर दंड के लगभग सभी सिद्धान्त आ जाते हैं।

लॉक के कथनानुसार दंड के चार उद्देश्य माने गये हैं।

१—दंड उतना ही मिलना चाहिये जितना अपराधी सहन कर सके। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अपराध और दंड दोनों का अनुपात बराबर हो। जैसा छोटा-बड़ा अपराध हो उतना ही कम-वेश दंड दिया जाय। किसी की जेब से चार पैसे निकालने वाले को फाँसी की सजा नहीं मिलनी चाहिए। दंड न्याय के लिये दिया जाता है। इसका उद्देश्य समाज की भलाई करना है।

२—जब दो व्यक्तियों अथवा गिरोह में झगड़ा होता है तो उस व्यक्ति वा गिरोह को दंड दिया जाता है जिसने हानि पहुँचाई है। इसके अन्दर एक मनोवैज्ञानिक भाव है। यद्यपि अपराधी को दंड देने से उसके विपक्षी को कुछ मिलता नहीं, फिर भी उसे संतोष होता है।

३—दंड से अपराध करने वाले को इस बात की चेतावनी दी जाती है कि आगे ऐसा नहीं करना चाहिये। दण्ड देते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि अपराधी इससे यह शिक्षा ग्रहण करे कि भविष्य में ऐसा नहीं करेगा।

४—दंड के पीछे समाज-हित का भाव रहता है। जब किसी को कुछ दण्ड दिया जाता है तो उसकी चेतावनी के साथ औरों को इस बात की शिक्षा मिलती है कि उन्हें भी ऐसा नहीं करना चाहिये। अपराधी के कष्ट से औरों को भी लाभ पहुँचता है। वे अपराध करने से डरते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अपराध कम होने से दंड की आवश्यकता कम पड़ती है। फाँसी की सजा से अपराधी को अपने सुधार का अवसर नहीं दिया जाता, परन्तु इससे दूसरों को एक बहुत बड़ी शिक्षा मिलती है।

**स्वाभाविक क़ानून (Natural Law)**

स्वामाविक कानून के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों का विचार है कि प्राकृतिक नियमों को कानून समझना मूर्खता है। प्रकृति प्राणीमात्र की चिन्ता स्वयं करती है, हमें उससे सतर्क होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्राकृतिक जगत की गति जिन नियमों के अनुसार होती है वे अटल और दुरूह हैं। भौतिक जगत उनका अनुकरण नहीं कर सकता। सूर्योदय, दिन, रात, सर्दी, गर्मी, भूचाल, विपत्तियाँ इन सब के पीछे एक प्राकृतिक नियम है, जिसे समझना कोई खेल नहीं है। यद्यपि इनके लिये कोई न्यायालय अथवा सरकारी विधान नहीं है, फिर भी इन्हें तोड़ने वालों को प्रकृति स्वयं दण्ड देती है। आवश्यकता से अधिक भोजन करने वाला बीमार पड़ जाता है। समय के अनुसार जो काम नहीं करता वह रोगी और दुर्बल होता है। भूख और प्यास की अवहेलना करने वाला मृत्यु का भागी होता है। अर्थात् प्राकृतिक नियम सरकारी कानूनों से बड़े होते हैं।

स्वाभाविक नियम के इस अर्थ से कुछ लोग सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि ये नियम दो प्रकार के हैं। एक मनुष्य के मस्तिष्क में काम करता है और दूसरा बाह्य

जगत में। जो बाह्य जगत में काम करता है उसे प्राकृतिक नियम और जो मनुष्य के मस्तिष्क में काम करता है उसे स्वाभाविक कानून कहते हैं। प्रश्न यह है कि ये स्वाभाविक कानून क्या हैं? तर्क का दूसरा नाम स्वाभाविक कानून है। मनुष्य किसी बुरे मार्ग पर चलता है तो उसकी शुद्ध बुद्धि उसे रोकती है। चोरी, व्यभिचार, बेईमानी—इन्हें करने में लोग आरम्भ में हिचकते हैं। जो शक्ति मनुष्य को इन बुराइयों से रोकती है वह स्वाभाविक कानून कहलाती है। उसी को कोई बुद्धि, कोई तर्क और कोई अन्तरात्मा कहता है। यह आम कहावत है कि जो अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर चलता है वह अपना और समाज दोनों का हित करता है। अर्थात् स्वाभाविक कानून इतने अच्छे हैं कि प्रत्येक मनुष्य को इनका पालन करना चाहिये। इस सिद्धान्त के मानने में एक बहुत बड़ी कठिनाई है। मनुष्य अपने तर्क और बुद्धि से सब कुछ करता है। फिर एक ही स्वाभाविक कानून किसी को अच्छे और किसी को बुरे मार्ग पर क्यों ले जाते हैं? जब प्राकृतिक नियम दृढ़ हैं तो इन्हें कोई कैसे तोड़ता है। रोम के विद्वानों ने प्राचीन काल में स्वाभाविक कानूनों के पालन पर जोर दिया है और इस पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख डाले हैं।

सरकारी कानूनों के अन्तर्गत स्वाभाविक कानून का वर्णन असंगत है। प्राकृतिक नियमों को कानून कहना ही गलत है। स्वभाव और कानून में सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु स्वभाव अच्छे और बुरे दोनों होते हैं, लेकिन कानून बुरे नहीं होते। यदि वे बुरे हैं तो उन्हें कानून कहना ही गलत है। प्राचीन तथा मध्य काल में लोग प्रकृति के उपासक थे। सामाजिक संगठनों में प्राकृतिक अथवा दैवी नियमों को अधिक महत्व दिया जाता था। जो व्यक्ति सरल जीवन व्यतीत करता और ईश्वर के सहारे रहता, वह समाज में आदर का पात्र गिना जाता था। अब भी यह भावना कम नहीं है। चूँकि आधुनिक युग भौतिकवाद का युग है इसलिये प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक नियम 'कानून' के अन्तर्गत नहीं गिने जाते। 'कानून' शब्द कोई गोल-माल की चीज नहीं है। इसका सीधा अर्थ यह है कि समाज को चलाने के लिये सरकार की ओर से जो नियम चालू किये गये हैं वे कानून कहलाते हैं। इसके पीछे सरकार और समाज दोनों की संगठित शक्ति होती है।

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law)**

जब दो या दो से अधिक देश एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो उन्हें कुछ ऐसे नियम बनाने पड़ते हैं जिनसे आपस में कोई मतभेद न हो। व्यापार, युद्ध, सन्धि, आवागमन आदि विषयों में नियमों की आवश्यकता पड़ती है। कुछ देशों की सरकारें आपस के सहयोग से यह निश्चित करती हैं कि यदि कभी उनमें वैर-विरोध हो तो उसका निपटारा अमुक प्रकार से किया जाय। इससे भी काम न चले और युद्ध अवश्यम्भावी हो तो उस दशा में भी चन्द

नियमों का पालन किया जाय। जैसे लड़ाई के समय निर्दोष और निष्पक्ष व्यक्तियों पर प्रहार न किया जाय। स्त्री, बालक, वृद्ध, तपस्वी—इनको किसी तरह की हानि न पहुँचाई जाय। जहरीली गैस, आग, तथा अन्य विध्वंसक साधनों का प्रयोग न किया जाय। अस्पताल, स्कूल, मन्दिर, पंचायत घर, तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं पर शत्रु का कोई वर्ग आक्रमण न करे। इसी तरह के कुछ नियम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी बनाये गये हैं।

कुछ राजनीतिज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून की श्रेणी में नहीं गिनते। सरकारी कानूनों के पीछे फौज, पुलीस, कचहरी आदि शक्तियाँ व्यक्ति को उनके पालन के लिये बाध्य करती हैं। राज्य के अन्तर्गत बड़े-से-बड़े व्यक्ति या गिरोह को बिना किसी परिवर्तन के उनका पालन करना पड़ता है। धारा सभाओं में प्रजा के प्रतिनिधि कानूनों पर हर पहलू से विचार करते हैं और जब लोकमत उनके विरुद्ध नहीं होता, तब उन्हें कार्यान्वित किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों पर विचार करने के लिए न कोई धारा सभा है और न उनके पीछे कोई शक्ति है। बड़े-बड़े राष्ट्र जब उनका उल्लंघन करते हैं तो कमजोर राष्ट्रों को उन्हें सहन करना पड़ता है। इन्हें तोड़ने वालों को दण्ड देने के लिये किसी न्यायालय की व्यवस्था नहीं है। जिस प्रकार धार्मिक वा सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने पर किसी को दण्ड देने की व्यवस्था नहीं है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन राष्ट्रों की सद्भावना (Good will) पर छोड़ दिया गया है। जब तक वे नियम उनके हित में बाधक नहीं हैं तब तक वे उन्हें मानते हैं, परन्तु प्रत्येक दशा में उनका पालन करने के लिये वे बाध्य नहीं हैं। किसी देश पर विजय प्राप्ति की अभिलाषा से आक्रमण करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध है। लेकिन पिछले ५० वर्षों के इतिहास से स्पष्ट है कि बहुत थोड़े राष्ट्र इसका पालन करते हैं। यदि इन्हें पालन करने के लिये किसी शक्ति की व्यवस्था होती तो इतना अधिक इनका दुरुपयोग न होता।

१६१४ की बड़ी लड़ाई के बाद राष्ट्रसंघ को यह भार सौंपा गया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संकलन करे और उनके पालन का कोई उपाय सोचे। राष्ट्रसंघ ने किसी हद तक इस कार्य को किया परन्तु स्वयं असफल होने के कारण इसकी पूर्ति न कर सका। अभी तक कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जो इन नियमों को कानून का रूप देकर राष्ट्रों को इनके पालन के लिये बाध्य करे। गत महायुद्ध की व्यापकता और भयंकरता को देखते हुए विद्वानों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था जब तक दृढ़ न होगी तब तक संसार में शान्ति का राज्य स्थापित नहीं हो सकता। संसार की राजनैतिक व्यवस्था एक हो, अथवा सबका एक संघ हो—इस प्रकार की आवाज योरप और अमेरिका से आने लगी है। बड़े-से-बड़े नेता और राष्ट्रों के कर्णधार यह एलान

कर रहे हैं कि नवीन व्यवस्था ( New World Order ) अमुक प्रकार की होगी। भविष्य में न केवल कानून बल्कि अन्तर्राष्ट्रीयता के सभी पहलुओं पर विशेष रूप से अमल करना होगा।

**कानून और स्वतन्त्रता (Law and Liberty)**

कानून का पालन सबके लिये अनिवार्य है। और कामों को हम मनमाना कर सकते हैं, परन्तु कानूनों में उलटफेर करने की स्वतन्त्रता किसी को नहीं है। बीमार-से-बीमार अपराधी को जेल-यातनायें भोगनी पड़ती हैं; गरीब, दुखी, मजदूर, इन सबको सरकारी टैक्स देना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि कानून एक ऐसा बन्धन है जिससे कोई मुक्त नहीं है। अपराधी को यह कहने का अधिकार नहीं है कि उसे अमुक कानून की जानकारी न थी। कानून किसी को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं देते कि वह दूसरों की सम्पत्ति का मालिक बन बैठे अथवा उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचावे। वे सबको इस बात के लिये बाध्य करते हैं कि अपने स्वार्थ के साथ लोग दूसरों के अधिकारों का ध्यान रक्खें। अपने कर्त्तव्य से आँख चुराने वाला दण्ड का भागी समझा जाता है। मनुष्य अपनी गलतियों को छिपाने में कुशल होता है। वह नहीं चाहता कि उसके घृणित कार्य दूसरों की दृष्टि में आवें। लज्जा और दंड के भय से वह एक गलती को छिपाने के लिये सैकड़ों गलतियाँ करता है। लेकिन जब कभी वह कानून के चंगुल में फँस जाता है तो उसके कार्य का भंडाफोड़ समाज में बुरी तरह होता है। इन्हीं सब कारणों से कानून को स्वतन्त्रता का शत्रु कहा गया है।

'स्वतन्त्रता' नामक अध्याय में इस बात पर विचार किया गया है कि समाज में पूर्ण स्वतन्त्रता हानिकारक है। जिन कार्यों से एक दूसरे को बाधा पहुँचे उन्हें रोकना समाज का धर्म है। पैशाचिक स्वतन्त्रता व्यक्ति और समाज दोनों के लिये घातक है। चोरी, व्यभिचार, लूट-मार आदि कार्यों के लिये व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो उसकी दशा पशु से भी बुरी होगी। न केवल औरों को बल्कि अपने आपको भी वह ऊँचा नहीं उठा सकता। कानून की व्यवस्था इसीलिये की गई है कि मनुष्य अपनी कमजोरियों का समाज में अमल न करे। वह धार्मिक या दार्शनिक उपायों से अपने आपको इस योग्य बनाये कि उसके जीवन से किसी की हानि न हो। जब तक मनुष्य इस सतह पर नहीं आ जाता तब तक उसे सभ्य होने का अवसर नहीं मिल सकता। कानून उसे इस बात की शिक्षा देते हैं कि वह अपने को दूसरों से अलग न समझे। जिस प्रकार एकान्त में ईश्वर और आत्मा के भय से एक तपस्वी कोई बुरा विचार मन में नहीं लाता, उसी तरह कानून और दण्ड के भय से मनुष्य समाज में कुत्सित कर्म करने के लिये स्वतन्त्र नहीं है।

कानून और स्वतन्त्रता में कोई विरोध नहीं है। जिस स्वतन्त्रता का कानून विरोध करते हैं वह जंगली और पैशाचिक है। कोई सभ्य और सुशिक्षित मनुष्य उसका समर्थन नहीं कर सकता। समाज में शान्ति, सुख और सौजन्य का भाव पैदा करने का श्रेय कानूनों को है। जो लोग इनका विरोध करते हैं वे अपना विचार थोड़े से सरकारी कर्मचारियों के अनुचित कार्यों पर अथवा अपनी स्वार्थ-पिपासा पर बनाते हैं। साधु-संन्यासियों को फौज, पुलीस, जेल तथा अन्य व्यक्तियों वा संस्थाओं का भय नहीं होता। वे अपनी इच्छानुसार सर्वत्र विचरण करने के लिए स्वतन्त्र हैं। समाज में सब लोग उनका आदर करते हैं लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं होता। वे अपने क्रिया-कर्म द्वारा इन्द्रियों का इतना दमन करते हैं कि लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ आदि कमजोरियाँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं। तभी समाज में उन्हें स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है। साधारण व्यक्तियों में आत्मबल की कमी है इसलिये कानून के दबाव की उन्हें आवश्यकता पड़ती है।

# अध्याय १८

## लोकमत

### ( Public Opinion )

भरत विनय सादर सुनिय, करिअ विचार बहोरि।
करब साधुमत लोकमत, नृपनय निगम निचोरि॥

**लोकमत की व्याख्या**

एक या दो व्यक्तियों का किसी विषय पर क्या मत है यह जानना सरल है। किन्तु उसी विषय पर दो चार हजार आदमियों का मत जानना एक कठिन समस्या है। सबसे पहले इसके लिये उपयुक्त साधन की आवश्यकता है, दूसरे उन मतों को एकत्र करने में बड़ी ही सच्चाई और सावधानी की आवश्यकता है। यह प्रायः देखा जाता है कि एक मनुष्य दूसरे की कही हुई बात को कुछ घटा-बढ़ा कर कहता है। जैसा का तैसा कहना मनुष्य स्वभाव के विपरीत मालूम पड़ता है। ऐसी स्थिति में किसी विषय पर सम्पूर्ण देशवासियों का मत जानना कुछ असम्भव सा जान पड़ता है। सिद्धान्त रूप में इसकी पुष्टि भले ही की जाय परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह सर्वथा असम्भव है। यद्यपि वर्तमान वैज्ञानिक युग में आवागमन-लेखन, तथा नवीन आविष्कारों की सुविधा के कारण लोकमत का संग्रह एक साधारण सी बात है, परन्तु यह मानना होगा कि सच्चा लोकमत बहुत कम विषयों पर जाना जाता है। किसी पत्र-पत्रिकाओं में अथवा सरकारी आज्ञा से लोकमत घोषित कर दिया जाय वही लोकमत है--ऐसी बात नहीं है। छल-कपट से भी एक व्यक्ति अपनी राय को सैकड़ों व्यक्तियों पर लाद देता है। ऐसा भी देखा जाता है कि किसी बात को लेकर देश के अधिकांश व्यक्ति असन्तुष्ट एवं क्रुद्ध होते हैं, परन्तु उनकी इच्छा के विरुद्ध वह लोकमत के अनुकूल मानी जाती है। जब लोग उसे नहीं चाहते हैं तो लोकमत कैसे हो सकता है ?

लोकमत से तात्पर्य 'लोगों की राय' से है। मान लीजिये किसी विषय पर ५ आदमियों की राय ली जाती है। जो राय कम से कम ३ व्यक्तियों की है वही उस विषय पर लोकमत कहलायेगा। ऐसी स्थिति में यदि लोकमत को 'बहुमत' कहा जाय तो अनुचित नहीं है। जो बहुमत है वह लोकमत अवश्य है। विधान-मण्डलों में

जो मत आधे से अधिक सदस्यों का होता है वही लोकमत माना जाता है, कारण यह है कि विधान-मण्डलों के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं। एक सदस्य की राय हजारों मताधिकारियों की राय मानी जाती है। प्रजातन्त्र राज्यों में विधान-मण्डलों में सभी कार्य बहुमत से ही किये जाते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से इसका आशय यही है कि उनमें लोकमत का आदर किया जाता है। फिर भी जनता सरकार के कितने ही कार्यों से असन्तुष्ट रहती है। यदि सरकार उन कार्यों में जनमत संग्रह करे तो सम्भव है कि उसे अपनी नीति बदल देनी पड़े। ऐसा इसलिये होता है कि लोकमत बड़ी तीव्र गति से बदलता रहता है। विधान-मण्डल के प्रतिनिधियों के निर्वाचन के समय जो लोकमत होता है वही उसके पश्चात् नहीं रह जाता। समय के प्रवाह में परिस्थिति बदल जाती है और उसी के साथ लोकमत भी बदल जाता है। इसीलिये निर्वाचन के पश्चात् लोकमत विधान-मडल के सदस्यों के मन से मेल नहीं खाता। जनता के प्रतिनिधि विधान-मण्डलों में जाकर लोकमत को पहचानने में असमर्थ हो जाते हैं।

मनुष्य के विचार प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। सवेरे से सन्ध्या तक एक ही विषय पर हमारे विचार एक से नहीं रहते। दो चार महीने अथवा एक दो वर्ष की अवधि बीत जाने पर विचारों में कितना परिवर्तन हो जाता है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि अमुक विषय पर कल उसकी यही राय होगी। मनुष्य स्वभाव से ही परिस्थिति का दास है। प्रत्येक बात पर वह अपनी स्थिति के अनुसार विचार करता है। एक ही बात किसी के लिये भली है और दूसरे के लिये बुरी। किसी मनुष्य को आज हम बुरा कहते हैं और कल वही हमारा मित्र बन जाता है। किसी विषय पर लोकमत का भी यही हाल है। विधान मण्डलों के निर्वाचन में लोकमत एक संगठित रूप धारण कर लेता है। निर्वाचन के पश्चात् उसका संगठित रूप छिन्न-भिन्न हो जाता है दलबन्दी का आवरण उसके ऊपर से हट जाता है। इसीलिये जनता अपने ही प्रतिनिधियों की कार्यपद्धति से सहमत नहीं होती। निर्वाचन के पश्चात् ही असन्तोष आरम्भ हो जाता है और उसकी समाप्ति अगले निर्वाचन में होती है। इसीलिये प्रजातन्त्र के अन्तर्गत जनता कभी सन्तुष्ट नहीं रहती। लोकमत जितना ही स्वतन्त्र होगा, असन्तोष की ज्वाला उतनी ही अधिक होगी।

साधारण जनता लोकमत उसी को मानती है जो महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। उसे यह विश्वास है कि वही वास्तविक मत है और उसी को मानने में सब का कल्याण है। शिक्षित समाज पत्रों द्वारा लोकमत का निर्धारण करता है। जो मत पत्र-पत्रिकाओं के होते हैं उसी को शिक्षित लोग लोकमत कहते हैं। यह

आवश्यक नहीं है कि लोकमत एक ही हो। समाज का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। उसी के अनुसार लोकमत भी कई प्रकार के होते हैं। भारतीय गाँवों में लोकमत का आशय उसी मत से होता है जो आसपास के दो चार गाँवों में प्रचलित होता है। लोकमत को 'साधुमत' भी कहा गया है। जिस विचार-धारा से अधिकांश व्यक्ति सहमत हैं और जिसके प्रति सबकी सद्भावना है वही लोकमत है। यदि वास्तव में देखा जाय तो लोकमत नागरिकों की संख्या से उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना उनके हित से सम्बन्ध रखता है। किसी सभ्य समाज में दो चार भद्र पुरुषों का मत लोकमत का स्थान ग्रहण कर सकता है। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गाँधी के व्यक्तिगत विचार लोकमत का स्थान ग्रहण कर चुके हैं। जब-जब उन्होंने कोई घोषणा की तो देशवासियों ने उसे अपना ही मत समझा। उसकी पुष्टि के लिये वे सब प्रकार का त्याग करने के लिये तैयार हो गये। यदि वही बात एक साधारण व्यक्ति कहता तो उसे जनता का समर्थन कदापि नहीं मिलता। लोकमत पर व्यक्तित्व का अधिक प्रभाव पड़ता है। सैकड़ों आदमियों की सम्मिलित राय का उतना समर्थन नहीं हो सकता जितना किसी महापुरुष की व्यक्तिगत राय का होता है।

**लोकमत का निर्माण**

केवल दो चार व्यक्तियों की राय को लोकमत नहीं कहते। लोकमत के निर्माण के लिये विस्तृत साधन की आवश्यकता है। वे साधन इतने व्यापक होने चाहिए जो सर्वसाधारण तक देश के प्रत्येक भाग में पहुँचाए जा सकें। उन्हीं का आश्रय लेकर जब कोई राय संगठित रूप धारण करेगी तभी उसे लोकमत का स्थान मिलेगा। अच्छा-से-अच्छा मत संगठन के अभाव में सर्वसाधारण का हित नहीं कर सकता। इसीलिये वह लोकमत भी नहीं कहलाता। तात्पर्य यह है कि लोकमत के निर्माण के लिये संगठन की आवश्यकता सर्वोपरि है। इस संगठन के रूप समया-नुसार बदलते रहते हैं। प्राचीन काल में किसी बात की सूचना के लिए ढोल बजाए जाते थे। गाँवों में डुग्गी बजाई जाती थी। आज भी इस प्रथा का सर्वथा लोप नहीं हुआ है। गाँवों में किसी सभा-सोसाइटी की सूचना के लिए डुग्गी का प्रयोग अब भी किया जाता है। परन्तु नगरों में लाउडस्पीकर, मोटर आदि वैज्ञानिक साधनों का उपयोग किया जाता है। वर्तमान समय में लोकमत के निर्माण में कितने ही साधन कार्य में लाये जा रहे हैं।

लोकमत का निर्माण प्रचार द्वारा किया जाता है। यह प्रचार दो प्रकार से आरम्भ होता है। कभी-कभी देश में एक महापुरुष जन्म लेता है। उसकी प्रतिभा और कार्य-शक्ति से आरम्भ में कुछ व्यक्ति प्रभावित होते हैं। कुछ समय में उसका प्रभाव एक बड़े क्षेत्र में फैल जाता है। उसके विचार और मत इतने लोकप्रिय हो

जाते हैं कि उसी का संगठन किया जाता है। उसी का मत लोकमत कहलाता है। ऐसा भी देखा गया है कि जनसाधारण किसी विषय पर अपना मत प्रकट करता है। वह मत क्रमशः संगठित रूप धारण करते हुए उच्च श्रेणी तक मान्य हो जाता है। वह भी लोकमत कहलाता है। लोकमत के निर्माण के साधनों में पत्र-पत्रिकाओं का प्रमुख हाथ होता है। जिस मत का वे समर्थन करते हैं उसका भली भाँति प्रचार होता है। उस पर ऐसे-ऐसे तर्क दिये जाते हैं कि लोगों को उसके मानने में ही अपना कल्याण दिखाई पड़ता है। पत्र-पत्रिकायें कभी-कभी जनसाधारण के मत को बदल देती हैं। पत्रों के सम्पादक स्वभावतः बुद्धिवादी होते हैं। उन्हें किसी बात को सही और गलत सिद्ध करने में कोई विलम्ब नहीं होता। जिस देश में पत्र-पत्रिकाएँ सही बातों का समर्थन और झूठी बातों का बहिष्कार करती हैं वहाँ लोकमत का आधार सत्य होता है। आधुनिक युग में इन पत्रों का बहुत बड़ा महत्त्व है। जो व्यक्ति अपना कोई विशेष विचार रखता है वह या तो स्वयं किसी पत्र का सम्पादक होता है अथवा कुछ पत्र उसी के विचारों का गीत गाते हैं। जिस प्रकार भक्त लोग साधु-महात्माओं के गुण का गान करते हैं उसी तरह पत्र भी अपने संरक्षकों का गुण-गान करते हैं। दो विरोधी पत्रों के पढ़ने से विचारों में उलझन पैदा हो जाती है। इसीलिये सरकार विदेशी पत्रों के आगमन पर कड़ी दृष्टि रखती है और देशी पत्रों पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाती है। ऐसा न हो तो कितने ही पत्र लोकमत को बनाने के बजाय और बिगाड़ सकते हैं।

पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त साहित्य के दूसरे अंग भी लोकमत का निर्माण करते हैं। कुछ विद्वान् जनसाधारण की आवश्यकताओं को समझने का प्रयत्न करते हैं और नाटक, उपन्यास तथा साहित्य के अन्य क्षेत्रों द्वारा उनका प्रचार करते हैं। उनकी लेखनी हजारों व्यक्तियों के विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। देश की परम्परा, उसका प्राचीन इतिहास तथा उसकी संस्कृति भी लोकमत के निर्माण में सहायक होती है। अधिकांश जनता रूढ़िवादी होती है। वह अपनी प्राचीन शैली के अनुकूल ही अपना विचार बनाती है। वह उन्हीं विचारों का समर्थन करती है जो उसकी प्राचीन संस्कृति से मिलते-जुलते हैं। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गाँधी को लोकमत के निर्माण में सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई थी। उन्होंने हर प्रकार से यह सिद्ध किया कि स्वतन्त्रता के बिना देशवासियों का भी कल्याण नहीं हो सकता। उनका जीवन भारतीय संस्कृति के इतने निकट था कि जनता उनकी बातों का सबसे अधिक आदर करती थी। यह कहना अनुचित नहीं है कि महात्मा गाँधी की सफलता का कारण अन्य बातों के साथ एक यह भी है कि उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को भारतीय वातावरण में संचालित किया। उनकी व्यक्तिगत बात लोकमत का रूप धारण कर लेती थी।

विभिन्न संगठन और समुदाय भी लोकमत का निर्माण करते हैं। संस्थाएँ भी इसका निर्माण करती हैं। जब कोई युद्ध छिड़ता है तो सरकार देश में तरह-तरह की संस्थाएँ स्थापित करती है। कुछ तो सेना में सिपाहियों की भर्ती के लिये कार्य करती हैं और कुछ लोगों में राष्ट्रीय भावनाएँ उत्पन्न करती हैं। कुछ संस्थाएँ आर्थिक लाभ के कारण जनता के एक वर्ग को आने के लिए उत्साहित करती हैं। इस लिए कहा जाता है कि संस्थाओं द्वारा लोकमत का निर्माण बहुत ही ठोस ढंग से होता है। महात्मा गाँधी ने भारतीयों में राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने के लिए खादी-भंडार, हरिजन-सेवकसंघ, गुरुकुल आश्रम तथा अनेक राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना की थी। उन्होंने अपने राष्ट्रीय कार्य का आरम्भ साबरमती आश्रम से किया था। जिस विचार-धारा को लोकमत का स्थान प्राप्त करना हो उसके संचार और परिचालन के लिए संस्थाएँ आवश्यक हैं। बड़े-बड़े व्यापारी जब अपनी वस्तुओं का प्रचार जनता में करना चाहते हैं तो इसके लिए एक स्वतन्त्र विभाग की स्थापना करते हैं। वह विभाग खेल-कूद, नाटक, नृत्य, तस्वीरें तथा नाना प्रकार के विज्ञापनों द्वारा वस्तुओं का प्रचार करता है। लाखों रुपये इस कार्य में व्यय किये जाते हैं। यह प्रचार इतने संगठित रूप से होता है कि इसमें कार्य करने के लिये लोगों को वर्षों ट्रेनिंग दी जाती है तभी लोकमत उनकी वस्तुओं का समर्थन करता है। चाय के गुण और अवगुण को संभवतः बहुत थोड़े लोग जानते हैं फिर भी इसका देश में काफी प्रचार है। इसका श्रेय बहुत कुछ उसके प्रचार विभाग का ही है। एक व्यापक संगठन रात-दिन इसी कार्य में लगा हुआ है।

**शिक्षा और लोकमत**

लोकमत के निर्माण में प्रचार और संगठन का विशेष हाथ होता है। शिक्षा प्रचार कार्य में काफी सहायक होती है। शिक्षित व्यक्ति साहित्य निर्माण एवं पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन में लगते हैं। अपने विचारों के अनुकूल वे जनमत तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य के विचारों पर उसकी परिस्थिति का पूरा प्रभाव पड़ता है। जिस वातावरण में वह निवास करता है वैसे ही उसके विचार बनते हैं। इसीलिये शिक्षित और अशिक्षित दोनों के विचारों में बहुत कुछ साम्य होता है। एक अशिक्षित व्यक्ति साधनहीन होने के कारण अपने विचारों का स्पष्टीकरण नहीं कर पाता, परन्तु शिक्षित व्यक्ति अपने विचारों को व्यक्त करता है। यदि वह स्वाभाविक रीति से परिस्थिति के अनुकूल अपने विचारों को रखता है तो वही विचार प्रायः सम्पूर्ण समाज के होते हैं। सामाजिक स्थिति बहुत कुछ मनुष्यों में एकता और साम्य स्थापित करती है। एक सहृदय व्यक्ति के जो विचार हैं वही उसके समाज के भी विचार होते हैं।

यदि शिक्षित व्यक्ति सामाजिक कर्तव्यों का ध्यान रक्खें तो वे लोकमत का निर्माण

बहुत ही सही मार्ग पर कर सकते हैं। समाज में किसी गलत बात का प्रचार करना अथवा किसी सही बात की उपेक्षा करना—दोनों ही हानिकर हैं। शिक्षित व्यक्तियों को इसी सिद्धांत से काम करना चाहिये। जनता को भ्रम में डाल कर अथवा उसे बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलाकर जिस लोकमत का निर्माण किया जाता है उससे सामाजिक उन्नति में बाधा पड़ती है। थोड़े से स्वार्थी व्यक्ति कोई तात्कालिक लाभ भले ही उठा लें, परन्तु इससे समाज को कोई लाभ नहीं होता। जनता शिक्षित व्यक्तियों में अपना विश्वास खो बैठती है और कभी-कभी किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है। इस दृष्टि से विभिन्न राजनीतिक दल लाभ के बदले जनता को भ्रम में डाल देते हैं। वे अपने सिद्धांतों की पुष्टि के लिये नाना प्रकार के तर्क उपस्थित करते हैं, जिन्हें समझने की शक्ति जन-साधारण में नहीं होती। इसीलिये कहा जाता कि वही शिक्षा सही लोकमत का निर्माण कर सकती है जिसका आधार मस्तिष्क के साथ हृदय भी है। बुद्धिवादी जिस लोकमत का निर्माण करते हैं उसमें जनता की सही भावना व्यक्त नहीं होती। शिक्षा के द्वारा मनुष्य की सामाजिक अनुभूतियों की वृद्धि होती है। समाज की सभी समस्यायें शिक्षित व्यक्तियों को अवगत कराई जाती हैं। उनके सामाजिक विचारों में वही ध्वनि होती है जो किसी भी व्यक्ति के अन्दर हो सकती है।

**निर्वाचन और लोकमत**

मनुष्य के विचार स्थायी नहीं होते। वे इतनी तेजी से बदलते हैं कि कोई उसकी गति को रोक नहीं सकता। लोकमत भी स्थायी नहीं होता। जैसे व्यक्ति के विचार बदलते हैं उसी तरह लोकमत में भी परिवर्तन होते हैं। इस परिवर्तन के अनेक कारण हैं जिनका वर्णन करना विषयान्तर होगा। लोकमत की परीक्षा अथवा इसका मूल्यांकन निर्वाचन के समय होता है। जनता अपनी इच्छानुसार विधान मंडल के सदस्यों का निर्वाचन करती है। परन्तु उसकी इच्छा को प्रभावित करने के लिये नाना प्रकार के साधन उपयोग में लाए जाते हैं। उल्टी सीधी इतनी बातें फैलाई जाती हैं कि जनता भ्रम में पड़ जाती है। यह कहना अनुचित न होगा कि निर्वाचन के समय लोकमत सबसे अधिक विकृत हो जाता है। जनता की स्वतन्त्र इच्छा का लोप हो जाता है। कुछ लोग स्वार्थ के कारण, कुछ भ्रमवश और कुछ सम्बन्ध के कारण अपने स्वाभाविक विचारों को दबाकर बनावटी बातें करते हैं। उन्हीं से लोकमत का निर्माण होता है जिनका निर्वाचन में उपयोग किया जाता है। जिस देश की जनता अशिक्षित है और शासन की महत्ता को नहीं समझती वहाँ लोकमत की और भी छीछालेदर होती है। निर्वाचन के पश्चात् स्वार्थी और अयोग्य व्यक्ति जब शासन का संचालन भली भाँति नहीं करते तो जनता सरकार को दोषी ठहराती है परन्तु विचार करे तो यह सारा दोष जनता का ही है। निर्वाचन के समय वह अपने उत्तरदायित्व को भूल जाती है और क्षणिक प्रलोभनों में पड़कर अपने अधिकार का दुरुपयोग करती है। प्रजातन्त्र

देशों में शासन की जो दुर्बलतायें दिखाई पड़ती हैं उसका बहुत कुछ कारण यही लोकमत का अभाव है। जनता को यह अनुभव करना चाहिए कि जब तक वह अपना मत योग्य प्रतिनिधियों को न देगी तब तक शासन सम्बन्धी शिथिलतायें बनी रहेंगी।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय शासन में अनेक त्रुटियाँ दिखाई पड़ने लगी हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो जनता शासन संबंधी त्रुटियों को समझने लगी है। दूसरा कारण यह है कि इस देश में लोकमत का अभाव है। शिक्षा की कमी के कारण नागरिक अपने मत का मूल्य नहीं समझते। निर्वाचन के समय वे इस बात का ध्यान नहीं रखते कि लोगों के झूठे आश्वासन और स्वयं की प्रशंसा से उनका थोड़ा भी कल्याण नहीं हो सकता। इससे भारतीय राजनीति में पदलोलुप लोगों की सख्या बढ़ती है और भले तथा योग्य व्यक्ति राजनीति से उदासीन हो जाते हैं। दो चार निर्वाचनों के पश्चात् लोगों को स्वयं आभास होगा कि लोकमत का संगठन सही मार्ग पर होना चाहिए। उस पर धार्मिक अथवा जातीय वर्ग का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। कुछ लोग निर्वाचन में इसलिए भी सफल हो जाते हैं कि वे जातीय समर्थन प्राप्त कर लेते हैं। यदि सही लोकमत जागृत किया जाय तो उन्हीं व्यक्तियों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा जिनके कुछ सिद्धान्त हैं और जो किसी विशेष कार्यक्रम की पूर्ति के लिये विधान-मंडलों में जाना चाहते हैं। यहाँ तो नागरिक इतना भी प्रश्न नहीं करते कि अमुक व्यक्ति क्यों विधान-मंडल में जा रहा है; उसका क्या कार्य-क्रम है और उसकी पूर्ति के लिए वह कहाँ तक सामर्थ्य रखता है। जब तक नागरिकों को इनका संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता और वे प्रतिनिधियों की शक्ति में पूरा विश्वास नहीं कर लेते तब तक उन्हें अपना मत कदापि नहीं देना चाहिए। लोकमत तभी संगठित माना जाता है जब उसमें प्रतिनिधियों की इतनी परीक्षा करने की शक्ति होती है। योरोपीय देशों में लोकमत का संगठन इसी सिद्धांत पर किया जाता है। इसका कारण अन्य बातों के अतिरिक्त जनता का शासन में अनुभव भी है।

**सरकार और लोकमत**

देशहित का ध्यान सरकार को सबसे अधिक होता है। वह नाना प्रकार से अपने देशवासियों की दशा सुधारने का प्रयत्न करती है। इसीलिए लोकमत का भी उसे आदर करना पड़ता है। निर्वाचन के समय जो नियम लागू किए जाते हैं उनमें लोकमत का विशेष ध्यान रखा जाता है। निर्वाचन अधिकारियों को सरकारी आदेश दिए जाते हैं कि मत देने में किसी नागरिक पर कोई अनुचित दबाव न डाला जाय। इच्छा के विरुद्ध कोई अपना मत देने के लिये बाध्य न किया जाय। सरकार यह जानती है कि यदि शासन-सूत्र गलत आदमियों के हाथ में चला जायगा तो वह अपने कर्तव्य-पथ से भ्रष्ट हो जायगी। जब कोई कानून पास किया जाता है तो उस पर लोगों

की सम्मति प्राप्त कर ली जाती है। यदि लोकमत उसके विरुद्ध होता है तो वह कानून पास नहीं किया जाता। भारत सरकार हिन्दू कोड बिल को पास करने के लिए हर प्रकार से प्रयत्नशील थी। परन्तु लोकमत उसके विरुद्ध इतना हुआ कि वह अभी तक कानून का रूप धारण नहीं कर सका। यदि इसी तरह की शक्ति जन-साधारण में काम करने लगे तो कोई भी सरकार लोकमत के विरुद्ध कार्य करने का साहस नहीं कर सकती। इसमें सरकार की कोई मानहानि नहीं है। लोकमत के विरुद्ध जो कानून पास होगा उसे लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। न तो जनता उसका पालन करेगी और न सरकार की लोकप्रियता ही बढ़ेगी।

प्रजातन्त्र देशों में सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि लोकमत की शक्ति कम न हो। उस पर न तो कोई कुठाराघात करे और न उसे विकृत करे। पत्र-पत्रिकाओं पर देखरेख रखी जाती है कि वे किसी ऐसी बात का प्रचार न करें जो भ्रामक हों अथवा लोगों को गलत रास्ते पर जाने के लिए आकर्षित करें। सरकार किसी ऐसी संस्था का भी निर्माण नहीं होने देती जो लोगों में झूठी बातों का प्रचार करे। ऐसे संगठनों की भी स्थिति उसे सह्य नहीं है जो लोगों की विचार-धारा में क्रान्ति उत्पन्न करे। लोकमत की जागृति क्रमशः होती है। महापुरुषों के त्याग और परिश्रम से इसका निर्माण होता है। क्षणिक आवेश में आकर समाज में जो कार्य किये जाते हैं वे हानिकर होते हैं। क्रान्तिकारी परिवर्तन इसीलिये वर्जित किए गए हैं। सरकार स्वयं एक विकसित संगठन है। वह जानती है कि लोकमत बिगड़ने से उसकी स्थिति गम्भीर हो जायगी। शिक्षा, उद्योग धन्धे अथवा कला-कौशल आदि लोकमत को ठोस बनाने के साधन हैं। जब लोकमत सरकारी नीति के विरुद्ध हो जाता है तो उसकी स्थिति डाँवाडोल हो जाती है। कभी-कभी सरकार को इस प्रकार की कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं। इसीलिए वह लोकमत को सदैव ही अपने पक्ष में रखना चाहती है। उसके जितने भी कार्य हैं सब में ऐसी नीति बर्ती जाती है जिससे जनमत उसके पक्ष में रहे। इतना सतर्क रहने पर भी लोकमत सरकार के विरुद्ध हो जाता है। जब जनता में असन्तोष की भावना बढ़ जाती है तब सरकार की टीका-टिप्पणी अधिक होती है। इसी चर्चा के संगठित रूप धारण कर लेने पर लोकमत सरकार के विरुद्ध हो जाता है।

**भारत में लोकमत**

कोई विश्वास भले ही न करे परन्तु भारत में लोकमत का अभाव है। इसके कई कारण हैं। अधिक समय से परतन्त्र रहने के कारण भारतीय नागरिकों की राजनीतिक चेतना मृतप्राय हो गई है। इस दिशा में जब कभी थोड़ा प्रयत्न किया जाता है तो उसमें व्यक्तिगत भावनाओं की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। सामाजिक कार्यों में जब तक व्यक्ति अपने से परे राष्ट्रहित की दृष्टि से विचार नहीं करता तब तक उसे

सफलता नहीं मिलती। हम भारतीयों में इस प्रकार की राष्ट्रीय भावनाओं का अभाव है। यदि दो चार व्यक्ति आदर्श के रूप में दिखाई पड़ते हैं तो उन्हीं से सम्पूर्ण समाज का कल्याण कैसे हो सकता है। जब तक राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझता और सुयोग्य व्यक्तियों को शासन कार्य चलाने का अवसर नहीं देता तब तक उसका व्यक्तिगत और सामाजिक हित कैसे हो सकता है। प्रजातन्त्र के अनुसार शासन के संचालन का अधिकार जनता को प्रदान किया गया है। वही अपने प्रतिनिधियों द्वारा इसका संचालन करती है। उसमें जितनी योग्यता होगी उसी मात्रा में वह योग्य शासकों को निर्वाचित करेगी। जब तक उसमें शिक्षा का अभाव है और वह छोटे छोटे प्रलोभनों में पड़ी हुई है तब तक स्वार्थी तथा पदलोलुप लोगों को उससे लाभ उठाने का अवसर मिलता रहेगा। स्वतन्त्र भारत के प्रारम्भिक जीवन में आज यही कठिनाई राष्ट्र के सामने उपस्थित है।

राष्ट्र-निर्माण का कार्य उतावलेपन से नहीं होता। किसी भी देश के इतिहास में इस तरह की उन्नति नहीं दिखलाई पड़ती। थोड़े समय में विशेष उन्नति के उदाहरण तो पाए जाते हैं, परन्तु जहाँ ठोस कार्यों का प्रश्न है उनमें विलम्ब होना स्वाभाविक है। भारत में शिक्षा तथा आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के अभाव के कारण अधिकांश जनता पिछड़ी हुई है। उसे न तो दूसरे देशों की उन्नति का ज्ञान है और न अपनी ही उन्नति की रूप-रेखा दिखाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में बड़ी बड़ी योजनाओं में उनके सहयोग की आशा करना एक बहुत बड़ी भूल है। यह सभी जानते हैं कि भारत सरकार अथवा प्रादेशिक सरकारों की अनेक योजनाएँ सफल नहीं हो रही हैं। कहीं-कहीं पर तो लाखों रुपये व्यय करने पर भी सरकार को उन्हें छोड़ देना पड़ता है। धन का अभाव अथवा वैज्ञानिक साधनों की कमी के अतिरिक्त जनता की विचार-शक्ति भी इसका एक कारण है। वह स्वयं यह अनुभव नहीं कर पाती कि इन योजनाओं से उसे क्या लाभ होगा। तात्कालिक लाभ को ही वह सब कुछ समझती है और भविष्य की लम्बी योजनाओं में उसका विश्वास नहीं है। यदि वह शिक्षित होती तो लोकमत इन योजनाओं के पक्ष में सरलतापूर्वक जागृत किया जा सकता था। कितने ही आदमी सरकार की झूठी टीका टिप्पणी में अपना समय नष्ट करते हैं। सरकार के सामने वे कोई ठोस सुझाव नहीं रखते। उन्हें इतना भी ज्ञान नहीं है कि यह सरकार उन्हीं की बनाई हुई है और अवसर आने पर वे इसे पुनः बदल सकते हैं। फिर भी उन्हें याद रखना चाहिए कि जब तक वे विवेक से काम न लेंगे तब तक आदमियों के बदलने से काम नहीं चल सकता।

पिछले चुनाव में मताधिकारियों की संख्या १७ करोड़ ५० लाख निर्धारित की गई थी। इतने अधिक मताधिकारी संसार के किसी भी देश में नहीं हैं। इन्हें ४१०४ प्रतिनिधियों को निर्वाचित करना था। यदि मताधिकारी राजनीतिक संगठन

को समझते हैं और उनमें सुयोग्य व्यक्तियों को पहचानने की शक्ति है तो अपने देश में आदर्श राज्य की स्थापना कर सकते हैं। अपने प्रतिनिधियों के सामने वे ऐसा कार्य-क्रम रख सकते हैं जिससे देश में धन-धान्य की वृद्धि हो और सब लोग सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करें। मताधिकारी देश की जनसंख्या के आधे के बराबर हैं। देश की उन्नति की ठोस योजनाएँ लेकर वे लोकमत का ऐसा संगठन कर सकते हैं जिनसे स्वार्थी और पदलोलुप व्यक्तियों को सरकारी कार्यों में हाथ बटाने का कोई अवसर न मिले। परन्तु यहाँ तो कुछ और ही दिखाई पड़ता है। निर्वाचन के समय जो सबसे अधिक प्रचार करता है, अधिक रुपया खर्च करता है, जनता को झूठे-झूठे आश्वासन देता है अथवा अपने एजन्टों द्वारा मताधिकारियों को अपने पक्ष में करता है वही प्रतिनिधि चुन लिया जाता है। यहाँ तक कि पैसे से वोट मोल लिये जाते हैं। जब मताधिकारी इतने छोटे विचारों से अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करेंगे तो वे सरकारी कार्यों से कभी सन्तुष्ट नहीं रह सकते। जब वे योग्य व्यक्तियों की उपेक्षा करते हैं तो एक अच्छी सरकार स्थापित नहीं कर सकते।

भारतीय सरकारी संगठन में जो भी त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं उसके मूल में इस देश में लोकमत का अभाव है। जनता में कोई ऐसी संगठित विचार-धारा नहीं दिखाई पड़ती जो किसी अच्छे उद्देश्य को लेकर सरकार का निर्माण करने की शक्ति रखती हो। लोगों के विचारों में अनेक उलझनें हैं। कांग्रेस, समाजवादी पार्टी, कृषक-मजदूर-प्रजा-पार्टी, कम्युनिस्ट, हिन्दू महासभा, जनता पार्टी इत्यादि पार्टियों के ध्येय को बहुसंख्यक जनता बिलकुल नहीं समझती। कांग्रेस एक ऐसी पार्टी है जिससे अधिकांश लोग परिचित हैं, परन्तु अपने आन्तरिक मतभेदों के कारण इसकी भी लोकप्रियता कम हो रही है। जनता केवल व्यक्तियों से यह निश्चित कर लेती है कि उसकी पार्टी कैसी है। भारतीय परम्परा के अनुसार देश आज भी संगठन का पुजारी न होकर व्यक्ति का ही पुजारी है। कितने ही लोग महात्मा गाँधी और पं० जवाहर-लाल नेहरू को कांग्रेस समझते हैं। इतना अनभिज्ञ रहकर जनता शासन के उत्तर-दायित्व को कैसे वहन कर सकती है। इसीलिए अफलातून प्रजातन्त्र के पक्ष में नहीं था। रूसो का भी यही विचार था कि, "पूर्ण प्रजातन्त्र मनुष्य के लिये नहीं है।" बर्नार्ड शा ने प्रजातन्त्र को "विचित्र मूर्खता" कहा है। तात्पर्य यह है कि जब तक एक शिक्षित समाज में लोकमत का सगठन नहीं है तब तक प्रजातन्त्र का कोई मूल्य नहीं है। यदि भारत में कोई संगठित लोकमत होता तो सरकार स्वयं उससे भय करती। बड़ा से बड़ा व्यक्ति लोकमत की उपेक्षा करने का साहस नहीं करता, परन्तु यहाँ तो कितने ही व्यक्ति राजनीतिक मंच पर भाषण करते हुए सुने गए हैं कि वे अपने रुपये के सामने जनता की कोई परवाह नहीं कर सकते। उन्हें विश्वास है कि निर्वाचन के समय लोकमत को अपने अनुकूल बना लेंगे।

जो संकुचित अथवा असंगठित लोकमत पाया जाता है उसमें भी कोई स्थायित्व नहीं है। दो चार व्याख्यानों को सुनकर लोगों के विचार बदल जाते हैं। जब कोई नेता किसी क्षेत्र में भ्रमण करता है तो जनता उसके भाषणों पर लट्टू हो जाती है। पार्टियों के नाम भले ही न हों परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जितने ही नेता हैं उतनी ही पार्टियाँ हैं। जनता में कुछ लोग अमुक व्यक्ति के विचारों का समर्थन करते हैं और कुछ लोग दूसरों के विचारों को सही मानते हैं। इसी तरह भारतीय लोकमत छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँटा हुआ है। सब पर व्यक्तियों का ही आवरण है। किसी के सामने कोई सिद्धान्त की बात नहीं है। लोगों में इतनी क्षमता नहीं है कि जिस बात को सही समझें उसी के पक्ष में लोकमत को संगठित करें और उसके सामने किसी व्यक्ति को प्रधानता न दें। शासन की सफलता व्यक्तियों से बढ़कर सिद्धान्त पर निर्भर करती है। कम जानकारी रखते हुए भी लोग शासन को किसी सिद्धान्त पर चलावें तो अधिक सफल हो सकते हैं। जब व्यक्ति अपनी ही इच्छानुसार चलने का प्रयत्न करता है तो सरकारी मशीन में वह मेल नहीं खाता। लोकमत एक ऐसा साधन है जो लोगों को और विशेषकर शासन-कर्ताओं को किसी सिद्धान्त पर चलने के लिये प्रेरित करता है। वह किसी व्यक्तिगत विचार-धारा को वहीं तक महत्त्व देता है जहाँ तक किसी सामाजिक विचारधारा से उसका साम्य है। प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिये भारत में लोकमत की नितान्त आवश्यकता है।

———

# अध्याय १९

## सर्वोदय समाज

हमारे देश को स्वतन्त्रता के लिए कितना बलिदान करना पड़ा है और इस सात्विक संघर्ष में महात्मा गाँधी का कितना अधिक हाथ रहा है—इसका विस्तृत वर्णन राष्ट्रीय इतिहास का प्रमुख विषय है। १५ अगस्त १९४७ का दिन भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जायगा, क्योंकि इसी दिन देश को स्वतन्त्रता हस्तान्तरित की गई है। यह तिथि देश-वासियों के लिए महान् गौरव एवं आह्लाद की स्मृति स्वरूप होगी। परन्तु दुख और विषाद का सम्मिलन स्वाभाविक है। यही इस संसार की विशेषता है, जिसने बड़े-बड़े विद्वानों और विचारकों को उदासीन कर संसार से विमुख कर दिया। ३० जनवरी को सायंकाल महात्मा गाँधी की हत्या अपने ही देश के एक भाई द्वारा की गई जिसे हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने 'पागल' बतलाया है। जो भी हो, यह तिथि भारतवासियों के लिए इतने शोक की तिथि है, जिसकी छाया में १५ अगस्त की हमारी सम्पूर्ण खुशी विलीन हो जाती है। जिस महान् पुरुष ने अपना सर्वस्व त्याग कर कठिनाइयों का समुद्र पार कर सदियों की दासता से देश-वासियों का उद्धार किया उसी की हत्या हमारे ही किसी भाई द्वारा की जाय—इससे बढ़कर चिन्ता और अपमान का विषय दूसरा क्या होगा? यद्यपि महात्मा जी अब नहीं रहे, परन्तु उनकी विचार-धारा आज भी हमारे राष्ट्रीय निर्माण में सहायता कर रही है। समाज-निर्माण की जो कल्पना उनके मस्तिष्क में कार्य कर रही थी उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न हमारे नेतागण कर रहे हैं। इसी की रूप-रेखा तैयार करने के लिए अप्रैल १९४८ में वर्धा में कुछ प्रमुख गाँधीवादियों का एक सम्मेलन हुआ था।

किसी देश की उन्नति का प्रमाण उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं है। जब तक समाज में अनेक स्वतंत्रताओं की व्यवस्था न होगी तब उन्नति का स्वप्न निर्मूल है। व्यक्ति अपनी जीविका का साधन निकालने, पढ़ने-लिखने, आने-जाने, रहन-सहन, भाषण, संगठन, निर्माण आदि कार्यों में स्वतन्त्र नहीं है, तो उसकी राजनीतिक स्वतंत्रता का महत्व कम है। इन सम्पूर्ण स्वतन्त्रताओं की जड़ उसकी आर्थिक व्यवस्था है जिसके सहारे वह कार्य करने में समर्थ होता है। एक भूखा मनुष्य आधुनिक उन्नतिशील

साधनों तथा आश्चर्य-जनक वायुयान तक का सेवन नहीं करना चाहता। भूख की शान्ति के पश्चात् वह इनका उपभोग कर सकता है। सुव्यवस्थित समाज में जहाँ वैज्ञानिक अनुसन्धान, आवागमन के साधन, उच्च शिक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि बड़ी-बड़ी बातों की आवश्यकता है वहाँ स्वावलम्बन, आध्यात्मिक जीवन, अहिंसा-प्रवृत्ति, सेवा की भावना, निष्कपट भाव आदि बातों की भी आवश्यकता है। छल-कपट द्वारा एक स्वतन्त्र राष्ट्र अन्य पड़ोसी राष्ट्रों या संपत्ति पर समृद्धशाली हो, यह उसकी वास्तविक उन्नति या स्थायी रूप नहीं है। समय आने पर ऐसे राष्ट्र निन्दा और अपमान की मूर्ति समझे जाते हैं। सभ्य-समाज उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता है। वर्तमान युग में इसी प्रकार के राष्ट्रों को प्रमुख गिना जाता है। यही कारण है कि जिस मात्रा में उनकी उन्नति अधिक होती है उससे अधिक संसार की सुख-शान्ति में बाधा पड़ती है। वह उन्नति किस काम की है जिसमें व्यक्ति का जीवन सुरक्षित न हो। विपुल सम्पत्ति के रहते हुए मनुष्य साधारण वस्तुओं के लिए तरसता रहे—ऐसी उन्नति का क्या मूल्य है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान सामाजिक जीवन में एक विश्व-व्यापी रोग का संचार हुआ है जिसका प्रत्येक राष्ट्र शिकार है। यह कैसे दूर किया जाय और इसके स्थान पर किस प्रकार का समाज संगठित किया जाय—यह वर्तमान जीवन की सबसे बड़ी समस्या है।

जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए ही महापुरुषों का जन्म होता है। महात्मा गाँधी को सबसे महान् पुरुष इसलिये स्वीकार किया कि उन्होंने एक 'सर्वोदय समाज' की कल्पना की, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम का पूरा उपभोग करे और श्रम-निर्धारण में उसी की इच्छा अंतिम निर्णायक हो। किसी मिल या कार्यालय का बड़ा से बड़ा अधिकारी कितना भी अधिकार पाये उसकी आत्मा दासवृत्ति से संकुचित है। वह विशाल और सुसज्जित भवन में निवास करता है, कितने ही कर्मचारी उसकी सेवा में संलग्न रहते हैं, सुख के सम्पूर्ण साधन उसे उपलब्ध हैं, दूसरों की दृष्टि में उसका जीवन स्वर्ग-सुख का रूपान्तर है—फिर भी वह अपने मालिक का एक दास है; उसकी प्रवृत्तियों को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का साधन नहीं है; वह कितने ही अवसरों पर अपनी स्वतन्त्र इच्छा के विरुद्ध कार्य करने के लिए बाध्य होता है। यह देखा गया है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश कुछ अपराधियों के विषय में निर्णय देते समय लिखते हैं, "यद्यपि अपराधी निर्दोष है, परन्तु वकीलों ने उचित रीति से इसका समर्थन नहीं किया और कोई कागजी प्रमाण इसके निरपराधी होने का उपलब्ध नहीं है, ऐसी दशा में हम इसे इतने वर्षों का कारावास दे रहे हैं।" जब इतना बड़ा अधिकारी अपने को स्वतन्त्र नहीं कहता तो साधारण कर्मचारियों की बात ही क्या है। आधुनिक युग में सेवावृत्ति का रूप विकृत है। आज पैसे लेकर सेवा करने की भावना इतनी अधिक है कि राष्ट्र के बहुसंख्यक प्राणी नौकरी को स्वतन्त्र जीवन से बढ़-

कर समझते हैं। वे आन्तरिक विकास पर उतना ध्यान नहीं देते जितना बाह्य आकर्षण की सामग्रियों पर। पद-लोलुपता, अधिकार चेष्टा, कुवासना, संघर्ष आदि बुराइयों की वृद्धि का कारण यही उल्टी सेवावृत्ति है। महात्मा गाँधी ने इस प्रवृत्ति को बदलने का प्रयत्न किया और एक 'सर्वोदय समाज' की कल्पना की जिसमें दासवृत्ति न होकर स्वावलम्बन का ही भाव हो। कष्ट उठाकर भी मनुष्य अपनी जीवन-सरणी अपने आप निकाले। ऐसी स्थिति में उसे जो सुविधा और सुख प्राप्त होगा वह ठोस, व्यापक और आत्मप्रिय होगा। उसकी मानसिक प्रवृत्तियाँ सही मार्ग पर तभी अग्रसर होंगी जब वह अपने जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकता अपने श्रम के अन्दर समेट लेगा।

जिस 'सर्वोदय समाज' की कल्पना की गई है उसका आधार आध्यात्मिक विकास है। वर्तमान युग भौतिकवाद का युग है। मनुष्य धन के पीछे इतना उन्मत्त है कि उसके लिये अनेक प्रकार के दूषित कर्म करने में उसे कोई हिचक नहीं होती। इस अमानुषिक व्यवहार से हमारा सम्पूर्ण समाज इतना दूषित और अव्यवस्थित है कि इसमें वास्तविक सुख और शान्ति का कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता। हमारी आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ बाह्य आडम्बर एवं कृत्रिम कार्यों के कारण क्रमशः विलीन होती जाती हैं। ऐसे वातावरण में पूर्ण मानवता की कल्पना सर्वथा दुर्लभ है। 'सर्वोदय समाज' इन त्रुटियों से परे है। इसके अनुसार समाज की सम्पूर्ण रूपरेखा उस आधार पर अवलम्बित है जिसमें मनुष्य स्वतन्त्र-रूपेण अपने कार्य का सम्पादन करेगा। उसकी आकांक्षायें आन्तरिक विकास की ओर होंगी। वह अपने सुख का आधार अपने ही श्रम को बनायेगा।

समाज में धर्म, व्यवसाय, संगठन तथा सेवा-कार्य—इन्हीं के आधार पर उन्नति की कल्पना की जाती है। सभ्यता की उन्नति-अवनति का मापदण्ड भी यही है। सर्वोदय समाज में इन चारों की क्या स्थिति होगी—इसका संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है। वर्तमान विज्ञान के युग में धर्म एक गौण विषय है। हमारा देश प्राचीन काल से धर्म-परायणता में अग्रणी था; इसका आश्रय लेकर हमारा प्राचीन दर्शन देश-देशान्तर में पूर्ण ख्याति प्राप्त कर चुका है। कहा जाता है कि हमारे देशवासी सम्पूर्ण त्याग कर सकते हैं, परन्तु अपने धर्म पर आघात नहीं सहन कर सकते। परन्तु आज यह प्रवृत्ति बहुत कुछ बदल गई है। धार्मिक संस्थायें समाज में उस दृष्टि से नहीं देखी जातीं जैसे हमारे पूर्वज उन्हें देखते थे। स्थान-स्थान पर बने हुए मठ और मन्दिर निर्जन रूप में पड़े हुए हैं। उनकी साधारण देख-रेख का भी कोई प्रबन्ध नहीं है। समाज उनकी ओर से उदासीन है। अपनी प्राचीन सभ्यता के गौरव-गान में इन्हीं का सहारा लेते हुए हम भी इन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। इस विरोधाभास का कारण कुछ तो इनकी आन्तरिक दुर्बलतायें हैं और कुछ हमारे बदले हुए मनोभाव हैं। महात्मा गाँधी ने भारतीय समाज की इस दुर्बलता को दूर करने का

यही साधन निकाला कि आज जातीय धर्म के स्थान पर मानव धर्म की आवश्यकता है, जिसका कुछ आशय निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट होता है :—

"जात आदमी, प्रेम धर्म है, हिन्दुस्तानी बोली"

भारतीय समाज अपने को जिस धार्मिक सूत्र में बँधा हुआ समझता है वह प्रेम का सूत्र है। उसमें किसी सम्प्रदाय या देशी-विदेशी का भेदभाव नहीं है। मनुष्य होने के नाते हम सब को उस दृष्टि से देखें जिससे सब का कल्याण हो। धर्म व्यक्ति-गत विश्वास की वस्तु है। जातीय रूढ़ियों को विजातीय लोगों पर लादने के लिये धर्म की दुहाई देना समाज में कटुता फैलाना है। हमारा हृदय इतना विशाल हो कि हम अन्य धर्मों को आदर की दृष्टि से देखें। भारतीय सभ्यता के इतिहास में मानव धर्म के उद्धरण अनेक स्थलों पर पाये जाते हैं।

व्यवसाय की व्यवस्था सामाजिक निर्माण में अनिवार्य है। हमारे विचार कितने भी उन्नत क्यों न हों, यदि हमारा व्यवसाय ऊँचा और शुद्ध नहीं है तो हमारी क्रियायें विचारों के विरुद्ध होंगी। प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य करे—यह व्यवस्था सब से ऊँची और दुर्लभ है। किसी दूसरे की इच्छानुसार कार्य करते हुए हमें जितने भी सुख के साधन उपलब्ध होते हैं, उनसे हमारे आध्यात्मिक विकास में कोई सहायता नहीं मिलती। इस मापदण्ड से एक साधारण किसान का जीवन फैक्ट्री के किसी बड़े मैनेजर से कहीं ऊँचा है। एक का व्यवसाय स्वनिर्मित है और दूसरे का परावलम्बी। सर्वोदय समाज में प्रत्येक व्यक्ति और कुटुम्ब स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करेगा। आवश्यकता की सभी सामग्री वह स्वयं उपार्जन करेगा। दूसरों के आश्रित रह कर सुख-भोग की कामना उसके स्वभाव के विरुद्ध होगी। अपने स्थान पर रहकर, कुटुम्बी जनों के साथ वह ऐसे व्यवसाय में संलग्न होगा जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति में साधक होंगे। दूसरों की सुन्दर आकर्षक वस्तुओं के स्थान पर वह स्वनिर्मित भद्दी तथा मोटी वस्तुओं के प्रयोग को उत्तम समझेगा। देश-देशान्तरों में व्यवसाय के लिये भ्रमण करने की लालसा उसकी इच्छा के विरुद्ध होगी। उसकी उत्पादन शक्ति का ध्येय पूर्ति होगा—शोषण नहीं।

प्रत्येक समाज नाना प्रकार के संगठन का समूह होता है। समुदाय के योग को ही समाज कहते हैं। ये समुदाय विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बनाये जाते हैं, और पूर्ति हो जाने के पश्चात् उनकी आवश्यकता जाती रहती है। इसीलिये समाज में अनेक समुदाय उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। इन्हीं समुदायों से समाज की उन्नति-अवनति का पता चलता है। जब देश में पुस्तकालय, स्कूल, स्वास्थ्यगृह, कलानिकेतन, अन्वेषण-गृह आदि बढ़ते हैं तो इससे समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। इसके विपरीत राजनीतिक दलबन्दी, अस्त्र-शस्त्र की वृद्धि, व्याव-सायिक होड़ तथा अन्य शोषण समुदाय समाज को अवनति के गर्त में गिराते हैं।

हमारे समुदाय शान्ति और सभ्यता के विकास के लिये बनने चाहिये। अधिकार चेष्टा के स्थान पर कर्तव्यपरायणता का भाव संगठन को आगे बढ़ाता है दुष्ट और आततायी जिस ध्येय से संगठित होते हैं वह समाज के लिये वर्जित है। सेवा, त्याग, विचारों की शुद्धि—इन के आधार पर संगठन बनाना सर्वोदय समाज की कल्पना है।

सर्वोदय समाज का चौथा पाया सेवा-कार्य है। आज सेवा के नाम पर स्वार्थ-पूर्ति का बोलबाला है। नाम और यश के लिए सेवा की दुहाई दी जाती है। इसी-लिये ढोंगी सेवक समाज में अशान्ति का प्रचार करते हैं। जिसे सेवा करनी है उसे कलह और ईर्ष्या की क्या आवश्यकता है। सेवा कठिन कार्य है। इसमें जिस त्याग और कष्ट सहन की आवश्यकता है वह वर्तमान समाज में इने-गिने लोगों में पाई जाती है। तुलसीदास जी लिखते हैं :—

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना।
सेवा धरम कठिन जग जाना॥

सेवा किस भावना से करनी चाहिये—इसकी व्याख्या गीता में विस्तृत रूप से की गई है। जब हम अपने स्वार्थ को भूल कर दूसरों की आवश्यकता का अनुभव करते हैं तो हमारे कार्य का भाव बदल जाता है। दूसरों की कठिनाइयाँ और असुविधायें कैसे दूर हों—इस समस्या को सुलझाने में हम तत्पर होते हैं। शत्रुता और कलह का भाव समाज से दूर हो जाता है, सब में एक दूसरे के प्रति प्रेम और सद्भाव की वृद्धि होती है। अर्थात् सेवा से प्रेम की वृद्धि और कटुता का विनाश होता है। कार्य-सम्पादन में मनुष्य अपनी त्रुटियों का निवारण करता है। दूसरों को दोषी ठहराने की भावना नहीं रखता। सेवा की आड़ में किसी गुप्त स्वार्थ की सिद्धि नहीं चाहता। इसी सेवा-भाव से प्रेरित होकर महात्मा गाँधी ने भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष में अहिंसा और शान्ति के साथ एक ऐसे संगठन का निर्माण किया जिसके सदस्य हर प्रकार के कष्ट सहन करते रहे। उन्हीं की त्याग-भावना का परिणाम है जो देश को स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई। परन्तु आज अनेक स्वार्थी व्यक्ति उस संगठन के सदस्य होने का दावा करते हैं, जो उनकी पद-लोलुपता और बक-वृत्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। यदि महात्मा गाँधी आज जीवित होते तो सर्वोदय समाज से सेवा की भावना अपने वास्तविक मार्ग से विचलित न होती। उनके अनुयायी कहाँ तक उनके पद-चिह्नों का अनुसरण करेंगे—यह भविष्य का विषय है।

———

U. P. BOARD

# INTERMEDIATE EXAMINATION

## Civics Theory Paper

### १९४८

१—नागरिक-शास्त्र का विषय और विस्तार वर्णन कीजिए।

२—"कुटुम्ब और सम्पत्ति—इन दो संस्थाओं पर सभ्य समाज की नींव आधारित है।" इसकी व्याख्या कीजिए।

३—राज्य की परिभाषा कीजिए। राज्य और सरकार में क्या भेद है ?

४—नागरिक का प्रधान कर्तव्य क्या है ?

५—"जो सरकार सबसे कम नियन्त्रण रखती है वह सबसे अच्छी है" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

६—लोकमत से क्या तात्पर्य है ? वर्तमान समय में लोकमत के निर्माण के लिए कौन-कौन से साधन हैं ?

७—अल्पमत के प्रतिनिधित्व से क्या तात्पर्य है ? भारत में सम्मिलित निर्वाचन को आप क्यों पसन्द करते हैं ?

८—सरकार का वर्गीकरण कैसे किया गया है ? एकात्मक और संघात्मक सरकार की तुलना कीजिए।

९—वे कौन-कौन से नागरिक आदर्श हैं जिनका भारतीय नागरिक को ध्यान रखना चाहिये। उसकी पूर्ति कैसे हो सकती है ?

१०—निम्नलिखित विषयों में किन्हीं तीन पर टिप्पणी लिखिए :—

(अ) स्वतन्त्र निर्णय का सिद्धान्त।

(ब) कानून का राज्य।

(स) स्वायत्त-शासन।

(द) भाषण की स्वतन्त्रता।

(य) राष्ट्रीयता।

(र) लिखित मत।

(ल) पुनर्निर्वाचन।

## १९४९

१—नागरिक शास्त्र के अध्ययन की क्या महत्ता है ? उसका इतिहास और अर्थशास्त्र से क्या सम्बन्ध है ?

२—"समाज साहचर्य से बना है" इस वाक्य पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालिए। इन साहचर्यों के नागरिक भावों का वर्णन कीजिए।

३—"अधिकारों" को समझाइए। लोकतन्त्र राज्य में नागरिक के प्रधान अधिकार बतलाइए।

४—किन गुणों के कारण आप किसी क्रिकेट टीम के कप्तान को अथवा म्यूनिसिपल बोर्ड ( पौर सभा ) के सभापति को चुनेंगे ?

५—आपकी सम्मति में राज्यकार्य का समुचित क्षेत्र क्या है ?

६—"राजनैतिक दल" की परिभाषा करिए। नागरिकों की शिक्षा में उसका क्या भाग है ?

७—आधुनिक लोकतन्त्र राज्य में धारासभा के क्या कर्त्तव्य हैं ?

८—संघात्मक राज्य के प्रधान लक्षण क्या हैं ? उसके गुण और अवगुण बताइए।

९—स्थानीय स्वराज्य की आवश्यकता और उपयोगिता बताइए।

१०—निम्नलिखित में से किन्हीं तीन पर छोटी टिप्पणियाँ लिखिए :—

( अ ) सार्वभौमता।

( आ ) द्वितीय धारा सभाएँ।

( इ ) वयस्क ( प्रौढ़ ) निर्वाचन।

( ई ) प्रतिनिधियों के चुनाव।

( उ ) स्वाधीन न्यायाध्यक्ष श्रेणी।

( ऊ ) विदेशी।

## १९५०

१—"नागरिक शास्त्र सामाजिक दिग्दर्शन ( माप ) का सामाजिक सेवा में प्रयोग है" इस कथन के सत्य की व्याख्या करके समझाइये।

२—सामाजिक संस्थाओं के आप क्या और कैसे भेद करेंगे ? उदाहरण दीजिये।

३—राज्य शिक्षा क्यों दे और जनता के स्वास्थ्य की क्यों रक्षा और उन्नति करे ? क्या आपके विचार में राज्य को विज्ञान, साहित्य, ललित कलाओं आदि को बढ़ावा देना चाहिये ?

४—नागरिक के प्रधान कर्त्तव्य क्या हैं ? इनकी परिपूर्ति पर राज्य कहाँ तक जोर दे सकता है ?

५—"न्याय स्वतन्त्रता का सहचर है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए। राजनैतिक और नागरिक स्वतन्त्रता में विश्लेषण कीजिए।

६—"एक ही पुरुष के हाथों में व्यवस्थापक, कार्यकारिणी और न्यायालय संबंधी शक्तियों का एकीकरण निरंकुश शासन की पूरी पूरी परिभाषा है" क्या इस सम्मति से आप सहमत हैं?

७—मताधिकार पाने के लिये क्या लक्षण होने चाहिये? क्या आपकी सम्मति में किसी अज्ञ और निरक्षर मनुष्य को चुनाव का अधिकार मिलना चाहिये! अपने उत्तर के कारण लिखिये।

८—राजनैतिक दलों से शासन प्रणाली के गुण और दोष दिखलाइये।

९—यदि आप किसी दिन किसी नगर की स्थानिक स्वराज्य सभा के सभासद चुन लिये गये तो आप किन सुधारों की सूचना देना चाहेंगे?

१०—स्वाधीन सृजनशील चैतन्य नागरिकता का आपके अनुसार क्या आदर्श है?

११—निम्नलिखित किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:—
(अ) व्यक्तिवाद, (आ) अन्तरंग सभा द्वारा शासन, (इ) सार्वजनिक सम्मति, (ई) लचीला विधान, (उ) साम्यवाद, (ऊ) केंद्रीभूत राज्य।

## १९५१

१—नागरिक शास्त्र का अर्थ बतलाइये और उसका क्षेत्र समझाइये।

२—"नागरिक गुणों का प्रारम्भिक शिक्षालय अपना घर है" इस कथन को उदाहरणों सहित समझाइए।

३—देश को नागरिकों के चैतन्यशील समूह से क्या लाभ है! शासन की कार्यवाहियों पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है!

४—'राज्य' क्या है! उसके आवश्यक तत्व क्या होते हैं! दूसरी संस्थाओं में और उसमें क्या भेद है!

५—किन तत्वों से राज्य के कर्त्तव्य निर्धारित होने चाहिये! क्या राज्य मनुष्यों को सच्चा, शिक्षित और संयत बना सकता है!

६—सरकार हमारी स्वतन्त्रता की किस प्रकार रक्षा करती है? यदि सरकारी व्यवस्था न हो तो क्या कुछ सच्ची स्वतन्त्रता हो सकती है?

७—एकात्मक शासन प्रणाली का क्या अर्थ है! संघ शासन प्रणाली से यह किस प्रकार भिन्न है!

८—'अशिक्षित लोकसत्ता निकृष्ट प्रकार की शासन संस्था है' इस कथन की विवेचना कीजिये।

९—सार्वजनिक सम्पत्ति क्या है ? किन प्रधान साधनों से वह आजकल संगठित होती है ?

१०—स्वाधीन भारत के नागरिक आदर्श क्या होने चाहिये ?

११—निम्नलिखित में से किन्हीं तीन पर छोटी टिप्पणियाँ लिखिये :—
(अ) समानता; (आ) विश्वनागरिकता; (इ) राजा द्वारा शासन; (ई) अचल संविधान; (उ) वयस्क (प्रौढ़) मताधिकार; (ऊ) नागरिक के सार्वजनिक कर्त्तव्य ।

## १९५२

१—"नागरिक शास्त्र कला (art) और विज्ञान (science) दोनों है ।" इस कथन का विवेचन (discuss) कीजिये और यह समझाइये कि इस शास्त्र के अध्ययन से क्या लाभ होता है ।

२—मनुष्य संघ (associations) क्यों बना लेते हैं ? आप जिन संघों से परिचित हों उनका वर्गीकरण कीजिये ।

३—नागरिक को राज्य की आज्ञाओं का पालन क्यों करना चाहिये ? क्या किसी दशा में किसी आज्ञा का पालन न करना न्यायसंगत है ?

४—"समानता" शब्द को समझाइये और सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में उसके उपयोग की जाँच कीजिये ।

५—लोकतंत्र (Democracy) से आप क्या समझते हैं ? उसकी सफलता के लिये किन दशाओं की आवश्यकता है ?

६—वर्तमान राज्य में न्याय-विभाग (Judiciary) का महत्व समझाइये । न्यायाधीश के लिये आप किन योग्यताओं (qualifications) की आवश्यकता समझते हैं ?

७—"अल्पसंख्यक वर्ग का प्रतिनिधित्व" का क्या अर्थ है ? उसको प्राप्त करने के लिये किन तरीकों का उपयोग किया जाता है ?

८—धर्म का नागरिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? भारतीय दशाओं को विशेष रूप से ध्यान में रखकर इस विषय पर विवेचन कीजिये ।

९—विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता (indiscipline) बढ़ने का क्या कारण है ? उसे दूर करने के उपाय बताइये ।

१०—राजनीतिक दल किसे कहते हैं ? उसके द्वारा (क) जनमत बनाने में और (ख) सरकारी कार्यों को चलाने में किस प्रकार सहायता मिलती है ?

११—निम्नलिखित विषयों में से किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :—

( क ) मंत्रिमंडल सरकार।
( ख ) समाचारपत्रों की स्वतंत्रता।
( ग ) जनमत।
( घ ) तानाशाही ( Dictatorship )।
( ङ ) वैतिक शिक्षा।
( च ) विश्व सरकार।

## अन्य आवश्यक प्रश्न

१—नागरिक शास्त्र की व्याख्या कीजिये और इतिहास, अर्थशास्त्र तथा आचार शास्त्र से इसका सम्बन्ध वर्णन कीजिये।

२—"कुटुम्ब सामाजिक गुणों की प्रारम्भिक पाठशाला है" उदाहरण देकर इस कथन की पुष्टि कीजिए।

३—यदि भविष्य के नागरिक अपने को दृढ़ करना चाहते हैं तो उन्हें चार बातों का ध्यान रखना होगा—शारीरिक व्यायाम, हस्तकला, शिल्प-कला और संगीत। इन विषयों का मनुष्य के विकास पर कैसे प्रभाव पड़ता है?

४—राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई? हमें उसकी आज्ञाओं का पालन क्यों करना चाहिये?

५—प्रभुता से क्या तात्पर्य है? नागरिक के अधिकारों में वह कहाँ तक हस्तक्षेप करती है?

६—एकात्मक और संघात्मक शासन-विधान की विशेषताओं का वर्णन कीजिए। संघ-शासन किन देशों के लिए उपयुक्त माना गया है।

७—स्वायत्त-शासन के समर्थन में आपके क्या प्रमाण हैं? प्रजातन्त्र में वह क्यों आवश्यक ठहराया गया है?

८—"नागरिकता अनुशासन को व्यवस्थित रूप देने का नाम है" उदाहरण देकर समझाइये।

९—राज्य में सामाजिक व्यवस्था का क्या महत्व है? भारत में इसकी वृद्धि कैसे की जा सकती है?

१०—सामाजिक जीवन में कुटुम्ब का क्या स्थान है? एक उन्नतिशील पारिवारिक जीवन के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता है?

११—भाषण और प्रेस की स्वतन्त्रता किन कारणों से आवश्यक है ? किन अवस्थाओं में सरकार को इन पर नियन्त्रण रखना चाहिये ?

१२—वर्तमान राज्यों का क्या कर्तव्य है ! क्या इन कर्तव्यों की कोई सीमा है ?

१३—प्रजातन्त्र के मुख्य तत्व क्या हैं ? इसकी सफलता के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता है ?

१४—पार्लियामेंट्री और प्रेसीडेंसियल सरकार में क्या भेद है ? इनकी अच्छाइयों और बुराइयों का वर्णन कीजिये।

१५—"कुटुम्ब समाज का अंग है, व्यक्ति नहीं" इसकी पुष्टि कीजिए।

१६—राज्य के प्रति नागरिक के कौन-कौन से कर्तव्य हैं ? उनके बदले में उसे क्या-क्या अधिकार प्राप्त हैं ?

१७—राज्य तथा अन्य समुदायों में क्या अन्तर है ?

१८—भारत में एकात्मक सरकार उपयुक्त होगी या संघात्मक ! उदाहरण देकर समझाइये।

१९—प्रजातन्त्र राज्य की विशेषतायें क्या हैं ?

२०—प्रेस की स्वतन्त्रता क्यों आवश्यक है ? इसके दुरुपयोग को रोकने का क्या साधन है ?

२१—प्रजातन्त्र किसे कहते हैं ? किन अवस्थाओं में यह सफल हो सकता है ?

२२—राज्य की कौन-कौन सी विशेषतायें हैं ? क्या राष्ट्रीयता इसका एक संतोष-जनक आधार है ?

२३—राज्य को व्यक्ति के कार्यों में क्यों हस्तक्षेप करना चाहिये ? यह किस सीमा तक होना चाहिए ?

२४—शरणार्थियों की कौन-कौन सी समस्यायें हैं ? उन्हें कैसे हल किया जा सकता है ?

२५—वर्तमान स्थिति में सरकार को दृढ़ बनाना भारतवासियों के लिये क्योंकर आवश्यक है ?